बिड़ला ग्रंथमाला—५

रास और रासान्वयी काव्य

संपादक

डा० दशरथ ओझा, एम० ए०, पी-एच० डी०

डा० दशरथ शर्मा, एम० ए०, डी० लिट्

नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

प्रकाशक : नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

मुद्रक : महताबराय, नागरी मुद्रण, वाराणसी

प्रथम संस्करण १००० प्रतियाँ, संवत् २०१६ वि०,

मूल्य : १५)

राजा बलदेवदास बिड़ला

राजा बलदेवदास बिड़ला-ग्रंथमाला

प्रस्तुत ग्रंथमाला के प्रकाशन का एक संक्षिप्त-सा इतिहास है। उत्तर प्रदेश के राज्यपाल महामहिम श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी जब काशी नागरीप्रचारिणी सभा में पधारे थे तो यहाँ के सुरक्षित हस्तलिखित ग्रंथों को देखकर उन्होंने सलाह दी थी कि एक ऐसी ग्रंथमाला निकाली जाय जिसमें सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और साहित्यिक दृष्टि से महत्वपूर्ण ग्रंथ मुद्रित कर दिए जायँ। बहुत अधिक परिश्रमपूर्वक संपादित ग्रंथ छापने के लोभ में पड़कर अनेकानेक महत्वपूर्ण ग्रंथों को अमुद्रित रहने देना उनके मत से बहुत बुद्धिमानी का काम नहीं है। उन्होंने सलाह दी कि ये पुस्तकें पहले मुद्रित हो जायँ फिर विद्वानों को उनकी सामग्री के विषय में विचारने का अवसर मिलेगा। सभा के कार्यकर्ताओं को राज्यपाल महोदय की यह सलाह पसंद आई। हीरक जयंती के अवसर पर सभा ने जिन कई महत्वपूर्ण कार्यों की योजना बनाई उनमें एक ऐसी ग्रंथमाला का प्रकाशन भी था। सभा का प्रतिनिधि मंडल जब इन योजनाओं के लिये धन संग्रह करने के उद्देश्य से दिल्ली गया तो सुप्रसिद्ध दानवीर सेठ घनश्यामदास जी बिड़ला से मिला और उनके सामने इन योजनाओं को रखा। बिड़ला जी ने सहर्ष इस प्रकार की ग्रंथमाला के लिये २५,०००) रु० की सहायता देना स्वीकार कर लिया। इस कार्य के महत्व का उन्होंने तुरंत अनुभव कर लिया और सभा के प्रतिनिधिमंडल को इस विषय में कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं हुई। बिड़ला परिवार की उदारता से आज भारतवर्ष का बच्चा-बच्चा परिचित है। इस परिवार ने भारतवर्ष के सांस्कृतिक उत्थान के लिये अनेक महत्वपूर्ण दान दिए हैं। सभा को इस प्रकार की ग्रंथमाला के लिये प्रदत्त दान भी उन्हीं महत्वपूर्ण दानों की कोटि में आएगा। सभा ने निर्णय किया कि इन रुपयों से प्रकाशित होनेवाली ग्रंथमाला का नाम श्रीघनश्यामदास जी बिड़ला के पूज्य पिता राजा बलदेवदास जी बिड़ला के नाम पर रखा जाय और इसकी आय इसी कार्य में लगती रहे।

परिचय

निरतत हैं दोउ स्यामा स्याम।
अङ्ग मगन पिय तैं प्यारी अति निरखि चकित व्रज बाम।
तिरप लेति चपला सी चमकति झमकत भूखन अंग।
या छवि पर उपमा कहुँ नाहीं निरखत विवस अनंग।
रस समुद्र मानौ उछलित भयौ सुंदरता की खानि।
सूरदास प्रभु रीझि थकित भए कहत न कछू बखानि॥

—सूरदास

उपर्युक्त पद में राधाकृष्ण के रास-नृत्य का वर्णन करते हुए कवि ने रम्य रास के स्वाभाविक परिणाम के रूप में रस-समुद्र का उमड़ना बताया है और इस प्रकार 'रस' और 'रास' के पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध का उद्घाटन किया है। वस्तुतः रास, रासो और रासक तीनों ही के मूल में रस ही पोषक तत्व है और इसीलिए स्थूल रूप में रास नृत्य का, रासो काव्य का और रासक रूपक का एक रूप है।

काव्य में रस सिद्धांत भारत का बड़ा ही प्राचीन और परम महत्वपूर्ण आविष्कार रहा है। यहाँ रस के शास्त्रीय पक्ष का विवेचन न कर इतना ही कथन अभीष्ट है कि 'रस' उसी तीव्र अनुभूति का नाम है जिसके द्वारा भाव-विभोर होकर मनुष्य के मुहँ से अनायास निकल जाता है—'वाह क्या बात है? मजा आ गया!' यही 'मजा आ जाना' रसानुभूति की स्थिति है और स्वयं 'रस' 'मज़ा' है। प्रतीत होता है कि आरम्भ में रस केवल एक था—शृंगार। आज भी 'रसिक' शब्द का 'अर्थ' 'शृंगार रसिक' मात्र है। शृंगार को जो रसराज कहते हैं उसका भी तात्पर्य यही है कि मूल रस शृंगार ही है और अन्य रस उसी के विवर्त हैं। भोज ने भी अपने शृंगार प्रकाश में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। वैसे भी रसों की संख्या में बराबर वृद्धि होती रही है। भरत के यहाँ वस्तुतः आठ ही रस थे। 'शान्त' रस की उद्भावना हो जाने पर उनकी संख्या नौ हो गयी। पुनः विश्वनाथ ने 'वत्सल' को स्थायी भाव परिकल्पित कर 'वात्सल्य' रस की कल्पना की। रूप गोस्वामी ने भक्ति को भी 'रस' बनाया और इधर अब दिल्ली में

'इतिहास रस' की भी धारा बहाने का भगीरथ प्रयत्न हो रहा है। ये सब प्रयत्न इसी बात की पुष्टि करते हैं कि जिसको जिस वस्तु में मजा मिला उसको वहीं रस का दर्शन हुआ।

दूसरी ओर मन की चार स्थितियाँ होती हैं—विकास, विस्तार, विक्षोभ और विक्षेप। विभिन्न अनुभूतियों की जो प्रतिक्रिया मन पर होती है उससे मन की स्थिति उक्त चारों में से कोई एक हो जाती है। शृंगार से विकास, वीर से विस्तार, बीभत्स से क्षोभ और रौद्र से विक्षेप होता है। इस प्रकार चार प्रधान रस बनते हैं—शृंगार, वीर, रौद्र और भयानक। शृंगार से हास्य, वीर से अद्भुत, रौद्र से करुण और बीभत्स से भयानक रस की उत्पत्ति मानी जाती है। परन्तु गम्भीरता से देखने पर 'वीर, रौद्र और बीभत्स' रसों की गणना एक ही वर्ग में की जा सकती है और तीनों को ही एक साधारण शीर्षक 'वीर' के अंतर्गत लाया जा सकता है।

पुनः मन की चाहे जितनी स्थितियाँ परिकल्पित की जायँ वे मुख्यतया दो ही रहेंगी—सक्रिय और निष्क्रिय। सक्रिय स्थिति के भी दो भेद होंगे—अंतर्मुखी और वाह्यमुखी। अन्तर्मुखी स्थिति वह होगी जब मन द्वारा 'मन' को प्रभावित करने का प्रयत्न होगा और वाह्यमुखी स्थिति में वाह्य प्रयत्नों द्वारा दूसरे के तन मन को प्रभावित करने का प्रयत्न किया जायगा। इस प्रकार अंतर्मुखी स्थिति शृंगार रस में दिखायी देगी और वाह्यमुखी वीररस में।

मानस की निष्क्रिय स्थिति वह कहलायेगी जब वह सुख, दुख, चिंता, द्वेष, राग और इच्छा सबके परे हो जायगा। यही स्थिति शांत रस की भी है।*

इस प्रकार आजतक जितने रस कल्पित हुए हैं या भविष्य में होंगे उन सबका समाहार शृंगार, वीर और शान्त रसों के अंतर्गत किया जा सकेगा।

प्रस्तुत रास संग्रह में भी जितने रास संग्रहीत किये गये हैं वे उक्त तीन ही रसों से समन्वित हैं। जैन रास प्रायः शान्त रसात्मक हैं और उनमें वीर रस का भी समावेश है। शेष अर्थात् संस्कृत, हिंदी, बंगला और गुजराती के रास प्रायः शृंगाररसात्मक हैं।

---

* न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा
रसस्तु शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शम प्रधानः॥

प्रस्तुत संग्रह के विद्वान संपादकों डाक्टर दशरथ ओझा और डाक्टर दशरथ शर्मा ने अपनी शोधपूर्ण भूमिका में सभी ज्ञातव्य तथ्यों का समावेश कर दिया है। उक्त दोनों अकृत्रिम विद्वानों ने वस्तुतः संग्रह कार्य और संपादन में गहरा परिश्रम कर रास साहित्य का उद्धार किया है। उनके निष्कर्षों से प्रायः लोग सहमत होंगे; जैसे संदेश रासक की रचना का काल बारहवीं शताब्दी निश्चित किया गया है। इसका एक आभ्यंतरिक प्रमाण भी है। संदेश रासक में एक छंद है—

तइया निवडंत णिवेसियाइं संगमइ जत्थ णहुहारो
इन्हि सायर-सरिया-गिरि तरु-दुग्गाइं अंतरिया ॥

अर्थात् जहाँ पहले मिलन क्षण में हम दोनों के बीच हार तक को प्रवेश नहीं मिलता था वहाँ आज हम दोनों के बीच समुद्र, नदी, पर्वत, वृक्ष, दुर्गादि का अंतर हो गया है।

उधर हनुमन्नाटक में भी एक श्लोक है :—

हारो नारोपितः कण्ठे मया विश्लेष भीरुणा।
इदानीमन्तरे जाताः पर्वताः सरितो द्रुमाः ॥

[ह० ना० ५-२४]

स्पष्टतः संदेश रासक के उक्त छन्द पर हनुमन्नाटक के उक्त श्लोक का प्रभाव है। उक्त छन्द उक्त श्लोक का अनुवाद जान पड़ता है। यह निश्चित है कि हनुमन्नाटक ग्यारहवीं शताब्दी की रचना है अतः संदेस रासक की रचना निश्चय ही हनुमन्नाटक के ठीक बाद की है। सामोरू नगर का जो वर्णन उक्त रासक में उपलब्ध होता है वह बारहवीं शताब्दी का कदापि नहीं हो सकता। सामोरू का दूसरा नाम मुलतान है जिस पर बारहवीं शताब्दी में तुर्कों का कब्जा था जिनके शासन में रामायण और महाभारत का खुल्लमखुल्ला पाठ असंभव था। परंतु उक्त रासक में वर्णित है कि सामोरु में हिन्दू संस्कृति की प्रधानता थी। यह संगति तभी बैठ सकती है जब यह माना जाय कि संदेश रासक की रचना हनुमन्नाटक की रचना के बाद और मुलतान पर इस्लामी शासन के पूर्व की है। संदेस रासक के टीकाकारों ने अद्दहमाण का शुद्ध रूप अब्दुल रहमान माना है और उसे जुलाहा करार दिया है। परन्तु जिस शब्द का अर्थ जुलाहा है उसी का अर्थ गृहस्थ भी है। फिर अब्दुल रहमान ने अपने पिता का नाम

मीरसेन लिखा है। क्या मीरसेन उस काल में किसी मुसलमान का नाम हो सकता है? मीर फारसी का ही नहीं संस्कृत का भी एक शब्द है जिसका अर्थ समुद्र भी होता है? पुनः आवश्यक नहीं कि ग्रंथारंभ में कर्ता की स्तुति मुसलमान ही करे, हिन्दू नैयायिक भी तो ईश्वर को कर्ता ही मानता है। अतः अब्दुल रहमान के संबंध में अभी और भी खोज आवश्यक जान पड़ती है। कारण मीरसेन (समुद्रसेन) का पुत्र अब्धिमान (समुद्रमान) भी हो सकता है और उसके मुसलमान होने की कल्पना 'मिच्छदेस', 'आरद्द', 'अद्दहमाण', और 'मीरसेन' शब्दों पर ही टिकी हुई है।

ऊपर कहा जा चुका है कि 'रास' एक प्रकार नृत्य भी है। इस नृत्य का स्वरूप प्रायः धार्मिक रहा है। यही कारण है कि विष्णुयामल में रास की यह परिभाषा दी गयी है—'करुणा-बीभत्स रौद्र-वीर-वात्सल्य-विरह-सख्य शृंगारादि रस समूहो रासरिति' अथवा 'रसानां समूहो रासः'। अन्यत्र रास का यह लक्षण भी बताया गया है—'नृत्य-गीत—चुम्बनालिगनादीनां रसानां समूहो रासः'। अर्थात् नाच, गान, चुम्बन, आलिंगन आदि रसों का समूह रास कहलाता है। रास का तीसरा लक्षण निम्नलिखित है :—

स्त्रीभिश्च पुरुषैश्चैव धृतहस्तैः क्रमस्थितैः
मण्डले क्रियते नित्यं स रासः प्रोच्यते बुधैः ॥

अर्थात् विद्वान् उस नृत्य को रास कहते हैं जिसमें एक क्रम से नर नारी परस्पर हाथ पकड़ कर मण्डलाकार नाचते हैं।

उक्त रासनृत्य का स्वरूप उत्तरोत्तर धार्मिक होता गया। रास सर्वस्व नामक ग्रन्थ के अनुसार घमंड देव ने रास के पांच प्रयोजन बताये :— (१) चित्तशुद्धि, (२) स्त्रियों और शूद्रों को अनायास पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति (३) योग साधन से प्राप्त सुख की सहज प्राप्ति (४) तामस बुद्धि वालोंको सात्विक बुद्धि संपन्न बनाना और (५) व्रजवासियों का भरण तथा त्रैलोक्य का पवित्रीकरण[1]।

---

१ विषयविदूषितचित्तानामनेकोद्योगबुद्धीनामन्तःकरणानि भगवद्विषयकानुकरणदर्शनेन शुद्धानि भवन्तीति प्रथमं प्रयोजनम्। १।
स्त्रीशूद्राणामप्यनायासेन पुरुषार्थचतुष्टयं भवत्विति द्वितीयं प्रयोजनम्। २।
अनेकसाधनैर्योगादिभिर्भगवद्दर्शनार्थे यतमानानामपिदुर्लभं सुखं सुलभं भवत्विति तृतीयं प्रयोजनम्। ३।

शांडिल्य ने पंद्रह रास सूत्र कहे जिन पर प्रायः एक हजार भाष्य प्राप्त होते हैं।[1] वृहद् गौतमी तंत्र, राधा तंत्र, रहस्य पुराण आदि पुराण ग्रन्थों में रास को अनुष्ठान का रूप दिया गया। उसका संकल्प, ध्यान, अंगन्यास आदि की विधि निश्चित की गयी[2]। कहने का तात्पर्य यह कि किसी विदेशी

युगहेतुकविपरीतकालेनजातानराजसतामसबुद्धीनां सात्विकबुद्धिजननं चतुर्थं प्रयोजनम्।४।

स्वतः शुद्धैरपि व्रजवासिभिरेव स्वभरणं त्रैलोक्य पवित्रं चैतद्द्वारेण सम्पादनीयमिति पंचमं प्रयोजनम्।५।

[राधाकृष्णकृत रास सर्वस्व पृ० ३०]

१ शाण्डिल्योक्त रास सूत्राणि

(१) अथातोरसो ब्रह्म (२) सैवानन्दस्वरूपो कृष्णः (३) तस्यानुकरणान्तरा भक्तिः (४) सा नवधा (५) तेषामन्योन्याश्रयत्वम् (६) तस्मात् रासोत्पद्यते (७) सोऽपि क्रियाभेदेन द्विधा (८) गोलोक स्थानामेव (९) ललितादेव्यो पोष्यनीयत्वेनलभ्यते (१०) प्रेमदेवता च (११) महत्संगात् भविष्यति (१२) परंपरैवग्राह्यम् (१३) निष्कामेन कर्तव्यम् (१४) प्रयासं विनैव फलसिद्धिः (१५) नियमेन कर्तव्यम्।—रास सर्वस्व पृ० ३३

२ अथ श्री रास क्रीडामंत्रस्य मुग्धनारद ऋषिर्गायत्री छन्दः ओं क्लीं साक्षान्मन्मथबीजं प्रेमान्ध्युद्भवस्वाहाशक्तिः श्री राधाकृष्णौ देवौ रास क्रीडायां परस्परानन्दप्राप्त्यर्थेजपे विनियोगः।

ओं क्लीं अँगुष्ठाभ्यान्नमः। ओं रासतर्जनीभ्यां नमः। ओं रसमध्यमाभ्यां नमः। ओं विलासिन्यौ अनामिकाभ्यां नमः। ओं श्री राधाकृष्णौकनिष्ठिकाभ्यां नमः। ओं स्वाहा करतल कर पृष्ठाभ्यां नमः॥ इति करन्यासः

ओं क्लीं हृदयाय नमः। ओं रास शिरसे स्वाहा। ओं रसशिखायै वौषट्। ओं विलासिन्यौ नेत्रत्रयाय वौषट्। ओं श्री राधाकृष्णौ कवचाय हुँ। ओं स्वाहा अस्त्राय फट्॥

इति हृद्याभिन्यासः

आभीर जाति के रसमय नृत्य रास ने कहीं साहित्यिक स्वरूप प्राप्त किया और कहीं धार्मिक रूप । अतः अन्त में यह कहना अनुचित न होगा कि—

वन्दौं ब्रज की गोपिका निवसत सदा निकुंज
प्रकट कियौ संसार में जिन यह रस को पुंज ॥

रुद्र काशिकेय
प्रधान संपादक
बिड़ला ग्रंथमाला
ना० प्र० सभा

प्रस्तावना

सा वर्धतां महते सौभगाय, (ऋग्वेद)

हिंदी भाषा का सौभाग्य दिन प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त हो रहा है। प्रत्येक नए अनुसंधान से यह तथ्य प्रत्यक्ष होता जाता है। हिंदी के प्राचीन वाङ्मय के नए नए क्षेत्र दृष्टिपथ में आ रहे हैं। वस्तुतः भारत की प्राचीन संस्कृति की धारा का महनीय जलप्रवाह हिंदी के पूर्व और अभिनव साहित्य को प्राप्त हुआ है। हिंदी की महती शक्ति सबके अभ्युदय और कल्याण की भावना से उत्थित हुई है। उसकी किसी के साथ कुंठा नहीं है। सबके प्रति संप्रीति और समन्वय की उमंग ही हिंदी की प्रेरणा है। उसका जो सौभाग्य बढ़ रहा है वह राष्ट्र की अर्थशक्ति और वाक्शक्ति का ही संवर्धन है। इस यज्ञ का सुकृत फल समष्टि का कल्याण और आनंद है।

हिंदी के वर्धमान सौभाग्य का एक श्लाघनीय उदाहरण प्रस्तुत ग्रंथ है। 'रास और रासान्वयीकाव्य' शीर्षक से श्री दशरथ जी ओझा ने जो अद्भुत सामग्री प्रस्तुत की है, वह भाषा, भाव, धर्म, दर्शन और काव्यरूप की दृष्टि से प्राचीन हिंदी का उसी प्रकार अभिन्न अंग है जिस प्रकार अपभ्रंश और अवहट्ट का महान् साहित्य हिंदी की परिधि का अंतर्वर्ती है। यह उस युग की देन है जब भाषाओं में क्षेत्रसीमाओं का संकुचित बँटवारा नहीं हुआ था, जब सांस्कृतिक और धार्मिक मेघजल सब क्षेत्रों में निर्बाध विचरते थे और अपने शीतल प्रवर्षण से लोकमानस को तृप्त करते थे, एवं जब जन-जन में पार्थक्य की अपेक्षा पारस्परिक ऐक्य का विलास था। प्राचीन हिंदी, प्राचीन राजस्थानी, या प्राचीन गुजराती इन तीनों के भाषाभेद, भावभेद, रसभेद एक दूसरे में अंतर्लीन थे। इस सामग्री का अनुशीलन और उद्घाटन उसी भाव से होना उचित है।

श्री दशरथ जी ओझा शोधमार्ग के निष्णात यात्री हैं। अपने विख्यात ग्रंथ 'हिंदी नाटक—उद्भव और विकास' में उन्होंने मौलिक सामग्री का संकलन करके यह सिद्ध किया है कि हिंदी नाटकों की प्राचीन परंपरा तेरहवीं शती तक जाती है जिसके प्रकट प्रमाण इस समय भी उपलब्ध हैं और वे

मिथिला, नेपाल, असम आदि के प्राचीन साहित्य से संगृहीत किए जा सकते हैं। उस ग्रंथ की भूमिका में उन्होंने लिखा था कि लगभग चार सौ रासग्रंथों की सूची उन्होंने एकत्र की थी। ओझा जी के पास रासों की यह संख्या अब लगभग एक सहस्र तक पहुँच चुकी है। उसमें एक वंशीविलास रास है जिसकी रचना दक्षिण भारत में तंजोर नरेश ने ब्रजभाषा में की थी और जो अब तेलुगु लिपि में प्राप्त हुआ है। गुरुगोविंद सिंह का लिखा हुआ रासग्रंथ भी उन्हें मिला है। इस सब सामग्री की सारसँभाल और उपयुक्त प्रकाशन की आवश्यकता है जिससे हिंदी-जगत् इस प्राचीन काव्यधारा का समुचित परिचय पा सके। रासान्वयी काव्य ग्रंथ इसी प्रकार का श्लाघनीय प्रयत्न है। इसके प्रथम खंड में चुने हुए बीस जैन रास, दूसरे खंड में आठ प्राचीन ऐतिहासिक रास और तीसरे खंड में राम और कृष्णलीलाओं से संबंधित कुछ रास नमूने के रूप में सामने लाए गए हैं। रास साहित्य के मुख्यतः ये ही तीन प्रकार थे। इस विशिष्ट साहित्य का ऐसा सुसमीक्षित संस्करण पहली ही बार यहाँ देखने को मिल रहा है। परिशिष्ट में प्रथम खंड के कुछ क्लिष्ट रासों का भाषानुवाद भी दिया गया है। इन्हीं में अब्दुल-रहमान कृत संदेशरासक भी संमिलित है। उसकी परंपरा जैनधर्म भावना से स्वतंत्र थी और उसका जन्म शुद्ध प्रेमकाव्य की परंपरा में सुदूर मुलतान नगर में हुआ है।

हमें यह जानकर और भी प्रसन्नता है कि असम और नेपाल में १५ वीं–१६ वीं शती के जो पचास वैष्णव नाटक प्राप्त हुए हैं उन्हें भी श्री दशरथ जी ओझा कई भागों में प्रकाशित कर रहे हैं। इस प्रकार उनके शोधकार्य की लोकोपयोगी साधना उत्तरोत्तर बढ़ रही है जिसका हार्दिक स्वागत करते हुए हमें अत्यंत हर्ष है।

भरत के नाट्यशास्त्र में 'धर्मी' यह महत्त्वपूर्ण शब्द आया है, और उसके दो भेद माने गए हैं—लोकधर्मी एवं नाट्यधर्मी—

लोकधर्मी नाट्यधर्मी धर्मीति द्विविधः स्मृतः (६।२४)

धर्मी का तात्पर्य उस अभिनय से है जो 'धर्म' अर्थात् लोकगत समयाचार का अनुकरण करके किया जाय। अभिनवगुप्त ने स्पष्ट कहा है—"अभिनयाश्च लौकिकंधर्मं तन्मूलमेव तदुपजीविनं सामयिकं वानुवर्तते", अर्थात् अभिनय का मूल लोक से गृहीत होता है, लोक में वह परंपरा-प्राप्त होता है या उसी समय प्रचलित होता है,

इन दोनों से ही अभिनय की सामग्री लेकर जनरंजन के रूपों का निर्माण किया जाता है। भरत ने स्वयं इन दो धर्मियों की परिभाषा को और स्पष्ट किया है—

> धर्मी या द्विविधा प्रोक्ता मया पूर्वं द्विजोत्तमाः।
> लौकिकी नाट्यधर्मी च तयोर्वक्ष्यामि लक्षणम् ॥ ७०
> स्वभावभावोपगतं शुद्धं तु विकृतं तथा।
> लोकवार्ता क्रियोपेतमङ्गलीला विवर्जितम् ॥७१
> स्वभावाभिनयोपेतं नानास्त्रीपुरुषाश्रयम्।
> यदीदृशं भवेन्नाट्यं लोकधर्मी तु सा स्मृता ॥७२
>
> (नाट्यशास्त्र, अ० ६)

अर्थात् लोकधर्मी अभिनय वे हैं जिनका आधार लोकवार्ता अर्थात् लोक में प्रसिद्ध क्रिया या वृत्तान्त होता है, जिसमें स्थायी - व्यभिचारी आदि भाव ठेठ मानवी स्वभाव से लिए जाते हैं (कविकृत अति-रंजनाओं से नहीं) और अनेक स्त्री-पुरुष मिलकर जिसमें बिल्कुल स्वाभाविक रीति से अभिनय करते हैं; अर्थात् उठना, गिरना, लड़ना, चिल्लाना, मारना आदि की क्रियाओं को असली जीवन की अनुकृति के अनुसार करते हैं, अभिनय की बारीकियों के अनुसार नहीं।

यहाँ भरत का आग्रह लोकवार्ता और लोकाभिनय के उन रूपों पर है जिन्हें कविकृत सुसंस्कृत नाट्य रूप प्राप्त न हुआ हो। यदि कोई अभिनय पिछला रूप ग्रहण कर ले तो उसका वह उच्च धरातल नाट्य धर्मी कहा जाता था। इस विवरण की पृष्ठ भूमि में अपने यहाँ के रूपक और उप रूपकों के नाना भेदों को समझा जा सकता है। लोकधर्मी अभिनयों का नाट्यधर्मी में परिवर्तन चाहे जब संभव हो सकता था। इस दृष्टिकोण से जब आचार्यों को अभिनयात्मक मनोरंजन के प्रकारों का वर्गीकरण करना पड़ा तो उन्होंने कुछ को रूपक और शेष को उपरूपक कहा। रूपक वे थे जिनका नाट्यात्मक स्वरूप सुस्पष्ट निर्धारित हो चुका था, जिनमें वाचिक, आंगिक, आहार्य और सात्विक अभिनय की बारीकियाँ विकसित हो गई थीं, और न्यायतः जिन्हें उच्च सांस्कृतिक या नागरिक धरातल पर काव्य और अभिनय के लिये स्वीकार किया जा सकता था। आचार्यों ने नाटक, प्रकरण, डिम, ईहामृग, समवकार, प्रहसन, व्यायोग, भाण, वीथी, अंक को रूपक मान लिया।

और जो अनेक प्रकार उनके सामने आए उन्हें उपरूपकों की सूची में रक्खा; जैसे तोटक, नाटिका, सट्टक, शिल्पक, कर्ण, दुर्मल्लिका, प्रस्थान, भाणिका, भाणी, गोष्ठी, हल्लीसक, काव्य, श्रीगदित, नाट्य रासक, रासक, उल्लोप्यक, प्रेक्षण। स्वभावतः इनकी संख्या के विषय में कई आचार्यों में मतभेद होता रहा, क्योंकि व्यक्ति-भेद, देश-भेद, और काल-भेद से लोकानुरञ्जन के विविध प्रकारों का संग्रह घट-बढ़ सकता था। अग्निपुराण में १७ नाम, भावप्रकाशन में बीस, नाट्यदर्पण में १४, साहित्य-दर्पण में १८ नाम हैं। सबकी छान-बीन से २५ उप रूपक नामों की गिनती की जा सकती है। यहाँ मुख्य ज्ञातव्य बात यह है कि इनके नृत्य प्रकार और गेयप्रकार भेदों का जन्म-स्थान विस्तृत लोक-जीवन था। वस्तुतः भरत ने जो नाटक की उत्पत्ति इन्द्रध्वज महोत्सव से मानी है उसका रहस्य भी यही है कि इन्द्रध्वज नामक जो सार्वजनिक 'मह' या उत्सव किया जाता था और जिसकी परंपरा आर्य इतिहास के उषःकाल तक थी, उसी के साथ होने वाला लोकानुरंजन का मुख्य प्रकार नाटक कहलाया। अभिनय, गान और वाद्य का संयोग उसकी स्वाभाविक विशेषता रही होगी। ऊपर दिए गए उपरूपकों की सूची से यह भी ज्ञात होता है कि रासक का जन्म भी लोकधर्मो तत्त्वों से हुआ। उपरूपकों का पृथक् पृथक् इतिहास और विकासक्रम अभी अनुसंधान सापेक्ष है। भारत के प्रत्येक क्षेत्र में जो लोक के अभिनयात्म मनोरंजन प्रकार बच गए हैं उनका वैज्ञानिक संग्रह और अध्ययन जब किया जा सकेगा तब संभव है उपरूपकों और रूपकों की भी प्राचीन परंपरा पर प्रकाश पड़ सके।

श्री ओझा जी का यह लिखना यथार्थ ज्ञात होता है कि रास, रासक, रासा, रासो सब की मूल उत्पत्ति समान थी। इन शब्दों के अर्थों में भेद मानना उपलब्ध प्रमाणों से संगत नहीं बैठता। रास की परंपरा कितनी पुरानी है यह विषय भी ध्यान देने योग्य है। बाण ने हर्षचरित में 'रासक पदों' का उल्लेख किया है (अश्लील रासक पदानि गायन्त्यः; हर्ष-चरित, निर्णय सागर, पंचम संस्करण; पृ० १३२)। जब हर्ष का जन्म हुआ तब पुत्र-जन्म महोत्सव में स्त्रियाँ रासकपदों का गान करने लगीं। बाण ने विशेष रूप से कहा है कि वे रासक पद अश्लील थे और इसलिए विट उन्हें सुनकर ऐसे हुलस रहे थे मानों कानों में अमृत चुआया जा रहा हो। इससे अनुमान होता है कि ऐसे रासक पद भी होते थे जो अश्लील नहीं थे। ये रासक पद

गेय ही थे। इसके अतिरिक्त बाण ने रासक के कुछ असली रूप का भी उल्लेख किया है जिसके अनुसार रासक एक प्रकार का मंडली नृत्य था—

सावर्त इव रासक मण्डलैः (हर्ष० पृ० १३०)

अर्थात् हर्ष-जन्मोत्सव पर रासक नृत्य की मंडलियाँ घूमघूम कर नृत्य कर रही थीं और उनके घुंघरुओं के फैलने से ज्ञान पड़ता था कि उत्सव ने आवर्तसमूह का रूप धारण कर लिया हो।

इससे भी अधिक सूचना देते हुए बाण ने लिखा है—

रैणत्रावर्तमण्डली रेचकरासरस-रभसारब्धनर्तनारम्भारभटीनटाः।
(हर्ष० पृ० ४८)

यहाँ रास, मंडली और रेचक इन तीन प्रकार के मिलते जुलते नृत्यों का उल्लेख है। शंकर के अनुसार हल्लीसक ही मंडली नृत्य था जिसमें एक पुरुष को बीच में करके स्त्रियाँ मंडलाकार नृत्य करती थीं जैसा कृष्ण और गोपियों का नृत्य था—

मण्डलेन तु यन्नृत्तं हल्लीसकमिति स्मृतम्।
एकस्तत्र तु नेता स्याद् गोपस्त्रीणां यथा हरिः॥*

भोज के अनुसार हल्लीसक नृत्य ही तालयुक्त बंध विशेष के रूप में रास कहलाता था—

तदिदं हल्लीसकमेव तालबन्धविशेषयुक्तं रास एवेत्युच्यते।

टीकाकार शंकर ने रास का लक्षण इस प्रकार किया है—

अष्टौ षोडशद्वात्रिंशद्यत्र नृत्यन्ति नायकाः।
पिण्डीबन्धानुसारेण तन्नृत्तं रासकं स्मृतम्॥

अर्थात् ८, १६ या ३२ पुरुष जहाँ पिंडी बंध बनाकर नाचें वही रास कहा जाता है। पिंडीबंध का तात्पर्य उस मंडलाकार शृंखला से हो जो नृत्य करने वाले हाथ बाँध कर, या हाथ में हाथ मारकर ताल द्वारा, या डंडे बजाते हुए रच लेते हैं। वस्तुतः वही रास का प्राण है।

---

* भोजकृत सरस्वती कंठाभरण में इसका यह रूप है—
मण्डलेन तु यत्स्त्रीणां नृत्तंहल्लीसकं तु तत्। तत्र नेता भवेदेका गोपस्त्रीणां हरिर्यथा (२।१५६)

शंकर ने रेचक की व्याख्या करते हुए कटीरेचक, हस्तरेचक और ग्रीवारेचक का उल्लेख किया है, अर्थात् हाथ, गर्दन और कमर का अभिनयात्मक मटकाना। बाण के वाक्य में जो तीन पद आए हैं उन्हें यदि एक अर्थ में अन्वित माना जाय तो चित्र और सटीक बैठता है, अर्थात् वह नृत्य रास या जिसमें नाचने वाले घेर-घिरारेदार चक्कर (आवर्तमंडली) बनाते हुए और विविध अंगों को कई मुद्राओं में मटकाते हुए नाचते थे। बाण ने हर्ष-जन्मोत्सव के वर्णन में ही 'ताला व चर चारणचरणक्षोभ' (पृ० १३१) नामक नृत्य का उल्लेख किया है, अर्थात् चारण लोग ताल के साथ पैर उठाते हुए नाच रहे थे। यह भोज के 'तालबंधविशेष' का ही रूप है। अतएव सप्तम शती में गेयात्मक एवं नृत्यात्मक मंडली नृत्यों का लोक में पूर्ण प्रचार था, ऐसा सिद्ध होता है। मध्यकालीन लेखकों ने तालक रास और दंडक रास (=डोल्या रास) इन दो भेदों का उल्लेख किया है। उनका विकास गुप्त युग में ही हो चुका था। इसका प्रमाण बाघ की गुफा में लकुटरास और तालक रास के दो अति सुंदर चित्र हैं जो सौभाग्य से सुरक्षित रह गए हैं। ये चित्र लगभग पाँचवीं शती के हैं। यह रास नृत्य उससे अधिक प्राचीन होना चाहिए। श्रीमद्भागवत में भी कृष्ण और गोपियों के रास का वर्णन आया है। वह भी गुप्त संस्कृति का ही महान् चित्र है। किंतु हमारा अनुमान है कि रास नृत्य का उत्तराधिकार और भी प्राचीन युगों की देन थी। यह नृत्य इतना स्वाभाविक है और इसका लोकधर्मी तत्त्व इतना प्रधान है कि लोक या जन-जीवन में इस प्रकार के नृत्य का अस्तित्व उन धुँधले युगों तक जा सकता है जिनका ऐतिहासिक प्रमाण अब दुष्प्राप्य है। जैसे सट्टक की गणना बाद की उपरूपक सूची में है पर द्वितीय शती विक्रम पूर्व के भरहुत स्तूप की वेदिका पर सट्टक नृत्य का अंकन पाया गया है। उस पर यह लेख भी है—साडकं सम्मदं तुरं देवानं (बरुआ, भरहुत, भाग १, फलक २; भाग ३, चित्र ३४)। साडक को स्टेनकोनो जैसे विद्वानों ने सट्टक ही माना है। इस दृश्य में कुछ गाने वाले हैं, और चार स्त्रियाँ नृत्य कर रही हैं, एवं एक तूर्य या वृन्दवाद्य है जिसमें वीणावादिनी स्त्री, पाणिवादक, माड्डुकिक और झार्झरिक अंकित किए गए हैं (देखिए पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० १७१)। इसी प्रकार विविध उपरूपकों की लोकप्राचीनता बहुत संभाव्य है। यदि हम ऋग्वेद में आई हुई नृत्य संबंधी सामग्री पर ध्यान दें तो उसका एक उल्लेख ध्यान देने योग्य है—

यद्देवा अदः सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत।
अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरजायत॥
(ऋ० १०।७२।६)

अर्थात् सृष्टि के आरंभ में एक महान् सलिलसमुद्र था। उसमें देवता एक दूसरे से हाथ मिलाकर (सुसंरब्धाः=शृंखला बाँधकर) ठहरे हुए थे। उनके नृत्य या तालबंध चरण क्षोभ से जो तीव्र धूल छा गई वही यह विश्व है। अदिति माता के सात पुत्र ही थे देव थे जो इस प्रकार का संमिलित नृत्य कर रहे थे। श्री कुमार स्वामी ने सुसंरब्धाः का यही अर्थ किया है और सूक्त में वर्णित विषय से यही सुसंगत है, अर्थात् ऐसा नृत्य जिसमें कई नर्तक परस्पर छंदोमय भाव से नृत्य करते हुए चरणों की ताल से रेणु का उत्थापन करें। यह वर्णन राससंज्ञक मंडली नृत्य या आवर्तनचरणसंचालन की ओर ही संकेत करता जान पड़ता है। ऐसी स्थिति में मंडलाकार रासनृत्य की लोकपरंपरा का दर्शन संस्कृति के आरंभिक युग में ही मिल जाता है।

कालांतर में रास-संबंधी जो सामग्री उपलब्ध होती है उसका विवेचन ग्रंथ की भूमिका में किया गया है। उससे ज्ञात होता है कि बीसलदेव रास के अनुसार भीतरी मंडल छोटा और बाहरी सघन होता था। जयपुर महाराज के संग्रह में उपलब्ध प्रसिद्ध रासमंडल चित्र में चित्रकार ने इस स्थिति का स्पष्ट अंकन किया है। रास की परंपरा ने भारतीय संस्कृति और साहित्य को अत्यधिक प्रभावित किया था, यह प्रस्तुत ग्रंथ से स्पष्ट लक्षित है। यह साहित्यिक प्रयत्न सर्वथा अभिनंदनीय है।

वासुदेव शरण अग्रवाल

काशी विश्वविद्यालय २४.८।५९

विषय-सूची

रास और रासान्वयी काव्य

विषय रास

द्वितीय खंड

प्राचीन ऐतिहासिक रास

तृतीय खंड

रामकृष्ण रास

परिशिष्ट (अर्थ)

———

रास का काव्य-प्रकार

कभी-कभी यह प्रश्न उठता रहता है कि रास, रासो एवं रासक में भेद है अथवा ये तीनों शब्द पर्याय हैं। नरोत्तम स्वामी की धारणा है कि वीररस प्रधान काव्य की रासो संज्ञा दी जाती थी और वीर-रास, रासो एवं रासक रसेतर काव्य रास कहलाते थे। नरोत्तम स्वामी की इस मान्यता को दृष्टि में रखकर रास, रासो एवं रासक नाम से प्रसिद्ध कृतियों के विश्लेषण द्वारा हम किसी निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयास करेंगे। 'उपदेश रसायन रास' को कवि रास की कोटि में में रखता है और उसी रास की वृत्ति के आरंभ में वृत्तिकार जिनपालो-पाध्याय (सं० १२९५ वि०) इसे रासक अंकित करते हैं—

"चर्चरी-रासकप्रख्ये प्रबन्धे प्राकृते किल।
वृत्तिप्रवृत्तिं नाधत्ते प्रायः कोऽपि विचक्षणः॥
प्राकृतभाषया धर्मरसायनाख्यो रासकश्चक्रे।"

इससे यह संकेत मिलता है कि एक ही रचना को रास अथवा रासक कहने की प्रथा अति प्राचीन काल से चली आ रही है।

'भरतेश्वर बाहुबलि' (रचनाकाल सं० १२४१) को शालिभद्र सूरि ने "रासहं" और कहीं 'रासउ' कहकर संबोधित किया है। रास, रासह, रासउ, रासक के अतिरिक्त रासु नाम भी पाया जाता है। सं० १२५७ में आसिगु ने 'जीवदया रास' में रासु शब्द का प्रयोग किया है—

'उरि सरसति असिगु भणइ, नवउ रासु जीवदया सारु।'

तेरहवीं शताब्दी के अंत में 'रेवंतगिरि रास' में 'रासु' शब्द का प्रयोग मिलता है।

"भणिसु रासु रेवंतगिरे, अंबिके देवी सुमरेवि।"

इसी शताब्दी (१३ वीं शताब्दी) में 'नेमिरास' और 'आबू रास' को रासो की संज्ञा दी गई है। यद्यपि इन दोनों में किसी में वीररस नहीं है—

'नंदीवर धनु जासु निवासो। पमणउ नेमि जिणंदह रासो।'

चौदहवीं शताब्दी के प्रारंभ में 'रासलउ' का प्रयोग अभयतिलक ने अपने 'महावीर रास' में इस प्रकार किया है—

पभणिसु वीरह रासलउ अनुसभलउ भविय मिलेवि।
इय नियमणि उल्लासि 'रासलहुउ' भवियण दियहु॥

'सप्त क्षेत्रिरास' में रासु शब्द का प्रयोग मिलता है—

'तहि पुरुहुँउ रासु सिव सुख निहाणु।'

इसी प्रकार कछूलि[1]रास, चंदनवाला[2]रास, समरा[3]रास, ज़िनदत्त[4] सूरि पट्टाभिषेक रास में रासु या रासो का प्रयोग मिलता है।

इसी प्रकार वीसलदेव रासो की पुष्पिका[5] में रास शब्द और मध्य[6] में रास, रास रसायण शब्द व्यवहृत हैं—

इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि रास, रासक और रासो एकार्थवाची हैं। इनमें कोई भेद नहीं।

ऐसा प्रतीत होता है कि रास से रासक शब्द बना और वही रासक> रासअ>रासउ से रासो बन गया।

अतः रास, रासो और रासक को एक मान कर रास-साहित्य का विवेचन करना अनुचित न होगा। रासक शब्द नाट्यशास्त्रों में नृत्य और नाट्य दो रूपों में व्यवहृत हुआ है। अग्नि पुराण के अध्याय ३२८ में नाटक के २७ भेदों में रासक नाम का उल्लेख मिलता है, किंतु उक्त स्थल पर न तो उस का कोई लक्षण दिया गया है और न उपरूपक की उसे संज्ञा दी गई है।

१—सिरिभद्देसर सूरि हि वंसो, वीजी साह हवंनिसु रासो।
२—एहु रासु पुण वृद्धिहि जंति भावहिं भरतिहिं जिण पर दिति।
३—तसु सीसिहि अम्बदेव सूरि हिरंचियउ समरारासो।
४—अमिया सरिसु जिनपदमसूरि पटठवणह रासू।
५—इति श्री वीसलदेव चहूआण रास सम्पूर्णः।
६. गायो हो रास सुणै सब कोई।
साँभल्याँ रास गंगा-फल होई॥
कर जोड़े 'नरपति' कहइ।
रास रसायण सुणै सब कोई॥ १०॥
वीसल देव रासो नागरी प्रचारिणी सभा, काशी। सं० २००८ वि०।

अग्नि पुराण से पूर्व नाट्यशास्त्र[१] में लास्य के दस अंगों का वर्णन मिलता है, किंतु उनमें रासक का कहीं उल्लेख नहीं। इस से अनुमान होता है कि अग्नि पुराण से पूर्व रासक शब्द की उत्पत्ति नाटक के अंग के रूप में नहीं हो पाई थी।

दशरूपक की अवलोकटीका में नृत्य भेद का उद्धरण मिलता है उसमें रासक को 'भाणवत्' उपाधि इस प्रकार दी गई है—

डोम्बीश्रीगदितं भाणो
भाणी प्रस्थान रासकाः।
काव्यं च सप्त नृत्यस्य
भेदाः स्युस्तेऽपि भाणवत्॥

यद्यपि दशरूपक में नृत्य के इन सातो भेदों का नामोल्लेख है किंतु इन्हें कहीं भी उपरूपक की संज्ञा नहीं दी गई। इसी प्रकार अभिनव-भारती में रासक का उल्लेख है किंतु उसे उपरूपक नहीं माना गया है।

हेमचंद्र के 'काव्यानुशासन' में गेय काव्यों के अंतर्गत रासक का नाम मिलता है। तात्पर्य यह है कि हेमचंद्र तक आते-आते नृत्य के एक भेद रासक ने गेयकाव्य की स्थिति प्राप्त कर ली। शारदातनय ने 'भाव प्रकाश' में बीस नृत्य भेदों को रूपक के अवांतर भेद के अंतर्गत माना है। वे कहते हैं—

दशरूपेण भिन्नानां रूपकाणामतिक्रमात्।
अवान्तरभिदाः कश्चित्पदार्थाभिनयात्मिकाः॥
ते नृत्यभेदाः प्रायेण संख्यया विंशतिर्मताः।

इस प्रकार शारदातनय ने २० नृत्य भेदों का उल्लेख कर के उन्हें रूपक के अवांतर भेद में संमिलित तो कर दिया है किंतु उनमें नाट्यरासक को उपरूपक नाम से अभिहित किया और रासक को नृत्य नाम से। आगे चल कर साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने रासक को स्पष्टतया उपरूपकों की कोटि में परिगणित किया।

---

१. गेयपदं स्थित पाठ्यमासीनं पुष्पगण्डिका।
प्रच्छेदकत्रिमूढाख्यं सैन्धवं च द्विमूढकम्॥ १८३॥
उत्तमोत्तमकं चैव उक्त प्रत्युक्तमेव च।
लास्ये दशविधं ह्येतदङ्गनिर्देश लक्षणम्॥ १८४॥
नाट्य शास्त्रम १८ अध्यायः

संस्कृत-लक्षण-ग्रंथों के अतिरिक्त विरहांक कृत 'वृत्त जाति समुच्चय' एवं स्वयंभू कृत 'स्वयंभूच्छंदस्' (९वीं शताब्दी) में रासक को एक छंद विशेष एवं एक काव्य प्रकार के रूप में हम देखते हैं—

अडिलाहि दुवहएहिंव मत्ता-रड्ढहिं तह अढोसाहिं।
बहुएहिं जो रइज्जई सो भण्णइ रासऊ णाम॥

जिस रचना में घना अडिल्ला, दूहा, मात्रा, रड्डा और ढोसा आदि छंद आयें वह रासक कहलाती है। [वृत्त जाति समुच्चय ४-३८]

स्वयंभू के अनुसार जिस काव्य में घत्ता, छड्डणिया, पद्धडिआ तथा अन्य सुंदर छंद-बद्ध रचना हो, जो जन-साधारण को मनोहर प्रतीत हो वह रासक कहलाती है।

(स्वयंभू छंदस् ८।४२……)

इस विवेचन से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि उत्तर अपभ्रंश-काल अथवा पुरानी-हिंदी-युग में रास नामक नृत्य से विकसित हो कर रासक उपरूपक की कोटि में विराजमान हो गए थे। जब हम 'संदेश रासक' का अध्ययन करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उस युग में भी रास या रासक दो रूपों में प्रचलित थे। एक स्थान पर तो वह नृत्य के रूप में वर्णित है किंतु दूसरे स्थान पर वह हेमचंद्र के गेय रूपक की परिधि में आसीन है। हेमचद्र ने रामाक्रीड आदि गेय उपरूपकों के अभिनय के लिए 'भाष्यते' शब्द का प्रयोग किया है, जो इस प्रकार मिलता है—

ऋतु-वर्णन संयुक्तं रामाक्रीडं तु भाष्यते[1]।

ठीक इसी प्रकार का वर्णन संदेश-रासक[2] में मिलता है—

कह व ठाइ चउवेइहिं वेउ पयासियइ,
कह बहुरुवि णिबद्धउ रासउ भासियइ॥

अर्थात्—

कुत्रापि चतुर्वेदिभिः वेदः प्रकाश्यते।
कुत्रापि बहुरूपिभिर्निबद्धो रासको भाष्यते॥

इन्हीं प्रमाणों के आधार पर प्राचीन हिंदी में विरचित रासों को उपरूपक की संज्ञा देना समीचीन प्रतीत होता है।

१—काव्यानुशासनम्—अ० ८ सू० ४, ६५ पृ० ४४६।
२—संदेश रासक—द्वितीय प्रक्रम—पद्य ४३।

कतिपय विद्वानों की धारणा है कि रास को गेयरूपक मानना भ्रांति है। रास केवल श्रव्य काव्य थे, उनका अभिनय सम्भव नहीं था।

डा० भोलाशंकर व्यास[1] 'हिंदीसाहित्य का बृहत् इतिहास' में लिखते हैं—रासक का गीति नाट्यों से संबंध जोड़ने से कुछ भ्रांति भी फैल गई है। कुछ विद्वान् 'संदेश रासक' को हिंदी का प्राचीनतम नाटक मान बैठे हैं। ऐसा मत—प्रकाशन वैचारिक अपरिपक्वता का द्योतक है। वस्तुतः भाँडों के द्वारा नौटंकियों में गाए जाने वाले गीतों के लिए रासक शब्द प्रयुक्त हुआ है, ठीक वैसे ही जैसे बनारस की कजली को हम नाटक का रूप मान सकें तो रासक भी नाटक कहा जा सकता है।'

डा० व्यास के मतानुसार 'रास को नाटक की कोटि में परिगणित करके हिंदी नाटकों पर उनका प्रभाव दिखाना निराधार एवं कोरी कल्पना है।' इस प्रसंग में हम उन प्रमाणों को उद्धृत करेंगे जिनके आधार पर रास को गेयरूपक की कोटि में रखने का साहस काव्यशास्त्रियों को हुआ होगा। पूर्व अध्यायों में रासक का लक्षण देते हुए विविध काव्यशास्त्रियों का मत उद्धृत किया जा चुका है। हेमचंद्र के उपरांत रासक को उपरूपक की संज्ञा मिलने लगी। इसका कोई न कोई कारण अवश्य रहा होगा—

'उपदेश रसायन रास' के अनुसार रास काव्य गेय थे—

१—अयं सर्वेषु रागेषु गीयते गीत कोविदैः।

'रेवंतगिरि रास' में रास की अभिनेयता का प्रमाण देखिए—

२—रंगहिं रमए जो रासु, सिरि विजय सेणिसूरि निम्मविउए।

(सं० १२८ वि०)

'उपदेश रसायन रास' से पूर्व दाँडारास के प्रचलन का प्रमाण कर्पूर-मंजरी के निम्नलिखित उद्धरण के आधार पर प्रस्तुत किया जा सकता है—

[ततः प्रविशति चर्चरी]

विदूषकः—

मोत्ताहलिल्लाहरणुच्चआओ लास्सावसाणे चलिअंसुआओ।
सिचंति अण्णोण्णमिमीअ पेक्ख जंताजलेहिं मणिभाजणेहिं॥

१—डा० भोलाशंकर व्यास—हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास पृ० ४१४

इदो अ (इतश्च)

परिब्भमन्तीअ विचित्तबन्धं इमाइ दोसोलह णच्चणीओ ।
खेलन्ति तालाणुगदपदाओ तुहांगणे दीसइ दण्डरासो ॥

[हिंदी रूपांतर]

"चर्चरी का नृत्य दिखानेवाली नर्तकियाँ रंगमंच पर आती हैं। मुक्तालंकार धारण किए हुए वे नर्तकियाँ, जिनके वस्त्र हवा में उड़ रहे थे, नृत्य समाप्ति पर यंत्र से निकले जल से युक्त माणिक्य पात्रों से एक दूसरे को भिगो रही हैं।"[1]

इधर तोः—

ये बत्तीस नर्तकियाँ विचित्र बंध बनाकर घूम रही हैं, इनके पैर ताल के अनुसार पड़ रहे हैं। इसलिए तुम्हारे आँगन में दंडरास सा दिखलाई पड़ रहा है।

इसके उपरांत दंडरास और चर्चरी का विशद वर्णन इस प्रकार मिलता है—

कुछ नर्तकियाँ कंधे और सिर बराबर किए हुए तथा भुजाएँ और हाथों को भी एक सी स्थिति में रखे हुए और जरा भूल न करते हुए दो पंक्तियों में लय और ताल के मेल के साथ चलती हैं और एक दूसरे के सामने आती हैं।

कुछ नर्तकियाँ रत्न जड़े हुए कवच उतार कर यंत्रों से पानी की धारें छोड़ती हैं। पानी की वे धारें उनके प्रेमियों के शरीर पर कामदेव के वारुणास्त्र के समान पड़ती हैं।

स्याही और काजल की तरह कृष्ण शरीरवाली, धनुष की तरह तिरछी नजरेंवाली और मोर के पंखों के आभूषणों से युक्त ये विलासिनी स्त्रियाँ शिकारी के रूप से लोगों को हँसाती हैं।

कुछ स्त्रियाँ हाथ में नरमांस को ही उपहार रूप से धारण किए हुए और 'हुंकार रूप से सियारों का सा शब्द करती हुई तथा रौद्ररूप बनाकर राक्षसियों के चेहरे लगाकर श्मशान का अभिनय करती हैं।

१—कर्पूर मंजरी सट्टक—राजशेखर—चतुर्थ जवनिकान्तरम् १२-१५

कोई हरिणी जैसे नेत्रोंवाली नर्तकी मर्दल बाजे के मधुर शब्द से द्वार-विष्कंभ को जोर जोर से बजाती हुई अपनी चञ्चल भौंहों से चेटीकर्म करने में लगी हुई है।

कुछ स्त्रियाँ क्षुद्र घंटिकाओं से रणज्झण शब्द करती हुई, अपने कंठों के गीत के लय से ताल को जमाती हुई परिव्राजिकाओं के वलय रूप से नाचती हुई ताल से अपने नूपुरों को बजाती हैं।

कुछ स्त्रियाँ कुतूहलवश चंचल वेश बनाकर, वीणा बजाती हुई और मलिन वेश से लोगों को हँसाती हुई पीछे हटती हैं, प्रणाम करती हैं और हँसती हैं।"

चर्चरी नर्त्तन करनेवाली नर्त्तकियाँ दांडारास के सदृश एक नर्त्तन दिखाती हैं। इस उद्धरण से यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि दांडारास उस काल में अत्यधिक प्रचलित था। और उससे साम्य रखनेवाले नृत्य चर्चरी के नाम से प्रसिद्ध हो चुके थे। दांडारास एक प्रकार का नृत्य था जिसके माध्यम से किसी कथानक के विविध भावों की, अभिनय के द्वारा, अभिव्यक्ति की जाती।

ऐसा प्रतीत होता है कि दांडा रास के अभिनय के लिए लघु गीतों की सृष्टि होती थी। आज भी लघुगीतों की रचना सौराष्ट्र में होने लगी है और उन गीतों के भावों के आधार पर नर्त्तक नृत्य दिखाते हैं।

राजशेखर का समय ९वीं शताब्दी का अंत माना जाता है। इस कारण यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि दांडा रास जिसका उल्लेख अनेक बार परवर्त्ती साहित्य में विद्यमान है, नवीं शताब्दी में भली प्रकार प्रचलित हो चुका था।

'रिपुदारण रास' की कथावस्तु से यह निष्कर्ष निकलता है कि हर्षवर्धन (६०६–६४८ ई०) के युग में कृष्ण रास की शैली पर बौद्ध महात्माओं के जीवन को केंद्र बनाकर रास नृत्यों की उपयोगिता सिद्ध हो चुकी थी। नवीं शताब्दी में चर्चरी एवं रास द्वारा आमुष्मिकता का मोह त्याग कर लौकिक सुख संबंधी भावों का अभिनय दिखाया जाता था।

नाल्ह की रचना 'वीसलदेवरासो'[1] का एक उद्धरण ऐसा मिलता है

१—वीसलदेव रासो—संपादक सत्यजीवन वर्मा—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी। पृ० ५

जिसके आधार पर रास के खेल में नृत्य, वाद्य एवं गीत के प्रयोग का प्रमाण पाया जाता है—

सरसति सामणी करउ हउ पसाउ।
रास प्रगासउँ वीसल-दे-राउ॥
खेलाँ पइसइ माँडली।
आखर आखर आणाजे जोड़ि॥

इसी रास में दूसरा उद्धरण विचरणीय है—

गावणहार माँडइ (अ) र गाई।
रास कइ (सम) यह वँसली वाई॥
ताल कई समचइ घूँघरी।
माँहिली माँड़ली छीदा होइ॥
बारली माँडली साँधणा।
रास प्रगास ईंणी विधि होइ॥

उपर्युक्त उद्धरण के अनुसार रास के गायक अपना स्वर ठीक करके बाँसुरी बजा बजाकर ताल के साथ नर्त्तन करते हुए रास का अभिनय करते हैं। मध्य की रासमंडली कम सघन होती है और बाहर को मंडली सघन है। इस प्रकार रास का प्रकाश होता है।

चौदहवीं शताब्दी में रास के अभिनय का प्रमाण 'सप्तक्षेत्रि[1] रासु' के आधार पर इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

बइसइ सहूइ श्रमणसंघ सावय गुणवंता।
जोयइ उच्छवु जिनह भुवणि मनि हरष धरंता।
तीछे तालारास पडइ बहु भाट पढंता।
अनइ लकुटरास जोहई खेला नाचंता॥

इस उद्धरण में भी भाटों के द्वारा तालारास का पढ़ना वर्णित है। किंतु साथ साथ ही नाचते हुए लकुट रास का खेलना भी दिखाया गया है। यही पद्धति सभी लोक नाटकों की है। जिन्होंने कभी यक्ष-गान का अभिनय देखा होगा उन्हें ज्ञात होगा कि एक ही कथानक को गीत एवं नर्त्तन के द्वारा युगपत् किस प्रकार प्रकट किया जाता है।

१—सप्तक्षेत्रिरास—प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह-पृष्ठ ५२।

इसी उद्धरण में रासकर्त्ताओं के नृत्य का वर्णन कवि इस प्रकार रखता है—

सविहू सरीपा सिणगार सवि तेवड तेवडा।
नाचइ धामीय रंभरे तउ भावइ रूडा।
सुललित वाणी मधुरि सादि जिण गुण गायंता।
तालमानु छंदगीत मेलु वाजिंत्र वाजंता।।

इस खेल में आहार्य एवं आंगिक अभिनय के साथ नृत्य, वाद्य एवं गायन का भी समावेश है। जिनवर के गुण-गान के लिए सब प्रकार की तैयारी है। इस खेल को उपरूपक के अंतर्गत रखना किस प्रकार अन्याय माना जाय।

संवत् १३२७ वि० में विरचित 'सम्यकत्व[1] माई चउपई' में तालारास एवं लकुटा रास का वर्णन निम्नलिखित रूप में मिलता है—

तालारासु रमणी बहु देई, लउअरासु मूलहु वारेइ।।

इस उद्धरण से तालारास और लकुट रास का उल्लेख स्पष्ट हो जाता है। चक्राकार घूमते हुए तालियों के ताल पर संगीत के साथ-साथ पैरों की ठेक देकर तालारास का अभिनय होता है और डांडियों (लकुटी) के साथ मंडलाकार नृत्य को लकुटारास कहा जाता है।

'संघपति समरा रास' से भी ताल एवं नृत्य के साथ रास के अभिनय का वर्णन पाया जाता है। रास का केवल सृजन एवं पठन-पाठन ही पर्याप्त नहीं माना जाता था। रास को नृत्य के आधार पर प्रदर्शित करना भी अनिवार्य था। प्रमाण के लिए देखिए—

'एहु रासु जो पढ़ई गुणई नाचिउ जिण हरि देई।'

'समरा रास' की रचना सं० १३७६ वि० में हुई। उसके अनुसार भी लकुट[2] रास के अभिनय की सूचना मिलती है—

जलवटनाटकु जोइ नवरंग ए रास लउडारस ए।

इस प्रसंग में देवालय के मध्य लकुट रास के अभिनय का उल्लेख मिलता है। संघसहित संघपति विराजमान हैं। सम्मुख जल राशि से उठती

१—सम्यकत्व माई चउपई ।। २१ ।।
२—समरारास-प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह पृ० ३६।

हुई उत्ताल तरंगे आकाश को स्पर्श करती दिखाई पड़ती हैं। जलराशि के समीप लकुटरास का नाटक लोग देख रहे हैं।

नृत्यकाल में अभिनय करते घाघरी का उल्लेख मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि घाघरी में घूँघरू लगे होते थे जिनसे झमकने की ध्वनि आती रहती[1]—

खेला नाचइ नवल परे घाघारिरवु झमकइ।
अचरिउ देषिउ धामियह कह चित्तु न चमकइ।

सं० १४१५ के आसपास ज्ञानकलश मुनि विरचित 'श्री जिनोदयसूरि पट्टाभिषेक रास' में इस प्रकार उद्धरण मिलता है—

नाचइ ए नयण विशाल, चंदवयणि मन रंग भरे;
नवरंगि ए रासु रमंति, खेला खेलिय सुपरिवरे।

इस उद्धरण में रास के खेला खेलिय का अभिनय के अतिरिक्त क्या अर्थ लगाया जा सकता है।

अगरचंद नाहटा ने अन्य कई रास ग्रंथों से रासक की अभिनेयता का प्रमाण दिया है। संक्षेप में कतिपय अन्य प्रमाण उपस्थित किए जा रहे हैं—

१—सं० १३६८ में वस्तिग रचित 'वीश विहरमान रास' में-

२—सं० १३७१ में अम्बदेव सूरि कृत 'समरा रासो' में—

३—सं० १३७१ में गुणाकर सूरि कृत 'श्रावक विधि रास' में।

४—सं० १३७७ में धर्मकलश विरचित 'जिनकुशल सूरि पट्टाभिषेक रास' में—

५—सं० १३६० में सारमूर्ति रचित 'जिन दत्त सूरि पट्टाभिषेक रास' में।

६—सं० १३६० में मंडलिक रचित 'पेथड रास' में।

इसी प्रकार अनेक प्रमाणों को उद्धृत किया जा सकता है जिनसे रासक के अभिनेय होने में संदेह नहीं रह जाता।

१४ वीं शताब्दी तक रासों की रचनापद्धति देखकर यह स्वीकर करना पड़ता है कि ये लघुकायरास ग्रंथ अभिनय के उद्देश्य से विरचित होते थे। इनकी भाषा अपभ्रंश प्राय रही है। अनुसंधान कर्त्ताओं को उपरोक्त रास ग्रंथों

१—समरारास प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह पृ० ३१।

के अतिरिक्त जिन प्रभसूरि के अपभ्रंश विरचित दो ग्रंथ पाटण में ताड़पत्रों पर उत्कीर्ण प्राप्त हुए हैं—(१) अंतरंग रास (२) नेमिरास। नाहटा जी का निश्चित मत है कि १४ वीं शताब्दी तक विरचित रास लघुकाय होने के कारण सर्वथा अभिनेय होते थे। वे कड़वकों में विभाजित होते और अडिल्ल, रासा, पद्धड़िआ आदि छंदों में विरचित होने के कारण गेय एवं अभिनेय प्रतीत होते हैं।

रास के गेय रूपकत्व में क्रमिक विकास हुआ है। इस विषय में पत्र-पत्रिकाओं में समय समय पर लेख प्रकाशित होते रहे हैं। यहाँ संक्षेप में प्रो० भ० र० मजमुदार[1] के मत का सारांश दे देना पर्याप्त होगा।—

"साहित्य-स्वरूप की दृष्टि से 'रासक' एक नृत्य काव्य या गेयरूपक है। संस्कृत नाट्यशास्त्र के ग्रंथों में 'रासक' और 'नाट्य रासक' नाम से दो उप-रूपकों की टिप्पणी प्राप्त होती है। कुछ लोग इस उपरूपक को 'नृत्यकाव्य' कहते हैं और हेमचंद्र इसे गेयरूपक मानते हैं। इसका अर्थ यह है कि (१) इसमें संगीत की मात्रा अधिक होती है। (२) पूर्णकथावस्तु छंदों के माध्यम से वर्णित होती है। (३) सभी गेय पद पूर्ण अभिनेय होने चाहिए।"

प्रो० मजूमदार 'संदेश रासक' की अभिनेयता का परीक्षण करते हुए लिखते हैं—'सन्देश-रासक' के सभी छंद गेय हैं और इसकी समस्त कथावस्तु अभिनेय है। इसलिए यह गेयरूपक है और यह नाटक की भाँति प्रत्यक्ष दिखाने के लिये ही लिखा गया था ऐसा तो उसकी टीका से ही स्पष्ट दिखाई देता है। प्रथम गाथा के आरंभ में टीकाकार कहते हैं—

'ग्रन्थप्रारम्भे अभीष्ट देवता प्रणिधानप्रधाना प्रेक्षवतां।
प्रवृत्तिरित्यौचित्यात् सूत्रस्य प्रथम नमस्कार गाथा।'

इस उद्धरण में ग्रंथ लेखक के लिए प्रेक्षावत् शब्द का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि टीकाकार इसे रूपक का ही एक प्रकार मानते हैं। आगे चल-कर बहुरूपियों के द्वारा इस काव्य का पढ़ा जाना यह सिद्ध करता है कि ये केवल श्रव्य काव्य नहीं अपितु बहुवेश धारण करनेवाली जाति के द्वारा यह गाया भी जाता था।

१—प्रो० मं० र० मजुमदार-गुजराती साहित्य नां रूपरेखा—पृ० ७२

'संदेशरासक' की अभिनय पद्धति—

प्रो० मजमुदार[1] का मत है कि "एक नट नायिका का और दूसरा नट प्रवासी का रूप धारण करता होगा, दोनों प्रेक्षकों के संमुख आकर परस्पर उत्तर प्रत्युत्तर एवं संवाद के द्वारा संगीत तथा अभिनय की सहायता से अपना अपना पाठ करते होंगे।"

इसी मत का समर्थन करनेवाली संमति प्रो० डोलरराय[2] मांकड की भी है। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि "आ ज खरीरीते, गेयरूपक नुं खरुं लक्षण हतुं"।

डा० भोलाशंकर व्यास की शंका के समाधान के लिए यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि रासक तथा काव्य-महाकाव्य में अंतर क्या है। इसका उत्तर देने के लिए अपभ्रंश काव्य परंपरा को सामने रखना होगा। संस्कृत महाकाव्यों को सर्गों में, प्राकृत को आश्वासों में, अपभ्रंश को संधियों में तथा ग्राम्य को स्कंधकों में विभाजित करने की पद्धति रही है। इस प्रकार अपभ्रंश के काव्य, महाकाव्य, गेयकाव्य प्रायः संधियों में विभाजित दिखाई पड़ते हैं। यहाँ तक अपभ्रंश के सभी काव्य प्रकारों में समानता है, किंतु संधियों के अंतर्गत छंद-प्रकार के कारण काव्य एवं रागकाव्य (गेयकाव्य) के अंदर भेद दिखाई पड़ता है। रागकाव्यों (गेयकाव्य) में कड़वक अथवा गेय पद होते हैं, जो राग रागिनियों में सरलता से बाँधे जाते हैं, किंतु प्रबंधकाव्य अथवा महाकाव्य के लिए रागबद्ध छंद अनिवार्य नहीं।

रास का उद्भव ही काव्य एवं महाकाव्य से भिन्न प्रकार से हुआ। रास का अर्थ है गरजना, ध्वनि। संभवतः इस अर्थ को सामने रखकर प्रारंभ में रास छंद की योजना की गई होगी। किंतु साथ ही रास एक प्रकार के नृत्य के रूप में भी प्रचलित था। किसी समय नृत्य के अनुरूप रास छंद की योजना हुई होगी। सामूहिक नृत्य के अनुकूल रास छंद के मिल जाने पर तदनुरूप कथावस्तु की योजना की गई होगी। इस प्रकार तीनों के मिलन से भरतमुनि के इस लक्षण के अनुसार 'रासक' को उपरूपक माना गया होगा—

१—प्रो० मं० र० मजमुदार—गुजराती साहित्यनी रूपरेखा—पृ० ७२

२—प्रो० डोलरराय मांकडनी नोंध, 'वाणी' चैत्र सं० २००४

मृदुललितपदाढ्यंगूढशब्दार्थहीनं,
जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोज्यं ।
बहुकृतरसमार्गं सन्धि-सन्धानयुक्तं,
भवति जगतियोग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम् ।

रासक में रसका मिश्रण अनिवार्य है। इसे पूर्ण बनाने के लिए नृत्य, संगीत और सरस पदों की निर्मिति आवश्यक मानी जाती है। इसी सिद्धांत का प्रतिपादन करने वाले के० के० शास्त्री, क०मा० मुंशी, एवं प्रो० विजयराय वैद्य प्रभृति विद्वान् हैं। रास को अन्य काव्य प्रकार से पृथक् करने वाला (व्यावर्त्तक धर्म) लक्षण है—नर्तकियों का प्राधान्य[1]।

रास नृत्य के भेद के कारण इस गेय रूपक के दो प्रधान वर्ग हो जाते हैं—(१) तालारास (२) लकुटा रास।

तालारास में मंडलाकार घूमते हुए तालियों से ताल देकर संगीत और पदचाप के साथ नर्त्तन किया जाता है।

लकुटा रास में दो छोटे-छोटे डंडों को हाथ में लेकर परस्पर एक दूसरे के डंडों पर ताल देते हैं। स्त्रियों के तालारास को 'हमची' कहते हैं और पुरुषों के तालारास को 'हींच' कहते हैं। जब दोनों साथ खेलते हैं तो उसे 'हींच हमची' कहते हैं। रास का मूल अर्थ है गर्जना। उसके बाद उसका अर्थ हुआ मात्रिक छंद में विरचित रचना। उसके बाद एक दो छंदों में विरचित रचना रास कहलाने लगी। तदुपरांत इसने स्वतंत्र गेय उपरूपक का अर्थ धारण किया। सामूहिक गेयरूपक होने पर रस अनिवार्य बन गया। इसीलिए रास काव्य रसायन कहे जाने लगे। रसपूर्ण होने के कारण ही यह रचना रास कहलाई ऐसा भी एक मत है।

१—'रास' ना लक्षणमाँ नर्त्तकीनुं प्राधान्य छे; एटले के ए एवो प्रबंध जोइए के जे जुदा जुदा राग माँ गवातो होय अने साथे नर्तकीओ अंदर नाचती जती होय।
—गुजराती साहित्य नां रूप रेखा
प्रो० मं० र० मजमुदार, पृ० ७४

रास की रचना पद्धति

जैन धर्म मनुष्य के आचरण-पालन पर बहुत बल देता है। जो व्यक्ति सद्धर्म-पालक हो और प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से परहित-चिंतन में संलग्न हो, वह जैन समाज में पूज्य माना जाता है। ऐसे पूज्य मुनियों की उपदेश-प्रद जीवनी के आधार पर कवियों ने अनेक श्रव्य-काव्य एवं दृश्य-काव्यों की रचना की।

चरित-काव्यों के कई प्रकार दिखाई पड़ते हैं। जिस प्रकार विलास, रूपक, प्रकाश आदि नामों से चरित काव्यों की रचना हुई "उसी प्रकार रासो या रासक नाम देकर भी चरितकाव्य लिखे गए[1]।" रतन रासो, संगतसिंह रासो, राणा रासो, रायमल रासो, वीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो के साथ रासो शब्द संयुक्त है। रतन विलास, अभै विलास, भीम विलास के साथ विलास और गजसिंहजी रूपक, राजा रूपक, रावरिणमल रूपक आदि के साथ रूपक शब्द इस तथ्य के प्रमाण हैं कि किसी का जीवन-चरित लिखते समय कवि की दृष्टि में उपर्युक्त प्रकारों में से कोई न कोई विशिष्ट काव्यरूप अवश्य केंद्रित रहता होगा।

इस संकलन के रास काव्यों की बंध शैली का परिचय जानने के लिए पूर्ववर्ती अपभ्रंश रचनाओं के काव्य-बंध पर प्रकाश डालना आवश्यक है। संस्कृत में उपलब्ध रास एवं अपभ्रंश के उत्तरवर्ती रास 'उपदेश रसायन', 'समरारास', कछूलीरास के मध्य की कई अपभ्रंश रचनाएँ चरिउ नाम से प्रसिद्ध हैं। ये काव्य संधियों, सर्गों, उद्देसओं एवं परिच्छेदों में विभाजित हैं। विमलसूरि का 'पउम चरिउ' उद्देसओं में, पुष्पदंत का णायकुमार चरिउ संधियों में, हेमचंद्र विरचित कुमारपाल चरित सर्गों में, मुनिकनकामर विरचित करकंडचरिउ संधियों में विभक्त है। संधि, सर्ग, उद्देस, परिच्छेद आदि का पुनः विभाजन देखा जाता है। करकंड चरिउ में १० संधियाँ हैं उन संधियों का दूसरा नाम परिच्छेद भी मिलता है। ये संधियाँ या परिच्छेद फिर कड़वकों में विभाजित हैं। प्रत्येक कड़वक के अंत में एक घत्ता मिलता है। प्रत्येक कड़वक में ८ से अधिक छंद मिलते हैं।

१—हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दीसाहित्य का आदिकाल—पृ० ६१।

ठीक इसी प्रकार का विभाजन 'णायकुमार चरिउ' में मिलता है। यह चरिउ ९ संधियों अथवा परिच्छेद में विभक्त है और प्रत्येक संधि कड़वकों में। प्रत्येक कड़वक के अंत में एक एक घत्ता है। प्रत्येक कड़वक में ८ से २० तक छंद हैं।

कविराज स्वयंभू देव का पउमचरिउ अपभ्रंश का प्रसिद्ध महाकाव्य माना जाता है। यह महाकाव्य काण्डों में विभक्त है और कांड संधियों में। फिर कांड कड़वकों में विभक्त हैं। प्रत्येक कड़वक के अंत में एक घत्ता होता है, और, प्रति कड़वक में ८ से अधिक छंद होते हैं।

वाल्मीकि रामायण की प्रद्धति पर यह चरिउ भी विज्जाहर कांड, अयोध्या कांड एवं सुंदर कांड में विभक्त है। विज्जाहर कांड में २० संधियाँ हैं। अउज्झा कांड में ४२ संधियाँ है और सुंदर कांड में ५६ संधियाँ।

कुमारपाल चरिउ में ६ सर्ग हैं प्रत्येक सर्ग विभिन्न छंदों से आवद्ध है। छंद संख्या ८० से एक शतक तक दिखाई पड़ती है। काव्य के प्रारंभ में मंगलाचरण मिलता है।

चरिउ एवं रास काव्यों के काव्य बंध का तुलनात्मक अध्ययन करने पर कई असमानताएँ दृष्टि में आती हैं। चरिउ काव्य में चरित्र नायक के जीवन की विस्तृत घटनाओं का परिचय मिलता है किंतु प्रारंभिकरास ग्रंथों में जीवन को नया मोड़ देने वाली घटना की ही प्रधानता रहती है। अन्य घटनाएँ रासकारों की दृष्टि में उपेक्षणीय मानी जाती हैं। इस प्रकार कथावस्तु के चयन में ही स्पष्ट अंतर दिखाई पड़ता है।

दूसरा अंतर है काव्य के विभाजन में। चरिउ काव्य जहाँ सर्गों, संधियों एवं कांडों में विभक्त हैं वहाँ प्रारंभिक रास काव्य 'भरतेश्वर बाहु' वलि को ठवणि में विभक्त किया गया है। और ठवणि को फिर वाणि, वस्तु; घात आदि में विभाजित कर लेते हैं।

अपभ्रंश के रास काव्यों 'उपदेश रसायन रास' एवं चर्चरी में कोई विभाजन नहीं। संपूर्ण रास ८० पज्झटिका छंदों में आवद्ध है। किंतु 'समरा रास', 'सिरिथूलि भद्द फागु' को भाषा (भास) में विभक्त किया गया है। समरारास में ११ भास हैं और 'सिरिथूलि भद्द फागु' में ६। सं० १२७० के आसपास विरचित 'नेमिनाथ रास' को ७ धूवउ में आवद्ध किया गया है। प्रारंभिक रास काव्यों के गेय बनाने के लिए इसी ढंग से विभाजित किया जाता था।

इस काल के प्रसिद्ध रास काव्य 'संदेशरासक' को तीन प्रक्रमों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक प्रक्रम को रड्डु, पद्धडी, डुमिला, रासा, अडिल्ल, युग्मम् आदि में आबद्ध किया गया है। शालिभद्र सूरि ने अपने 'पंचपंडव चरित रासु' को १४ ठवणियों में बाँटा है। ठवणी में वस्तु का विधान किया गया है। वस्तु के द्वारा कथा सूत्रों को एकत्रित किया जाता है।

पंद्रहवीं शताब्दी के हीरानंद सूरि विरचित 'कलिकाल रास' को ठवणी भास एवं वस्तु में विभाजित पाते हैं। ४८ श्लोकों[1] में आबद्ध यह लघु रास गेय छंदों के कारण सर्वथा अभिनेय हो जाते हैं।

'संघपति समरसिंह रास' में १२ भाषा हैं। प्रत्येक भाषा में ५ से १० तक छंद हैं। इस प्रकार यह लघुकाय रास सर्वथा अभिनेय प्रतीत होता है।

ऐतिहासिक रास रचना में भी कवि दृष्टि प्रारंभ में सदा अभिनेयता की ओर रहती थी। मुनि जिन विजय ने जिन रासकाव्यों को "जैन ऐतिहासिक गुर्जर काव्य संग्रह" में संकलित किया है उनमें अधिकांश ढालों में आबद्ध हैं। प्रत्येक रास में विविधरागों का उल्लेख है। न्यूनाधिक १०० श्लोकों में प्रत्येक रास की परिसमाप्ति हो जाती है। प्रत्येक ऐतिहासिक पुरुष के जन्मस्थान, गुरुउपदेश, दीक्षा, दीक्षामहोत्सव, शास्त्राभ्यास, परिभ्रमण एवं सूरि पदप्राप्ति का पृथक्-पृथक् विधान मिलता है। जन्म से अग्निसंस्कार तक की संपूर्ण कथा को ढाल एवं रागबद्ध करके अभिनय के निमित्त लिखने की परंपरा शताब्दियों तक चलती रही।

कतिपय रास काव्यों में स्वांग परंपरा के नाटकों के समान अंत में कलश की भी व्यवस्था है। 'श्री विबुधविमलसूरिरास[2]', श्री वीरविजयनिर्वाणरास[3] के अंत में कलश की व्यवस्था मिलती है। कलश में २ से लेकर १६–२० तक श्लोक मिलते हैं।

जंबूस्वामी रास उन प्रारंभिक रास काव्यों में है जिन्हें ठवणी में विभक्त किया गया है। किंतु ठवणी के अंत में 'वस्तु' का प्रयोग नहीं किया गया है। 'कछूली रास' का काव्यबंध ऐसा है कि इसके प्रत्येक भाग के अंत में वस्तु का सन्निवेश है किंतु भागों का नाम ठवणी नहीं है। 'भरतेश्वर बाहु

१—रासकार छंदों को श्लोक नाम से अभिहित करते हैं।

२—जैन ऐतिहासिक गुर्जर काव्य संग्रह–मुनिजिन विजय पृ० ३६

३— " " " " पृ० १०४–१०५

वलि एवं पंचपांडव रास ठवणी में विभक्त हैं और प्रत्येक ठवणी के अंत में वस्तु का विधान मिलता है।

लघु रासों में काव्य-विभाजन बड़ा ही सरल है। प्रत्येक रास में ५–६ से लेकर १५–२० तक ढाल पाए जाते हैं। प्रत्येक ढाल में १०–१२ से लेकर २०–२५ तक श्लोक (छंद) होते हैं। अनेक रासों में प्रारंभ में मंगल-प्रस्तावना होती है जो दूहा, रोला, घत्ता, चउपई आदि गेय छंदों के माध्यम से गाई जाती है। प्रस्तावना के उपरांत ढाल प्रारंभ हो जाती है। प्रत्येक ढाल के प्रारंभ में राग रागिनियों का नामोल्लेख होता है।

ऐतिहासिक रासों में चरित्रनायक के जीवन का विभाजन इस प्रकार भी किया गया है—(१) मातापिता और बाल्यावस्था, (२) तीर्थयात्रा, गुरुदर्शन, (३) दीक्षाग्रहण, (४) शास्त्राभ्यास, आचार्यपद, (५) शासन पर प्रभाव, (६) राजा महाराजा से संमान, (७) स्वर्गगमन, (८) उपसंहार।

पंद्रहवीं शताब्दी के उपरांत लघु रासों की एक धारा अभिनेयता के गुणों से समन्वित फागु काव्यों में परिलक्षित होती है और दूसरी धारा काव्यगुणों को विकसित करती हुई श्रव्य काव्यों में परिणत हो गई है। परिणाम यह हुआ कि सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में विशालकाय रास निर्मित होने लगे। कविवर ऋषभदास ने १७वीं शताब्दी के प्रारंभ में 'श्री कुमारपाल राजा नो रास' निर्मित किया। इस रास को उन्होंने पूर्वार्ध एवं उत्तरार्ध दो खंडों में विभाजित किया। प्रथम खंड की छंदसंख्या की गणना कौन करे, इसमें २५० पृष्ठ हैं और प्रत्येक पृष्ठ में न्यूनाधिक २४ कड़ियाँ हैं।

इसी प्रकार दूसरे खंड में २०४ पृष्ठ हैं और प्रत्येक पृष्ठ में २४ कड़ियाँ प्राप्त होती हैं। प्रत्येक खंड में ढाल, दूहा, चउपई, कवित्त आदि छंद उपलब्ध हैं। ढाल के साथ ही साथ यत्रतत्र रागों का भी वर्णन मिलता है। रागों में प्रायः देशी राग गौड़ी, रामगिरि, राग आसावरी, राग धनाश्री, राग मालव गौड़ी, आसावरी सिंधु, राग वराडी, राग केदारो आसावरी, राग सारंग मगध, रूपक राग आसावरी, रागमलार, राग गौड़ी अणीपरि आदि का उल्लेख मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि यद्यपि कवि ने रास की गेयता को ध्यान में रखकर रचना की तथापि अभिनेयता के लिये आवश्यक गुण संक्षिप्तता का इसमें निर्वाह नहीं हो पाया है। न्यूनाधिक दस सहस्र कड़ियों की रचना अभिनेय कैसे रही होगी, यह अद्यापि एक समस्या है।

संवत् १६४१ वि० में विरचित महीराजकृत 'नलदवंती रास' में ११५४ छंद संख्या है। उसमें भी राग सामेरी, राग मल्हार, राग कालहिरु, आदि का उल्लेख मिलता है। आश्चर्य है कि ढाई सहस्र से अधिक कड़ियों के इस रास का अभिनय कितने घंटों में संभव हुआ होगा।

इससे भी बृहत्तर रास श्री शांतिनाथ नो रास है जो बड़े आकार (रायल) की पुस्तक के ४४३ पृष्ठों में समाप्त हुआ है। यह विशालकाय रास ६ खंडों में विभाजित है। प्रथम खंड में १८, द्वितीय में ३०, तृतीय में ३३, चतुर्थ में ३४, पंचम में ३७, षष्ठ में ६१ ढाल हैं। इस प्रकार २१३ ढाल एवं ६५८३ गाथाओं से यह रास संबद्ध है। प्रत्येक ढाल के अंत में २ से १०-११ तक दोहे विद्यमान हैं। यद्यपि यह रास गेय गुणों से संपन्न है, पर इसके अभिनय की पद्धति का अनुमान लगाना सहज नहीं।

सत्रहवीं शताब्दी आते आते विशालकाय रास ग्रंथों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गई। रायल साइज के २७२ पृष्ठों में विरचित शील व तीनों रास ६ खंडों में विभक्त हैं। प्रथम खंड में १३, दूसरे में १३, तीसरे में १२, पाँचवें में १६, छठे में १८ ढाल हैं। प्रत्येक ढाल के अंत में इसमें १०-१२ दोहे तक मिलते हैं। कहीं कहीं ढाल के आदि में टेक की पद्धति पाई जाती है। यह टेक प्रत्येक पद के साथ गाया जाता रहा होगा; जैसे—चतुर्थ खंड के तीसरे ढाल में "कुँवर ने जइए जु भामणो"[1]। पंचम खंड की १५वीं ढाल में टेक "सुखकारी के नारी तेहतणी वाह"[2] प्रत्येक पद के साथ गाया जाता रहा होगा।

रास की पद्धति इतनी जनप्रिय हो गई थी कि गूढ़ से गूढ़ दार्शनिक विषयों के ज्ञान के लिये भी रास की रचना की जाती थी और अंत में कुलश को स्थान दिया जाता था। श्री यशोविजय गणि विरचित 'द्रव्यः गुणः पर्यायः नो रास' में १७ ढाल एवं २८४ ढाल हैं। यद्यपि यह रचना संवत् १७२६ वि० में प्रस्तुत हुई तथापि इसकी रचनाशैली से ऐसा प्रतीत होता है कि कवि की दृष्टि में इसको गेय बनाने की पूरी योजना थी। स्थान स्थान पर टेक या ध्रुवक की शैली पर 'आंकणी' का समावेश हुआ है। दूसरी ही ढाल में "जिन वाणी रंगइं मनि धरिइं"[3] अंश प्रत्येक श्लोक के साथ गाने के लिये

१—शीलवती नो रास—महाकवि नेमिविजयकृत—पृ० १४६।

२— „ „ „ पृ० २१६।

३—द्रव्यः गुणः पर्यायः नो रास—यशोविजय—पृ० १०।

नियोजित किया गया। इसी प्रकार ४थी ढाल में 'श्रुत धर्मइ मन दृढ़ करि राखो' प्रत्येक श्लोक के साथ गायन के लिये नियोजित रहा होगा।

रास काव्यों की समीक्षा करने पर यह प्रतीत होता है कि अधिकांश काव्यों की रचना कड़वाबद्ध रूप में हुई है। कड़वाबद्ध रचना के तीन अंगों में मुखबंध प्रथम आता है। कभी कभी ऐसी कड़वाबद्ध रचना भी दिखाई पड़ती है जिसमें मुखबंध नहीं दिखाई पड़ता। जिनमें मुखबंध आता है उनकी प्रारंभिक दो चार पंक्तियों की एक शैली होती है और उनके अंत में 'देशी' आती है।

इन देशियों में ढाल नामक रचना अथवा किसी अन्य प्रकार की देशी का समावेश होता है और अंत में व्यापक देशी की समाप्ति पर उपसंहार की तरह 'वलण' अथवा 'उथलो' का प्रयोग किया जाता है। यह 'वलण' अथवा 'उथलो' पूरे होते हुए कड़वे का उपसंहार करने तथा आगामी कड़वे की वस्तु की सूचना देने के लिये आता है। उथलो या वलण का प्रारंभ कड़वा की देशी की पंक्ति के अंतिम शब्द से होता है। यह अधिकतर एक द्विपदी का होता है। कहीं कहीं अधिक द्विपदियाँ भी आती हैं।

रास की रचनापद्धति के संबंध में श्री भायाणी जी के मत का सारांश इस प्रकार है—

रास की रचनापद्धति को समझने के लिये भाषा और छंदों की भाँति ही साहित्य-स्वरूप के विषय में भी सर्वप्रथम अपभ्रंश साहित्यकारों की ओर ही निगाह दौड़ानी पड़ती है। अपभ्रंश महाकाव्य का स्वरूप संस्कृत महाकाव्य से कुछ भिन्न ही था। जिस प्रकार संस्कृत महाकाव्य सर्ग में विभक्त हुआ है उसी प्रकार अपभ्रंश महाकाव्य संधि में। प्रत्येक संधि को कड़वक में विभक्त करते हैं और एक संधि में सामान्यतः न्यूनाधिक १२ से ३० तक कड़वक प्राप्त होते हैं। प्रत्येक कड़वक में ४ या उससे अधिक (३०–३५ तक) अनुप्रासबद्ध चरणयुग्म होते हैं, जिनका पारिभाषिक नाम 'यमक' है। इन यमकों से युक्त कड़वक के अंत में कड़वक में प्रयोग किए गए छंद से भिन्न अन्य ही छंद के दो चरण आते हैं। इन्हें 'घत्ता' कहते हैं। बहुधा कड़वक के आरंभ में भी ध्रुवक के दो चरण आते हैं। ऐसी रचना के लिये आरंभ के ध्रुवक की दो पंक्तियों के पश्चात् कड़वक की ८ या उससे अधिक पंक्तियाँ जोड़कर यमक के अंत में घत्ता की दो पंक्तियाँ संयुक्त कर दी जाती हैं। एक संधि के दो कड़वकों की रचना में प्रायः एक ही छंद की योजना

की जाती है, परंतु संस्कृत महाकाव्य की भाँति क्वचित् वैविध्य के लिये भिन्न-भिन्न छंदों की योजना भी मिलती है। एक संधि के सभी कड़वकों की घत्ता के लिये सामान्यतः एक ही छंद की योजना होती है और उस छंद में एक कड़ी संधि के आरंभ में ही दी हुई होती है। ध्रुवक एवं मूल कड़वक के छंद से अलग छंद में आया हुआ अंतसूचक घत्ता इस तथ्य का स्पष्टीकरण करता है कि अपभ्रंश महाकाव्य अमुक प्रकार से गेय होना चाहिए।

पौराणिक शैली के अपभ्रंश महाकाव्यों में संधि की संख्या १०० के आस पास होती है। परंतु ऐसे पौराणिक महाकाव्य के उपरांत अपभ्रंश में इसी प्रकार के रचे गए चरितकाव्य भी मिलते हैं। ये चरितकाव्य लघुकाय होते हैं और समस्त काव्य की संधिसंख्या पाँच दस के आस पास होती हैं। इस शैली के विकसित होने पर कालांतर में ऐसी कृतियाँ प्राप्त होती हैं जिनका विस्तार केवल एक संधि के सदृश होता था और जिनमें कोई धार्मिक लघु कथानक या केवल उपदेशात्मक कथावस्तु होती थी। ऐसी कृति का नाम भी संधि है।

रास की रचनापद्धति के विषय में श्री केशवराम शास्त्री का मत है कि अपभ्रंश महाकाव्य के स्थान पर रास काव्यों की रचना होने लगी। इस शैली के काव्यों में संधियाँ विलीन हुईं और कड़वा, भासा, ठवणि या ढाल में विभाजित गेय रासो काव्य प्रचार में आए और ये ही काव्य कालांतर में विकसित होकर पौराणिक पद्धति के कड़वाबद्ध (जैनेतर) या ढालबद्ध (जैन) आख्यान काव्यों में परिणत हुए।

अपभ्रंश महाकाव्य एवं अपभ्रंश के प्रसिद्ध रासक काव्यों को लक्ष्य में रखकर देखें तो ज्ञात होता है कि श्री शास्त्री जी ने दो भिन्न काव्य-स्वरूपों को मिला दिया है। रेवंतगिरिरासु आदि की शैली महाकाव्यों से पृथक् प्रकार की और रासक काव्य के सदृश है। रेवंतगिरिरासु इत्यादि रासों में अपभ्रंश कड़वक का (ध्रुवा) + यमक + घत्ता ऐसा विशिष्ट रूप नहीं मिलता। यह रास केवल कड़वकों में विभक्त है। 'समरारास' केवल भास में विभक्त है।

लक्ष्य में रखने योग्य एक तथ्य यह है कि संस्कृत महाकाव्यों की बाह्य रचना से मिलता जुलता स्वरूप गुजराती आख्यान काव्यों में पुनः दिखाई पड़ने लगा। क्योंकि सर्ग और श्लोकबद्ध संस्कृत काव्य के दो कोटि के विभाग के बदले अपभ्रंश में संधि, कड़वक, यमक इस तरह तीन कोटि का विभाजन हम देखते हैं, परंतु कालांतर में पुनः आख्यानों में कड़वक और कड़ी इस प्रकार दो कोटिवाला विभाग प्रकट होता है।

इससे प्रमाणित होता है कि अपभ्रंश काव्यों की तरह रासक काव्यों का भी एक निराला प्रकार है। उसे संस्कृत खंडकाव्य की कोटि का कहा जा सकता है। यह रासक या रास नाम धारण करनेवाले काव्य १८ वीं शताब्दी तक के रचे हुए हैं। अपभ्रंश में अनुमानतः छठी-सातवीं शती के विरचित एक छंद ग्रंथ में रासक की व्याख्या दी हुई है। इस प्रकार एक सहस्राब्दी से भी अधिक विस्तृत समय के मध्य में उक्त प्रकार के साहित्य का निर्माण हुआ है। इसे देखते हुए इतना तो स्वयं सिद्ध है कि रास या रासा नाम से प्रचलित ये सब काव्यों के स्वरूप-लक्षण उस दीर्घकाल के मध्य में एक ही प्रकार के नहीं रहे होंगे और अलग अलग युग के रासकों की वस्तुगत निरूपण शैली, पद्धतिगत प्रणाली एवं बाह्य स्वरूपगत विशिष्टताएँ पृथक् पृथक् हों। अतः रासा काव्यस्वरूप का व्यावर्तक धर्म क्या माना जाय ?

श्री शास्त्री जी कहते हैं कि बंध की दृष्टि से शोध करने पर बृहत् काव्यों के दो ही प्रकार मिलते हैं—(१) कड़वा, भासा, ठवणि या ढाल युक्त गेय रासा काव्य, (२) क्रमबद्ध 'पवाडो'। जिसमें मुख्यतया चौपाई हो, बीच बीच में दूहा या क्वचित् अन्य छंद आएँ वही 'पवाडा' है। उ० त० हीरानंद सूरि का 'विद्याविलास' पवाडा भी बंध की दृष्टि से रास काव्यों की तीसरी कोटि में आता है। इन तीनों कोटियों को इस प्रकार समझना चाहिए—(१) काव्य का कलेवर बाँधने के लिये एक छंदविशेष की योजना करके बीच बीच में विविधता की दृष्टि से अन्य छंद प्रयुक्त होते हैं। उनमें गेय पदों की विशेषता होती है। 'संदेशरासक' तथा 'हंसतुलि', 'रणमल्ल छंद', 'प्रबोध चिंतामणि' इत्यादि इसी प्रकार के हैं। दूसरे प्रकार में ऐसी कृतियाँ एक ही मात्राबंध में होती है। 'वसंतविलास', 'उपदेश रसायन रास' इस पद्धति के उपरांत आते हैं। बीच बीच में गेय पदों का रखने की प्रथा इनमें दिखाई देती है। उदाहरण के लिये 'सगलशा रास' (कनकसुंदरकृत) का नाम लिया जा सकता है। तीसरे प्रकार की कृति कड़वा, ढाल, ठवणि, भास इत्यादि में से किसी एक शीर्षक के नीचे विभाजित होती है। कतिपय प्राचीनतम रासा 'भारतेश्वर बाहुबलि रास', 'रेवंतगिरि रासु' इत्यादि की शैली के हैं।

—————

वैष्णव रास का स्वरूप

संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश के वाङ्मय में रास के स्वरूप पर विविध दृष्टियों से विचार किया गया है। 'रास' शब्द का प्रयोग एक विशेष प्रकार के छंद, लोकप्रचलित विशेष नृत्य, एक विशेष प्रकार की काव्यरचना एवं गेय और नृत्य रूपक के अर्थ में प्राप्त होता है। यद्यपि इन विविध अर्थों के विकास का इतिहास सरलतापूर्वक प्राप्त नहीं किया जा सकता तथापि युक्ति एवं प्रमाणों के आधार पर किसी निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयास करना अनुचित न होगा।

मानव की स्वाभाविक मनोवृत्ति है कि वह आनंदातिरेक में नर्तन करने लगता है। अतः रास नृत्य के प्रारंभिक रूप की कल्पना करते हुए निःसंकोच भाव से कहा जा सकता है कि किसी देशविशेष की नाट्यशैली विकसित होकर कल्पांतर में श्रीमद्भागवत् का रास नृत्य बन गई होगी। हमारे देश में नृत्यकला की एक विशेषता यह रही है कि वह सामाजिक जीवन के आमोद प्रमोद का साधन तो थी ही, साथ ही साथ धार्मिक साधना का अंगरूप भी हो गई थी। तथ्य तो यह है कि हमारा सामाजिक जीवन धार्मिक जीवन से पृथक् रहकर विशेष महत्त्वमय नहीं माना जाता। वैदिक युग की धार्मिक एवं सामाजिक व्यवस्था का अनुशीलन करने से स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी धार्मिक कृत्य वाद्य एवं संगीत के अभाव में पूर्णतया संपन्न नहीं बनता। इसी प्रकार अधिकांश देवोपासना में नृत्य का सहयोग मंगलकारी माना जाता था। वेदों में नृत्य के कई प्रसंग इस तथ्य के साक्षी हैं कि नृत्य में भाग लेनेवाले नर्तक केवल जन सामान्य ही नहीं होते थे, प्रत्युत ऋषिगण भी इसमें संमिलित हुआ करते थे। हमारे ऋषियों ने नृत्यकला को इतना माहात्म्य प्रदान किया कि जीवन में संतुलन की उपलब्धि के लिये नृत्य परमावश्यक माना गया। पवित्र पर्वों पर विहित नृत्यविधान उत्तरोत्तर विकसित होते हुए नाट्य के साथ कालांतर में पंचम वेद के नाम से अभिहित हुआ। प्रो० सैलवेन लेवी[1] एवं प्रो० मैक्समूलर[2] ने अनुसंधान के आधार पर यह

१—"Le Theatre Indian", Bibliothique de I'Ecole des Haits Etudes. Fascicule 83, 1890, P P. 307-308.

२—Max Muller's Version of the Rig Veda, Vol I., P. 173.

प्रमाणित किया है कि वैदिक काल में भारत में नृत्य और संगीत कलापूर्ण रूप से उन्नत हो चुका था। यजुर्वेद संहिता[1] में इसका उद्धरण मिलता है—

"यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैऽलवाः"

इससे अधिक विस्तार के साथ नृत्य का उल्लेख यजुर्वेद संहिता[2] में इस प्रकार मिलता है—

नृत्ताय सूतं गीताय शैलूषं धर्माय सभाचरं नरिष्ठायै
भीमलं नर्माय रेभं हसाय कारिमानन्दाय स्त्रीपखं प्रमदे
कुमारीपुत्रं मेधायै रथकारं धैर्य्याय तक्षाणम् ॥

अर्थात् नृत्त (ताल-लय के साथ नर्तन) के लिये सूत को, गीत के लिये शैलूष (नट) को, धर्मव्यवस्था के लिये सभाचतुर को, सबको विधिवत बिठाने के लिये भीमकाय युवकों को, विनोद के लिये विनोदशीलों को, शृंगार संबंधी रचना के लिये कलाकारों को, समय बिताने के लिये कुमारपुत्र को, चातुर्यपूर्ण कार्यों के लिये रथकारों को और धीरत्वसंयुक्त कार्य के लिये बढ़ई को नियुक्त करना चाहिए।

वैदिक उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि नृत्त का उस काल में इतना व्यापक प्रचार था कि उसके लिये सूत की नियुक्ति करनी पड़ती थी। नृत्त की परंपरा उत्तरोत्तर विकासोन्मुख बनती गई और रामायणकाल तक आते आते उसका प्रचार जनसामान्य तक हो गया और "नटों, नर्तकों और गाते हुए गायकों के कर्णसुखद वचनों को जनता सुन रही थी।"[3]

जब नर्तन का प्रचार अत्यधिक बढ़ गया और अयोग्य व्यक्ति इस कला को दूषित करने लगे तो नटों की शिक्षा की व्यवस्था अनिवार्य रूप से करनी पड़ी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इसका विवरण इस प्रकार मिलता है—

गणिका, दासी तथा अभिनय करनेवाली नटियों को गाना बजाना, अभिनय करना, लिखना तथा चित्रकारी, वीणा, वेणु तथा मृदंग बजाना, दूसरे की मनोवृत्ति को समझना, गंध निर्माण करना, माला गूँथना, पैर आदि

१—अथर्ववेद—१२ कां०, सू० १ मं० ४१

२—यजुर्वेद संहिता, ३० वाँ अध्याय, छठा मंत्र।

३—नटनर्त्तकसंघानां गायकानां च गायताम्।
यतः कर्णसुखावाचः शुश्राव जनता ततः ॥—वाल्मीकि रामायण

अंग दबाना, शरीर का शृंगार करना तथा चौंसठ कलाएँ सिखाने के लिये योग्य आचार्यों का प्रबंध राज्य की ओर से होना चाहिए।[१]

नृत्यकला का अध्यात्म के साथ ग्रंथिबंधन करनेवाले मनीषियों की यहाँ तक धारणा बनी कि महाभाष्य काल में मूक अभिनय एवं नृत्य के द्वारा कृष्ण और कंस की कथा प्रदर्शित की गई। डा० कीथ का यह मत है पतंजलि युग के नट नर्तक एवं विदूषक ही नहीं प्रत्युत गायक एवं कुशल अभिनेता भी थे[२]।

यह नृत्यकला क्रमशः विकसित होती हुई नाना प्रकार के रूप धारण करती गई। आगे चलकर रास के प्रसंग में हम जिस पिंडीबंध का वर्णन पाएँगे उसकी एक छटा ईसवी पूर्व की दूसरी शताब्दी में हम इस प्रकार देख सकते हैं:—

'शंकर का नर्तन और सुकुमार प्रयोग के द्वारा पार्वती का नर्तन देखकर नंदीभद्र आदि गणों ने पिंडीबंध का नर्तन दिखाया। विष्णु ने तार्क्ष्यपिंडी, स्वयंभुव ने पद्मपिंडी आदि नर्तन दिखाए। नाट्यशास्त्र के चतुर्थ अध्याय में विविध पिंडीबंध नृत्य का वर्णन मिलता है। भरतमुनि का कथन है कि ये नृत्य तपोधन मुनियों के उपयुक्त थे:—

एवं प्रयोगः कर्तव्यो वर्धमाने तपोधनाः॥

नृत्त का इतना प्रभाव भरतमुनि के काल में बढ़ गया था कि नाटक की कथावस्तु को गीतों के द्वारा अभिनीत करने के उपरांत उसी को नृत्त के द्वारा प्रदर्शित करना आवश्यक हो गया—

प्रथमं त्वभिनेयं स्याद्गीतिके सर्ववस्तुकम्।
तदेव च पुनर्वस्तु नृत्तेनापि प्रदर्शयेत्[३]॥

---

१ गीतवाद्यपाठ्यवृत्त नाट्यक्षर चित्रवीणा वेणुमृदंग परचित्तज्ञान गंधमाल्य संयूहन-संपादन-संवाहन-वैशिककला ज्ञानानि गणिका दासी रंगोपजीविनीश्च ग्राहयता राजमंडलादाजीवं कुर्यात्।—कौटिल्य अर्थशास्त्र, ४१।

२—The Sanskrit Drama, Page 45.

We have perfectly certain proof that the Natas of Patanjaly were much more than dancers or acrobats; they sang and recited.

३ नाट्यशास्त्र, अध्याय ४, श्लोक ३००।

जब नृत्य का अभिनेय नाटकों के प्रदर्शन एवं धर्मसाधना में इतना आधिपत्य स्थापित हो गया तो इसके विकास की संभावनाएँ बढ़ने लगीं। केवल कला की दृष्टि से भी नृत्य का इतना महत्व बढ़ गया कि विष्णुधर्मोत्तरम्[१] में नारद मुनि को यहाँ तक स्वीकार करना पड़ा कि मूर्तिकला एवं चित्रकला में नैपुण्य प्राप्त करने के लिये नृत्यकला का ज्ञान आवश्यक है। तात्पर्य यह कि ललित कलाओं के केंद्र में विराजमान नृत्यकला के प्रत्येक पक्ष का विकसित होना अनिवार्य बन गया। इस विकास का यह परिणाम हुआ कि नृत्य एवं नर्तकों की महिमा बढ़ने लगी। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि अर्जुन जैसे योद्धा को नृत्यकला का इतना ज्ञान प्राप्त करना पड़ा कि वनवास काल में वह विराट् राजकुमारी उत्तरा को इस कला की शिक्षा प्रदान कर सका। तत्ववेत्ता शिव और सहधर्मिणी पार्वती ने इस कला का इतना विकास किया कि तांडव एवं लास्य के भेद प्रभेद करने पड़े। भरत मुनि तक आते आते तांडव के रेचक, अंगहार एवं पिंडीबंध प्रभेद हो गए। पिंडीबंध[२] के भी वृष, पक्षिणी, सिंहवाहिनी, तार्क्ष्य, पद्म, ऐरावती, झष, शिखी, उलूक, धारा, पाश, नदी, याक्षी, हल, सर्प, रौद्री आदि अनेक भेद प्रभेद किए गए। यह पिंडीबंध अभिनवगुप्त के उपरांत भी क्रमशः विकसित होता गया और शारदातनय तक पहुँचते पहुँचते इसका रूप निखर गया। इसमें आठ, बारह अथवा सोलह नायिकाएँ सामूहिक रीति से नर्तन दिखाती हैं। यही नर्तन रास अथवा रासक[३] के नाम से विख्यात हो गया।

रासनृत्य के विकास का क्रम शारदातनय के उपरांत भी उत्तरोत्तर प्रगति पथ पर चलता रहा। आचार्य वेम (१४वीं शताब्दी) के समय में रासक के तीन प्रकार स्वतंत्र रूप से विकसित होने लगे। एक तो रासक का मौलिक नृत्य प्रकार अपरिवर्तनीय बना रहा। दूसरा गेय पदों से संयुक्त

१—In Vishnudharmottaram, a classic on the arts of India, Narada says that in order to become a successful sculptor or painter one must first learn dancing, thereby meaning that rhythm is the secret of all arts.
—Dance in India by Venkatachalam, P. 121.

२—पिंडीबंध आकृतिविशेषस्तस्यैकदेशान्निबन्धनं पिण्डीति।

३—षोडशद्वादशाष्टौ वा यस्मिन्नृत्यन्ति नायिकाः।
पिण्डीबन्धादिविन्यासैः रासकं तदुदाहृतम्॥—भावप्रकाश

कथानक के आधार पर नाट्य रासक हो गया और तीसरा चर्चरी नाम से अभिहित हुआ। आगामी अध्यायों में हम दूसरे और तीसरे प्रकारों पर विशेष रूप से विचार करेंगे। यहाँ मूल रासनृत्य के परिवर्तित एवं परिवर्द्धित स्वरूप की झाँकी दिखाना ही अभीष्ट है।

रासनृत्य का परिष्कृत रूप शारदातनय ने अपने भावप्रकाश में स्पष्ट किया है[1]।

यह निश्चित है इतने परिष्कृत रूप में यह नृत्य शताब्दियों में परिणत हुआ होगा। इस स्थान पर इसके स्वरूप के प्रारंभिक एवं मध्यरूप की एक छटा दिखाना अप्रासंगिक न होगा।

सर्वप्रथम रास को हल्लीसक नाम से हरिवंश में उद्घोषित किया गया। हरिवंश महाभारत का खिल पर्व है। इसके पूर्व महाभारत संहिता की रचना हो चुकी थी किंतु उसमें कृष्ण की अन्य लीलाओं का उल्लेख तो पाया जाता है किंतु रासलीला की कहीं चर्चा भी नहीं मिलती। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि महाभारत संहिताकाल में रास का इतना प्रचलन नहीं हो पाया था जितना हरिवंश पुराण के समय में हुआ।

महाभारत[2] के (खिल) विष्णु पर्व के बीसवें अध्याय में हल्लीसक क्रीड़ा का वर्णन विस्तार के साथ मिलता है। गोवर्धनधारण के उपरांत इंद्र के मानमर्दन से व्रजवासी कृष्ण-पौरुष को देखकर विस्मित हो गए। गोपियाँ कृष्ण की अलौकिक शक्ति से पराभूत होकर शारदी निशा में उनके साथ क्रीड़ा करने को उत्सुक हुईं। कृष्ण ने गोपियों की मनोकामना पूर्ति के लिये लीला करने की योजना बनाई।

मंडलाकार[3] नृत्य में गोपियों के साथ कृष्ण ने वाद्य एवं गान के साथ

---

१ रासकस्य प्रभेदास्तु रासकं नाट्य रासकम्।
चर्चरीतित्रयः प्रोक्ताः— वेमः

२ कृष्णस्तु यौवनं दृष्ट्वा निशि चन्द्रमसो वनम्।
शारदीं च निशां रम्यां मनश्चक्रे रतिं प्रति।
—महाभारत, विष्णुपर्व, अध्याय २०, श्लोक १५

३ तास्तु पंक्तीकृताः सर्वा रमयन्ति मनोरमम्।
गायन्त्यः कृष्णचरितं द्वन्द्वशो गोपकन्यकाः ॥ २५ ॥
—हरिवंश, अध्याय २०, श्लोक २५।

क्रीड़ा की। यही क्रीड़ा हल्लीसक[1] के नाम से प्रख्यात हुई। हल्लीसक का लक्षण आचार्यों ने इस प्रकार दिया है—

(क) गोपीनां मण्डली नृत्यबन्धने हल्लीसकं विदुः।
(ख) चक्रवालैः मण्डलैः हल्लीसक क्रीडनम्।

इसी प्रकार रासक्रीड़ा का निरूपण करते हुए आचार्य कहते हैं—

एकस्य पुंसो बहुभिः स्त्रीभिः क्रीडनं सैव रासक्रीड़ा।

विद्वानों ने इस रासक्रीड़ा अथवा हल्लीसक के बीज का श्रुति के अंतर्गत इस प्रकार अनुसंधान किया है—

"पद्यावस्ते पुरुरूपा वपूंष्यूर्ध्वा
तस्थौ त्र्यविं रेरिहाणा।
ऋतस्य सद्म विचरामि
विद्वान्महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥"

रासमंडलांतर्गत श्रीकृष्णमूर्ति को मंत्रद्रष्टा 'पद्या' कह रहे हैं। (पत्तुम योग्या पद्या) कारण यह है कि गोपियाँ उनसे मिलने आई हैं। यह मिलन-हेतुक गमन प्रपदन है। प्रपदन, पदन, गमन, अभिसरण एकार्थक शब्द हैं।

वह मूर्ति 'पुरुरूपा' है, क्योंकि प्रत्येक गोपी के साथ नृत्य के लिये श्रीकृष्ण ने अनेक रूप धारण किए हैं।

अतएव श्रीकृष्ण ने 'वपूंषि वस्ते' = अनेक वपुओं को, शरीरों को, धारण कर लिया है।

रासमंडल के मध्य में विराजमान श्रीकृष्ण के लिये श्रुति कह रही है कि 'ऊर्ध्वा तस्थौ' अर्थात् एक उत्कृष्ट (मूलभूत, गोपी-संपर्क-रहित) मूर्ति बीच में विद्यमान है।

श्रीकृष्ण मूर्ति 'त्र्यविम् रेरिहाणा' है अर्थात् दक्षिणपार्श्वस्थ गोपी के एवम् वामपार्श्वस्थ गोपी के एवम् संमुखस्थित गोपी के नयन-कटाक्ष-सरणी को अपने विग्रह में निगीर्ण कर रही है।

श्रीकृष्ण भगवान् के अंतर्हित हो जाने पर एक गोपी श्रीकृष्ण लीलाओं

१—एवं स कृष्णो गोपीनां चक्रवालैरलंकृतः।
शारदीषु स चन्द्रासु निशासु मुमुदे सुखी॥ ३५॥
हरिवंश, अध्याय २०, श्लोक ३५

का अनुकरण करने लगी। उस समय वह अपने को पुरुष मानकर कह रही है कि मैं 'ऋतस्य धाम विचरामि' अर्थात् धर्मनिष्ठ मैं (कृष्णवियुक्त होकर) इतस्ततः विचरण कर रही हूँ।

'देवानाम् एकम् महत् असुरत्वम् विद्वान्' = अर्थात् श्रीकृष्ण से हमें वियुक्त करानेवाले देवताओं की मुख्य असुरता को मैं जानता हूँ।

कतिपय विद्वानों ने महाभारत के अनुशीलन के उपरांत यह निष्कर्ष निकाला है कि उस काल में यदि कृष्ण की रासलीला का प्रचार होता तो शिशुपाल अपनी एक शतक गालियों में 'परदाररता' कहकर कृष्ण को लांछित करने का प्रयत्न अवश्य करता। महाभारत में कृष्ण की पूतनावध, गोवर्धन-धारण आदि अनेक लीलाओं का उल्लेख पाया जाता है किंतु रासलीला का प्रत्यक्ष वर्णन कहीं नहीं है। हाँ एक स्थान पर गोपीजनप्रियः विशेषण अवश्य मिलता है। किंतु उससे रासलीला प्रमाणित नहीं की जा सकती।

ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में रुक्मिणी के भ्राता रुक्मि राजा ने कृष्ण को लांछित करते हुए इस प्रकार वर्णन किया है—

साक्षात् जारश्च गोपीनां गोपालोच्छिष्टभोजकः।
जातेश्च निर्णयो नास्ति भक्ष्य मैथुनयोस्तथा॥

इसी प्रकार शिशुपालवध नामक अध्याय में शिशुपाल का दूत कृष्ण की अवमानना करता हुआ कहता है—

कृत-गोपवधूरते घ्नतो वृषम् उग्रे नरकेऽपि सम्प्रति।
प्रतिपत्तिरधः कृतैनसो जनताभिस्तव साधु वर्ण्यते॥

हरिवंश के हल्लीसक वर्णन में कृष्ण के अंतर्धान होने का वर्णन नहीं मिलता। रासलीला की चरमावस्था कृष्ण के अंतर्धान होने पर गोपियों के विरहवर्णन में अभिव्यक्त होती है। इस प्रसंग का अभाव इस तथ्य का द्योतक है कि हल्लीसक नृत्य से विकसित होकर श्रीमद्भागवत में रासलीला अपनी पूर्णावस्था को प्राप्त हुई।

हरिवंश, ब्रह्मपुराण एवं विष्णुपुराण में भी रास का वर्णन अपेक्षाकृत विस्तार से मिलता है। ब्रह्मपुराण एवं विष्णुपुराण का अध्ययन करने से यह निष्कर्ष निकलता है ब्रह्मपुराण का विवरण विष्णुपुराण से अविकल साम्य रखता है। दोनों के श्लोकों के भाव ही नहीं अपितु पदावली भी अक्षरशः

अभिन्न है। हाँ, विष्णुपुराण में ब्रह्मपुराण की अपेक्षा श्लोकों की संख्या अधिक है। किंतु ब्रह्मपुराण में कामायन का रूप और अधिक उद्दीपक बनाया गया है। कतिपय विद्वानों का मत है कि ये दोनों वर्णन किसी एक ही स्रोत से गृहीत हैं।

श्री विष्णुपुराण में रासप्रसंग

श्रीकृष्ण भगवान् का वंशीवादन होता है। मधुर ध्वनि को सुनकर गोपियों के आगमन, गीतगान, श्रीकृष्णस्मरण और श्रीकृष्णध्यान का वर्णन है। गोपियों के द्वारा तन्मयता के कारण, श्रीकृष्णलीला का अभिनय होता है। श्रीकृष्ण को ढूँढ़ते ढूँढ़ते गोपियाँ दूर तक विचरण करती हैं। श्रीकृष्णदर्शन के अभाव में गोपियों का यमुनातट पर कातर स्वर में श्रीकृष्ण-चरित-गान होता है। श्रीकृष्ण के आ जाने पर गोपियाँ प्रसन्नता प्रकट करती हैं। रासलीला होती है—

"ताभिः प्रसन्न चित्ताभिर्गोपीभिः सह सादरम्।
र रास रास-गोष्ठीभिरुदार चरितो हरिः॥"

५–१३–४८

रासमंडल में प्रत्येक गोपी का हाथ श्रीकृष्ण के हाथ में था।

हस्तेन गृह्य चैकैकां गोपीनां रास-मंडलम्।
चकार तत्कर-स्पर्श-निमीलित-दृशं हरिः॥

५–१३–५०

तदुपरांत श्रीकृष्ण का रासगान होता है—

"ततः प्रववृते रासश्चलद्वलय-निस्वनः।
रास गेयं जगौ कृष्णः ॥"

५–१३–५१

रासक्रीड़ा का वर्णन इस प्रकार मिलता है—

"गतेनुगमनं चक्रुर्वलने सम्मुखं ययुः
प्रतिलोमानुलोमाभ्यां भेजुर्गोपांगना हरिम्।"

५–१३–५७

इस महापुराण की वर्णनशैली से प्रतीत होता है कि रास एक प्रकार की मंडलाकार नृत्यक्रीड़ा थी।

हल्लीसक नृत्य का उल्लेख भास के बालचरित नामक नाटक में इस प्रकार मिलता है—

संकर्षणः—दामक ! सर्वे गोपदारकाः समागताः ।

दामकः—आम भट्टा पव्वे पणणद्धा आअदा ।

(आम् भर्तः सर्वे सन्नद्धा आगताः ।)

दामोदरः—घोष सुन्दरि ! वनमाले ! चन्द्ररेखे ! मृगाक्षि !

घोषवासस्यानुरूपोऽयं हल्लीसक नृत्तबन्ध उपयुज्यताम्

सर्वाः—अं भट्टा आणवेदि । (यद् भर्त्ता आज्ञापयति ।)

संकर्षणः—दामक । मेघनाद । वाद्यन्तामातोद्यानि ।

उभौ—भट्टा ! तह । (भर्तः ! तथा ।)

वृद्धगोपालकः—भट्टा ! तुम्हे हल्लीसअं पकीडेन्ति ।

अहं एत्थ किं करोमि (भर्तः ! यूयं हल्लीसकं प्रक्रीडथ । अहमत्र किं करोमि ।

दामोदरः—प्रेक्षको भवान् ननु ।

ब्रह्मवैवर्त्त पुराण के आधार पर रासलीला के वर्णन में रासकाल की कोई निश्चित ऋतु का उल्लेख नहीं मिलता। इस वर्णन में तिथि के लिये 'शुक्लपक्षे चन्द्रोदये' की सूचना मिलती है। एक विलक्षण वर्णन वृंदावन के नवलक्ष रास वास का मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस काल में विभिन्न स्थान रासक्रीड़ा के लिये नियत थे। इस पुराण का यह उद्धरण—

'नवलक्षरास वास संयुक्तम् (वृन्दावनम्)'

इसका प्रमाण है। रासलीला काल के विकसित पुष्पों एवं उपयुक्त उपकरणों का वर्णन इस प्रकार है—

प्रसूनैश्चम्पकानां च कस्तूरीचन्दनान्वितैः ।
रतियोग्यैर्विरचितैर्नानातल्पैः सुशोभितम् ॥ ४।२८।१०
दीप्तं रत्नप्रदीपैश्च धूपेन सुरभीकृतम् ।
नाना पुष्पैश्च रचितं मालाजालैर्विराजितम् ॥ ११
परितो वर्तुलाकारं तत्रैव रास-मंडलम् ।
चन्दनागुरु कस्तूरी कुंकुमेन सुसंस्कृतम् ॥ १२
स रासमंडलं दृष्ट्वा जहास मधुसूदनः ।
चकार तत्र कुतुकाद् विनोद-मुरली-रवम् ॥ १७
गोपीनां कामुकीनां च कामवर्धन कारणम् । १८

इस पुराण की दूसरी विशेपता राधा की ३३ सखियों की नामावली है।

श्री राधा की सुशीलादि ३३ सखियों के नाम हैं:—

सुशीला, कुंती, कदंबमाला, यमुना, जाह्नवी, पद्ममुखी, सावित्री, स्वयंप्रभा, सुधामुखी, शुभा, पद्मा, सर्वमंगला, गौरी, कालिका, कमला, दुर्गा, सरस्वती, भारती, अपर्णा, रति, गंगा, अंबिका, सती, नंदिनी, सुंदरी, कृष्णप्रिया, मधुमती, चंपा, चंदना आदि।

जिन वनों का संबंध रासक्रीड़ा से माना जाता है उन भांडीर आदि ३३ वनों में निम्नलिखित वन प्रसिद्ध हैं—भांडीर, श्रीवन, कदंबकानन, नारिकेलवन, पूगवन, कदलीवन, निंबारण्य, मधुवन आदि।

स्थलक्रीड़ा और जलक्रीड़ा का वर्णन पूर्वपुराणों से अधिक उद्दीपक है:—

मनो जहार राधायाः कृष्णस्तस्य च सा मुने।
जगाम राधया सार्धं रसिको रति-मन्दिरम्॥ ६६
एवं गृहे गृहे रम्ये नानामूर्त्तिं विधाय च।
रेमे गोपांगनाभिश्च सुरम्ये रासमंडले॥ ७७
गोपीनां नवलक्षाणि गोपानां च तथैव च।
लक्षाण्यष्टादश मुने युक्तानि रासमण्डले॥ ७८

सर्वदेवदेवीनाम् आगमनम्—

त्रिंशद्दिवानिशम्—

एवं रेमे कौतुकेन कामात् त्रिंशद् दिवानिशम्।
तथापि मानसं पूर्णं न च किंचिद् बभूव ह॥ १७०
न कामिनीनां कामश्च शृंगारेण निवर्त्तते।
अधिकं वर्धते शश्वद् यथाग्निर्घृतधारया॥ १७१

रासक्रीड़ा का विशद वर्णन करते करते अंत में कामप्रशमन की युक्ति बताते हुए आदेश मिलता है कि शृंगार के द्वारा कभी कामशांति नहीं हो सकती।

हरिवंश पुराण में वर्णित कृष्ण के संग गोपियों के नृत्य हल्लीसक का विकसित रूप श्रीमद्भागवत में विस्तार के साथ मिलता है। श्रीमद्भागवत में कृष्ण के अंतर्धान होने पर गोपियाँ कृष्णलीला का अनुकरण करती हैं। इस प्रसंग का जो विशद वर्णन श्रीमद्भागवत में मिलता है वह हरिवंश, ब्रह्मवैवर्त्त एवं विष्णुपुराण से भिन्न प्रकार का है। इस पुराण में एक गोपी कृष्ण के

अंतर्धान होने पर स्वयं कृष्ण बन जाती है और उसी प्रकार के वस्त्राभूषण धारण कर कृष्णलीला का अनुकरण करने लगती है। इस नृत्य में वास्तविक कृष्ण के साथ गोपियों का केवल नर्तन ही नहीं है, प्रत्युत् कृष्णजीवन की अनुकृति दिखानेवाली गोपी एवं उसकी सखियों के द्वारा अभिनीत कृष्ण-लीला की भी छटा दिखाई पड़ती है।

विद्वानों ने श्रीमद्भागवत का काल चौथी शताब्दी स्वीकार किया है। अतः यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं कि रास इस युग तक आते आते केवल नृत्य ही नहीं नाट्य भी बन गया था। प्रमाण यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण जब गोपियों को क्रीड़ा द्वारा आनंदित करने लगे तो उन गोपियों के मन में ऐसा भाव आया कि संसार की समस्त स्त्रियों में हम्हीं सर्वश्रेष्ठ हैं, हमारे समान और कोई नहीं है। वे कुछ मानवती हो गईं[1]। भगवान् उनका गर्व शांत करने के लिये उनके बीच में ही अंतर्धान हो गए। अब तो व्रजयुवतियाँ विरह की ज्वाला से जलने लगीं। वे गोपियाँ श्रीकृष्ण-मय हो गईं और फिर श्रीकृष्ण की विभिन्न चेष्टाओं का अनुकरण करने लगीं।

वे अपने को सर्वथा भूलकर श्रीकृष्ण स्वरूप हो गईं और उन्हीं के लीलाविलास का अनुकरण करती हुई 'मैं श्रीकृष्ण ही हूँ'—इस प्रकार कहने लगीं[2]। गोपियाँ वृक्षों, पुष्पों, तुलसी, पृथ्वी आदि से भगवान् का पता पूछते पूछते कातर हो गईं। वे गाढ़ आवेश हो जाने के कारण भगवान् की विभिन्न लीलाओं का अनुकरण[3] करने लगीं। एक पूतना बन गई तो दूसरी श्रीकृष्ण बनकर उसका स्तन पीने लगी। कोई छकड़ा बन गई तो किसी ने बालकृष्ण बनकर रोते हुए उसे पैर की ठोकर मारकर उलट दिया। कोई

---

१ एवं भगवतः कृष्णाल्लब्धमाना महात्मनः।
आत्मानं मेनिरे स्त्रीणां मानिन्योऽभ्यधिकं भुवि ॥
तासां तत् सौभगमदं वीक्ष्यमानं च केशवः।
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत ॥

२ असावहं त्वित्यबलास्तदात्मिका न्यवेदिषुः कृष्ण विहार विभ्रमाः।

३ इत्युन्मत्तवचो गोप्यः कृष्णान्वेपकातराः।
लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः ॥
कस्याश्चित् पूतनायन्त्याः कृष्णायन्त्यपिबत् स्तनम्।
तोकायित्वा रुदत्यन्या पदाहञ्छकटायतीम्।

सखी बालकृष्ण बनकर बैठ गई तो कोई तृणावर्त दैत्य का रूप धारण कर उसे हर ले गई। एक बनी कृष्ण तो दूसरी बनी बलराम, और बहुत सी गोपियाँ ग्वालबालों के रूप में हो गईं। एक गोपी बन गई वत्सासुर तो दूसरी बनी बकासुर। तब तो गोपियों ने अलग अलग श्रीकृष्ण बनकर वत्सासुर और बकासुर बनी हुई गोपियों को मारने की लीला की[1]।

वृंदावन में यह रासव्यापार कैसे अभिनीत हुआ था, लीलाशुक बिल्वमंगल[2] ने एक ही श्लोक में इसे विवृत किया है। इसका उल्लेख हम पहले कर आए हैं।

इस रासनृत्य का विवरण भागवत के रासपंचाध्यायी में इस प्रकार मिलता है—

तत्रारभत गोविन्दो रासक्रीडामनुव्रतैः।
स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतैरन्योन्याबद्धबाहुभिः।
रासोत्सवः सम्प्रवृत्तो गोपीमण्डल मण्डितः।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः।
प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः॥

—श्रीमद्भागवत, १०।३३।३

अर्थात् गोपियाँ एक दूसरे की बाँह में बाँह डाले खड़ी थीं। उन स्त्रीरत्नों के साथ यमुना जी के पुलिन पर भगवान् ने अपनी रसमयी रासक्रीड़ा प्रारंभ की। संपूर्ण योगों के स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण दो दो गोपियों के बीच में प्रकट हो गए और उनके गले में अपना हाथ डाल दिया। इस प्रकार एक गोपी और एक श्रीकृष्ण, यही क्रम था। सभी गोपियाँ ऐसा अनुभव कर रही थीं कि हमारे प्यारे तो हमारे ही पास हैं। इस प्रकार सहस्र सहस्र गोपियों से शोभायमान भगवान् श्रीकृष्ण का दिव्य रासोत्सव प्रारंभ हुआ।

कृत्वा तावन्तमात्मानं यावती र्गोपयोषितः।
रराम भगवांस्ताभिरात्मा रामोऽपि लीलया॥१०।३३।२०

---

१ कृष्णरामायिते द्वे तु गोपायन्त्यश्च काश्चन।
वत्सायतीं हन्ति चान्या तत्रैका तु बकायतीम्॥

२ बिल्वमंगल विरचित कर्णामृत ग्रंथ चैतन्य महाप्रभु दक्षिण भारत से लाए और वैष्णव धर्म के सिद्धांत प्रतिपादन में उनसे बड़ी सहायता ली।

रासमंडल में जितनी गोपियाँ नृत्य करती थीं, भगवान् उतने ही रूप धारण कर लेते थे।

रासपंचाध्यायी में वर्णित रासक्रीड़ा ही विशेष रूप से विख्यात है।

भागवतकार ने तो रासनृत्य का चित्र सा खींच दिया है। कृष्ण और गोपियों के प्रत्येक अंग की संचालनविधि का वर्णन देखिए—

नृत्य के समय गोपियाँ तरह तरह से ठुमुक ठुमुककर अपने अपने पावँ कभी आगे बढ़ातीं और कभी पीछे हटा लेतीं। कभी गति के अनुसार धीरे धीरे पावँ रखतीं, तो कभी बड़े वेग से, कभी चाक की तरह घूम जातीं, कभी अपने हाथ उठा उठाकर भाव बतातीं, तो कभी विभिन्न प्रकार से उन्हें चमकातीं। कभी बड़े कलापूर्ण ढंग से मुसकरातीं, तो कभी भौंहें मटकातीं। नाचते नाचते उनकी पतली कमर ऐसी लचक जाती थी, मानो टूट गई हो। झुकने, बैठने, उठने और चलने की फुर्ती से उनके स्तन हिल रहे थे तथा वस्त्र उड़े जा रहे थे। कानों के कुंडल हिल हिलकर कपोलों पर आ जाते थे। नाचने के परिश्रम से उनके मुँह पर पसीने की बूँदें झलकने लगी थीं। केशों की चोटियाँ कुछ ढीली पड़ गई थीं। नीवी की गाँठें खुली जा रही थीं। इस प्रकार नटवर नंदलाल की परम प्रेयसी गोपियाँ उनके साथ गा गाकर नाच रही थीं।...वे श्रीकृष्ण से सटकर नाचते नाचते ऊँचे स्वर से मधुर गान कर रही थीं। कोई गोपी भगवान् के साथ उनके स्वर में स्वर मिलाकर गा रही थी। वह श्रीकृष्ण के स्वर की अपेक्षा और भी ऊँचे स्वर से राग अलापने लगी।...उसी राग को एक दूसरी सखी ने ध्रुपद में गाया। एक गोपी नृत्य करते करते थक गई। उसकी कलाइयों से कंगन और चोटियों से बेला के फूल खिसकने लगे। तब उसने अपनी बगल में ही खड़े मुरली मनोहर श्यामसुंदर के कंधे को अपनी बाँह में कसकर पकड़ लिया।

गोपियों के कानों में कमल के कुंडल शोभायमान थे। घुँघराली अलकें कपोलों पर लटक रही थीं। पसीने की बूँदें झलकने से उनके मुख की छटा निराली ही हो गई थी। वे रासमंडल में भगवान् श्रीकृष्ण के साथ नृत्य कर रही थीं। उनके कंगन और पायजेबों के बाजे बज रहे थे और उनके जूड़ों और चोटियों में गुँथे हुए फूल गिरते जा रहे थे।[1]

इस महारास की परिसमाप्ति होते होते भगवान् के अंगस्पर्श से गोपियों की इंद्रियाँ प्रेम और आनंद से विह्वल हो गईं। उनके केश बिखर गए।

---

१ श्रीमद्भागवत, दशम स्कंध, श्लोक १—१९।

फूलों के हार टूट गए और गहने अस्तव्यस्त हो गए। वे अपने केश, वस्त्र और कंचुकी को भी पूर्णतया सँभालने में असमर्थ हो गईं। रासक्रीड़ा की यह स्थिति देखकर स्वर्ग की देवांगनाएँ भी मिलनकामना से मोहित हो गईं और समस्त तारों तथा ग्रहों के साथ चंद्रमा चकित एवं विस्मित हो गए।

हम पहले उल्लेख कर चुके हैं कि हरिवंश पुराण में कृष्ण के रासनृत्य को हल्लीसक नाम से अभिहित किया गया था। हल्लीस को रास का पर्याय पाइयलच्छि नाममाला में हरिपाल ने ११वीं शताब्दी में घोषित किया। डा० विंटरनिट्ज ने भी अपने इतिहास में दोनों को पर्याय बताते हुए लिखा है—

रास और हल्लीस

These are the dances called रास or हल्लीस accompanied by pantomimic representations, and which still today take place in some parts of India, and, for instance, in Kathiawad are still known by a name corresponding to the Sanskrit हल्लीस।[1]

रासलीला का विस्तार—उत्तर भारत में सौराष्ट्र से लेकर कामरूप तक रासलीला का प्रचलन है। सौराष्ट्र की तो यह धारणा है कि पार्वती ने उषा को इस लास्य नृत्य की शिक्षा दी और उषा ने इस कला का प्रचार सर्वप्रथम सौराष्ट्र में किया। अतः सौराष्ट्र महाभारतकाल से इस नृत्यकला का केंद्र रहा। कामरूप में प्रचलित मणिपुरी नृत्य में रासलीला का प्रभाव सबसे अधिक मात्रा में पाया जाता है। यद्यपि कामरूप (आसाम) में रासलीला के प्रभावकाल की तिथि निश्चित करना अत्यंत कठिन है तथापि एक प्रसिद्ध आलोचक का मत है कि होली के पवित्र पर्व पर प्रचलित (मणिपुरी) लोकनृत्य को वैष्णवों ने रासलीला के रूप में परिणत कर दिया। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि लोकनृत्यों में उपलब्ध शृंगार को धार्मिकता के रंग में रँगकर इस नृत्य का विधान किसी समय किया गया होगा।

"The Holi", writes a well known art critic, "is a true expression of the emotions of the Hindu East at spring time, when the warm Sun which bronzes the cheek of beauty also subtly penetrates

---

१ A History of India (Ancient). Vol. I, (Winternitz)

each living fibre of the yielding frame, awakening by its mellowing touch, soft desires and wayward passions, which brook no restraint, which dread no danger, and over which the metaphysical Hindu readily throws the mantle of his most comprehensive and accommodating creed,"

When Vaishnavism and the Cult of Krishna absorbed this primitive festival and raised it to a religious ritual it became the Ras-Leela, invested it with a peculiar mystery and dignity. Of all the seasonal and religious festivals, this became the most popular and was enjoyed by all classes of people, without falling into any licentious or ribaldry like the Holi. A secular form of it was the Dolemancha, a kind of sport and pastime for young ladies who sought the seclusion of the graves or gardens and besported themselves on swings with accompanying songs and music.

—Dance of India, G. Venkatachalam, p. 115.

दक्षिण भारत में इस नृत्य के प्रचलन का वृत्तांत नहीं मिलता। हाँ, यक्षगान और रासलीला एक दूसरे से किसी किसी अंश में इतना साम्य रखती हैं कि एक का दूसरे पर प्रभाव परिलक्षित होता है। द्रविड़ देश में भागवतकार यक्षगान का संचालक माना जाता है। भागवतकार कब दक्षिण में कृष्णलीलाओं का अभिनय कराने लगे, यह कहना कठिन है। आज से १८०० वर्ष पूर्व तमिल भाषा में नृत्य विषयक एक ग्रंथ 'शिलप्यधिकारम्' विरचित हुआ। इस ग्रंथ में रासनृत्य का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। रासधारियों के स्थान पर चकयार नामक जाति का वर्णन मिलता है। रासमंडल के स्थान पर कूथंवलम का नामोल्लेख मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि भरतनाट्य से पूर्व रासनृत्य से दक्षिण भारत के आचार्य परिचित नहीं थे।

दक्षिण भारत में श्रृंगाररस को प्रधान मानकर जिन नृत्यों का उल्लेख

मिलता है उनमें भी रास का नाम नहीं मिलता। 'नट नाथि वाद्य रंजनम्' नामक आर्य द्रविड भरतशास्त्र में दक्षिण भारत में प्रचलित नृत्यों का विस्तार से वर्णन करते हुए संमय लोधि नाट्यम्, गीतनाट्यम्, भरतनाट्यम्, पेरानिनाट्यम्, चित्रनाट्यम्, लयनाट्यम्, सिंहलनाट्यम्, रासनाट्यम्, पट्टस-नाट्यम्, पवइनाट्यम्, पियानाट्यम् एवं पदर्शीनाट्यम् का विवेचन किया है, किंतु रासनृत्य का वर्णन नहीं मिलता। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि रासनृत्य को दक्षिण भारत में प्रश्रय नहीं मिला।

कथकाली के तीस भेदों में भी रासनृत्य का उल्लेख नहीं मिलता। दक्षिण के प्रसिद्ध नृत्य कुम्मी, कैकोट्टिकली, धुल्लाल, चकयार कूत्तु, मोहिनि अट्टम, कुरवंची इत्यादि में भी रासलीला के समान मंडलाकार नृत्य नहीं पाया जाता। इससे सिद्ध होता है कि कृष्णलीला के कथानक को लेकर दक्षिण भारत में प्रचलित नृत्यों के आधार पर गीतनाट्य एवं नृत्यनाट्य की रचना हुई। श्रीमद्भागवत की कथावस्तु तो गृहीत हुई किंतु सौराष्ट्र एवं व्रजभूमि में प्रचलित रासनृत्य की पद्धति दक्षिण भारत में स्वीकृत नहीं हुई।

रासलीला के ऐतिह्य रूप का हम पहले विवेचन कर चुके हैं कि चौदहवीं शताब्दी में रास की तीन पद्धतियाँ इतनी प्रचलित हो चुकी थीं कि उनका विश्लेषण वेम[१] को काव्यशास्त्र में करना पड़ा। हर्ष (६०६—६४८ ई०) काल में रास एवं चर्चरी दोनों का मनोहारी वर्णन हर्षचरित एवं रत्नावली में विद्यमान है। चर्चरी का वर्णन इस रूप में दृष्टिगोचर होता है—

मदनोत्सव के अवसर पर राजा, विदूषक, मदनिका आदि चेटियाँ रंग-मंच पर आसीन हैं। नर्तकियाँ चर्चरी नृत्य के द्वारा दर्शकों का मनोविनोद कर रही हैं। इतने में विदूषक मदनिका से चर्चरी सिखाने का अनुरोध करता है।[२] मदनिका विदूषक का उपहास करती हुई कहती है कि यह चर्चरी नहीं द्विपदी खंड है।

चर्चरी नृत्य की व्याख्या करते हुए वेद आचार्य का कथन है—

---

१. रासकस्य प्रभेदास्तु रासकं नाट्य रासकम्। चर्चरीतित्रयः प्रोक्ताः।

२. भोदि मअणिए, भोदि चूअलदिए, मंपि एदं केमः चच्चरिं सिक्खावेहिं। (अरी मदनिका, ओरी चूतलतिका, मुझे भी यह चर्चरी सिखा दे।—रत्नावली, प्रथम अंक।)

तेति गिध इति शब्देन नर्त्तनं रासतालतः ।
अथवा चर्चरीतालाच्चतुरावर्तनैर्नदैः ।
क्रियते नर्तनं तस्याचर्चरी नर्तनं वरम् ॥

रत्नावली नाटिका के इस उद्धरण से यह निर्विवाद निश्चित हो जाता है कि चर्चरी, द्विपदी आदि का महत्त्व सातवीं शताब्दी के प्रारंभ में इतना बढ़ गया था कि राजसभा में इनका संमान होने लगा था ।

इसी प्रसंग में ह्वानस्वांग का यह विवरण विचारणीय है कि नागानंद नाटक के नायक जीमूतवाहन के त्यागमय पावन चरित्र को लोकनाट्य के रूप में परिवर्तित करके जनसामान्य में अभिनीत किया गया था । अधिक संभावना यही है कि हर्षचरित्र में वर्णित कृष्ण की रासलीला की शैली पर यह नृत्यरूपक प्रदर्शित होता रहा हो । इस प्रकार रास के एक भेद चर्चरी का स्वाभाविक विकास होता जा रहा था ।

रिपुदारण रास[1] की कथावस्तु से रासनृत्य की एक पद्धति अधिक स्पष्ट हो जाती है । उपमितिभवप्रपंचकथा में वर्णित इस रास का सारांश दिया हुआ है ।

रिपुदारण रास में जिस ध्रुवक का वर्णन मिलता है उसका विवेचन करते हुए आचार्य वेद लिखते हैं—

गीयमाने ध्रुवपदे गीते भावमनोहरे ।
नर्तनं तनुयात्पात्रं कान्ताहास्यादिदृष्टिजम् ॥
नानागतिलसद्भाव मुखरागादि संयुतम् ।
सुकुमाराङ्ग विन्यासं दन्तोद्योतितहावकम् ॥
खण्डमानेन रचितं मध्ये मध्ये च कम्पनम् ।
यत्र नृत्यं भवेदेवं ध्रुपदाख्यं तदा भवेत् ॥
प्रायशो मध्यदेशीयभाषया यत्र धातवः ।
उद्ग्राह ध्रुवकाभोगास्त्रय एते भवन्ति ते ॥
× × ×
स्यादक्षिभ्रू विकारादि शृंगाराकृति सूचके ॥

इससे प्रगट होता है कि रिपुदारण रास रासनृत्य को नवीनता की ओर ले जा रहा था और कृष्णरास की पद्धति के अतिरिक्त लौकिक विषयों को

---

१. रिपुदारण रास—रचनाकाल विक्रम संवत् ९६२ ।

कथावस्तु बनाकर एक नूतन पद्धति का विकास हो रहा था। इस रास से यह भी सिद्ध होता कि नवीं शताब्दी में कृष्णोत्तर रासों की रचना होने लगी थी।

रास नृत्य का उत्तरकालीन नाटकों पर प्रयोग

सौराष्ट्र के कवि रामकृष्ण ने 'गोपालकेलिचंद्रिका' नामक नाटक की रचना की। इस नाटक की एक विशेषता यह है कि इसमें प्राचीन संस्कृत नाट्यशैली का पूर्णतया अनुसरण न कर पश्चिमोत्तर भारत में प्रचलित स्वाँग शैली को ग्रहण किया है। नवीन शैली के अनुसार सूत्रधार के स्थान पर सूत्रक आता है जो आद्योपांत कथा की शृंखला को जोड़ता चलता है। दूसरी विशेषता यह है कि पात्र परस्पर वार्तालाप भी करते हैं और काव्यों का सस्वर पाठ भी। इसकी तीसरी विशेषता यह है कि इसमें अभिनय की उस शैली का अनुकरण हो जिसमें ब्राह्मण पात्रों के संवादों को स्वयं कहता चलता है और उसके कुमार शिष्य उसका अभिनय क्रिया रूप में दिखाते चलते हैं।

'गोपालकेलिचंद्रिका' के अंतिम अंक में कृष्ण योगमाया का आह्वान करते हैं। अपनी मधुर मुरलीध्वनि से वह गोपियों को रासक्रीड़ा के लिये आकर्षित करते हैं। देवसमाज उनके अभिनंदन के लिये एकत्रित होता है। अंत में कृष्ण गोपियों की प्रार्थना स्वीकार करते हैं और रास में उनका नेतृत्व करते हैं। इसका निर्देश वर्णनात्मक रूप से भी किया गया है। अंत में नाटक का संचालक (सूत्रधार अथवा सूत्रक) नृत्य की परिसमाप्ति नृत्य के मध्य में ही यह कहते हुए करता है कि परमेश्वर की महत्ता का पर्याप्त रूप से प्रत्यक्षीकरण असंभव है।

इस नाटक से यह तथ्य उद्घाटित होता है कि धार्मिक नाटकों में रासनृत्य को प्रमुख स्थान देने की परंपरा स्थापित हो चुकी थी।

"रिपुदारण रास" के उपरांत संस्कृत राससाहित्य का विशेष उल्लेख नहीं मिलता। हर्षवर्द्धन की मृत्यु के उपरांत देश में सार्वभौम सत्ता की स्थापना के लिये विविध शक्तियों में प्रतिस्पर्धा बढ़ रही थी। गहड़वार, राष्ट्रकूट, चौहान, पाल, आदि राजवंश एक दूसरे को नीचा दिखाने के उद्योग में लगे थे। ऐसे अशांत वातावरण में रासलीला देखने का किसको उत्साह रहा होगा। देश में जब गृहयुद्ध छिड़ा हो, जनता के प्राणों पर आ बनी हो, कृष्ण की जन्मभूमि रक्तरंजित हो रही हो, उन दिनों रासलीला के द्वारा

परमार्थचिंतन की साध किसके मन में उठ सकती है। इन्हीं कारणों से ८ वीं शताब्दी से १५ वीं शताब्दी तक के मध्य कृष्ण रासलीला का प्रायः अभाव सा प्रतीत होता है। यह प्राकृतिक सिद्धांत है कि आमुष्मिकता और विनोदप्रियता के लिये देश में शांत वातावरण की बड़ी अपेक्षा रहती है।

उत्तर भारत में गुर्जर देश एवं सौराष्ट्र के अतिरिक्त प्रायः सर्वत्र अशांत वातावरण था। इस कारण संभवतः रासलीला के अनुकूल वातावरण न होने से जयदेव कवि तक वैष्णव रासों का निर्माण न हो सका। जयदेव के उपरांत मुगल राज्य के शांत वातावरण में रासलीला का पुनः प्रचार बढ़ने लगा। चैतन्य देव, वल्लभाचार्य, हितहरिवंश, स्वामी हरिदास प्रभृति महात्माओं के योग से रासलीला साहित्य की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि होने लगी। इस संग्रह में उसी काल के वैष्णव रास साहित्य का चयन किया गया है।

हम पहले विवेचन कर आए हैं कि रासनृत्य का बीज कतिपय मनीषियों ने श्रुतियों में ढूँढ निकाला है। कन्हैयालाल मुंशी का मत है कि रासनृत्य को आधृत मानकर भारोपीय काल का जन-

रासनृत्य की प्राचीनता साहित्य निर्मित हुआ। नरनारी शृंगारप्रधान उन

काव्यों का गायन करते हुए उपयुक्त ताल, लय एवं गति के साथ मंडलाकार नृत्य करते थे। कभी केवल पुरुष कभी केवल स्त्रियाँ इस नृत्य में भाग लेतीं। इस नृत्य के मूल प्रवर्तक श्रीकृष्ण मथुरा राज्य के निवासी थे जिन्होंने ईसा से शताब्दियों पूर्व इस नृत्य को गोप-समाज में प्रचलित किया। वृष्णि, सात्वत, आभीर आदि जातियों ने इस नेता की आराधना की और रास को धर्मोन्मुखी नृत्य के पद पर प्रतिष्ठित किया।

मध्य देश के गेय पद (गीत) रासनृत्य की प्रेरणा से आविर्भूत हुए। इन गीतों की भाषा शौरसेनी प्राकृत थी। इन गीतों को कुशल कलाकारों ने ऐसे लय एवं रागों में बाँधा जो रासनृत्य के साथ साथ सरलतापूर्वक प्रयुक्त हो सकें।[१] कन्हैयालाल मुंशी का मत है कि इन गीतों एवं नृत्यों ने संस्कृत नाटकों के नवनिर्माण में एक सीमा तक योग दिया।

---

१ Gujrat and its Literature, p. 135.

इसी रासनृत्य ने यात्रानाटकों को जन्म दिया। यात्रानाटक धार्मिक व्यक्तियों की प्रेरणा से पवित्र पर्वों एवं उत्सवों पर अभिनीत होने लगे।

रास और यात्रा

हमारे देश के आपत्काल में जब संस्कृत नाटक ह्रासोन्मुख होने लगे तो ये यात्रानाटक जन सामान्य को धर्म की ओर उन्मुख करने एवं नृत्य वाद्य आदि ललित कलाओं में अभिरुचि रखने के लिये सहायक सिद्ध हुए।

यात्रानाटकों का प्रारंभ डा० कीथ वैदिक काल से मानते हैं। ललितविस्तर में बुद्ध के जिस नाट्यप्रदर्शन में दर्शक बनने का वर्णन मिलता है संभवतः वह यात्रानाटक ही थे। ये यात्रानाटक शक्ति और शंकर की कथाओं के आधार पर खेले जाते रहे होंगे। पूर्वी भारत में चंडी[1] शक्ति और शंकर की लीलाओं के आधार पर यात्रानाटकों का प्रचलन था तो मध्यभारत और सौराष्ट्र में कृष्णलीलाओं का प्रदर्शन रासनृत्य को केंद्र बनाकर किया जाता था।

यात्रासाहित्य के अनुसंधाताओं का मत है कि कृष्णयात्रा का प्रारंभ संभवतः जयदेव के गीतगोविंद के उपरांत हुआ होगा। इसके पूर्व शक्तियात्रा और चंडीउपासना के गीत यात्राकाल में गाए जाते रहे होंगे। इसी मत का समर्थन बंकिमबाबू के बंगदर्शन[2] एवं पं० द्वारकानाथ विद्याभूषण[3] के 'सोमप्रकाश' में उद्धृत लेखों से प्राप्त होता है।

रास और यात्रा के उपलब्ध साहित्य का परीक्षण करने से ऐसा प्रतीत होता है कि जयदेव महाकवि के गीतगोविंद ने रास और यात्रा की नाट्य-पद्धतियों पर अभूतपूर्व प्रभाव डाला। रासनृत्य के यात्रानाटकों में संमिलित होने का रोचक इतिहास प्रस्तुत किया जा सकता है। महमूद गजनवी के

---

१ The ancient yatras that were prevalent in Bengal were about the cult of Sakti worship, and dealt mainly with the death of Shumbha and Nishumbha or of other Asuras. In one sense we can regard Chandi as a piece of dramatic literature. In this drama we find one Madhu, two Kaitabhas, three Mahishasuras, fourth Shumbha, fifth Nishumbha were killed.

At that time, there was no Krishna Jatra. —The Indian Stage Vol. I, page 112-

२ Bang Darshan, Falgun, 1289, B. S.

मथुरा और सोमनाथ के मंदिरों के धराशायी होने एवं देवविग्रह के खंड खंड होने के कारण मथुरा की रासलीला पद्धतियों को (यदि वे प्रचलित रही हों तो) धक्का पहुँचा होगा। शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी के दिल्ली-कन्नौज-विजय के उपरांत रासलीला की अवशिष्ट पद्धति भी विलीन हो गई होगी। ऐसी स्थिति में उन कलाकारों की क्या गति हुई होगी, यह प्रश्न विचारणीय है।

दैवयोग से इन्हीं दिनों उत्कल के पराक्रमी राजा अनंगभीमदेव द्वितीय सिंहासनासीन हुए और उन्होंने अपने पुत्रों एवं सेनापतियों के पराक्रम से एक विस्तृत स्वतंत्र राज्य स्थापित किया। हुगली से गोदावरी तक विस्तीर्ण राज्यस्थापन में उन्हें अनंत धन हाथ लगा और १२०५ ई० में उन्होंने उसके एक अंश से जगन्नाथ जी का मंदिर निर्मित कराया। स्वप्न में भगवान् के आदेश से देवप्रतिमा समुद्रवेला की बालुकाराशि से उद्धृत हुई और बड़े उत्साह के साथ प्रतिमा जगन्नाथ जी के मंदिर में प्रतिष्ठित की गई। स्वभावतः उल्लास के कारण जनसमुदाय नृत्य के साथ संकीर्तन करता हुआ जलूस (यात्रा) के साथ आया होगा और नव-मंदिर-निर्माण से हिंदू जाति के हृदय में प्राचीन मंदिरों के भग्न होने का क्लेश तिरोहित होने लगा होगा।

जगन्नाथ जी की प्रतिमा की विभिन्न यात्रा (स्नानयात्रा, रथयात्रा) के अवसर पर नृत्य, *संगीत एवं नाट्य अभिनय की आवश्यकता प्रतीत हुई होगी।* मथुरा वृंदावन के कलाकार जीविका की खोज एवं भक्तिभावना से पूरित हृदय लिए जगन्नाथ जी की यात्रा को अवश्य पहुँचे होंगे। जगन्नाथ जी की यात्रा उस काल का एक राष्ट्रीय त्योहार बन गया होगा। जयदेव के कोकिलकंठ से उच्छ्वसित गीतों, मधुर गायकों एवं रासधारियों के नर्तन के योग से गीतगोविंद आकर्षक नृत्यनाट्य का रूप धारण कर गया होगा। जगन्नाथ में रासलीला के प्रवेश का यही विवरण संभव प्रतीत होता है।

जयदेव द्वारा प्रवर्तित रासलीला चैतन्यकाल में नवजीवन पाकर शताब्दियों तक पल्लवित होती रही। दूरस्थ देशों से दर्शनार्थ आनेवाले यात्रियों को कृष्णलीला का रासनृत्य द्वारा प्रदर्शन देखकर अत्यंत प्रसन्नता होती रही होगी। वह कृष्णयात्रा (कालियदमन) अब तक उत्कल देश को आनंदित करती रहती है।

इतिहास[१] इस तथ्य का साक्षी है कि मुसलमानों ने मध्यकाल में जहाँ

---

१ A History of Orissa, Vol. I, p. 16.

देश के विभिन्न देवमंदिरों का विध्वंस कर दिया, जगन्नाथ जी के मंदिर से प्रति वर्ष ९ लाख रुपया कर लेकर उसकी प्रतिमा को नष्ट नहीं होने दिया। इस प्रकार पुजारियों, वैष्णव भक्तों एवं यात्रियों से इतनी बड़ी धनराशि के प्रलोभन ने देवमंदिर की प्रतिष्ठा को स्थायी बनाए रखा। धर्मभीरु जनता मुसलमान शासकों को कर देकर देवदर्शन के साथ साथ भगवान् के रास-दर्शन से भी कृतार्थ होती रही। रासनृत्य की यही परंपरा चैतन्यकाल में अकबर का शांतिमय राज्य पाकर पुनः मथुरा वृंदावन के करीलकुंजों में गुंजरित हो उठी।

बौद्धधर्म के पतनोन्मुख होते समय उत्कल के बौद्ध विहारों से जनता की श्रद्धा हटती गई। शैवधर्म ने पुनः बल पकड़ा और छठी शताब्दी में भुवनेश्वर के शैवमंदिरों का निर्माण तेजी से होने लगा[1]। शक्तियात्रा के लिये उपयुक्त वातावरण मिलने से चंडीचरित्र प्रचलित होने लगा।

दसवीं शताब्दी में विरचित विष्णुपुराण इस तथ्य का साक्षी है कि वैष्णवों ने बौद्धधर्म की अवशिष्ट शक्ति का मूलोन्मूलन कर दिया और वासुदेव की उपासना संपूर्ण उत्तर भारत में फैलने लगी। रामानुज, रामानंद, चैतन्य, शंकरदेव, वल्लभ, हित हरिवंश आदि महात्माओं ने वैष्णव धर्म के प्रचार में पूरा योग दिया और रासनृत्य पुनः अपनी जन्मभूमि मथुरा में अधिष्ठित हो गया।

लास्य रास की परंपरा सौराष्ट्र में

'रास' गीत का नाट्योचित पद्यप्रकार सौराष्ट्र गुजरात के गोपजीवन से संबंधित है। इसका इतिहास भी श्रीकृष्ण के द्वारिकावास जितना ही पुराना है। गुजरात में रास के प्रचार का श्रेय कृष्ण के सौराष्ट्रनिवास को ही है।

शार्ङ्गदेव (१३वीं सदी) ने अपने ग्रंथ संगीतरत्नाकर के सातवें नर्तनाध्याय में नृत्यपरंपरा के संबंध में तीन श्लोकों में इस प्रकार विवरण दिया है—

> लास्यमस्याग्रतः प्रीत्या पार्वत्या समदीदिशत् ॥६॥
> पार्वती त्वनुशास्तिस्म लास्यं बाणात्मजामुषाम्।
> तया द्वारवती गोप्यस्ताभिः सौराष्ट्रयोषितः ॥७॥

---

१ A History of Orissa, Vol. I, p. 13.

ताभिस्तु शिक्षिता नार्यो नानाजनपदास्पदाः ।
एवं परम्पराप्राप्तमेतल्लोके प्रतिष्ठितम् ॥८॥

इससे स्पष्ट हो जाता है कि जनता में लास्य का प्रचार कैसे हुआ। 'अभिनयदर्पण' में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है। हेमचंद्र अपनी देशी नाममाला में और धनपाल अपनी 'पाइअलच्छी नाममाला' में कहते हैं कि प्राचीन विद्वान् जिसे 'हलीष(स)कम्' और रासक कहते हैं वे वस्तुतः एक ही हैं। नाट्यशास्त्र में हल्लीसक और रासक को नाट्यरासक के उपरूपक के रूप में स्वीकार किया गया है।

सौराष्ट्र के प्रसिद्ध भक्त नरसिंह महेता को शिव जी की कृपा से रासलीला देखने का अवसर प्राप्त हुआ था। रास सहस्रपदी में यह प्रसंगबद्ध कर लिया गया है। कृष्ण गोपी का रास सभी से प्राचीन रास है। इसमें सभी रसमय हो जाते हैं।

रास अथवा लास्य केवल रसपूर्ण गीत ही नहीं, इसमें नृत्य, गीत और वाद्य का भी समावेश होता है। अतः नृत्य, वाद्य और गीत इन तीनों का मधुर त्रिवेणी संगम है रास।

राजशेखर की 'विद्धशालभंजिका' नाटक में रास का स्पष्ट उल्लेख आया है—

"तवाङ्गणे खेलति दण्डरास"

जयदेव के गीतगोविंद में भी रास का उल्लेख पाया जाता है—

"रासे हरिरिह सरस विलासम्"

देश देश की रुचि के अनुसार रासनृत्य के ताल और लय में विविधता रहती थी। गति की दृष्टि से रास के दो प्रकार हैं—(१) मसृण अर्थात् कोमल प्रकार और (२) उद्धत अर्थात् उत्कृष्ट प्रकार।

हेमचंद्रसूरि के शिष्य रामचंद्र गुणचंद्र ने अपने 'नाट्यदर्पण' में लास्य के अवांतर भेदों का वर्णन किया है। पं० पुंडरीक विट्ठल (१६ वीं सदी) के ग्रंथ "नृत्यनिर्णय" में दंडरास्य के संबंध में विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है।

असकृन्मंडली भूय गीततालयानुगं।
तदोदितं बुधैर्दण्ड-रासं जनमनोहरम् ॥
दण्डैर्विना कृतं नृत्यं रासनृत्यं तदेव हि।

श्री विल्वमंगल स्वामी ने अपने "रासाष्टक" में रास का सुंदर वर्णन किया है। "बालगोपालस्तुति" नामक ग्रंथ की हस्तलिखित प्राप्त प्रतियों के कृष्ण के चित्रों से रासपरंपरा के उद्‍गम स्थान पर बहुत प्रकाश पड़ता है। यह चित्र 'रासाष्टक' के इन श्लोकों के आधार पर निर्मित है—

अङ्गनामङ्गनामन्तरे माधवो।
माधवं माधवं चान्तरेणाङ्गना॥
इत्थमाकल्पिते मण्डले मध्यगः।
संजगौ वेणुना देवकीनन्दनः॥

इस गीत का ध्रुवपद है—

"संजगौ वेणुना देवकीनन्दनः।"

ऊषा अनिरुद्ध के विवाह के कारण द्वारिका के नारीसमाज में नृत्य-परंपरा का आरंभ हुआ और धीरे धीरे सौराष्ट्र भर में उसका प्रचार हुआ।

लास्य की दूसरी परंपरा भी है जिसके प्रणेता हैं अर्जुन। अर्जुन ने उत्तरा को नृत्य सिखाया था। उत्तरा अभिमन्यु की पत्नी हुई। सब सौराष्ट्र में आकर बस गए और यों उत्तरा के द्वारा सौराष्ट्र में नृत्य का प्रचार हुआ। इस बात का उल्लेख १४वीं सदी के संगीतसुधाकर, नाट्यसर्वस्वदीपिका और सुधाकलश विरचित संगीतोपनिषत्‌सार अथवा संगीतसरोद्धार में मिलता है।

इन सभी बातों से स्पष्ट है कि लास्य और रास नृत्य की परंपरा सौराष्ट्र में पाँच सहस्र वर्षों से भी प्राचीन है।

रास के गीतों का विषय प्रायः कृष्णगोपियों का विविध लीलाविहार था। प्रेमानंद कवि ने भी ऐसा ही वर्णन किया है।

जैन रास का विकास

पिछले अध्याय में वैष्णव रास के उद्भव और क्रमिक विकास का उल्लेख किया जा चुका है। रास संबंधी उपलब्ध साहित्य में जैन साहित्य का मुख्य स्थान है। इस साहित्य के रचनाकाल को देखते हुए यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि दसवीं से पंद्रहवीं शताब्दी तक शतशत जैन रासों की रचना हुई। इस अध्याय में मध्यकालीन जैन रासों के विकासक्रम का विवेचन किया जायगा।

जिस प्रकार वैष्णव रास का सर्वप्रथम नामोल्लेख एवं विवरण हरिवंश पुराण में उपलब्ध है उसी प्रकार प्रथम जैन रास का संकेत देवगुप्ताचार्य विरचित नवतत्वप्रकरण के भाष्यकार अभयदेव सूरि की कृति में विद्यमान है। अभयदेव सूरि ने नवतत्वप्रकरण का भाष्य संवत् ११२८ वि० में रचते हुए दो रासग्रंथों के अनुशीलन का विवरण इस प्रकार दिया है—

चतुर्दश्या रात्रि शेषे समुत्थाय शय्यायाः, स्नानादिशौचपूर्वं चन्दनादि चर्चित वदनः परिहितप्रवर नवादि वस्त्रो यथाविभवमाभरणादिकृत शृंगारोऽन्यस्य कस्यापि मुखमपश्यन्ननुद्गत एव सूर्येऽखंडास्फुटित तंडुलभृताञ्जलि विनिवेशित नारङ्ग नारिकेर जातिफलो जिनभवनमागत्य विहित प्रदक्षिणात्रयस्तत्सम्भवाभावे चैवमेव जयादिशब्दपूर्वं जिनस्यनमस्कारं कुर्वंस्तदग्रे तन्दुलादीन्मुञ्चेत्; ततो विहित विशिष्ट सपर्यो देववन्दनां कृत्वा गुरुवन्दनां च, साधूनां गुडघृतादिदानपूर्वं साधर्मिकान् भोजयित्वा स्वयं पारयतीति। अनयोश्चविशेषविधिर्मुकुटसप्तमी सन्धिवन्ध माणिक्यप्रस्तारिका प्रतिवन्ध रासकाभ्यामवसेय इति।—भाष्यविवरण, पृ० ५१।

अर्थात् चतुर्दशी को कुछ रात्रि शेष रहते शैया से उठकर स्नानादि से निवृत्त होकर, चंदनचर्चित शरीर पर नवीन वस्त्र और आभूषण धारण करके, अँधेरे मुँह सूर्योदय से पूर्व अंजली में चावल, नारियल, जातिफल इत्यादि लेकर जैनमंदिर में जाकर नियमानुसार प्रदक्षिणा करके, जिन-प्रतिमा को नमस्कार करते हुए उसके आगे चावल आदि को सेवा में अर्पित कर दे। देववंदना और गुरुवंदना के उपरांत धार्मिक व्यक्तियों को भोजन कराके स्वयं भोजन करे और मुकुटसप्तमी एवं संधिबंध माणिक्यप्रस्तारिका नामक रासों का अवसेवन करे।

'मुकुटसप्तमी' एवं 'माणिक्यप्रस्तारिका' नामक रासों के अतिरिक्त प्राचीन रासों में 'अंबिकादेवी' नामक रास का दसवीं शताब्दी में उल्लेख मिलता है। 'उपदेशरसायन' रास के पूर्व ये तीन रास ऐसे हैं जिनका केवल नामोल्लेख मिलता है किंतु जिनके वर्ण्य विषय के संबंध में निश्चित मत नहीं स्थिर किया जा सकता। हाँ, उद्धरण के प्रसंग से इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ये रास नीति-धर्म-विषयक रहे होंगे, तभी इनका अनुशीलन धार्मिक कृत्य के रूप में आवश्यक माना गया था। विचारणीय विषय यह है कि इन दोनों रासों—'मुकुटसप्तमी' और 'माणिक्यप्रस्तारिका'—का रचनाकाल क्या है और किस काल में इनका अनुशीलन इतना आवश्यक माना गया है।

जिन अभयदेव सूरि की चर्चा हम अभी कर आए हैं, उनका परिचय जिनवल्लभ सूरि ने इस प्रकार दिया है—"चंद्रकुल रूपी आकाश के सूर्य श्री वर्धमान प्रभु के शिष्य सूरि जिनेश्वर हुए जो दुर्लभराज की राज्यसभा में प्रतिष्ठित थे। मेधानिधि जिनचंद्र सूरि द्वारा संस्थापित श्री स्तंभनपुर में नवनवांग विवृतिवेधा जिनेंद्रपाल अभयसूरि उत्पन्न हुए। अर्थात् अभयदेवसूरि जिनवल्लभ से पूर्व और जिनचंद्र के उपरांत हुए। जिनवल्लभ को उनके गुरु जिनेश्वरसूरि ने श्री अभयदेवसूरि के यहाँ कुछ काल तक शिक्षा प्राप्त करने के लिये भेजा। जिनवल्लभ ने अभयदेवसूरि के यहाँ विधिवत् शिक्षा प्राप्त की। जिनवल्लभ का देवलोकप्रयाण संवत् ११६७ में कार्तिक कृष्ण द्वादशी को हुआ। अतः निश्चित है कि श्री अभयदेवसूरि सं० ११६७ से कुछ पूर्व ही हुए होंगे और यह भी निश्चित है कि उनके समय तक 'मुकुट-सप्तमी' एवं 'माणिक्यप्रस्तारिका' नामक रास सर्वत्र प्रसिद्ध हो चुके थे। अतः इन रासों की रचना ११वीं शताब्दी या उससे पूर्व मानना उचित होगा।

'उपदेशरसायनरास' संभवतः उपलब्ध जैन रासग्रंथों में सबसे प्राचीन है। इस रास में पद्धटिका[1] छंद का प्रयोग किया गया है जो 'गीतिकोविदैः सर्वेषु रागेषु गीयत इति' के अनुसार सभी रागों में गाया जाता है।

इन उद्धरणों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि "उपदेशरसायन रास" को जैन रासपरंपरा की प्रारंभिक प्रवृत्ति का परिचायक माना जा

---

१ अपभ्रंश काव्यत्रयी, पृ० ११५।

सकता है। "मुकुटसप्तमी" 'एवं माणिक्यप्रस्तारिका' का मंदिर में अव-सेवन इस तथ्य का प्रमाण है कि इनमें धार्मिक एवं नैतिक शिक्षाओं का अवश्य समावेश रहा होगा, और 'उपदेशरसायन रास' उसी परंपरा में विरचित हुआ हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

उपदेशरसायन रास के अनुशीलन से धार्मिक रास की उपयोगिता इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रतीत होती है[1]—

धम्मिय नाडय पर नच्चिज्जहिं
भरह-सगर निक्खमण कहिज्जहिं।
चक्कवट्टि - बल - रायह चरियइँ
नच्चिवि अंति हुंति पव्वइयइँ ॥

अर्थात्—

"उन धार्मिक नाटकों को नृत्य द्वारा दिखाना चाहिए जिनमें भरतेश्वर बाहुबलि एवं सगर का निष्क्रमण दिखाया गया हो। उनका कथन करना चाहिए। बलदेव, दशार्णभद्रादि चरित को कहना चाहिए। ऐसे महापुरुष के जीवन को नर्तन के आधार पर दिखाना चाहिए जिनसे प्रव्रज्या के लिये संवेग वासना उत्पन्न हो।"

जंबूस्वामी चरित में 'अंबादेवी रास' का उल्लेख मिलता है। जंबूस्वामी चरित की रचना सं० १०७६ वि० में हुई थी। उसमें 'अंबादेवी' का रास मिलता है। इस रास से भी अनुमान लगाया जा सकता है कि अंबादेवी के चरित के आधार पर जीवन को अध्यात्म तत्व की ओर उन्मुख करने के लिये इस रास की रचना हुई होगी।

इसी प्रकार अपभ्रंश में एक 'अंतरंग रास' की रचना का भी उल्लेख पाया जाता है। यह रास अभी तक प्रकाशित पुस्तक के रूप में नहीं आया

---

१ धार्मिकानि नाटकानि परं नृत्यन्ते
भरत-सगर निष्क्रमणानि कथ्यन्ते।
चक्रवर्ति-बलराजस्य चरितानि
नर्तित्वाऽन्ते भवन्ति प्रव्रजितानि ॥
—उपदेशरसायन रास, ३७।

है। मुझे इसकी हस्तलिखित प्रति भी अभी तक देखने को नहीं मिली। बारहवीं शताब्दी तक उपलब्ध रासों की संख्या अब तक इतनी ही मानी जा सकती है।

१२ वीं शताब्दी के उपरांत विरचित उपलब्ध रास ग्रंथों की संख्या एक सहस्र तक पहुँच गई है। इनमें से अति प्रसिद्ध रासग्रंथों का सामान्य विवेचन इस संग्रह में देने का प्रयास किया गया है।

तेरहवीं शताब्दी के रास

तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी रासरचना के लिये सर्वोत्कृष्ट मानी जाती है। इस युग में साहित्यिक एवं अभिनेयता की दृष्टि से उत्कृष्ट कई रचनाएँ दिखाई पड़ती हैं। जैनेतर रासकों में काव्यकला की दृष्टि से सर्वोत्तम रास 'संदेशरासक' इसी युग के आस पास की रचना है। वीररसपूर्ण 'भरतेश्वर बाहुबलि घोर रास' तथा 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' काव्य की दृष्टि से उत्तम काव्यों में परिगणित होते हैं। इस रास की भाषा परिमार्जित एवं गंभीर भावों के साथ होड़ लेती हुई चलती है। जैन रासों में 'जंबूस्वामि रास', 'रेवंतगिरि रास' एवं 'आबू रास' प्रभृति ग्रंथ प्रमुख माने जाते हैं। उनकी रचना इसी युग में हुई है।

'उपदेशरसायन रास' की शैली पर विरचित 'बुद्धिरास' गृहस्थ जीवन को सुखमय बनाने का मार्ग दिखाता है। आचार्य शालिभद्र सूरि सज्जन से विवाद, नदी सरोवर में एकांत में प्रवेश, जुआरी से मैत्री, सुजन से कलह, गुरुविहीन शिक्षा एवं धनविहीन अभिमान को व्यर्थ बताते हुए गार्हस्थ्य धर्म के पालन पर बल देते हैं। मातृ-पितृ-भक्ति पर बल देते हुए दानशीलता की महिमा बताना इस रास का लक्ष्य है। श्रावक धर्म की ओर भी संकेत पाया जाता है। इस प्रकार नैतिकता की ओर मानव मन को प्रेरित करने का रासकारों का प्रयास इस युग में भी दिखाई पड़ता है।

जैनधर्म में जीवदया पर बड़ा बल दिया जाता है। इसी युग में आसिग कवि ने 'जीवदया रास' में श्रावक धर्म को स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है। 'बुद्धिरास' के समान इसमें भी मातापिता की सेवा, देवगुरु की भक्ति, मन पर संयम, सदा सत्यभाषण, निरंतर परोपकार-चिंतन पर बल दिया गया है। धर्म की महिमा बताते हुए कवि धर्मप्रेमियों में विश्वास उत्पन्न

कराना चाहता है कि धर्मपालन से ही लोक में समृद्धि और परलोक में सुख संभव है। आगे चलकर कवि धर्मात्माओं की कष्टसहिष्णुता का उल्लेख करके धर्मपालन के मार्ग की बाधाओं की ओर भी संकेत करता है। इस प्रकार ५३ श्लोकों में विरचित यह लघु रास अभिनेय एवं काव्यछटा से परिपूर्ण दिखाई पड़ता है।

इसी युग में एक ऐसा जैन रास मिलता है जिसका कृष्ण बलराम से संबंध है। जैन संप्रदाय में मुनि नेमिकुमार का बड़ा माहात्म्य है। उन्हीं की जीवनगाथा के आधार पर 'श्रीनेमिनाथ रास' की रचना सुमतिगणि ने की। इस रास में कृष्ण के चरित्र से नेमिनाथ के चरित्रबल की अधिकता दिखाना रासकार को अभीष्ट है। कृष्ण नेमिनाथ के तेजबल को देखकर भयभीत हुए कि द्वारावती का राज्य उसे ही मिलेगा। अतः उन्होंने मल्लयुद्ध के लिये नेमिनाथ को ललकारा। नेमिनाथ ने युद्ध की निस्सारता समझाते हुए कृष्ण से मल्लयुद्ध में भिड़ना स्वीकार नहीं किया। इसी समय ऐसा चमत्कार हुआ कि कृष्ण नेमिनाथ के हाथों पर बंदर के सदृश झूलते रहे पर उनकी भुजाओं को झुका भी न सके। यह चमत्कार देखकर कृष्ण ने हार स्वीकार कर ली और वे नेमिनाथ की भूरि भूरि प्रशंसा करने लगे। इसके उपरांत उग्रसेन की कन्या राजमती के साथ विवाह के अवसर पर जीवहत्या देखकर नेमिनाथ के वैराग्य का वर्णन बड़े मार्मिक ढंग से किया गया है। यह लघु रास अभिनेय होने के कारण अत्यंत जनप्रिय रहा होगा क्योंकि इसकी अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ स्थान स्थान पर जैन भंडारों में उपलब्ध हैं।

कृष्णजीवन से संबंध रखनेवाला एक और जैन रास 'गयसुकुमाल' मिला है। गजसुकुमार मुनि का जो चरित्र जैनागमों में पाया जाता है वही इसकी कथावस्तु का आधार है।

इस रास में गजसुकुमार मुनि को कृष्ण का अनुज सिद्ध किया गया है। देवकी के ६ मृतक पुत्रों का इसमें उल्लेख है। उन पुत्रों के नाम हैं— अनीकसेन, अजितसेन, अनंतसेन, अनिहतरिपु, देवसेन और शत्रुसेन। देवकी के गर्भ से गजसुकुमार के उत्पन्न होने से बालक्रीड़ा देखने की उनकी अभिलाषा पूर्ण हो, यही इस रास का उद्देश्य है। ३४ श्लोकों में यह लघु रास समाप्त होता है और अंत में इस रास का अभिनय देखने और उसपर विचार करने से शाश्वत सुखप्राप्ति निश्चित मानी गई है।

यह प्रमाण है कि किसी समय इस रास के अभिनय का प्रचलन अवश्य रहा होगा।

जैनधर्म में तीर्थ स्थानों का अत्यंत माहात्म्य माना गया है। इसी कारण रेवंतगिरि एवं आबू तीर्थों के महत्व के आधार पर 'रेवंतगिरि रास' एवं 'आबू रास' विरचित हुए। रेवंतगिरि रास चार कड़वकों में और आबू रास भाषा और ठवणी में विभक्त है। जिन लोगों ने इन तीर्थों में देवालयों का निर्माण किया उनकी भी चर्चा पाई जाती है। स्थानों का प्राकृतिक दृश्य, धार्मिक महत्व, मंदिरों की छटा और तीर्थदान की महिमा का सरस वर्णन मिलता है। काव्यसौष्ठव एवं प्राकृतिक वर्णन की सूक्ष्मता की दृष्टि से रेवंतगिरि रास उत्कृष्ट रासों में परिगणित होता है। इसका अर्थ विस्तार के साथ पृ० ५१६ से ५२३ तक दिया हुआ है।

तात्पर्य यह है कि १३ वीं शताब्दी में जैन मुनियों, दानवीरों, तीर्थ-स्थान-महिमा की अभिव्यक्ति के लिये अनेक लघु एवं अभिनेय रास विरचित हुए।

१४ वीं शताब्दी के प्रमुख जैन रास

चौदहवीं शती का मध्य आते आते रासान्वयी काव्यों की एक नई शैली फागु के नाम से पनपने लगी। ऐसा प्रतीत होता है कि जब जैन देवालयों में रास के अभिनय की परंपरा ह्रासोन्मुख होने लगी तो बृहत् रासों की रचना होने लगी। इस तथ्य का प्रमाण मिलता है कि रास के अभिनेता युवक युवतियों के संगीतमाधुर्य से यत्रतत्र प्रेक्षकों के चारित्रिक पतन की आशंका उपस्थित हो गई। ऐसी स्थिति में विचारकों ने संगठन के द्वारा यह निर्णय किया कि जैन मंदिरों में रासनृत्य एवं अभिनय निषिद्ध घोषित किया जाय। इसका परिणाम यह हुआ कि रासकारों ने रास की अभिनेयता का बंधन शिथिल देखकर बृहत् रासकाव्यों का प्रणयन प्रारंभ किया। यह नवीन शैली इतनी विकसित हुई कि रास के रूप में पंद्रहवीं शती में और उसके उपरांत पूरे महाकाव्य बनने लगे और रास की अभिनेयता एक प्रकार से समाप्त हो गई।

१४ वीं शती में जनता ने मनोविनोद का एक नया साधन ढूँढ़ निकाला और फागु रचना का निर्माण होने लगा। ये फागु सर्वथा अभिनेय होने

और धार्मिक बंधनों से कभी कभी मुक्त होने के कारण भली प्रकार विकसित हुए। इसका उल्लेख फागु के प्रसंग में विस्तार के साथ किया जायगा।

इस शती की प्रमुख रचनाओं में 'कछूली रास' एवं 'सप्तक्षेत्रि रास' का महत्व है। 'कछूली रास' कछूली नामक नगर के माहात्म्य के कारण विरचित हुआ। यह नगर अग्निकुंड से उत्पन्न होनेवाले परमारों के राज्य में स्थित है। यह पवित्र तीर्थ आबू की तलहटी में स्थित होने के कारण पुण्यात्माओं का वासस्थल हो गया है। यहाँ पार्श्वजिन का विशाल मंदिर है जहाँ निरंतर पार्श्वजिन भगवान् का गुणगान होता रहता है। यहाँ निवास करनेवाले माणिक प्रभु सूरि अंबिलादि व्रतों का निरंतर पालन करते हुए अपना शरीर कृश बना डालते थे। उन्होंने अपना अंतकाल समीप जानकर उदयसिंह सूरि को अपने पट्ट पर आसीन किया। उदयसिंह सूरि ने अपने गुरु के आदेश का पालन किया और तप के क्षेत्र में दिग्विजय प्राप्त करके गुर्जरधरा, मेवाड़, मालवा, उज्जैन आदि राज्यों में श्रावकों को सद्धर्म का उपदेश किया। उन्होंने स्थान स्थान पर संघ की प्रभावना की और वृद्धावस्था में कमल सूरि को अपने पट्ट पर विभूषित करके अनशन द्वारा अपनी आत्मा को शुद्ध किया।

इस प्रकार इस रास में कछूली नगरी के तीन मुनियों की जीवनगाथा का संकेत प्राप्त होता है। इससे पूर्व विरचित रासों में प्रायः एक ही मुनि का माहात्म्य मिलता है। इस कारण यह रास अपनी विशेषता रखता है। प्रज्ञातिलक का यह रास वस्तु में विभाजित है और प्रत्येक वस्तु के प्रारंभ में ध्रुवपद के समान एक पदांश की पुनरावृत्ति पाई जाती है, जैसे—(१) तम्हि नयरी य तम्हि नयरी, (२) जित्त नयरी य जित्त नयरी, (३) ताव संधीउ ताव संधीउ। यह शैली जनकाव्यों में आज भी पाई जाती है। संभवतः एक व्यक्ति इनको प्रथम गाता होगा और तदुपरांत 'कोरस' के रूप में अन्य गायक इसकी पुनरावृत्ति करते रहे होंगे।

जैन मंदिरों में रास को नृत्य द्वारा अभिव्यक्त करने की प्रणाली इस काल में भली प्रकार प्रचलित हो गई थी। सं० १३७१ वि० में अंबदेव सूरि विरचित 'समरा रासो' इस युग की एक उत्तम कृति है। बारह भाषों में विभक्त यह कृति रास साहित्य को नाटक की कोटि में परिगणित कराने के लिये प्रबल प्रमाण है। इस रास की एकादशी भाषा का चौथा श्लोक इस प्रकार है—

जलवट नाटकु जोइ नवरंग ए रास लउडारस ए।

जलाशय के समीप लकुटारास की शैली पर रास खेले जाने का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

इसी कृति की द्वादशी भाषा में समरा रास को जिनवर के सामने नर्तन के माध्यम से अभिव्यक्त करनेवालों को पुण्यात्मा माना गया है। रास साहित्य के विविध उपकरणों की भी इसमें चर्चा पाई जाती है। रास के अंत में कवि कहता है—

रचियऊ ए रचियऊ ए रचियऊ समरारासो।
एहु रास जो पढइ गुणइ नाचिउ जिणहरि देइ।
श्रवणि सुणइ सो वयठऊ ए।
तीरथ ए तीरथ ए तीरथ जात्र फलु लेई॥ १० ॥

इससे सिद्ध होता है कि रास के पठन, मनन, नर्तन एवं श्रवण में से किसी एक के द्वारा तीर्थयात्रा का फल प्राप्त होता था। तीन बार 'तीरथ ए' का प्रयोग करके कवि इस तथ्य पर बल देना चाहता है।

इस युग की एक निराली कृति 'सप्तक्षेत्रि रास' है। जैनधर्म में विश्व-ब्रह्मांड की रचना, सप्तक्षेत्रों की सृष्टि एवं भरतखंड के निर्माण की विशेष प्रणाली पाई जाती है। 'सप्तक्षेत्रि रास' में ऐसे नीरस विषय का वर्णन सरस संगीतमय भाषा में पाया जाना कविचातुर्य एवं रासमाहात्म्य का परिचायक है। सप्तक्षेत्रों के वर्णन के उपरांत बारह मुख्य व्रतों का उल्लेख इस प्रकार है—

(१) प्राणातिपात व्रत (अहिंसा), (२) सत्यभाषण, (३) परधन परिहार (अस्तेय), (४) शीलता का संचार, (५) अपरिग्रह, (६) द्वेषत्याग, (७) भोगोपभोग त्याग, (८) अनर्थ दंड का त्याग, (९) सामायक व्रत, (१०) देसावगासी व्रत, (११) पोषध व्रत, (१२) अतिथि संविभाग व्रत।

११९ श्लोकोंवाले इस रास में जिनवर की पूजा का विस्तार सहित वर्णन मिलता है। स्वर्णशिविका, आभरणमय पूजा, विविधोपचार का अनावश्यक विवरण रास को अभिनेय गुणों से वंचित बना देता है। जैनधर्म पूजा, व्रत, उपवास, चरित्र आदि पर बड़ा बल देता है। इस रास में इन सबका स्थान स्थान पर विवेचन होने से यह रास पाठ्य सा प्रतीत होने लगता है किंतु संभव है, जैनधर्म की प्रमुख शिक्षाओं की ओर ध्यान आकर्षित करने

के लिये नृत्यों द्वारा इस रास को सरस एवं चित्ताकर्षक बनाने का प्रयास किया गया हो। यह तो निस्संदेह मानना पड़ेगा कि जैनधर्म का इतना विस्तृत विवेचन एकत्र एक रास में मिलना कठिन है। कवि इसके लिये भूरि भूरि प्रशंसा का भाजन है। कवि ने विविध गेय छंदों का प्रयोग किया है, अतः यह रासकाव्य अभिनेय साहित्य की कोटि में आ सकता है।

१४ वीं शताब्दी में जैनधर्म-प्रतिपालक कई महानुभावों के जीवन को केंद्र बनाकर विविध रास लिखे गए। इस युग की यह भी एक विशेषता है। ऐतिहासिक रासों की परंपरा इस शताब्दी के उपरांत भली प्रकार पल्लवित हुई।

१५ वीं शती के प्रमुख रासकार

(१) शालिभद्र सूरि—'पंडव चरित' की रचना देवचंद सूरि की प्रेरणा से की गई। यह एक रास काव्य है जिसमें महाभारत की कथा वर्णित है। केवल ७९५ पंक्तियों में संपूर्ण महाभारत की कथा सार रूप से कह दी गई है। कथा में जैनधर्मानुसार कुछ परिवर्तन कर दिया गया है, परंतु यह सब गौण है। काव्यसौष्ठव, काव्यबंध और भाषा, तीनों की दृष्टि से इस ग्रंथ का विशेष महत्व है। ग्रंथ का वस्तुसंविधान बड़ा ही आकर्षक है। इतिवृत्त के तीव्र प्रवाह, घटनाओं के सुंदर संयोजन और स्वाभाविक विकास की ओर हमारा ध्यान अपने आप आकर्षित होता है। दूसरी ठवणी से ही कथा प्रारंभ हो जाती है—

हथिणा-उरि पुरि कुरु-नरिंद केरो कुलमंडणु।
सहजिहिं संतु सुहागसीलु हूउ नरवरु संतणु॥

कथानक की गति की दृष्टि से चतुर्थ ठवणी का प्रसंग विशेष उल्लेखनीय है। ऐसे अनेक प्रसंग इस ग्रंथ में मिलते हैं।

काव्यबंध के दृष्टिकोण से देखा जाय तो समस्त ग्रंथ १५ ठवणियों (प्रकरणों) में विभाजित है। प्रत्येक ठवणी गेय है। प्रत्येक ठवणी के अंत में छंद बदल दिया गया है और आगे की कथा की सूचना दी गई है। इस प्रकार इस ग्रंथ में बंधवैविध्य पाया जाता है।

(२) जयानंद सूरि—इनकी कृति 'क्षेत्रप्रकाश' है। १४१० के लगभग इसकी रचना हुई। यह भी एक रास ही है।

(३) विजयभद्रसूरि—कमलावती रास (१४११)। इसमें ३६ कड़ियाँ हैं। कलावती रास में ४६ कड़ियाँ हैं। इसमें तत्कालीन भाषा के स्वरूप का अच्छा आभास मिलता है।

(४) विनयप्रभ—गौतम रास (रचनाकाल १४१२)। ५६ कड़ियों का यह ग्रंथ ६ भासा (प्रकरण) में विभक्त है। प्रत्येक भासा के अंत में छंद बदल दिया गया है। इसकी रचना कवि ने खंभात में की—

चउदहसे बारोत्तर वरिसे गोयम गणधर।
केवल दिवसे, खंभनयर प्रभुपास पसाये कीधो॥
कवित उपगारपरो आदि ही मंगल एह भणीजे।
परव महोत्सव पहिलो दीजे रिद्धि सिद्ध कल्याण करो॥

इस ग्रंथ में काव्यचमत्कार भी कहीं कहीं पाया जाता है। अलंकारों का सुंदर प्रयोग झलकता है। चमत्कार का मूल भी यही अलंकारयोजना है।

काव्यबंध की दृष्टि से यह ग्रंथ ६ भासा (प्रकरण) में विभाजित है। छंदवैविध्य भी इसमें पाया जाता है और इसका गेय तत्व सुरक्षित है।

(५) ज्ञानकलश मुनि—श्री जिनोदय सूरि पट्टाभिषेक रास (रचनाकाल १४१५)। ३७ कड़ियों के इस ग्रंथ में जिनोदय सूरि के पट्टाभिषेक का सुंदर वर्णन है। आलंकारिक पद्धति में लिखित यह एक सुंदर एवं सरल काव्य है।

काव्यबंध की दृष्टि से इसमें वैविध्य कम ही है। रोला, सोरठा, घत्ता आदि छंदों का प्रयोग पाया जाता है।

संस्कृत की तत्सम शब्दावली इसमें पाई जाती है। साथ ही साहु, सीसु आदि रूप भी मिलते हैं। नीयरे, नीवड, पाहि, परि, हारि, दीसई, देखई जैसे रूप भी मिलते हैं।

(६) पहराज—इन्होंने अपने गुरु जिनोदय सूरि की स्तुति में ६ छप्पय लिखे हैं। प्रत्येक छप्पय के अंत में अपना नाम दिया है।

इन छप्पयों से ऐसा विदित होता है कि अपभ्रंश के स्वरूप को बनाए रखने का मानो प्रयत्न सा किया जा रहा हो। इम जाणिकरि, वखाणह आदि शब्द इसमें प्रयुक्त हुए हैं।

इसी युग में किसी अज्ञात कवि का एक और छप्पय भी जिनप्रभ सूरि की स्तुति का मिला है। संभव है, यह लघु रचना भी रास के सदृश गाई जाती

रही हो पर जब तक इसका कहीं प्रमाण नहीं मिलता, इसे रास कैसे माना जाय।

(७) विजयभद्र—हंसराज वच्छराज चउपई (रचनाकाल १४६६)। हंस और वच्छराज की लोककथा इसमें वर्णित है।

(८) असाइत—हंसाउली। इसमें हंस और वच्छराज की एक लोककथा है। हंसाउली का वास्तविक नाम 'हंसवच्छचरित' है। यह एक सुंदर रसात्मक काव्य है। इसका अंगी रस है अद्‌भुत। करुण और हास्य रस को भी स्थान मिला है। तीन विरह गीतों में करुण रस का अच्छा परिपाक हुआ है।

छंद की दृष्टि से दूहा, गाथा, वस्तु, और चौपाई का विशेष प्रयोग पाया जाता है।

इस ग्रंथ की विशेषता है इसका सुंदर चरित्रांकन। हंस और वच्छ दोनों का चरित्रचित्रण स्वाभाविक बन पड़ा है।

(९) मेरुनंदनगणी—श्री जिनोदय सूरि विवाहलउ। इसका रचनाकाल है १४३२ के पश्चात्। इसमें श्री जिनोदय सूरि की दीक्षा के प्रसंग का रोचक वर्णन है। रचयिता स्वयं श्री जिनोदय सूरि के शिष्य थे। ४४ कड़ियों का यह काव्य आलंकारिक शैली में लिखा गया है।

काव्यबंध की दृष्टि से भी इसका विशेष महत्व है।

झूलणा, वस्तु, घात, पादाकुल का विशेष प्रयोग पाया जाता है। इन्होंने ३२ झलणा छंदों में रचना की।

इसी कवि का ३२ कड़ियों का दूसरा काव्यग्रंथ है 'अजित-शांति-स्तवन' कहा जाता है कि कवि संस्कृत का विद्वान् था, परंतु अब तक कोई प्रति प्राप्त नहीं हुई।

इस युग में मातृका और कक्का (वर्णमाला के प्रथम अक्षर से लेकर अंतिम वर्ण तक क्रमशः पदरचना) शैली में भी काव्यरचना होती थी। फारसी में दीवान इसी शैली में लिखे जाते हैं। जायसी का अखरावट भी इसी शैली में लिखा गया है।

देवसुंदर सूरि के किसी शिष्य ने ६६ कड़ियों की काकबंधि चउपइ की रचना की है। इस ग्रंथ में कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं। कवि के

संबंध में भी कुछ ज्ञात नहीं होता। केवल इतना जाना जा सकता है कि आरंभ में वह देवसुंदर सूरि को नमस्कार करता है। देवसुंदर सूरि १४५० तक जीवित थे। अतः रचना भी उसी समय की मानी जा सकती है।

भाषा की दृष्टि से देखा जाय तो तत्सम शब्दों का बाहुल्य पाया जाता है। साथ ही दीजइ, चिंतवइ, खावइ, जिणवर आदि शब्दप्रयोग भी मिलते हैं।

इस युग में जैनों के अतिरिक्त अन्य कवियों ने भी काव्यरचना की है जिसमें श्रीधर व्यास विरचित 'रणमल छंद' का विशेष स्थान है।

इस काव्य की कथावस्तु पृ० २४३-२४४ पर दी गई है। इसकी काव्यमहत्ता पर काव्यसौष्ठव के प्रसंग में विस्तार से वर्णन होगा।

(१०) हंस-शालिभद्र रास—रचनाकाल १४५५। कड़ियाँ २१६। इस काव्य की खंडित प्रति प्राप्त हुई है। हंस कवि जिनरत्न सूरि के शिष्य थे। आश्विन सुदी दशमी के दिन यह रास रचना पूर्ण हुई।

(११) जयशेखर सूरि—प्राकृत, संस्कृत और गुजराती के बड़े भारी कवि थे। इनके गुरु का नाम था महेंद्रप्रभ सूरि। इनकी मुख्य रचना है प्रबोध-चिंतामणि (४३२ कड़ियोंवाला एक रूपक काव्य)। रचनाकाल १४६२। इसकी रचना संस्कृत भाषा में भी की है।

इसी के साथ कवि ने 'त्रिभुवन-दीपक-प्रबंध' की रचना देशी भाषा में की है। उसके उपदेशचिंतामणि नामक संस्कृत ग्रंथ में १२ सहस्र से भी अधिक श्लोक हैं। इसके अतिरिक्त शत्रुंजयतीर्थ द्वात्रिंशिका, गिरनारगिरि द्वात्रिंशिका, महावीरजिन द्वात्रिंशिका, जैन कुमारसंभव, छंदः शेखर, नवतत्व-कुलक, अजितशांतिस्तव, धर्मसर्वस्व आदि मुख्य हैं। जयशेखर सूरि महान् प्रतिभासंपन्न कवि थे। रास नाम से इनकी कोई पृथक् कृति नहीं मिलती। किंतु शत्रुंजय तथा गिरनार तीर्थों पर ३२ छंदों की रचना रास के सदृश गेय हो सकती है। इस प्रकार इसे रासान्वयी काव्य माना जा सकता है।

(१२) भीम—असाइत के बाद लोककथा लिखनेवालों में दूसरा व्यक्ति है भीम। उसने 'सदयवत्सचरित' की रचना १४६६ में की। कवि की जाति और निवासस्थान का पता नहीं मिलता।

यह एक सुंदर रसमय कृति है। ग्रंथारंभ में ही प्रतिज्ञा की गई है—

सिंगार हास करुणा रुद्दो,

वीरा भयान वीभत्थो।

अद्भुत शत नवइ रसि जंपिसु सुदय वच्छस्स।

फिर भी विशेष रूप से वीर और अद्भुत रस में ही अधिकांश रचना हुई है। शृंगार का स्थान अति गौण है। भाषा ओजपूर्ण एवं प्रसाद गुण युक्त है।

अनेक प्रकार के छंदों का प्रयोग इसमें पाया जाता है। दूहा, पद्धडी, चौपाई, वस्तु, छप्पय, कुंडलिया और मुक्तिदाम का इसमें आधिक्य है। पदों में भी वैविध्य है।

(१३) शालिसूरि नामक जैन साधु ने पौराणिक कथा के आधार पर १८२ छंदों की एक सुंदर रचना की। जयशेखर सूरि के पश्चात् वर्णवृत्तों में रचना करनेवाला यही व्यक्ति है। भाषा पर इसका पूर्ण अधिकार था। काव्य-बंध की दृष्टि से इस ग्रंथ का कोई मूल्य नहीं। परंतु विविध वर्णवृत्तों का विस्तृत प्रयोग इसकी विशेषता है।

गद्य और पद्य में साहित्य की रचना करनेवालों में सोमसुंदर सूरि का स्थान सर्वप्रथम है। अनेक जैन ग्रंथों का इन्होंने सफल अनुवाद किया। इनके गद्यग्रंथों में बालावबोध, उपदेशमाला, योगशास्त्र आराधना पताका नवतत्व आदि प्रमुख हैं। कहा जाता है कि इन्होंने आराधना रास की भी रचना की थी परंतु अब तक उक्त ग्रंथ अप्राप्य है। इनका दूसरा प्राप्त सुंदर काव्यग्रंथ है रंगसागर नेमिनाथ फागु। अन्य नेमिनाथ फागु से इस फागु में विशेष बात यह है कि इसमें नेमिनाथ के जन्म से इनका चरित्र आरंभ किया गया है।

यह काव्य तीन खंडों में विभक्त है जिनमें क्रमशः ३७, ४५, ३७ पद्य हैं। छंदों में भी वैविध्य है। अनुष्टुप, शार्दूलविक्रीडित, गाथा आदि छंदों का विशेष प्रयोग पाया जाता है।

इस युग में खरतर-गुण-वर्णन छप्पय नामक एक और विस्तृत ग्रंथ भी किसी अज्ञात कवि का प्राप्त हुआ है। इतिहास की दृष्टि से इस काव्य का विशेष महत्त्व है। कई ऐतिहासिक घटनाएँ इसमें आती हैं। काव्यतत्त्व की दृष्टि से इसकी विशेष उपयोगिता नहीं है।

इसकी भाषा अवहट्ठ से मिलती जुलती है। कहीं कहीं डिंगल का प्रभाव भी परिलक्षित होता है।

लोककथाओं को लेकर लिखे जानेवाले काव्यों—हंसवच्छ चउपइ, हंसाउली और सदयवत्सचरित के पश्चात् हीराणंद सूरि विरचित विद्याविलास पवाडु का स्थान आता है। इनकी अन्य कृतियाँ भी मिलती हैं, यथा—वस्तुपाल-तेजपाल-रास, कलिकाल, दशार्णभद्रकाल आदि। परंतु इन सब में श्रेष्ठ है विद्याविलास पवाडु। काव्यसौष्ठव, काव्यबंध और भाषा, इन तीनों की दृष्टि से इस कृति का विशेष महत्त्व है। इसकी कथा लोककथा है जो मल्लिनाथ काव्य में भी मिलती है।

काव्यबंध की दृष्टि से भी इसका विशेष महत्त्व है। इसमें सवैया देशी, वस्तुछंद, दूहे, चौपाई, राग भीमपलासी, राग संधूउ, राग वसंत आदि का विपुल प्रयोग मिलता है। समस्त ग्रंथ गेय है और यही इसकी विशेषता है। प्रत्येक छंद के अंत में कवि का नाम पाया जाता है।

सामाजिक जीवन की दृष्टि से भी इसका महत्व है। राजदरबार, वाणिज्य, नारी को लेकर समाज में होनेवाले झगड़े, राज्य की खटपट, विवाह-समारोह आदि का सजीव वर्णन इसमें पाया जाता है।

पंद्रहवीं शताब्दी तक विरचित परवर्ती अपभ्रंश रासों के विवेचन एवं विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस काव्यप्रकार के निर्माता जैन मुनियों का आशय एकमात्र धर्मप्रचार था। जैनधर्म में चार प्रकार के अनुयोग मूल रूप से माने जाते हैं, जिनके नाम हैं—द्रव्यानुयोग, चरणकरणानुयोग, कथानुयोग और गणितानुयोग। द्रव्यानुयोग के आधार पर अनेक रास लिखे गए जिनमें द्रव्य, गुण, पर्याय, स्याद्वाद, नय, अनेकांतवाद एवं तत्वज्ञान का उपदेश संनिहित है। ऐसे रासों में यशोविजय गणि विरचित 'द्रव्यगुण पर्याय नो रास' सबसे अधिक प्रसिद्ध माना जाता है। जैन-दर्शन-विवेचन के समय हम इसका विशेष उल्लेख करेंगे। चरणकरणानुयोग के आधार पर विरचित रासों में महामुनियों के चरित, साधु गृहस्थों का धर्म, अनुव्रत, महाव्रत पालन की विधि, श्रावकों के इक्कीस गुण, साधुओं के सत्ताईस गुण, सिद्धों के आठ गुण, आचार्यों के छत्तीस और उपाध्याय के पचीस गुणों का वर्णन मिलता है। 'उपदेश-रसायन-रास' इसी कोटि का रास प्रतीत होता है। कथानुयोग रास में कल्पित और

ऐतिहासिक दो प्रकार की कथापद्धति पाई जाती है। यद्यपि कल्पित रासों की संख्या अत्यल्प है तथापि इनका महत्व निराला है। ऐसे रासों में अगड़दत्त रास, चूनड़ी रास, रोहिणीयाचोर रास, जोगरासो, पोसहरास, जोगीरासो आदि का नाम लिया जा सकता है[1]। यदि चतुष्पदिका को रासान्वयी काव्य मान लें तो विजयभद्र का 'हंसराज वच्छराज' एवं असाइत की 'हँसाउली' लोककथा के आधार पर विरचित हैं।

ऐतिहासिक रासों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक है। ऐतिहासिक रासों में भी रासकार ने कल्पना का योग किया है और अपनी अभीष्टसिद्धि के लिये काव्यरस का संनिवेश करके ऐतिहासिक रासों को रसाप्लुत कर देने की चेष्टा की है। किंतु ऐतिहासिक रासों में ऐतिहासिक घटनाओं की प्रधानता इस बात को सिद्ध करती है कि रासकार की दृष्टि कल्पना की अपेक्षा इतिहास को अधिक महत्व देना चाहती है। ऐतिहासक रासों में 'ऐतिहासिक राससंग्रह' के चार भाग अत्यंत महत्व के हैं।

गणितानुयोग के आधार पर विरचित रास में भूगोल और खगोल के वर्णन को महत्व दिया जाता है। इस पद्धति पर विरचित रास सृष्टि की रचना, ताराग्रहों के निर्माण, सप्तक्षेत्रों, महाद्वीपों, देशदेशांतरों की स्थिति का परिचय देते हैं। ऐसे रासों में विश्व के प्रमुख पर्वतों, नदी सरोवरों, वन-उपवनों, उपत्यकाओं और मरुस्थलों का वर्णन पाया जाता है। प्राकृतिक वर्णन एवं प्राकृतिक सौंदर्य की छटा का वर्णन रासों का प्रिय विषय रहा है। किंतु, गणितानुयोग पर निर्मित रासों में प्राकृतिक छटा की अपेक्षा प्रकृति में पाए जानेवाले पदार्थों की नामावली पर अधिक बल दिया जाता है। ऐसे रासों में 'सप्तक्षेत्री रास' बहुत प्रसिद्ध है।

जिस युग में लघुकाय रास अभिनय के उद्देश्य से लिखे जाते थे उस युग में कथानक के उत्कर्ष एवं अपकर्ष, चरित्रचित्रण की विविधता एवं मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों की रक्षा पर उतना बल नहीं दिया जाता था जितना काव्य को रसमय एवं अभिनेय बनाने पर। आगे चलकर जब रास लघुकाय न रहकर विशालकाय होने लगे तो उनमें अभिनेय गुणों को सर्वथा उपेक्षणीय माना गया और उनके स्थान पर पात्रों के चरित्रचित्रण की

१—इनमें अधिकांश रास आमेर, राजस्थान एवं दिल्ली के शास्त्रभंडारों में उपलब्ध हैं।

विविधता, कथावस्तु की मौलिकता, चरित्रों की मनोवैज्ञानिकता पर बहुत बल दिया जाने लगा।

रस की दृष्टि से इस युग में वीर, शृंगार, करुण, वीभत्स, रौद्र आदि सभी रसों के रास विरचित हुए। काव्यसौष्ठव के प्रसंग में हम इनकी विशेष चर्चा करेंगे।

फागु का विकास

फागु का साहित्यप्रकार

पद, आख्यान, रास, कहानी आदि की भाँति फागु भी प्राचीन साहित्य का एक प्रमुख प्रकार है। मूलतः वसंतश्री से संपन्न होने के कारण मानवीय भावों एवं प्राकृतिक छटाओं का मनोरम चित्रण इसकी एक विशेषता रही है। दीर्घ परंपरा के कारण इस साहित्यप्रकार में वैविध्य आना स्वाभाविक है। 'वस्तुनिरूपण, छंदरचना आदि को दृष्टि में रखकर फागु साहित्य के विकास का संक्षिप्त परिचय देने के लिये उपलब्ध कृतियों की यहाँ आलोचना की जायगी।

अद्यापि सुरक्षित फागों में अधिकांश जैनकृत है। जैन साहित्य जैन ग्रंथभंडारों में संचित रहने से सुरक्षित रहा किंतु अधिकांश जैनेतर साहित्य इस सुविधा के अभाव में प्रायः लुप्त हो गया। इस स्थिति में भी ९ ऐसे फागु प्राप्त हुए हैं जिनका जैनधर्म से कोई संबंध नहीं है। उन फागुओं के नाम हैं—

(१) अज्ञात कविकृत 'वसंत विलास फागु', (२) 'नारायण फागु', (३) चतुर्भुजकृत 'भ्रमरगीत', (४) सोनीरामकृत 'वसंत विलास', (५) अज्ञात कविकृत 'हरिविलास फाग', (६) कामीजन विश्रामतरंग गीत, (७) चुपइ फाग, (८) फागु और (९) 'विरह देशाउरी फाग'।

इनमें भी 'वसंतविलास' के अतिरिक्त शेष सभी हस्तलिखित प्रतियाँ जैन साहित्य भंडारों से प्राप्त हुई हैं। फागु की जितनी भी शैलियाँ प्राप्य हैं उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वसंतवर्णन का एक ही मूल प्रकार जैनेतर साहित्य में कुछ विभिन्नता के साथ विकसित हुआ है।

वसंतवर्णन एवं वसंतक्रीड़ा फागु के मूल विषय हैं। वसंतश्री के अतिरिक्त शृंगार के दोनों पक्ष, विप्रलंभ और संभोग, का इसमें निरूपण मिलता है। ऐसा साहित्य प्राचीनतर अपभ्रंशों में हमें नहीं मिलता। यद्यपि यह रासान्वयी काव्य है और रास प्राचीन अपभ्रंश साहित्य में विद्यमान है किंतु फागु साहित्य पूर्ववर्ती अपभ्रंश भाषा में अब तक नहीं मिला। अतः फागु के

साहित्यप्रकार को समझने के लिये हमें संस्कृत साहित्य के ऋतुवर्णन-पूर्ण काव्यों की ओर ही दृष्टि दौड़ानी पड़ती है।

"फागु" शब्द की व्युत्पत्ति सं० फल्गु (वसंत) > प्रा० फागु और > फाग (हिं०) से सिद्ध होती है। आचार्य हेमचंद्र ने "देशीनाममाला" (६-८२) के 'फग्गू महुच्छणे फलही ववणी फसुलफंसुला मुक्के' में "फागु" शब्द को वसंतोत्सव के अर्थ में ग्रहण किया है। [सं०] फाल्गुन > प्रा० > फग्गुण से इसकी व्युत्पत्ति साधने का प्रयत्न भाषाशास्त्र की दृष्टि से उपयुक्त नहीं है। हिंदी और मारवाड़ी में होली के अशिष्ट गीतों के लिये "फाग" शब्द का प्रयोग होता है। हेमचंद्र ने "फग्गू" देशी शब्द इसी फागु (वसंतोत्सव) के अर्थ में स्वीकार किया होगा। कालांतर में इसी फागु को शिष्ट साहित्य में स्थान प्राप्त करने का सौभाग्य मिला होगा।

एक अन्य विद्वान् का मत है कि ब्रजभाषा में फाग को फगुआ कहते हैं। अपशब्द, अश्लील विनोद, अशिष्ट परिहास, गालीगलौज का जब उपयोग किया जाता है तब उसे बेफाग कहते हैं। उनके मतानुसार बेफाग अथवा फगुआ के विरोध में वसंत ऋतु के समय शिष्ट समुदाय में गाने के योग्य नवीन काव्यकृति फागु के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस नवीन शैली के फागु की भाषा अनुप्रासमय एवं आलंकारिक होने लगी और इसमें गेय छंदों का वैविध्य दिखाई पड़ने लगा। यह नवीन कृति फागुन और चैत्र में गाई जाने लगी। "रंगसागर नेमि फागु" के संपादक मुनि धर्मविजय का कथन है—'ऐसा प्रतीत होता है कि लोगों में से असभ्य वाणी (बेफाग) दूर करने के लिये कच्छ, काठियावाड़, मारवाड़ और मेवाड़ आदि स्थानों में जैन मुनियों ने परिमार्जित, परिष्कृत एवं रसिक 'नेमि फागु' की रचना की।' और इसके उपरांत फागु में धार्मिक कथानकों का कथावस्तु के रूप में प्रयोग होने लगा।

शिष्ट फागु के उद्भव के संबंध में विभिन्न विद्वानों ने पृथक् पृथक् मत दिया है। किंतु सब मतों की एकसूत्रता के० एम० मुंशी के मत में है—

The rasa sung in the spring festival or phaga was itself called phaga. The phaga poems describe the glories of the spring, the lovers and their dances, and give a glimpse of the free and joyous life······

—Gujrat and its Literature, p. 137

अर्थात् वसंतोत्सव के समय गाए जानेवाले रास 'फाग' कहलाने लगे। इस फाग काव्य में वसंत के सौंदर्य, प्रेमीजन और उनके नृत्य के वर्णन के द्वारा मानव मन के स्वाभाविक आनंदातिरेक की अभिव्यक्ति होती थी।

आचार्य लक्ष्मण ने फल्गुन नाम से देशी ताल की व्याख्या करते हुए लिखा है—'फल्गुने लपद्गागःस्यात्' अर्थात् फागु गीत का लक्षण है— ।ऽ०ऽ

संभवतः इसी देशी ताल में गेय होने के कारण वसंतोत्सव के गीतों को फल्गुन>फग्गु अथवा फाग कहा गया है।

कुछ विद्वानों का मत है कि वसंतोत्सव के समय नर्तन किए जानेवाले एक विशेष प्रकार के नृत्यरास को शारदोत्सव के रास से पृथक् करने के लिये इसको फागु संज्ञा दी गई। जैन मुनियों ने जैन रास के सदृश फागु काव्य की भी परिसमाप्ति शांत रस में करनी प्रारंभ की। अतः फागु काव्य भी ऋतुराज वसंत की पृष्ठभूमि में धर्मोपदेश के साधन बने और जैनाचार्यों ने उपदेशप्रचार के लिये इस काव्यप्रकार से पूरा पूरा लाभ उठाया। उन्होंने अपनी वाणी को प्रभावशालिनी बनाकर हृदयंगम कराने के लिये फागु काव्य में स्थान स्थान पर वसंतश्री की स्पृहणीयता एवं भोगसामग्री की रमणीयता को समाविष्ट तो किया, किंतु साथ ही उसका पर्यवसान नायकनायिका के जैनधर्म की दीक्षा ग्रहण करने के उपरांत ही करना उचित समझा।

श्री विजयराय कल्याणराय वैद्य कृत 'गुजराती साहित्य नी रूपरेखा' में फाग काव्यप्रकार की व्याख्या चार प्रकार के ऋतुकाव्यों में की गई है। श्री वैद्य का कहना है कि—"आ प्रकारना ('फाग' संज्ञावाला) काव्यो छंदवैविध्य झड़झमक अने अलंकारयुक्त भाषा थी भरपूर होइछे। रग्मा जंमूस्वामी के नेमिनाथ जेवां पौराणिक पात्रों ने अनुलक्षी ने उद्दीपक शृंगाररस नूं वर्णन करेनूं होइछे, परंतु तेनो अंत हमेशा शील अने सात्विकता ना विजय मा अने विषयोपभोगना त्याग मा ज आवे छे।"

इस प्रकार यह रासान्वयी काव्य फागु छंदवैविध्य, अनुप्रास आदि शब्दालंकार एवं अर्थालंकार से परिपूर्ण सरस भाषा में विरचित होता है। जंमूस्वामी के 'नेमिनाथ फाग' में पौराणिक पात्रों को लक्ष्य करके उद्दीपक

५

श्रृंगार रस का वर्णन किया गया है किंतु उसके अंत में शील एवं सात्विक विचारों की विजय और विषयोपभोग का त्याग प्रदर्शित है।

"मूले वसंतऋतुना श्रृंगारात्मक फागु नो जैन मुनियो ये गमे ते ऋतु ने स्वीकारी उपशम ना बोधपरत्वे विनियोग करेलो जोवा मां आवे छे[१]।"

स्थूलिभद्र फाग की अंतिम पंक्ति से यह ज्ञात होता है कि फाग काव्य चैत्र में गाया जाता था। इससे सिद्ध होता है कि फाग मूलतः वसंत ऋतु की शोभा के वर्णन के लिये विरचित होते थे और उनमें मानव मन का सहज उल्लास अभिव्यक्त होता था। किंतु स्थूलिभद्र फाग ऐसा है जिसमें वसंत ऋतु के स्थान पर वर्षा ऋतु का वर्णन बड़ा ही आकर्षक प्रतीत होता है। उदाहरण के लिये देखिए—

झिरिमिरि झिरिमिरि झिरिमिरि ए मेहा वरिसंति,
खलहल खलहल खलहल ए वाहला वहंति,
झबझब झबझब झबझब ए वीजुलिय झबकइ,
थरहर थरहर थरहर ए विरहिणिमणु कंपइ,
महुरगंभीरसरेण मेह जिम जिम गाजंते,
पंचबाण निय कुसुमबाण तिम तिम साजंते,
जिम जिम केतकि महमहंत परिमल विहसावइ,
तिम तिम कामिय चरण लगि नियरमणि मनावइ।

फागुओं में केवल एक इसी स्थल पर वर्षावर्णन मिलता है, अन्यत्र नहीं। अतः फागु काव्यों में इसे अपवाद ही समझना चाहिए, नियम नहीं, क्योंकि अन्यत्र सर्वत्र वसंतश्री का ही वर्णन प्राप्त होता है।

फागु रचना का उद्देश्य

साधारण जनता को आकर्षक प्रतीत होनेवाला वह श्रृंगारवर्णन जिसमें शब्दालंकार का चमत्कार, कोमलकांत पदावली का लालित्य आदि साहित्यरस का आस्वादन कराने की प्रवृत्ति हो और जिसमें "संयमसिरि" की प्राप्ति द्वारा जीवन के सुंदरतम क्षण का चिंतन अभीष्ट हो, फागु साहित्य की आत्मा है। फागु साहित्य में चौदहवीं और पंद्रहवीं शताब्दी की सामान्य जनता के मुक्त उल्लासपूर्ण जीवन का सुंदर प्रतिबिंब है। रासो और

१—के० ह० ध्रुव-हाजीमुहम्मद स्मारक ग्रंथ, पृ० १८८।

फागु में धर्मकथा के पुरुष मुख्य रूप से नायक होते हैं। किंतु फागु में नायक नायिकाओं को केंद्र में रखकर वसंत के आमोद प्रमोद का आयोजन किया जाता है।

फागु मूलतः लोकसाहित्य होते हुए भी गीतप्रधान शिष्ट साहित्य माना जाता है। फागुओं में नृत्य के साथ संभवतः गीतों को भी संमिलित कर लिया गया होगा और इस प्रकार फागु क्रमशः विकसित होते गए होंगे। इसका प्रमाण अधोलिखित पंक्ति से लगाया जा सकता है—

'फागु रमिज्जइ, खेला नाचि'

नृत्य द्वारा अभिनीत होनेवाले फागु शताब्दियों तक विरचित होते रहे। किंतु काव्य का कोई भी प्रकार सदा एक रूप में स्थिर नहीं रहता। इस सिद्धांत के आधार पर रास और फागु का भी रूप बदलता रहा। एक समय ऐसा आया कि फागु की अभिनेयता गौण हो गई और वे केवल पाठ्य रह गए।

संडेसरा[1] जी का कथन है कि "फागु का साहित्यप्रकार उत्तरोत्तर परिवर्तित एवं परिवर्धित होता गया है। कालांतर में उसमें इतनी नीरसता आ गई कि कतिपय फागु नाममात्र के लिये फागु कहे जा सकते हैं। मालदेव का 'स्थूलिभद्र फाग' एक ही देशी की १०७ कड़ियों में रचित है। कल्याणकृत 'वासुपूज्य मनोरम फाग' में फागु के लक्षण विरले स्थानों पर ही दृष्टिगत होते हैं और 'मंगलकलश फाग' को कर्ता ने नाममात्र को ही फागु कहा है। विक्रम की चौदहवीं शताब्दी से प्रारम्भ कर तीन शताब्दियों तक मानव भावों के साथ प्रकृति का गाना गाती, शृंगार के साथ त्याग और वैराग्य की तरंग उछालती हुई कविता इस साहित्यप्रकार के रूप में प्रकट हुई। आख्यान या रास से इसका स्वरूप छोटा है, परंतु कुछ इतिवृत्त आने से होरी के धमार एवं वसंतखेल के छोटे पदों के समान इसमें वैविध्य के लिये विशेष अवकाश रहा है।"

फागु का वर्ण्य विषय

नेमिराजुल तथा स्थूलभद्र कोश्या को लेकर फागु काव्यों की अधिकांश रचना हुई है और ऐसे काव्य प्रायः जैनों में लोकप्रिय रहे हैं।

---

१ संडेसरा—प्राचीन फागु-संग्रह, पृष्ठ ७०–७१

फागु में वसंतऋतु का ही वर्णन होने से नायक नायिका का शृंगार-वर्णन स्वतः आ जाता है। यौवन के उन्माद और उल्लास की समग्र रस-सामग्री इसमें पूर्णरूप से उडेल दी जाती है। काव्य के नायक नायिका को ऐसे ही मादक वातावरण में रखकर उनके शील, संयम और चरित्र का परीक्षण करना कवि को अभीष्ट होता है। ऐसे उद्दीप्त वातावरण में भी संयमश्री को प्राप्त करनेवाले नेमिनाथ और राजमती या स्थूलिभद्र और कोश्या अथवा इतिहास-पुराण-प्रसिद्ध व्यक्तियों का महिमागान होता था। इस प्रकार का शृंगारवर्णन त्यागभावना की उपलब्धि के निमित्त वांछनीय माना जाता था। इसलिये कवि को ऐसे शृंगारवर्णन में किसी प्रकार का संकोच नहीं होता था। यही कारण है कि जिनपद्मसूरि का 'सिरिथूलिभद्र फागु' जैनेतर अज्ञात कवि विरचित 'वसंतविलास' या 'नारायण फागु' से पृथक् हो जाता है। हम पहले कह आए हैं कि जैन फागु में उद्दीपक शृंगार का वर्णन संयमश्री और सात्विकता की विजय की भावना से किया गया है। प्रमाण के लिये 'स्थूलिभद्र फागु' देखिए। इसमें नायक साधु बनते हैं। इससे पूर्व उनके शीलपरीक्षण के लिये शृंगार रस का वर्णन किया गया है। साधुओं को चातुर्मास एक ही स्थल पर व्यतीत करने पड़ते हैं। इसी काल में उनकी परीक्षा होती है। इस लघुकाव्य में शकटाल मंत्री के पुत्र स्थूलिभद्र की वैराग्योपलब्धि का वर्णन किया गया है। युवक साधु स्थूलि गुरु की आज्ञा से कोश्या नामक वेश्या के यहाँ चातुर्मास व्यतीत करते हैं और वह वेश्या इस तेजस्वी साधु को काममोहित करने के लिये विविध हावभाव, भ्रूभंगिमा एवं कटाक्ष का प्रयोग करती है, परंतु स्थूलिभद्र के निश्चल मन पर वेश्या के सभी प्रयास विफल रहते हैं। ऐसे समय एक अद्भुत् चमत्कार हुआ। स्थूलिभद्र के तपोबल ने कोश्या में परिवर्तन उपस्थित किया। उसकी भोगवृत्तियाँ निर्बल होते होते मृतप्राय हो गईं। उसने साधु से उपदेश ग्रहण किया। उस समय आकाश से पुष्पवृष्टि हुई।

'स्थूलिभद्र फागु' की यही शैली 'नेमिनाथ', 'जंबूस्वामी' आदि फागों में विद्यमान है। विलास के ऊपर संयम की, काम के ऊपर वैराग्य की विजय सिद्ध करने के लिये विलासवती वेश्याओं और तपोधारी मुनियों की जीवन-गाथा प्रदर्शित की जाती है। रम्यरूपधारी युवा मुनियों को कामिनियों की भ्रूभंगिमा की लपेट में लेकर कटाक्ष के बाणों से बेधते हुए काम अपनी संपूर्ण शक्ति का प्रयोग करता दिखाई पड़ता है। काम का चिरसहचर ऋतु-

राज अपने समग्र वैभव के साथ मित्र का सहायक बनता है। मनसिज की दासियाँ—भोगवृत्तियाँ—अपने मोहक रूप में नग्न नर्तन करती दिखाई पड़ती हैं। शृंगारी वासनाएँ युवा मुनिकुमार के समक्ष प्रणयगीत गाती दिखाई देती हैं। अप्सराओं को भी सौंदर्य में पराजित करनेवाली वारांगनाएँ माणिक्य की प्याली में भर भरकर मोहक मदिरा का पान कराने को व्यग्र हो उठती हैं, पर संपूर्ण कामकलाओं में दक्ष रमणियाँ मुनि की संयमश्री एवं शांत मुद्रा से पराभूत रह जाती हैं। चमत्कार के ये ही क्षण फागुओं के प्राण हैं। इसी समय कथावस्तु में एक नया मोड़ उपस्थित होता है जहाँ शृंगार निर्वेद की ओर सरकता दिखाई पड़ता है। इस स्थल से आगे वासना का उद्दाम वेग तप की मरुभूमि में विलीन हो जाता है और अध्यात्म के गंगोत्री पर्वत से आविर्भूत पवित्रता की प्रतिमा पतितपावनी भागीरथी अधम वार-वनिताओं के कालुष्य को सद्यःप्रक्षालित करती हुई शांतिसागर की ओर प्रवाहित होने लगती हैं।

फागु का रचनाबंध—फागु साहित्य के अनुशीलन से यह निष्कर्ष निकलता है कि विशेष प्रकार की छंदरचना के कारण ही इस प्रकार की रचनाओं को 'फागु' या 'फाग' नाम दिया गया । साहित्य के अन्य प्रकारों की तरह फागु का भी बाह्य स्वरूप कुछ निश्चित है। जिनपद्म सूरि कृत 'स्थूलिभद्र फागु' और राजशेखर सूरि कृत 'नेमिनाथ फागु' जैसे प्राचीनतम फागु काव्यों में दोहा के उपरांत रोला के अनेक चरण रखने से 'भास' बनता है । एक फागु में कई भास होते हैं। जयसिंह सूरि का प्रथम 'नेमिनाथ फागु' (संवत् १४२२ के लगभग) प्रसन्नचंद्र सूरि कृत 'रावणि पार्श्वनाथ फागु (संवत् १४२२ के लगभग), जयशेखर सूरि कृत द्वितीय 'नेमिनाथ फागु' (संवत् १४६० के लगभग) 'पुरुषोत्तम पाँच पांडव फाग', 'भरतेश्वर चक्रवर्ती फाग', 'कीर्तिरत्न सूरि फाग' आदि प्राचीन फागुओं का पद्यबंध इसी प्रकार का है। रोला जैसे सस्वर पठनीय छंद फागु जैसे गेय रूपक के सर्वथा उपयुक्त सिद्ध होते हैं। जिस प्रकार 'गरबा' के अंतर्गत बीच बीच में साखी का प्रयोग होने से एक प्रकार का विराम उपस्थित हो जाता है और काव्य की सरसता बढ़ जाती है, उसी प्रकार प्रत्येक भास के प्रारंभ में एक दूहा रख देने से फागु का रचनाबंध सप्राण हो उठता है और उसकी एकस्वरता परिवर्तित हो जाती है।

'वसंतविलास' नामक प्रसिद्ध फागु के रचनाबंध का परीक्षण करने से

सामान्यतः यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि आंतर अनुप्रास एवं आंतर यमक से रमणीय दूहा फागु काव्यबंध का विशिष्ट लक्षण माना जाना चाहिए।

संडेसरा का कथन है कि "उपलब्ध फागुओं में जयसिंह सूरि का द्वितीय 'नेमिनाथ फागु' (सं० १४२२ के लगभग) आंतर यमकयुक्त दूहे में विरचित फागु का प्राचीनतम उदाहरण है। जयसिंह सूरि की इस रचना और पूर्वकथित जिनपद्म और राजशेखर के प्राचीन फागुओं के रचनाकाल में इतना कम अंतर है कि भासवाले और आंतर यमकयुक्त दूहा वाले फागु एक ही युग में साथ साथ प्रचलित रहे हों, ऐसा अनुमान करने में कोई दोष नहीं। संभवतः इसी कारण जयसिंह सूरि ने एक ही कथावस्तु पर दोनों शैलियों में फागु की रचना की। जयसिंह सूरि के अज्ञात कवि कृत 'जंबुस्वामी फाग' (संवत् १४३०) मेरुनंदन कृत 'जीरापल्ली पार्श्वनाथ फागु' (संवत् १४३२) और जयशेखर सूरि कृत प्रथम 'नेमिनाथ फागु' इसी पद्यबंध शैली में रचे हुए मिलते हैं। 'वसंतविलास', 'नारीनिवास फाग' और 'हरिविलास' में छंदबंध तो यही है परंतु बीच बीच में संस्कृत श्लोकों का समावेश भी किया गया है। 'वसंतविलास' में तो संस्कृत श्लोकों की संख्या संपूर्ण श्लोकों की आधी होगी। "इस प्रकार एक ही छंद में रचे हुए काव्य में प्रसंगोपात्त श्लोकों को भरना एक नया तत्व गिना जाता है।"

फागु में संस्कृत श्लोकों का समावेश १४ वीं शताब्दी के अंत तक प्रायः नहीं दिखाई पड़ता। इस काल में विरचित फागुओं का विवेचन कर लेने से यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जायगा।

१५वीं शताब्दी के फागों में संस्कृत श्लोकों का प्रचलन फागु के काव्यबंध का विकासक्रम सूचित करता है। इससे पूर्व विरचित फागु दूहाबद्ध थे और उनमें आंतर यमक की उतनी छटा भी नहीं दिखाई पड़ती। किंतु परवर्ती फागों में शब्दगत चमत्कार उत्पन्न करने के उद्देश्य से आंतर यमक का बहुल प्रयोग होने लगा। उदाहरण के लिये सं० १४३१ में विरचित 'जिनचंद सूरि फागु', पद्म विरचित 'नेमिनाथ फागु', गुणचंद्र गणि कृत 'वसंत फागु' एवं अज्ञात कवि कृत 'मोहनी फागु' सामान्य दूहाबद्ध हैं। इनमें संस्कृत श्लोकों की छटा कहीं नहीं दिखाई पड़ती। संस्कृत श्लोकों को फागु में संमिलित करने का कोई न कोई कारण अवश्य रहा होगा। हम आगे चलकर इसपर विचार करेंगे।

इन सामान्य फागुओं की तो बात ही क्या, केशवदास कृत 'श्रीकृष्ण-लीला काव्य' में कृष्णगोपी के वसंतविहार में भी संस्कृत श्लोकों का सर्वथा अभाव दिखाई पड़ता है। इस काव्य के उपक्रम एवं उपसंहार की शैली से कृष्ण-गोपी-वसंत विहार एक स्वतंत्र भाग प्रतीत होता है। फागु की शैली पर दोहों में विरचित यह रचना आंतर यमक से सर्वथा असंपृक्त प्रतीत होती है। यह रचना १६वीं शताब्दी के प्रारंभ की है। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि १५वीं शताब्दी और उसके अनंतर भी आंतर यमक से पूर्ण तथा आंतर यमक रहित दोनों शैलियों में फागुरचना होती रही। संस्कृत श्लोकों से फागुओं को समन्वित करने में कवि स्वतंत्र था। यदि प्रसंगानुसार संस्कृत श्लोक उपयुक्त प्रतीत होते थे तो उनको समाविष्ट किया जाता था अथवा अनुकूल प्रसंग के अभाव में संस्कृत श्लोकों को बहिष्कृत कर दिया जाता था।

प्रश्न यह उठता है कि फागु रचना में रोला और दूहा को प्रायः स्थान क्यों दिया गया है। इसका उत्तर देते हुए 'प्राचीन गुजराती छंदो' में रामनारायण विश्वनाथ पाठक लिखते हैं—'काव्य अथवा रोला माँ एक प्रकार ना अलंकार नी शक्यता छे, जेनो पण फागुकाव्यो अत्यंत विकसित दाखलो छे।...घत्ता माँ आंतर प्रास आवे छे। बत्रीसा सवैया नी पंक्ति घणी लांबी छे एटले एमाँ आवा आंतर प्रास ने अवकाश छे। रोला नी पंक्ति एटली लाँबी न थी, छतां रोलामां पण बच्चे क्यांक यति मूकी शकाय एटली ए लांबी छे अने तेथी ए यति ने स्थाने कवि शब्दालंकार योजे छे।''[1]

तात्पर्य यह है कि काव्य और रोला नामक छंदों में एक प्रकार के अलंकरण की सामर्थ्य है जिसको हम फागु काव्यों में विकसित रूप में देखते हैं। घत्ता में आंतरप्रास (का बाहुल्य) है। सवैया की पंक्ति अत्यंत लंबी होने से आंतरप्रास का अवकाश रखती है। किंतु रोला की पंक्ति इतनी लंबी नहीं होती अतः कवि उसमें यति के स्थान पर शब्दालंकार की योजना करके उसे गेय बनाने का प्रयास करता है।

कतिपय फागुओं में दूहा रोला के आरंभ में ऐसे शब्दों तथा शब्दांशों का प्रयोग दिखाई पड़ता है जिनका कोई अर्थ नहीं और जो केवल गायन की सुविधा के लिये आबद्ध प्रतीत होते हैं। राजशेखर, जयशेखर सुमधुर एवं समर

१ रामनारायण विश्वनाथ पाठक—प्राचीन गुजराती छंदो, पृ० १५८

के 'नेमिनाथ फागु', पुरुषोत्तम के 'पांचपांडव फागु' गुणचंद सूरि कृत 'वसंत फागु' के अतिरिक्त 'हेमरत्न सूरि फागु' की छंदरचना में भी 'अहे', 'अहं' या 'अरे' शब्द गाने के लटके के रूप में दिखाई पड़ते हैं।

इस स्थल पर कतिपय प्राचीनतर फागुओं का रचनावंध देख लेना आवश्यक है। सं० १४७८ वि० में विरचित 'नेमीश्वरचरित फाग' में ८८ कड़ियाँ हैं जो १५ खंडों में विभक्त हैं। प्रत्येक खंड के प्रारंभ में एक या इससे अधिक संस्कृत के श्लोक हैं। तदुपरांत रास की कड़ियाँ, अढैयुँ एवं फागु छंद आते हैं। किसी किसी खंड में फागु का और किसी में अढैयों का अभाव है। तेरहवें खंड में केवल संस्कृत श्लोक और रास हैं। इसी प्रकार पृथक् पृथक् खंडों में भिन्न भिन्न छंदों की योजना मिलती है। इतना ही नहीं, 'रास' शीर्षकवाली कड़ी एक ही निश्चित देशी में नहीं अपितु विविध देशियों में दिखाई पड़ती है।

१५वीं शताब्दी के अंत में विरचित 'रंगसागर नेमि फाग' तीन खंडों में विभक्त है। प्रत्येक खंड के प्रारंभ में संस्कृत, प्राकृत अथवा अपभ्रंश के छंदों में रचना दिखाई पड़ती है, तदुपरांत रासक, आंदोला, फाग आदि छंद उपलब्ध हैं। कहीं कहीं शार्दूलविक्रीड़ित (सट्टक) भी प्रयुक्त है।

इसी काल में 'देवरत्नसूरि फाग' भी विरचित हुआ। ६५ कड़ियों में आबद्ध इस लघुरास में संस्कृत श्लोक, रास (देशी), अढैयुँ और फागु पाए जाते हैं। १६वीं शताब्दी का 'हेमविमल सूरि फागु' तीन खंडों में विभक्त है और प्रत्येक खंड फाग और अंदोला में आबद्ध है।

१६वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में रत्नमंडन गणि कृत 'नारीनिरास फाग' ऐसा है जिसमें प्रत्येक संस्कृत श्लोक के उपरांत प्रायः उसी भाव को अभिव्यक्त करनेवाला भाषा छंद दिया हुआ है। इस फागु की भाषा परिमार्जित एवं रसानुकूल है। इस शैली के प्रयोग से ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृतज्ञ विद्वानों के मनोरंजनार्थ भी फागु की रचना होने लगी थी। फागु शैली की यह महत्ता है कि संस्कृत के दिग्गज विद्वान् भी इसका प्रयोग करने को उत्सुक रहते थे। इस फाग में उपलब्ध सरस संस्कृत श्लोकों की छटा दर्शनीय है। दो उदाहरण यहाँ परीक्षण के लिये रखना उचित प्रतीत होता है—

मयण पारधि कर लाकडि सा कडि लंकिहिं खीण।
इम कि कहइ जुवती वस, जीव सवे हुइं खीण॥

कामदेव रूप अहेरी ने लकुटी द्वारा नारी की कमर को क्षीण बना दिया। इस प्रकार वह कामदेव कह रहा है कि जो भी युवती के वश में होगा वह क्षीणकाय बन जायगा। इसी तात्पर्य को संस्कृत श्लोक के द्वारा स्पष्ट किया गया है—

युवमृगमृगयोत्कनंगयष्टेस्तरुण्या—
स्तनुदलनकलंकप्रापकश्रेणिलंकः।
पिशुनयति किमेवं कामिनीं यो मनुष्यः
श्रयति स भवतीत्थं तंतुशंकाशकायः॥

इसी प्रकार कामिनी के अंगप्रत्यंग के वर्णन द्वारा शांत रस का आस्वादन करानेवाला यह फागु इस प्रकार के साहित्य में अप्रतिम माना जायगा।

बंध की दृष्टि से जयवंत सूरि कृत 'स्थूलिभद्र-कोशा-प्रेम-विलास फाग' में अन्य फागों से कतिपय विलक्षणता पाई जाती है। इस फाग के प्रारंभ में 'फाग की ढाल' नामक छंद का प्रयोग किया गया है। इस छंद में सरस्वती की वंदना, स्थूलिभद्र और कोशा के गीत, गायन का संकल्प तथा वसंत ऋतु में तरुणी विरहिणी के संताप की चर्चा पाई जाती है। इस प्रकार मंगलाचरण में ही कथावस्तु का बीज विद्यमान है। अंतर्यमक की छटा भी देखने योग्य है। कवि कहता है[1]—

"ऋतु वसंत नवयौवनि यौवनि तरुणी वेश,
पापी विरह संतापइ तापइ पिउ परदेश।"

इस फागु का बंध निराला है। इसमें काव्य, चालि, दूहा और ढाल नामक छंदों का प्रयोग हुआ है। कई हस्तलिखित प्रतियों में चालि नामक छंद के स्थान पर फाग और काव्य के स्थान पर दूहा नाम दिया हुआ है। काव्य छंद विरहवेदना की अभिव्यक्ति के कितना उपयुक्त है उसका एक उदाहरण देखिए। वियोगिनी विरह के कारण पीली पड़ गई है। वैद्य कहता है कि इसे पांडु रोग हो गया है[2]—

देह पंडुर भइ वियोगिइँ, वईद कहइ एहनइँ पिंडरोग।
तुझ वियोगि जे वेदन मइँ सही, सजनीया ते कुण सकइ कही॥

---

१ जसवंत सूरि—स्थूलिभद्र-कोशा प्रेमविलास फाग—कड़ी २
२ वही, कड़ी ३३

एक स्थान पर विरहिणी पश्चात्ताप कर रही है कि यदि मैं पक्षी होती तो भ्रमण करती हुई प्रियतम के पास जा पहुँचती; चंदन होती तो उनके शरीर पर लिपट जाती; पुष्प होती तो उनके शरीर का आलिंगन करती; पान होती तो उनके मुख को रंजित कर सुशोभित करती; पर हाय विधाता ! तूने मुझे नारी बनाकर मेरा जीवन दुःखमय कर दिया[1]—

(चालि)

हुं सिं न सरजी पंखिणी (पंषिणी) जे भमती प्रीउ पासि,
हउँ न सि सरजी चंदन, करती पिउ तन वास।
हुं सिं न सरजी फूलडाँ, लेती आलिंगन जाण,
मुहि सुरंग ज शोभताँ, हुँ सिइं न सरजी पान।

सत्रहवीं शताब्दी में फागु की दो धाराएँ हो जाती हैं। एक धारा अभिनय को दृष्टि में रखकर पूर्वपरिचित पथ पर प्रवाहित होती रही, किंतु दूसरी धारा विस्तृत और बृहदाकार होकर फैल गई। जहाँ लघु फागों में ५०–६० कड़ियाँ होती थीं, वहाँ २०० से अधिक कड़ियोंवाले बृहद् फाग विरचित होने लगे। ऐसे फागों में कल्याणकृत 'वासुपूज्य मनोरम फाग' कई विशेषताओं के कारण उल्लेखनीय है। यह फाग रास काव्यप्रकार के सदृश ढालों में आबद्ध है। ढालों की संख्या २१ है। प्रत्येक ढाल के राग और ताल भी उल्लिखित हैं। २१ ढालों को दो उल्लासों में विभक्त किया गया है। गेय बनाने के उद्देश्य से प्रायः सभी ढालों में ध्रुवक का विवरण मिलता है। ध्रुवक के अनेक प्रकार यहाँ दिखाई पड़ते हैं। उदाहरण के लिये देखिए—

१७वीं शती के फाग

(१) पुण्य करणी समाचरइ, सुख विलसि संसारि रे।[2]
(२) रे प्राणी रात्रिभोजन वारि, भारे दूषण ए निरधार॥[3]

(३) सँभलि भविक जना।
(४) मेरउ लालमणी रे लालमणी,

---

१ वही, कड़ी २१–२२
२ कल्याणकृत वासुपूज्य मनोरम फाग, ढाल ६
३ वही, ढाल ७

(५) मेरी वंदन वारंवार, मनमोहन मोरे जगपती हो।
(६) करइ क्रीडा हो उडाडइ गलाल।
(७) रँगीले प्राणीआ।
(८) लालचित्त हंसा रे।

इस फाग का अभिनय संभवतः दो रात्रियों में हुआ होगा। इसी कारण इसे दो उल्लासों में विभक्त किया गया है। इसके प्रयोग का काल इस प्रकार दिया हुआ है—

सोल छनूँ माघ मासे, सूदि अष्टमी सोमवार,
× × ×
गण लघु महावीर प्रसादि, थिर पुर कीउ उच्छाहइ,
कडुक गछ सदा दीपयो, चंद सूर जिहाँ जगमाहइ।

अर्थात् १६९६ की माघ सुदी अष्टमी, सोमवार को महावीरप्रसाद के प्रयास से थिरपुर नामक स्थान में इसका उत्सव हुआ।

इस उद्धरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि वृहत्काय फागु[1] भी कुछ काल तक अभिनेयता को दृष्टि में रखकर लिखे जाते थे। कालांतर में साहित्यिक गुणों को ही सर्वस्व मानकर पाठ्य फागुओं की रचना होने लगी होगी।

फागु में प्रयुक्त छंद

हम पहले विवेचन कर चुके हैं कि अनेक फागुओं में भास तथा दूहा जैसे सरल छंदों को गेय बनाने के लिये उनमें प्रारंभ अथवा अंत में 'अहे' 'अहँ' या 'अरे' आदि शब्दों को संमिलित कर लिया जाता था। ज्यों ज्यों फागु लोकप्रिय होने के कारण शिष्ट समाज तक पहुँचता गया त्यों त्यों इसकी शैली उत्तरोत्तर परिष्कृत होती गई। शिष्ट समाज के संस्कृत प्रेमियों में देवभाषा के प्रति ममत्व देखकर विदग्ध कवियों ने फागु में संस्कृत श्लोकों को अधिक से अधिक स्थान देने का प्रयास किया। इसके कई परिणाम निकले— (१) संस्कृत के कारण फागुओं की भाषा सार्वदेशिक प्रतीत होने लगी— (२) शिष्ट समुदाय ने इस लोकसाहित्य को समादृत किया, (३) विदग्ध

---

१ श्री संडेसरा का मत है कि "यह फागु नाम मात्र को ही फागु है" क्योंकि इसकी रचनापद्धति फागुओं से भिन्न प्रतीत होती है। इस काव्य को यदि 'फागु' के स्थान पर 'रास' संज्ञा दी जाय तो अधिक उपयुक्त हो।

भावकों के समाराधन से इस काव्यप्रकार में नवीन छंदों, गीतों एवं अभिनय के नवीन प्रयोगों को विकास का अवसर मिला।

अभिनेय होने के कारण एक ओर गीतों में सरसता और संगीतमयता लाने का प्रयास होता रहा और इस उद्देश्य से नवीन गेय छंदों की योजना होती रही, दूसरी ओर साहित्यिकता का प्रभाव बढ़ने से लघुकाय गेय फागुओं के स्थान पर पाठ्य एवं दीर्घकाय फागुओं की रचना होने लगी। ये दोनों धाराएँ स्वतंत्र रूप से विकसित होती गईं। पहली अभिनयप्रधान होने से लोकप्रिय होती गई और दूसरी शिष्ट समुदाय में पाठ्य होने से साहित्यिक गुणों से अलंकृत होती रही।

विभिन्न फागों में प्रयुक्त छंदरचना का परीक्षण करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि फागु छंदों की तीन पद्धतियाँ हैं—(१) गीत और अभिनय के अनुकूल छंद, (२) संस्कृत श्लोकों के साथ गेय पदों के अनुरूप मिश्र छंदयोजना, (३) अपेक्षाकृत बृहद् एवं पाठ्य फागों में गेयता एवं अभिनेयता की सर्वथा उपेक्षा करते हुए साहित्यिकता की ओर उन्मुख छंदयोजना।

मिश्र छंदरचना

मिश्र छंदयोजनावाले फागों में धनदेव गणि कृत 'सुरंगाभिव नेमि फाग' (सं० १५०२ वि०) प्रसिद्ध रचना है। इसी शैली में आगम माणिक्य कृत 'जिनहंस गुरु नवरंग फाग', अज्ञात कवि कृत 'राणपुर मंडन चतुर्मुख आदिनाथ फाग' तथा कमलशेखर कृत 'धर्ममूर्ति गुरु फाग' आदि विरचित हुए हैं। मिश्र छंदयोजना में संस्कृत श्लोक, रासक, आंदोला, फाग आदि के अतिरिक्त शार्दूलविक्रीड़ित नामक वर्णवृत्त अधिक प्रचलित माना गया।

छंदवैविध्य फागु काव्यों की विशेषता है। संस्कृत के श्लोक भी विविध वृत्तों में उपलब्ध होते हैं। 'रास' शीर्षकवाली कड़ियाँ भी एक ही निश्चित 'देशी' में नहीं अपितु विविध 'देशियों' में हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सारी छंदयोजना के मूल में संगीतात्मकता एवं अभिनेयता की प्रेरणा रही है। प्रसंगानुकूल नृत्य एवं संगीत के संनिवेश के लिये तदनुरूप छंदों का उपयोग करना आवश्यक समझा गया।

जब काव्य की फागु शैली अभिनेयता के कारण जनप्रिय बनने लगी तो इसके अवांतर भेद भी दिखाई पड़ने लगे। फागु का एक विकसित रूप 'गीता' नाम से प्रचलित हुआ। इस नाम से उपलब्ध

फागु की 'गीता' शैली प्राचीनतम काव्य भ्रमरगीता[1] उपलब्ध हुआ है जिसकी कथावस्तु श्रीमद्भागवत के उद्धवसंदेश के आधार पर निर्मित है। कवि चतुर्भुज कृत इस रचना का समय सं० १५७६ वि० माना जाता है। इस शैली पर विरचित द्वितीय रचना 'नेमिनाथ भ्रमरगीता' है जिसमें जैन समुदाय में चिरप्रचलित नेमिकुमार की जीवनगाथा वर्णित है। तीसरी प्रसिद्ध कृति उपाध्याय यशोविजय कृत 'जंबूस्वामी ब्रह्मगीता' है। जंबूस्वामी के इतिवृत्त के आधार पर इस फागु की रचना हुई है। इस रचना के काव्यबंध में झूलना छंद का उत्तरार्ध 'फाग' अथवा 'फाग की देशी' और तदुपरांत दूहा रखकर रचना की जाती है।

'गीता' शीर्षक से फागुओं की एक ऐसी पद्धति भी दिखाई पड़ती है जिसमें कोई इतिवृत्त नहीं होता। इस कोटि में परिगणित होनेवाली प्रमुख रचनाएँ हैं—(१) वृद्धविजय कृत 'ज्ञानगीता' तथा (२) उदयविजय कृत 'पार्श्वनाथ राजगीता।"

इन रचनाओं का छंदबंध फागु शैली का है, पर इनमें इतिवृत्त के स्थान पर 'दश वैकालिक सूत्र' के आधार पर पार्श्वनाथ का स्तवन किया गया है जिससे प्राणी मोह की प्रबल शक्ति से मुक्ति प्राप्त कर सके। 'ज्ञानगीता' और 'पार्श्वनाथ राजगीता' एक ही प्रकार के फागुकाव्य हैं जिनमें कोई इतिवृत्त कथावस्तु के रूप में ग्रहण नहीं किया जाता।

इस प्रकार विवेचन के द्वारा यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'गीता' शीर्षक से 'फागु' की दो नई पद्धतियाँ विकसित हुईं। इन दोनों की छंदबंध पद्धति में साम्य है किंतु इतिवृत्त की दृष्टि से इनकी पद्धतियों में भेद पाया जाता है। एक का उद्देश्य कथा की सरसता के माध्यम से जीवन का उदात्तीकरण है किंतु द्वितीय पद्धति का लक्ष्य है एकमात्र संगीत का आश्रय लेकर उपदेशकथन।

---

१ भ्रमरगीता की पुष्पिका में इस प्रकार का उद्धरण मिलता है—'श्रीकृष्ण-गोपी-विरह-मेलापक फाग'। इससे सिद्ध होता है कि इस रचना के समय कवि की दृष्टि 'फागु' नामक काव्यप्रकार की ओर रही होगी।

हम यहाँ पर चतुर्भुजकृत 'भ्रमरगीता' का संक्षिप्त परिचय देकर इस पद्धति का स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक समझते हैं। इसकी कथावस्तु इस प्रकार है—जब श्रीकृष्ण और बलदेव गोकुल त्यागकर अक्रूर के साथ मथुरा चले गए तो नंद, यशोदा तथा गोपांगनाएँ विरहाकुल होकर रोदन करने लगीं। श्रीकृष्ण ने उद्धव को संदेश देकर गोकुल भेजा। उद्धव के दर्शन से गोपांगनाओं को प्रथम तो बड़ा आश्वासन मिला किंतु उनका प्रवचन सुनकर वे व्याकुल हो गईं और उन्होंने अपनी विरहव्यथा की मार्मिक कथा सुनाकर उद्धव को अत्यंत प्रभावित कर दिया। इस उच्च कोटि की रचना में करुण रस का प्रवाह उमड़ा पड़ता है। नंद यशोदा के रुदन का बड़ा ही रोमांचकारी वर्णन सशक्त भाषा में किया गया है।

भ्रमरगीता की शैली पर विनयविजय कृत 'नेमिनाथ भ्रमरगीता' भी विरचित हुई। जिस प्रकार चतुर्भुज ने 'भ्रमरगीता' में कृष्णविरह में गोपी-गीत की कथा सुनाई है, उसी प्रकार विनयविजय ने नेमिनाथ भ्रमरगीता में नेमिनाथ के वियोग में संतप्त राजुलि की व्यथा का वर्णन है। कवि ने नवयुवती राजुलि के शारीरिक सौंदर्य एवं विरहव्यथा का बड़ा ही मनोहारी वर्णन किया है। राजुलि की रूपमधुरिमा का चित्र देखिए—

(फाग)

ससिवयणी मृगनयणी, नवसति सजि सिणगार,
नवयौवन सोवनवन; अलि अपछर अवतार।

(फाग)

अंजन अंजित अंपडी, अधर प्रवाला रंग;
हसित ललित लीला गति, मदभरी अंग अनंग।
रतनजडित कंचुक कस, खंचित कुच दोइ सार,
एकाउलि मुगताउलि, टंकाउलि गलि हार।

ऐसी सुंदरी नवयौवना राजुलि नेमिनाथ के वियोग में तड़पती हुई रोदन कर रही है—

दोहिला दिन गया तुम्ह पापइ, रघे ते सोहणि देच दापइ,
आज हुं दुषनु पार पांमी, नयन मेलावडि मिलयउ स्वामी।
रयणी न आवी नींद्रडी, उदक न भावइ अन्न,
सुनी भमि ए देहडी, नेमि सुं लागुं मन्न।

इसी प्रकार नाना भाँति विलाप करती हुई राजुलि अपने आभूषणों को तोड़ फोड़कर फेंक देती है। क्षण क्षण प्रियतम नेमिनाथ की बाट जोहती हुई विलाप करती है—

कंत विना स्यां मन्दिर, कंत विना सी सेज,
कंत विना स्यां भोजन, कंत विना स्यां हेज।
× × ×
नींद न आवि विरहण, देपुं सुंहणे नाह,
वापीयडो पीड पीड करि, दूणु दि वली दाह।

राजुलि इसी प्रकार विलाप कर रही थी कि उसकी सत्यनिष्ठा से प्रसन्न होकर नेमिनाथ जी उसके संमुख विराजमान हो गए।

कवि कहता है—

(छंद)

नेमि जी राजुलि प्रीति पाली, विरहनी वेदना सर्व टाली,
सुप वणां मुगति वेगि दीधां, नेमि थी विनय'नां काज सीधां।

इस प्रकार इस फागु में विप्रलंभ एवं संभोग शृंगार की छटा कितनी मनोहारी प्रतीत होती है। यहाँ कवि ने 'नेमि भ्रमरगीता' नाम देकर भ्रमर-गीता की विरह-वर्णन-प्रणाली का पूर्णतया निर्वाह किया है। इसमें प्रयुक्त छंद है—दूहा, फाग, छंद। इन्हीं छंदों के माध्यम से राजुलि (राजमती) की यौवनस्थिति, विरहस्थिति एवं मिलन स्थिति का मनोरम वर्णन मिलता है। इस काव्य से यह स्पष्ट झलकता है कि कवि कृष्ण गोपी की विरहानुभूति का श्रीमद्भागवत के आधार पर अनुशीलन कर चुका था और यह फागु लिखते समय गोपी-गीत-शैली उसके ध्यान में विद्यमान थी। अतः उसने जैन कथानक को भी ग्रहण करके अपने काव्य को 'नेमिनाथ भ्रमरगीता' नाम से अभिहित करना उपयुक्त समझा।

फागु साहित्य में समाज की रसवृत्ति

फागु साहित्य में मध्यकालीन समाज की रसवृत्ति के यथार्थ दर्शन होते हैं। वसंतविलास में युवक नायक और युवती नायिका परस्पर आश्रय आलंबन हैं। ऋतुराज वसंत से स्थायी रतिभाव उद्दीप्त हो उठता है। इसका बड़ा ही मादक वर्णन मिलता है। तत्कालीन समाज की रसवृत्ति का यह परिचायक है। जिस भोगसामग्री का वर्णन इसमें पाया जाता है उससे यह स्पष्ट विदित होता है कि तत्कालीन रसिक जन

अपना जीवन कितने वैभव और ठाटबाट से व्यतीत करते होंगे। पलाश के पुष्पों को देखकर कवि उत्प्रेक्षा करता है कि ये फूल मानो कामदेव के अंकुश हैं जिनसे वह विरहिणियों के कलेजे काढ़ता है—

"केसु कली अति वाँकुड़ी, आँकुड़ी मयण ची जाणि।
विरहिणानां इणि कालिज, कालिज काढइ ताणइ॥"

कई प्रेमकथाओं में तो मंगलाचरण भी मकरध्वज रतिपति कामदेव की स्तुति से किया गया है और उसके बाद सरस्वती तथा गुरु की प्रार्थना कवि ने की है।

कुंयर कमला रतिरमण; मयण महाभड नाम।
पंकजि पूजीय पयकमल; प्रथमजी करउं प्रणाम॥

बिल्हणपंचाशिका का मंगलाचरण इससे भी बढ़कर रसात्मक है। वहाँ भी कवि सरस्वती से कामदेव को अधिक महत्व देकर प्रथम प्रणाम करता है—

मकरध्वज महीपति वर्णवुं, जेहनुं रूप अवनि अभिनवुं;
कुसुमबाण करि; कुंजरि चडइ, जास प्रयाणि धरा धडहडइ।
कोदंड कामिनी ताणुं टंकार, आगलि अलि झंझा झंकारि;
पाखलि कोइलि कलरव करई, निर्मल छत्र श्वेत शिर धरई।
त्रिभुवन मांहि पडावई साद: 'दई को सुरनर मांडइ वाद ?'
अवला सैनि सबल परवरिऊ, हींडइ मनमथ मच्छरि भरिऊ,
माधव मास सोहई सामंत जास नणइ, जलनिधि-सुतमित:,
दूतपणुं मलयानिल करइ; सुरनर पन्नग आण आचरई।
तासतणा पय हुं अणसरी, सरसति सामिणी हइडइ धरी,
पहिलुं कंदर्प करी प्रणाम, गाइइ ग्रंथ रचिसि अभिराम।

इस प्रकार जो कविगण मंगलाचरण में ही प्रेम के अधिष्ठाता कामदेव का आह्वान करते हैं और ग्रंथरचना में सहायता की सूचना करते हैं, उनकी रचनाएँ रस से क्यों न परिप्लुत होंगी। नर्बुदाचार्य नामक एक जैन कवि ने संवत् १६५६ में बरहानपुर में कोकशास्त्र चतुष्पादी लिखी है। फागु-रचना में कोकशास्त्र के ज्ञान को आवश्यक समझकर वे कहते हैं—

जिम कमल मांहि भमर रमइ, गंध केतकी छांडे किमइ ;
जे नर स्त्रीश्रालुवधा हसे, तेहना मन इणि ग्रंथे बसै।
जिहां लगे रविशशी गगने तपै, जिहां लगे मेरु महिमध्य जपे;
तिहां लगे कथा रहिस्यै पुराण, कवि नरबुद कहे कथा बखाण।

फागु का कवि प्रेक्षकों एवं पाठकों को साहित्यिक रस में निमग्न करने को लालायित रहता है। वस्तु योजना में कल्पना से काम लेते हुए घटनाक्रम के उन महत्वमय क्षणों के अन्वेषण में वह सदा संलग्न रहता है जो पाठकों और प्रेक्षकों को रसानुभूति कराने में सहायक सिद्ध होते हैं। फागु-कवि मनोविज्ञान की सहायता से ऐसे उपयुक्त अवसरों का अनुसंधान किया करता है।

भाषा के प्रति वह सदा जागरूक रहता है। भाषा को अलंकारमयी, प्रसादगुण संपन्न एवं सरस बनाने के लिये वह विविध काव्यकलाओं का प्रयोग करता है। 'वसंतविलास' फागु का कवि तो भाषा को रमणीय बनाने का संकल्प करके कहता है—

पहिलउँ सरसति अरचिस रचिसु वसंतविलास।
फागु पयडपयबंधिहिं, संधि यमक भल भास।

फागु काव्यों की भाषा संस्कृत एवं प्राकृत मिश्रित भाषा है वसंतविलास में तो संस्कृत के श्लोकों का अर्थ लेकर हिंदी में रचना हुई अतः भाषा की दृष्टि से भी ये काव्य मिश्र-भाषा-समन्वित हैं।

इन फागुओं में यत्र तत्र तत्कालीन जन प्रवृत्ति एवं घर घर रास के अभिनय का विवरण मिलता है। संभवतः रास और फाग क्रीड़ा के लिये मध्यकाल में पाटण नगर सबसे अधिक प्रसिद्ध था। एक स्थान पर 'विरह देसाउरी फाग' में उल्लेख मिलता है—

"धनि धिन पाटण नगर रे, धिन धिन फागुण मास,
हैयड रस गोरी घणा, घरि घरि रमीइ रास।"

अर्थात् पाटण नगर और फागुन मास धन्य है। जहाँ घर घर गौर वर्ण वाली स्त्रियाँ हृदय में प्रेमरस भरकर रास रचाती हैं।

इस प्रकार के अनेक उद्धरण फागु साहित्य में विद्यमान हैं जो तत्कालीन

जनरुचि एवं रास-फागु के अभिनय की प्रवृत्ति को प्रगट करते हैं। फाल्गुन एवं चैत्र के रमणीय काल में प्रेमरस से छलकता हृदय प्रेमगाथाओं के अभिनय के लिये लालायित हो उठता था। कविगण नवीन एवं प्राचीन कथानकों के आधार पर जन-मन-रंजक एवं कल्याणप्रद रास एवं फागों का सृजन करते, धनीमानी व्यक्ति उनके अभिनय की व्यवस्था करते, साधु-महात्मा उसमें भाग लेते और सामान्य जनता प्रेक्षक के रूप में रसमग्न होकर वाह वाह कर उठती। कालिदास के युग की वसंतोत्सव पद्धति इस प्रकार संस्कृत एवं हिंदी भाषा के सहयोग से फाग और रास के रूप में कलेवर बदलती रही।

अब हम यहाँ शिष्ट साहित्य में परिगणित होनेवाले प्रमुख फागुओं का संक्षिप्त परिचय देंगे—

(१) सिरिथूलिभद्र फागु—फागु काव्यप्रकार की यह प्राचीनतम कृति है। इसके रचयिता हैं जैनाचार्य जिनपद्म सूरि। संवत् १३६० में आचार्य हुए। संवत् १४०० में निर्वाण। यह चौदहवीं शताब्दी के अंतिम चरण की रचना प्रतीत होती है। स्थूलिभद्र मगध के राजा नंद के मंत्री शकटार का पुत्र था। पाटलीपुत्र में कोश्या नामक एक विख्यात गणिका रहती थी। स्थूलिभद्र उसके प्रेम में पड़ गए और बारह साल तक वहीं रहे। पितृमृत्यु के बाद वे अपने घर आए। पितृवियोग के कारण विराग की उत्पत्ति हुई। गुरुदीक्षा लेकर चातुर्मास बिताने के लिये और अपने समय की कसौटी करने के लिये उसी वेश्या के यहाँ चातुर्मास रहे। वह बड़ी प्रसन्न हुई, परंतु स्थूलिभद्र अडिग रहे। अंत में कोश्या को भी ज्ञान हुआ और वह तर गई। कवि ने इसमें वर्षाऋतु का वर्णन किया है, वसंत का नहीं। परंतु विषय शृंगारिक होने से यह फागु काव्य है। अंतिम पंक्तियों से भी यह स्पष्ट हो जाता है—

> खरतरगच्छि जिणपदमसूरि-किय फागु रमेवऊ।
> खेला नाचई चैत्रमासि रंगिहि गावेवऊ।—२७

काव्यशास्त्र की दृष्टि से इस फागु में कुछ आलंकारिक कविता के उदाहरण मिलते हैं। २७ कड़ियों के इस काव्य के सात विभाग किए गए हैं। प्रत्येक विभाग में एक दूहा और उसके बाद रोला छंद की चार चरणों-वाली एक कड़ी आती है जो गेय है। शब्दमाधुर्य उत्पन्न करने में कवि सफल हुआ है। गुरु की आज्ञा से स्थूलिभद्र कोश्या के यहाँ भिक्षा के लिये आते

हैं। कवि उस समय कोश्या के मुख से वर्षा का वर्णन कराता है—जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं।

लौटकर आए हुए स्थूलिभद्र को रिझाने के लिये कोश्या का शृंगारवर्णन भी कवि उद्दीपन के रूप में ही सामने रखता है। शृंगार की ऐसी उद्दीपक सामग्री स्थूलिभद्र के संयम और तप के गौरव को बढ़ाने के लिये ही आई है। कोश्या के हावभाव सफल नहीं होते क्योंकि स्थूलिभद्र ने संयम धारण कर लिया है। अब उन्होंने मोहराय का हनन किया है और अपने ज्ञान की तलवार से सुभट मदन को समरांगण में पछाड़ा है—

आई बलवंतु सुमोहराऊ, जिणि नाणि निधाडिऊ।
आण खडग्गिण मयण-सुभंड समरंगणि पाडिऊ॥

श्री नेमिनाथ फागु—इसके रचयिता राजशेखर सूरि हैं। रचनाकाल सं० १४०५ है। इसमें नेमिराजुल के विवाह का वर्णन है। जैनों के चौबीस तीर्थंकरों में नेमिनाथ बाईसवें है। ये यदुवंशी और कृष्ण के चचेरे भ्राता थे। पाणिग्रहण राजुल के साथ संपन्न होना था। वरयात्रा के समय नेमिनाथ की दृष्टि वध्य भेड़ों और बकरियों पर पड़ी। विदित हुआ कि बारात के स्वागतार्थ पशुवध का आयोजन है। नेमिनाथ को इस पशुहिंसा से निर्वेद हुआ। उनके पूर्वसंस्कार जाग्रत हुए और वे वन में भाग निकले। जब राजुल को यह समाचार ज्ञात हुआ तो उसने भी तप प्रारंभ किया। इस फागु में भी वसंत-विहार का वर्णन है। कवि ने नेमि-गुण-कथन करने की प्रतिज्ञा की है। सत्ताइस कड़ियों के इस काव्य के भी सात खंड हैं। प्रत्येक खंड की प्रथम कड़ी दूहे में और दूसरी रोला में है। शैली प्राचीन आलंकारिक है। वरयात्रा, वर और वधू का वर्णन प्रसादगुणयुक्त कविता का सुंदर उदाहरण है—

मोहणवल्लि नवल्लिय, सोहइ सा जगि बाल,
रूपि कलागुणि पूरिय, दूरिय दूषण जाल।
विहु दिसि मंडप बांधिय, सांधिय धयवडमाल,
द्वारवती घण उच्छव, सुंदर वंदुरवाल।
अह वरि जादव पहिरिउ, सुभरिउ केतक पुंपु,
मस्तकि मुकुटु रोपिउ, ओपिउ निरुपम रूपु।
श्रवणिहि ससिरविमंडल कुंडल, कंठिहिं हारु,
भुजयुगि रंगद अंगद, अंगुलि मुद्रियभारु।

सहजिहि रूपि न दूषणु, भूषण भासुर अंगु,
एकु कि गोविंदु इंदु कि चंदु कि अहव अनंगु।

राजमती के विवाहकाल के प्राकृतिक सौंदर्य का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि—

अरे कोइलि सादु सोहावणउ, मोरि मधुर वासंति,
अरे भमरा रणझण रुणु करइ, झिरि किन्नरि गायंति।
अरे हरि हरिखिउ मनि आपणइ वासुलडी वाजंति,
अरे सिंगा सवदहि गोपिय सोल सहस नाचंति।
अरे कान्हडु अन्नइ नेमि जिणु खड्डोखलि मिलि जाइं,
अरे सिंगीय जलभरे छांटियइ, एसिय रमलि कराइं।

जंबूस्वामी फागु—इसके रचयिता कोई अज्ञात कवि हैं। इसका रचनाकाल सं० १४३० वि० है। समस्त काव्य में अंतर्यमकवाले दोहे स्पष्ट दिखाई पड़ जाते हैं। फागु रचनावंध का यह प्रतिनिधि ग्रंथ है। जंबूस्वामी राजगृह नामक नगर के ऋषभदत्त नामक धनिक सेठ के एकमात्र पुत्र थे। इनका वैवाहिक संबंध एक ही साथ आठ कुमारियों से निश्चित हुआ। इसी समय सुधर्मा स्वामी गणधर के उपदेश से इनमें वैराग्य उत्पन्न हुआ। जंबूस्वामी ने घोषणा कर दी कि विवाहोपरांत मैं दीक्षा ले लूँगा। फिर भी उन आठों कुमारियों के साथ लग्न हुआ। किंतु जंबूस्वामी ने नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन किया। उसी रात को प्रभव नामक एक डाकू दस्युदल के साथ चोरी करने के लिये आया। उस डाकू पर कुमार के ब्रह्मचर्यमय तेज का इतना प्रभाव पड़ा कि वह शिष्य बन गया। जंबूकुमार ने अपनी आठों पत्नियों को भी प्रबुद्ध किया। इसी प्रकार अपने माता पिता, सास श्वसुर एवं दस्युदल सहित ५२६ शिष्यों ने सुधर्मा स्वामी से दीक्षा ली। जंबूस्वामी की आयु उस समय १६ वर्ष की थी। उनका निर्वाण ८० वर्ष की आयु में हुआ।

इस फागु में नायक और नायिका का प्रसाद शैली में वर्णन किया गया है। इस फागु का वसंतवर्णन भी अनोखा और मनोहर है। रचनावंध और काव्य की दृष्टि से यह एक सुंदर कृति है।

वसंत-विलास-फागु—इसका रचनाकाल सं० १४०० से १४२५ के बीच है। 'वसंतविलासफागु' केवल प्राकृत बंध नहीं, अपितु इसमें दूहों के साथ संस्कृत और प्राकृत के श्लोक भी हैं। 'संस्कृत शब्दावली का इसमें बाहुल्य पाया जाता है'।

इस काव्य की एक एक पंक्ति रस से सराबोर है। काव्यरस मानो छलकता हुआ फूट पड़ने को उमड़ता दिखाई पड़ता है। इसका एक एक श्लोक मुक्तक की भाँति स्वयं पूर्ण है। अंतर्यमक की शोभा अद्वितीय है। इसकी परिसमाप्ति वैराग्य में नहीं होती, इसीलिये यह जैनेतर कृति मानी जाती है। इस फागु में जीवन को उल्लास और विलास से ओतप्रोत देखा गया है। काव्य का मंगलाचरण सरस्वतीवंदना से हुआ है। तत्पश्चात् चार श्लोकों में वसंत का मादक चित्र चित्रित किया गया है। इसी मादक वातावरण में प्रियतमा के मिलन हेतु अधीर नायक का चित्र अंकित है। छः से लेकर पंद्रह दोहों में नवयुगल की वनकेलि का सामान्य वर्णन है। १६ से ३५ तक के दूहों में वनवर्णन है, जिसकी तुलना नगर से की गई है। यहाँ मदन और वसंत का शासन है। उनके शासन से विरहिणी कामिनियाँ अत्यंत पीड़ित हैं। एक विरहिणी की वेदना का हृदयविदारक वर्णन है किंतु उपसंहार होते होते प्रिय के शुभागमन की सुंदर छटा छिटकती है। अंतिम दोहे में अधीर पथिक घर पहुँच जाता है। ५१ से ७१ तक प्रिय-मिलन और वनकेलि का सुंदर वर्णन है। अब विरहिणी प्रियतम के साथ मिलनसुख में एकाकार हो जाती है। विविध प्रेमी प्रेमिकाओं के मिलन का पृथक् पृथक् सुखसंवाद है। किसी की प्रियतमा कोमल और अल्पवयस्का है तो कोई प्रियतम 'प्रथम प्रेयसी' की स्मृति के कारण नवीना के साथ अभिन्न नहीं हो सकता। इस प्रकार अनेक प्रकार के प्रेममाधुर्य से काव्य रसमय बन जाता है। प्रेम के विविध प्रसंगों को कवि ने अन्योक्तियों द्वारा इंगित किया है। इस फागु का जनता में बहुत प्रचार है। इस फागु में वसंतागमन विरहवेदना, वनविहार संयोग का सुंदर, संक्षिप्त, सुश्लिष्ट, तर्कसंगत एवं प्रभावोत्पादक वर्णन है। इसमें एक नहीं, अनेक युगल जोड़ियों की मिलनकथा अलग अलग रूप में मिलती है। अर्थात् इस फागु में अनेक नायक और अनेक नायिकाएँ हैं।

नेमिनाथ फागु—इसके रचयिता जयशेखर सूरि हैं। रचनाकाल १४६० के लगभग है। इसमें ११४ दोहे हैं। वसंत के मादक वातावरण का प्रभाव नेमिकुमार पर कुछ नहीं पड़ता। परंतु विरहिणी इसी वातावरण में अस्वस्थ है। यह बहुत ही रसपूर्ण कृति है। नेमिनाथ की वरयात्रा का भी सुंदर वर्णन है।

रंगसागर नेमि फागु—रचयिता सोमसुंदर सूरि हैं। रचनाकाल

१५वें शतक का उत्तरार्ध है। इसमें गेयता कम किंतु वर्णनात्मकता अधिक है। नेमिनाथ के संपूर्ण जीवन की झाँकी प्रस्तुत करनेवाली यह रचना महाकाव्य की कोटि में परिगणित की जा सकती है। फागु का आरंभ शिवा-देवी के गर्भ में नेमिनाथ के आगमन के समय उसके स्वप्नदर्शन से होता है। इस फाग के तीन खंड हैं जिनमें क्रमशः सैंतीस, तेंतालीस और सैंतीस कड़ियाँ हैं। कुल मिलाकर संस्कृत के १० श्लोक हैं। रचनाबंध की दृष्टि से भी यह सुंदर है।

नारायण फागु—रचनाकाल संवत् १४६५ के आसपास है। इस फागु के बहुत से अवतरणों पर वसंतविलास का प्रभाव लक्षित होता है। उसके रचयिता के संबंध में कुछ ज्ञात नहीं। काव्य के आरंभ में सौराष्ट्र और द्वारिका का वर्णन है। तदुपरांत कृष्ण के पराक्रम और वैभव का यशोगान है। पटरानियों सहित कृष्ण के वनविहार का इसमें शृंगार रसपूर्ण वर्णन है। कृष्ण का वेणुवादन, गोपांगनाओं का तालपूर्वक नर्तन बड़ा ही सरस बन पड़ा है। प्रत्येक गोपी के साथ अलग अलग कृष्ण की वनक्रीड़ा का वर्णन आकर्षक है। यह फागु ६७ कड़ियों का है और अंतिम तीन कड़ियाँ संस्कृत श्लोक के रूप में हैं। इसका आरंभ दूहे से और पर्यवसान संस्कृत श्लोक से होता है।

सुरंगाभिभान नेमि फाग—इस फाग की रचना संस्कृत और गुजराती दोनों भाषाओं में हुई है। इसके रचयिता घनदेव गणि हैं। मंगलाचरण शार्दूलविक्रीड़ित में संस्कृत और भाषा दोनों के माध्यम से है। उपसंहार भी शार्दूलविक्रीड़ित से ही किया गया है।

नेमीश्वरचरित फाग—यह फाग ६१ कड़ियों का है। १७ संस्कृत की कड़ियाँ हैं और ७४ भाषा की। रचयिता माणिक्यचंद्र सूरि हैं। इसमें चार प्रकार के छंद हैं—रासु, रासक, फागु, अढ़ैउ है।

श्रीदेवरत्न सूरि फाग—यह फाग ६५ कड़ियों का है।

हेमविमल सूरि फाग—रचनाकाल सं० १५५४ है। रचयिता हंसधीर हैं। इसमें गुरुमहिमा का गान ५७ कड़ियों में मिलता है। इसमें फाल्गुन का वर्णन नहीं है। केवन रचना फागु के अनुरूप है।

वसंतविलास फागु (१)—इसमें ६६ कड़ियाँ हैं। इसकी रचना बड़ी ही सुंदर और रसपूर्ण है। गोपियों का विरह और नंद यशोदा का

रुदन, दोनों प्रसंग बहुत प्रभावोत्पादक हैं। कृष्ण का मथुरा जाना, गोपिकाओं का विरह, कंसवध, ऊधो का गोपियों को प्रबोधन आदि प्रसंग सुंदर बन बड़े हैं।

वसंतविलास फागु (२)—इसके रचयिता केशवदास हैं। रचनाकाल सं० १५२९ है। २६ दूहों में रचित है। यह एक स्वतंत्र कृति है। मंगलाचरण नवीन रीति का है। उपसंहार में भी नवीनता है। भाषा १६ वीं सदी के उत्तरार्ध की है। यह रचना पूर्णरूपेण फागु नाम को सार्थक करती है।

फागु के विविध उद्धरणों से इस काव्यप्रकार की कतिपय विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है। सबसे अधिक आकर्षक तथ्य यह दिखाई पड़ता है कि फागु साहित्य अभिनय के उद्देश्य से विरचित होता था और इसके अभिनय में नृत्यगीत मुख्यरूप से सहायक होते थे। चैत्र[1] मास में इसके अभिनय का उपयुक्त अवसर समझा जाता था। मधुमास में भी सबसे अधिक रमणीक समय चैत्र पूर्णिमा का माना जाता था :

फागु की विशेषताएँ

फाग गाइ सब गोरडी जब आवइ मधुमास ॥

चैत्र के अतिरिक्त फाल्गुन[2] में भी कृष्णफागु खेलने का उल्लेख मिलता है। एक स्थान पर कवि कहता है—

फागु ते फागुण मासि, लोक ते रमइ उह्लासि,
रामति नवनवी ए, किम जांइ वर्णवी ए।

आगे चलकर एक स्थल पर फाल्गुन के रास में प्रयुक्त उपकरणों, वाद्ययंत्रों का भी उल्लेख पाया जाता है। प्रेमानंद ने एक स्थान पर तांबूल से अनुरंजित मुखवाली श्रेष्ठ सखियों के फागु गायन का वर्णन झाँझ और पखावज के साथ इस प्रकार किया है—

---

१ ए फागु उछरंग रमइ जे मास वसंते,
तिणि मणिनाण पहाण कीत्ति महियल पसरंते।
कीर्तिरत्नसूरि फाग, १५वीं शताब्दी, कड़ी ३६

२ फागुणि पवन हिलोहलइ, फागु चवइ वर नारी हे,
संदेसडउ न परठ्यउ, वृन्दावनह मझारि हे।
कान्हडवारमास, कड़ी ६

फागण मासे फूली रह्यां केसुडां रातां चोल,
सहिवर रंगे राती रे, रातां मुख तंबोल।

× × ×

वाजे झांझ पखावज ने साहेली रमे फाग,
ताली देइ तारुणी गाय नवला रे राग।

गोपियों[१] के फागु खेलने का वर्णन कई स्थानों पर जैन फागों में भी विद्यमान है। ये उद्धरण इस तथ्य के प्रमाण हैं कि जैनाचार्यों ने रास एवं फागु की यह परंपरा वैष्णव रासों से उस समय ग्रहण की होगी जब जनता में इनका आदरसंमान रहा होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि जैन फागुओं का माहात्म्य १५ वीं शताब्दी तक इतने उत्कर्ष को प्राप्त हो गया था कि कृष्णरास के समान इसके अभिनेता एवं प्रेक्षक भी पूर्णरीति से अर्हतपद के अधिकारी समझे जाते थे। जयशेखर सूरि प्रथम 'नेमिनाथ फागु' में एक स्थान पर लिखते हैं—

कवितु विनोदिहि सिरि जय सिरिजय सेहर सूरि,
जे खेलइ ते अर्हंपद संपद पामइ पूरि।

फागों के पठन पाठन, चिंतन मनन का महत्त्व उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। देवगण[२] भी इस साहित्य के सानुराग अनुशीलन एवं अभिनय के द्वारा नवनिधियों के अधिकारी बनने लगे। फागुगान करनेवाले के घर मंगल चार निश्चय माना गया।

'एह फाग जे गाइसिइं, तेह घरि मंगलच्यार[३]।'

कवि बार बार फाग में प्रयुक्त वेणु, मृदंग आदि वाद्ययंत्रों का वर्णन करता है और सुररमणियों के गान का उल्लेख करते हुए इस वसंतक्रीड़ा का माहात्म्य वर्णन करता है—

---

१ लाज विलोपिय गोपिय, रोपिय दृढ़ अनुरागु।
रसभरि प्रियतमु रेलइ, वेलइ खेलइ फागु।
—कृष्णवर्षीय जयसिंह सूरि कृत बीजो नेमिनाथ फागु, कड़ी १२

२ देव तणउ ए फाग, पढइ गुणइ अनुराग।
नवनिधि ते लहइ ए, जे पणि संभलइ ए।

३ अज्ञात कविकृत 'वाहणनु फागु', कड़ी १२

वेणा यंत्र करइ आलि विणि, करइ गानि ते सवि सुररमणी,
मृदंग सरमंडल वाजंत, भरह भाव करी रमइ वसंत[१]।

ऐसे मंगलमय गान का जब अभाव पाया जाता हो तब देश में किसी बड़े संकट का अनुमान लगाया जाता है। जब सुललित वालिकाएँ रास न करती हों, पंडित और व्यास रास का पाठ न करते हों, मधुर कंठ से जब कोई रास का गायन न करता हो, जब रास और फाग का अभिनय न होता हो तब समझना चाहिए कि कोई बड़ी अघटित घटना घटी है। नल जैसे पुण्यात्मा राजा ने अपनी पतिव्रता नारी दमयंती को अरण्यप्रदेश में असहाय त्याग दिया। यह एक विलक्षण घटना थी। इसके परिणामस्वरूप देश में ऐसी ही स्थिति आई—

सुललित वालिका न दीइ रास, क्षण नवि वांचइ पंडित व्यास,
रूडइ कंठि कोइन करइ राग, रास भास नवि खेलइ फाग[२]।

फाग खेलने की पद्धतियों का भी कहीं कहीं संकेत मिलता है। कहीं तो अनेक रमणियाँ एक साथ फाग खेलती दिखाई पड़ती हैं और कहीं दो दो की जोड़ी प्रियतम के रस में भरकर खेल रही है। इस प्रकार के खेल से वे निश्चय ही प्रेम के क्षेत्र में विजय-श्री-संपन्न बनती हैं। कवि कहता है—

फागु वसंति जि खेलइ, वेलइ सुगुण निधान,
विजयवंत ते छाजइ, राजइ तिलक समान।[3]

इस उद्धरण 'वेलइ खेलइ' से प्रमाणित होता है कि सखियों का युग्म नाना प्रकार के हावभावों से भरकर वसंत में फागु खेल रहा है। इस खेल में अधिक प्रिय राग श्रीराग[४] माना जाता है। इसी राग में अभिनव फागों का गायन प्रायः सुना जाता है। इसके अतिरिक्त राग सारिंग मल्हार, राग रामेरी, राग आसाउरी, राग गुडी, राग केदार टोड़ी, राग धन्यासी, आदि का भी उल्लेख मिलता है।[५]

---

१ अज्ञात कविकृत 'चुपइ फागु', कड़ी ३६
२ महीराज कृत 'नलदवदंती रास', कड़ी ३८६
३ अज्ञात कविकृत 'जंबुस्वामी फाग', कड़ी ५६
४ नारायण फागु, कड़ी ४३
५ वासुपूज्य मनोरम फागु

रूपवती रमणियों के द्वारा खेले जानेवाले वसंतोत्सव फागु के कौतुक का वर्णन दूसरा कवि इस प्रकार करता है—

रूपिइं कडतिग करति अ धरति अरंभ तगतागु,
वसंत ऋतुराय खेलइं, गेलिइं गाती फागु।[1]

कवि रूपवती नारियों के रूप एवं वय की ओर भी कहीं कहीं संकेत करता चलता है। रूप में वे नारियाँ अप्सरा के समान और वय में नवयुवती है। क्योंकि उनके पयोधर-वय के कारण पीन हो गए हैं। ऐसी रमणियाँ नेमिजिणेश्वर का फाग खेलती हुई शोभायमान हो रही हैं। कवि कहता है—

पीन पयोहर अपच्छर गूजर धरतीय नारि,
फागु खेलइ ते फरि फरि नेमि जिणेसर वारि।[2]

फागु खेलनेवाली रमणियाँ हंसगमनी, मृगनयनी हैं और वे मन को मुग्ध करनेवाला फागु खेल रही हैं। कवि कहता है—

फागु खेलइ मनरंगिहि हंस गमणि मृगनयणि।

इस प्रकार अनेक उद्धरणों के द्वारा फागु का अभिनय करनेवाली रमणियों एवं उनकी क्रीड़ाओं का परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

उपर्युक्त उद्धरणों से वैष्णव एवं जैन फागों की कतिपय विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है। इनके अतिरिक्त शुद्ध लौकिक प्रेम संबंधी फागों की छटा भी निराली है। 'विरह देसाउरी फाग' में नायक नायिका लौकिक पुरुष स्त्री हैं और इसमें विप्रलंभ शृंगार के उपरांत संभोग शृंगार का निरूपण मिलता है।

मुनि श्री पुण्यविजय जी के संग्रहालय में एक 'मूर्ख फाग' मिला है जिसमें एक रूपवती एवं गुणवती नारी का दुर्भाग्य से मूर्ख पति के साथ पाणिग्रहण हो गया। ३३ दोहों में विरचित यह काव्य अभागिनी नारी की व्यथा की कथा बड़े हृदयहारी शब्दों में वर्णन करता है।

कवि कहता है कि यह विवाह क्या है (मानो) चंदन को चूल पर छिड़का गया है, सिंह को सियार के साथ जोड़ दिया गया है, काग को कपूर चुगने को दिया गया है, अंधे के हाथ में आरसी दे दी गई है—

१ 'हेमरत्न सूरि फागु, कड़ी १७
२ पद्मकृत 'नेमिनाथ फागु', कड़ी ५

चंदन घालू से चूलडि, संच सीयाला ने साथि;
काग कपूर सु जाणे रे, अंध अरिसानी भाति ।

काव्य के अंत में स्त्री-धर्म-पालन की ओर इंगित करते हुए कवि कहता है कि अरी पापिष्ठे, पति की उपेक्षा करना भोंड़ी टेव है । पति कोढ़ी भी हो तो भी देवतुल्य पूज्य है—

पापण पीउ वगोइयो, ए तुम्क भूडी टेव,
कोढीउ कावडी घालीने, सही ते जानवो देव ।
करिनि भगति पतिव्रता, साडलानी परि साधि,
रूप कुरूप करइ नही, जानि तू ईश्वर आराधि ।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक प्रकार के फागु में जीवन के उदात्ती-करण का प्रयास मुख्य लक्ष्य रहा है । प्रेक्षकों को साहित्यिक रस में शराबोर करके उनके चित्त को कर्त्तव्यपालन की ओर उन्मुख करना फागुकर्त्ता कवि अपना धर्म समझता रहा है । काव्य की इन विशेषताओं का प्रभाव परवर्ती लोककवियों पर पड़ा और परिणामतः स्वांग, रास आदि की शैली इस पथ पर शताब्दियों से चलती आ रही हैं ।

फागु साहित्य में ऐसी भी रचना मिली है जिसमें रूपकत्व का पूर्ण निर्वाह दिखाई पड़ता है । खरतरगच्छ के मुनि लक्ष्मीवल्लभ अपने युग के प्रसिद्ध आचार्य थे । उन्होंने 'रतनहास चौपाई', 'विक्रमादित्य पंचदंड रास', 'रात्रिभोजन चौपाई' 'अमरकुमारचरित्र रास' की रचना की । उन्होंने सं० १७२५ वि० के सन्निकट 'अध्यात्म फाग' की रचना की जिसमें रूपकत्व की छटा इस प्रकार दिखाई देती है—

शरीर रूपी वृंदावन-कुंज में ज्ञानरूपी वसंत प्रकट हुआ । उसमें मति-रूपी गोपी के साथ पाँच गोपों (इंद्रिय) का मिलन हुआ । सुमति रूपी राधा जी के साथ आत्मा रूपी हरि होली खेलने गए ।

वसंत की शोभा का वर्णन भी रूपकत्व से परिपूर्ण है । सुखरूपी कल्पवृक्ष की मंजरी लेकर मन रूपी श्याम होली खेल रहे हैं । उनकी शशि-कला से मोहतुपार फट गया है । सत्य रूपी समीर बह रहा है । समत्व सूर्य की शोभा बढ़ गई है और ममत्व की रात्रि घट गई है । शील का पीतांबर शोभायमान हो रहा है और हृदय में संवेग का वनमाल लहलहा रहा है । इड़ा, पिंगला एवं सुषुम्ना की त्रिवेणी बह रही है । उज्वल मुनिमन रूपी

हंस रमण कर रहा है। सुरत की बाँसुरी बज रही है और अनाहत की ध्वनि उठ रही है। प्रेम की झोली में भक्तिगुलाल भरकर होली खेली जा रही है। पुण्य रूपी अबीर सुरभि फैला रही है और पाप पददलित हो रहा है। कुमति रूपी कूबरी कुपित हो रही है और वह क्रोध रूपी पिता के घर चली गई है। सुमति प्रसन्न होकर पतिशरीर से आलिंगन कर रही है। त्रिकुटी की त्रिवेणी के तट पर गुप्त ब्रह्मरंध्र का कुंज है, जहाँ नवदंपति होली खेल रहे हैं। राधा के ऐसे वशीभूत कृष्ण हो गए हैं कि उन्होंने अन्य रसरीति त्याग दी है। वे अनंत भगवान् अहर्निश यही खेल खेल रहे हैं। मंदमति प्राणी इस खेल को नहीं समझते, केवल संत समझ सकते हैं। जो इस अध्यात्म फाग को उत्तम राग से गाएगा उसे जिन राजपद की प्राप्ति होगी।

जैन मुनि द्वारा राधाकृष्ण फाग के इस रूपकत्व से यह प्रमाणित होता है कि वैष्णव रास एवं फाग का प्रभाव इतर संप्रदायवालों पर भी पड़ रहा था। १६वीं शताब्दी के उपरांत हम वैष्णव रास एवं फागु का प्रसार समस्त उत्तर भारत में पाते हैं। कामरूप से सौराष्ट्र तक वैष्णव महात्माओं की रसभरी रास फाग वाणी से सारा भारत रसमग्न हो उठा। वैष्णव रास के प्रसंग में हम इसकी चर्चा कर आए हैं।

संस्कृति और इतिहास का परिचय

भारतीय इतिहास के अनेक साधनों में साहित्य का स्थान अनोखा है किसी किसी युग के इतिवृत्त के लिये साहित्य ही एकमात्र साधन है; किंतु भारत का कोई ऐसा युग नहीं है जिसमें साहित्य उसके इतिहास के लिये महत्व न रखता हो। देश का सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास साहित्य के अध्ययन के बिना अधूरा है। साहित्य समाज का यथार्थ चित्र है। हम उसमें समाज के आदर्श, उसकी मान्यताओं और त्रुटियों, यहाँ तक कि उसके भविष्य को भी प्रतिबिंबित देख सकते हैं। किसी समय का जो सम्यक् ज्ञान हमें साहित्य से मिलता है, वह तथाकथित तवारीखों से न कभी मिला है और न मिल सकेगा। साहित्य किसी युगविशेष का सजीव चित्र उपस्थित करता है किंतु तथाकथित इतिहास अधिक से अधिक उस युग की भावना को केवल मृतक रूप में इजिप्शियन मम्मी के सदृश दिखाने में समर्थ होता है।

इस ग्रंथ में जिस युग के रास एवं रासान्वयी काव्यों का संकलन प्रस्तुत किया जा रहा है उस युग में विरचित संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश कृतियों का यदि इनके साथ अनुशीलन किया जाय को तत्कालीन समाज और संस्कृति के किसी अंग से पाठक अनभिज्ञ न रहे। यद्यपि रास एवं रासान्वयी काव्य उस चित्र की रूप रेखा का ही दिग्दर्शन मात्र करा पाएँगे, किंतु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इन रेखाओं में उपयुक्त रंग भरकर कोई कुशल कलाकार एक देश के वास्तविक रूप का आकर्षक चित्र निर्मित कर सकता है।

धार्मिक और नैतिक स्थिति

संग्रह के बहुत से रासों का लक्ष्य जैनधर्म का उपदेश है। इन रासों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि दसवीं ग्यारहवीं शताब्दी के आसपास और उससे पूर्व भी अनेक कुरीतियाँ जैनधर्म में प्रवेश कर चुकीं थीं। जिस प्रकार बौद्धधर्म संपत्ति, वैभव और मठाधिपत्य के कारण पतनोन्मुख हुआ था, उसी प्रकार जैनधर्म भी अधोगति की ओर अग्रसर हो रहा था। चैत्यवासी मठाधिपति बन चुके थे। वे कई राजाओं के गुरु थे; कई के यहाँ उनका अच्छा सम्मान था। जैन मंदिरों के अधिकार में संपत्ति

दौड़ी चली आ रही थी। चैत्यवासी इस देवद्रव्य का अपने लिये प्रयोग करने लगे थे। तांबूलभक्षण, कोमल शय्यासंवाराङ्गणा नर्तन के द्वारा श्रावक वर्ग आमोद प्रमोद में तल्लीन रहता। कतिपय मठाधिपति इतने मूर्ख थे कि वे धर्म विषयक प्रश्न करने पर श्रावकों को यह कहकर बहकाने का प्रयत्न करते कि यह तो रहस्य है, इसे समझना तुम्हारे लिये अनावश्यक है। गुरु की आज्ञा का पालन ही तुम्हारा परम कर्तव्य है।

श्री हरिचंद्र सूरि ने इस अधोगामिनी प्रवृत्ति पर चोट की थी। खरतरगच्छ ने इसके समुन्मूलन का प्रयत्न किया। जैन साधुओं को अपने विहार और चतुर्मासादि में कहीं न कहीं ठहरने की आवश्यकता पड़ती। चैत्यवासियों के कथनानुसार चैत्य या चैत्यसंपत्ति ही इसके लिये उपयुक्त थी। साधुओं का गृहस्थों के स्थान में ठहरना ठीक न था। बात कुछ युक्तियुक्त प्रतीत होती थी; और इसी एक सामान्य सी युक्ति के आधार पर चैत्यवासी मठाधिपतियों ने लाखों की संपत्ति बना डाली। वे उसका उपयोग करते, उसके प्रबंध में अपना समय व्यतीत करते। वे प्रायः यह भूल चुके थे कि 'अपरिग्रह' जैनधर्म का मूल सिद्धांत है। कोई भी प्रवृत्ति जो इसके प्रतिकूल हो वह जैनधर्म के विरुद्ध है। श्री महावीर स्वामी इसीलिये अपने धर्म-विहार के समय अनेक बार गृहस्थों की वस्तियों (घरों) में ठहरे थे। इसी तीर्थंकरीय पद्धति को अपनाना खरतरगच्छ को अभीष्ट था। इसी कारण वे वसतिवासी के नाम से भी प्रसिद्ध हुए।

चैत्यवासियों की तरह वसतिवासी भी मंदिरों में पूजन करते। किंतु उन्होंने मंदिरों से पुरानी कुरीतियों को दूर करने का बीड़ा उठाया था। ईसाई धर्म के प्यूरीटन (Puritan) संप्रदाय से हम इनकी किसी हद तक तुलना कर सकते हैं। वे हर एक ऐसी रीति के विरुद्ध थे जो जैन सिद्धांतानुमोदित न हो और विशेषकर उन रीतियों के जिनसे श्रावकों के नैतिक पतन की आशंका थी। मंदिर प्रार्थना के स्थान थे। उनमें घरबार की बातें करना, होड़ लगाना, या वेश्याओं को नचाना वास्तव में पाप था। "नवयौवना स्त्रियों का नृत्य श्रावकों को प्रिय था, किंतु उससे श्रावकों के पुत्रों का नैतिक पतन होता और कालांतर में वे धर्मभ्रष्ट होते[१]।" इसलिये विधिचैत्य में यह वर्जित किया गया। विरुद्ध राग, विरुद्ध वाद्य और रासनृत्य के कुछ प्रकारों

१ उपदेशरसायन रास, ३३

के विरुद्ध भी इसी कारण आवाज उठानी पड़ी। रात्रि के समय विधिचैत्यों में तालियाँ बजाकर रास न होता और दिन में भी स्त्रियाँ और पुरुष मिलकर डांडिया रास न देते[1]। चर्च्चरी में तो इसके सर्वथा वर्जन का भी उल्लेख है। धार्मिक नाटकों का अवश्य यहाँ प्रदर्शन हो सकता था; इनके मुख्य पात्र अंततः संसार से विरक्त होकर प्रव्रज्या ग्रहण करते दिखाए जाते।

विधिचैत्यों में रात्रि के समय न नांदी होती, न तूर्यरव। रात्रि के समय रथभ्रमण निषिद्ध था। देवताओं को न झूले में झुलाया जाता, न उनकी जलक्रीड़ा होती[2]। माघमाला भी प्रायः निषिद्ध थी[3]। विधिचैत्यों में श्रावक जिनप्रतिमाओं की प्रतिष्ठा न करते, रात्रि के समय युवतियों का प्रवेश निषिद्ध था। वहाँ श्रावक न तांबूल लेते और न खाते, न अनुचित भोजन था और न अनुचित शयन। वहाँ न संक्रांति मनाई जाती, न ग्रहण और न माघमंडल। मूल प्रतिमा का श्रावक स्पर्श न करते, जिनमूर्तियों का पुष्पों से पूजन होता, पूजक निर्मल वस्त्र धारण करते। रजस्वला स्त्रियाँ मंदिर में प्रवेश न करतीं। संक्षेप में यही कहना उचित होगा कि श्री जिनवल्लभसूरि जिनदत्त सूरि, अभयदेवसूरि आदि खरतरगच्छ के अनेक आचार्यों ने अपने समय में उत्सूत्रविधियों को बंद करने का स्तुत्य प्रयत्न किया था। यही विधिचैत्य आंदोलन क्रमशः अन्य गच्छों को प्रभावित करता गया और किसी अंश तक यह इसी आंदोलन का प्रताप है कि उत्तर भारत में राजाश्रय प्राप्त होने पर भी जैनधर्म अवनत न हुआ और उसके साधुओं का जीवन अब भी तपोमय है[4]।

जैन तीर्थों और प्रतिष्ठाओं के रासों में अनेकशः वर्णन हैं। तीर्थ दर्शन और पर्यटन की उत्कट भावना उस समय के धार्मिक जीवन का एक विशेष अंग थी। मनुष्य सोचते कि यह देह असार है। इसका साफल्य इसी में है कि तीर्थपर्यटन किया जाय। इसी विचार से थोड़ा सा सामान ले, यात्री सार्थ में संमिलित हो जाते और मार्ग में अनेक कष्ट सहकर तीर्थों के दर्शन करते[5]। तीर्थोद्धार एक महान कार्य था, रासादि द्वारा कवि और

---

१ वही, ३६

२ चर्च्चरी, १६

३ उपदेशरसायन, ३६ चर्च्चरी, १६

४ विशेष विवरण के लिये हमारे 'प्राचीन चौहान राजवंश' में विधिचैत्य आंदोलन का वर्णन पढ़ें।

५ देखिए—'चर्चरिका', पृष्ठ २०३–५

आचार्य तीर्थोद्धारक व्यक्ति की कीर्ति को चिरस्थायी बनाने का प्रयत्न करते। रेवंतगिरि रास, नेमिनाथ रास, आबू रास, कछूली रास, समरा रास आदि की रचना इसी भावना से अनुप्राणित है। जीवदया रास में ये तीर्थ मुख्य रूप से गणित हैं—(१) अष्टापद में ऋषभ (२) शत्रुंजय पर आदिजिन (३) उज्जयंत पर नेमिकुमार (४) सत्यपुर में महावीर (५) मोदेरा (६) चंद्रावती (७) वाराणसी (८) मथुरा (९) स्तंभनक (१०) शंखेश्वर (११) नागहृद (१२) फलवर्द्धिका (१३) जालोर में 'कुमार विहार'।

अन्य धर्मों के विषय में इन रासों में अधिक सामग्री नहीं है। सरस्वती का अनेकशः वंदन है, किंतु यह तो जैन अजैन सभी भारतीय संप्रदायों की आराध्य देवी रही हैं। संदेशरासक में एक स्थान पर (पृष्ठ ३६, ८६) कापालिक और कापालिकाओं का सामान्य वर्णन है। उनके बाँए हाथ में कपाल होता है, वे खट्वांग धारण करते, समाधि लगाते और शय्या पर न सोते। उस समय के शिलालेखों से भी हमें राजस्थान में उनकी सत्ता के विषय में कुछ ज्ञात होता है[1]। आसिग के जीवदया रास में चामुंडा का नाम मात्र है (पृ० ९७, ३७)। आबू रास में आबू की प्रसिद्ध देवी श्रीमाता और अचलेश्वर के नाम वर्तमान हैं (पृ० १२२-६)। शकुन और अपशकुन में लोगों को विश्वास था। शालिभद्र सूरि ने अनेक अपशकुन गिनाए हैं। जब भरत का दूत बाहुबलि के पास चला, काली बिल्ली रास्ता काट गई और गधा दाहिनी ओर आया। उल्लू दाहिनी ओर धूत्कार करने लगा। गीदड़ बोले। काले सांप के दर्शन हुए। बुझे अंगारे सामने आए (भरतेश्वर बाहुबलिरास, पृष्ठ ६६)। इसी तरह शुभ शकुन भी अनेक थे (देखें पृष्ठ १९८, ४६, ४७)।

इस्लाम का प्रवेश रासकाल के मध्य में रखा जा सकता है। संदेश-रासक एक मुसलमान कवि की रचना है। रणमल्लछंद के समय मुसलमान उत्तर भारत को जीत चुके थे। समरा रासो उस समय की कृति है जब खिलजी साम्राज्य रामेश्वर तक पहुँच चुका था। तत्कालीन मुसलमानी इतिहासों से केवल धार्मिक विद्वेष की गंध आती है। किंतु राससंसार से प्रतीत होता है कि अत्याचार के साथ साथ सहिष्णुता भी उस समय वर्तमान थी। यह विषय अधिक विस्तार से गवेषणीय है।

---

१ 'प्राचीन चौहान राजवंश' में 'राजस्थान के धर्म और संप्रदाय' नाम का अध्याय देखें।

रासकाल की धर्मविषयक कुछ बातें अत्यंत अच्छी थीं। भारत की अमुस्लिम जनता, चाहे वह जैन हो या अजैन, अपने को हिंदू मानती। जब शत्रुंजयतीर्थ के मंदिरों को खिल्जियों ने तोड़ डाला तो अलप खाँ से निवेदन किया गया कि हिंदू[1] लोग निराश होकर भागे जा रहे हैं (पृ० २३३-३), और फरमान लेकर जैन संघ शत्रुंजय ही नहीं, सोमनाथ भी पहुँचा। संघ ने शिवमंदिर पर महाध्वज चढ़ाया और अपूर्व उत्सव किया। रास्ते में इसी प्रकार जैनसंघ ने ही नहीं, महेश्वरभक्त महीपाल और मांडलिक जैसे क्षत्रिय राजाओं ने भी उसका स्वागत किया। यह सद्भाव की प्रवृत्ति उस समय की महान् देन है[2]।

ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध विद्वान् सर्वतंत्रस्वतंत्र कहे जा सकते हैं। उनका अध्ययन गंभीर और व्यापक होता था। जिनवल्लभ 'षड्-दर्शनों को अपने नाम के समान जानते' (पृ० १७-२)। चित्तौड़ में उनके विद्यार्थीवर्ग में जैन और अजैन समान रूप से संमिलित थे और वैदिक धर्मानुयायी राजा नरवर्मा के दरबार में उन्होंने प्रतिष्ठा प्राप्त की थी[3]। जैन और अजैन विद्वान् आठवीं से तेरहवीं शताब्दी तक जिन विषयों और पुस्तकों का अध्ययन करते थे उनका श्रीमद्विजयराजेन्द्र सूरि ग्रंथ के पृष्ठ ६४१-८६६ में प्रकाशित हमारे लेख से सामान्यतः ज्ञान हो सकता है। राससंग्रह में इसकी सामग्री कम है।

काल और क्षेत्र के अनुसार हमारे आदर्श बदला करते हैं। विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में हम किन बातों को ठीक या बेठीक समझते थे इसके विषय में हम शालिभद्र सूरि रचित 'बुद्धिरास' (पृष्ठ ८५-९०) से कुछ जानकारी कर सकते हैं। उसके कई बोल 'लोकप्रसिद्ध' थे और कई गुरु उपदेश से लिए गए थे। चोरी और हिंसा अधर्म थे। अनजाने घर में वास, दूसरे के घर में गोठ, अकेली स्त्री के घर जाना, ऐसे वचन कहना जो निभ

---

१ नाभिनन्दनोद्धार ग्रंथ में भी इस प्रसंग में 'हिंदुक' शब्द का प्रयोग है।

२ राजस्थान में इस प्रवृत्ति के ऐतिहासिक प्रमाणों के लिये 'प्राचीन चौहान राजवंश' नामक ग्रंथ पढ़ें।

३ इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, सन् १९५०, पृ० २२३ पर खरतरगच्छपट्टावली पर हमारा लेख पढ़ें।

न सकें, बड़ों को उत्तर देना—ये बातें ठीक न थीं। चुगली और दूसरों का रहस्योद्घाटन बुरी बातें थीं। किसी से सूद पर ऋण लेकर दूसरे को ब्याज पर देना अनर्थकर समझा जाता। झूठी साक्षी देना पाप, और कन्या को धन के लिये बेचना बुरा था। मनुष्य का कर्तव्य था कि वह अतिथि का सत्कार करे और यथाशक्ति दान दे। धर्मवृद्धि के लिये ये बातें आवश्यक थीं—

(१) मनुष्य ऐसे नगर में रहे जहाँ देवालय और पाठशाला हों।
(२) दिन में तीन बार पूजन और दो बार प्रतिक्रमण करें।
(३) ऐसे वचन न बोले जिनसे कर्मबंधन न हो।
(४) नापने में कुछ अधिक दे, कम नहीं।
(५) राजा के आगे और जिनवर के पीछे न बसे।
(६) स्वयं हाथ से आग न दे।
(७) घरबार में नृत्य न कराए।
(८) न्याययुक्त व्यवहार करे।

ऐसे अन्य कई और उपदेश बुद्धिरास में हैं। जीवदयारास में विशेष रूप से दया पर जोर दिया गया है। दया परमधर्म है और धर्म से ही संसार की सब इष्ट वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। मनुष्य इन तीर्थों का पर्यटन कर इस धर्म का अर्जन करे।

सामाजिक स्थिति

(१) वर्णव्यवस्था इस युग में पूर्णतया वर्तमान थी। परंतु रास काव्य में इसका विशेष वर्णन नहीं है। भरतेश्वर बाहुबलि रास में चक्री शब्द को चक्रवर्ती और कुम्हार के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। हरिश्चंद्र के डोम के घर में कार्य का भी एक जगह वर्णन है (६६, ३४) गंधर्व, भोज, चारण और भाट अकबर के समय धनी वर्ग को स्तुति आदि से रंजित कर अपना जीविकार्जन करते। चौदहवीं शताब्दी के रणमल्ल छंद में हमें राजपूती छटा के दर्शन होते हैं।[1]

जीवन में सुख और दुःख का सदा संमिश्रण रहा है। राससंसार में हमें सुखांश का कुछ अधिक दर्शन होता है और दुःख का कम। 'फागु'

[1] सन् ८०० से १३०० तक के लोकजीवन के लिये 'प्राचीन चौहान राजवंश' का 'समाज' शीर्षक अध्याय पढ़ें।

वसंतोत्सव का सुंदर चित्र प्रस्तुत करते हैं। वसंत से प्रभावित होकर स्त्रियाँ नये श्रृंगार करती[1]। वे शिर पर मुकुट, कानों में कुंडल, कंठ में नौसर हार, बाहों पर चूड़ा और पैरों में झनकार करनेवाले नूपुर धारण करतीं। (१३१. ५) उनके कंठ मोतियों की माला से शोभित होते, मांग सिंदूर और मोतियों से भरी जाती, छाती पर सुंदर कंचुक और कटि पर किंकिणी-युक्त मेखला होती (पृष्ठ १६८-२००)। उनके पुष्पयुक्त धम्मिल्ल और कवरी विन्यास की शोभा भी देखते ही बनती थी। मार्ग उनके नृत्य से शब्दाय-मान होता। कदलीस्तंभों से तोरणयुक्त मंडपों की रचना होती। बावड़ियों में कस्तूरी और कपूर से सुवासित जल भरा जाता। केसर का जल चारो ओर छिड़का जाता और चंपकवृक्ष में झूले डाले जाते (१६५. ८-१०)। शरद् ऋतु में स्त्रियाँ मस्तक पर तिलक लगातीं और शरीर को चंदन और कुंकुम से चर्चित कर भ्रमण करतीं। उनके हाथ में क्रीड़ापत्र होते और वे दिव्य एवं मनोहर गीत गातीं। अश्वशालाओं और गोशालाओं में वे भक्ति-पूर्वक गौओं और घोड़ों का पूजन करतीं। स्त्री पुरुष तालाबों के किनारे भ्रमण करते, घरों में आनंद होता। पटह बजते, गीत गाए जाते, लड़के गोल बाँधकर बाजारों में घूमते। इसी महीने में दीवाली मनाई जाती। उन्हीं दीपों से कज्जल भी तैयार होता। वे शरीर पर केसर लगातीं, सिर को पुष्पों से सजातीं, मुख पर कर्पूररज होता। सरदी में चंदन का स्थान कस्तूरी को मिलता। अगर की धूप दी जाती। शिशिर में स्त्रियाँ कुंदचतुर्थी का त्योहार मनातीं। माघ शुक्ल पंचमी के दिन वे अनेक दान देतीं। विवाहोत्सव में तोरण, वंदनवार और मंगलकलश की शोभा होती, वर को कुंडल, मुकुट, हारादि से भूषित किया जाता। सिर पर छत्र होता, मृग-नयनी स्त्रियाँ छत्र डुलातीं, वर की बहनें लवण उतारतीं और भाट जय-जयकार करते। वधू का श्रृंगार तो इससे भी अधिक होता। शरीर चंदन लेप से और अधिक धवल हो जाता, चमेली के पुष्पों से खुंप भरा जाता। नवरंग कुंकुम तिलक और रत्नतिलक होता। आँखों में काजल की रेखा, मुँह में पान, गले में रत्नयुक्त हार और खिले फूलों की माला, मरकतयुक्त कंचुक, हाथों में खनकनेवाला मणिवलय आलक्तक होता (१८०-१८१) दावत के लिये भी पूरी तैयारी की जाती।

---

१ विरह के समय धम्मिलादि केश विन्यास वर्जित थे (देखें, संदेश रासक २५)

रास नृत्य प्रायः सब उत्सवों में होता। रास की जनप्रियता इसी से सिद्ध है कि उत्सूत्र विधियों के परम विरोधी आचार्यों तक ने इसे उपदेश का साधन बनाया। श्रीजिनदत्त सूरि ने रास लिखा और चर्चरी भी। इसकी तुलना उन उपदेशों से की जा सकती है जिन्हें कई वर्तमान सुधारक होली और वसंत के रागों द्वारा जनता तक पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं। श्री जिनदत्त सूरि ने केवल आमोद प्रमोद के लिये रचित नाटकों का अभिनय विधिचैत्यों में बंद किया। चैत्यों में ताल और लकुट रास का भी निषेध किया गया। किंतु इनका यह निषेध ही इस बात का प्रमाण है कि मंदिरों में रास और नाटक हुआ करते थे। खरतरगच्छ के विधिचैत्यों में ये प्रथाएँ शायद किसी हद तक बंद हो गईं। किंतु आचार्यों का किसी नगर में जब प्रवेशोत्सव होता तो स्त्रियाँ गातीं और ताल एवं लकुट रास होते[1]। नगर की स्त्रियाँ भरत के भाव और छंदों के अनुसार नर्तन करतीं, गाँव की स्त्रियाँ ताल के सहारे (२८-१५)। नागरिक तंत्रीवाद्य का आनंद लेते। सामान्य स्त्रीनृत्यों में मर्दल् और करटी वाद्य बजते। सामोर नगर में चतुर्वेदी जहाँ वेदार्थ का प्रकाश करते, वहीं बहुरूपियों द्वारा निबद्ध रास भी सुनाई पड़ते (३१-४१)। अनेक नाटक भी होते। जिनके पति घर पर होते, वे स्त्रियाँ शरद ऋतु में विविध भूषा से सुसज्जित होकर रास रमण करतीं (४७-१६६-१६६)। वसंत में वे ताल देकर चर्चरी का नर्तन करतीं (६४-११६)। जीवदया रास में नट-प्रेक्षणक का नाम आया है (६४-११)। प्रेक्षणक भी एक उपरूपकविशेष था जिसके विषय में हम अन्यत्र लिख रहे हैं[2]। रेवंतगिरि रास में विजयसेन सूरि का कथन है कि जो कोई उसे रंगमंच पर खेलते हैं उनसे नेमिजिन प्रसन्न होते हैं और अंबिका उनके मन की सब इच्छाओं को पूर्ण करती हैं (११४-२०)। गजसुकुमार रास के रचयिता की यह भावना थी कि जो उस रास को देखता या पढ़ता है उसे शिवसुख की प्राप्ति होती है (१२०-२४)। कछूलीरास वि० सं० १३६३ में निर्मित हुआ। उसके अंतिम पद्य से स्पष्ट है कि ये धार्मिक रास जैनमंदिरों में गाए जाते और अभिनीत होते थे (पृ० १३७)। स्थूलिभद्र फाग में खेल और नाचकर फाग के रमण का उल्लेख और अधिक स्पष्ट है (पृ० १४३)। वसंतविलास में रास का

---

१ इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली में हमारा उपरिनिर्दिष्ट लेख देखें।

२ मरुभारती, वर्ष ५, अंक २

तीन बार उल्लेख है (१६६.१५; १६६.५४; २००.७०)। दीव में समरा द्वारा नवरंग 'जलवट नाटक' और 'रास लउडरास' देखने का उल्लेख है (पृ० २४०. ४)। समरारास भी तत्कालीन अन्य रासकाव्यों की तरह पाठ्य, मननीय और नर्त्य था[1] ।

रास की रचना इसके बाद भी होती रही। अभिनय परंपरा भी चलती रही (३०५. ७४)। किंतु जैन समाज में उसकी उपदेशमयी वृत्ति के कारण रास ने क्रमशः श्रव्य प्रबंधों का रूप धारण किया। इस संग्रह का पचपांडव रास इसी श्रेणी का है। उसका रचयिता इसके नर्तन का उपदेश नहीं करता है। वह केवल लिखता है—

पंडव तणउ चरी तु जो पठए जो गुणइ संभलए।
पाप तणउं विणासु तसु रहइ ए हेला होइसि ए॥

इसका दूसरा रूप उन वीररसप्रधान काव्यों का है जिसका कुछ संग्रह इस ग्रंथ में है। किंतु विशेष ध्यान देने की बात यह है कि इस अभिनेयता को जनता नें नहीं भुलाया। गुजरात ने उसे नरसी जैसे भक्तों के पदों में रखा। जनता उन्हें गाती और नर्तन करती। और सब अभिनय भूलने पर भी कृष्ण और गोपी भाव को नर्तक और गायक नहीं भुला सके।

व्रज में भी कृष्णचरित अभिनयन, गान और नर्तन का मुख्य विषय बना। यह प्रवृत्ति गुजरात की देन हो सकती है। किंतु यह भी बहुत संभव है कि व्रज का रास गीतगोविंद से प्रभावित हुआ हो। गीतगोविंद का प्रभाव अत्यंत व्यापक था। इसपर तीस टीकाएँ मिल चुकी हैं। उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम, सभी दिशाओं में उसका प्रभाव था। व्रज में रास अब तक अपने प्राचीन रूप में वर्तमान है। सभी प्रवृत्तियों को देखते हुए कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि रास अब अपने मूलभूत त्रितत्वों में विलीन हो गया है—गुजरात में वह गरबा नृत्य में, व्रज में रासलीला के रूप में और राजस्थान एवं हरियाना में वह स्वाँग आदि के रूप में ही रह गया है।

गृहस्थ जीवन प्रायः सुखी था किंतु सपत्नीद्वेष से शून्य नहीं। प्रवास सामान्य सी बात नहीं थी। पति को वापस आने में कभी कभी बहुत समय

---

१ एहु रासु जो पढ़इ, गुणइ, नाचिउ, जिणहरि देइ।
श्रवणि सुणइ सो बयठऊ ए तीरथ ए तीरथ जात्र फलु लेई॥ (पृ० २४२. १०)

लग जाता। इस तरह पति पत्नी का हमारे साहित्य में अनेक स्थलों पर वर्णन है।

रास साहित्य से तत्कालीन आर्थिक अवस्था पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है। देश दरिद्र नहीं प्रतीत होता; कम से कम धार्मिक भावना से प्रेरित होकर अर्थव्यय करने की उसमें पर्याप्त शक्ति थी। रेल और मोटर के न होने पर भी लोगों ने दूर दूर जाकर धनार्जन किया था। समरा रास के नायक समरा के पूर्वज पाल्हणपुर के निवासी थे। समरा ने गुजरात में अलप खाँ की नौकरी की। इसके बाद दक्षिण में वह गयासुद्दीन और उसके पुत्र का विश्वासपात्र रहा[1]। समरा का बड़ा भाई सहजपाल देवगिरि में वाणिज्य करता था। उसने वहाँ श्रीपार्श्वनाथ की प्रतिमा स्थापित की थी। दूसरा भाई साहणपाल खंभायत नगर में सामुद्रिक व्यापार करता। इससे स्पष्ट है कि 'तातस्य कूपोऽयम्' कहकर खारजल पीने की वृत्ति इस वर्ग में न थी। उपदेशरसायन की बहुत सी उपमाएँ सामुद्रिक जीवन से ली गई हैं (पृष्ठ २-३) और तत्कालीन ग्रंथों में समुद्रयात्रा का बहुत अच्छा वर्णन है[2]।

आर्थिक स्थिति

देश में अनेक नगर थे। अणहिलपाटन, सामोर, जालौर, पाल्हणपुर और कच्छूली आदि का इन रासों में अच्छा वर्णन है। प्रायः सब बड़े नगरों के चारों ओर प्राकार और वप्र होते, खाई भी रहती। कई दुर्गों में एक के बाद दूसरी दीवारें होतीं, ऐसे दुर्ग शायद त्रिगढ़ कहलाते (पृ० ६७-६८)। गली, बाजार, मंदिर, कूप, धवलगृह, बाग और कटरे तो सब में होते ही थे[3]। नगरों के साथ ही गाँव भी रहते। ये स्वभावतः कृषिप्रधान रहे होंगे। किंतु हमें इनका कुछ विशेष वर्णन नहीं मिलता।

यात्राओं के वर्णन से हम वाणिज्य के स्थलमार्गों का अनुमान लगा सकते हैं। अणहिलपाटण से शत्रुंजय जाते समय संघ सेरीसा, क्षेत्रपाल, धोल्का, पिपलाली और पालिताना पहुँचा। उसके आगे का रास्ता अमरेली, जूना, तेजलपुर और उज्जयंत होता हुआ सोमेश्वर देवपत्तन जाता। वहाँ से

१ देखें, न्यू लाइट आन अलाउद्दीन खिलजीज ऐचीवमेंट्स, प्रोसीडिंग्ज ऑफ दी इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस, १९५४, पृ० २४०

२ देखें 'प्राचीन चौहान राजवंश' में आर्थिक जीवन संबंधी अध्याय।

३ देखें 'राजस्थान के नगर और ग्राम' राजस्थान भारती, भाग ३, अंक १

लोग द्वीव और अजाहरि जाते। मुगलकाल में गुजरात से लाहौर का मार्ग मेहसाणा, सिंदूपुर, शिवपुरी, पाल्हणपुर, सिरोही, जालोर, विक्रमपुर, रोहिठ, लांबिया, सोजत, बिलाड़ा, जैतारण, मेड़ता, फलोधी, नागोर, पड़िहारा, राजलदेसर, रीणी, महिम, पाटणसर, कसूर और हापाणा होता हुआ गुजरता।

देश भोजनसामग्री से परिपूर्ण था। आनंद के साधनों की भी उसमें कमी न थी।

संग्रह के अनेक रासों से उस समय के राजनीतिक जीवन और राज्य-संगठन का भी हमें परिचय मिलता है। कैमासवध में चौहान राज्य की अवनति का एक कारण हमारे सामने आता है। पृथ्वीराज के दो व्यसन थे, एक आखेट और दूसरा शृंगारिक जीवन। दोनों से राज्य को हानि पहुँची।

राजनीतिक स्थिति

कैमास या कदंबवास जाति का दाहिमा राजपूत पृथ्वीराज का अत्यंत विश्वस्त मंत्री था। पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर की मृत्यु के बाद राज्य को बहुत कुछ उसी ने सँभाला था। पृथ्वीराज अपनी आखेटप्रियता के कारण राज्य की देखभाल न कर सका, तो कैमास ही सर्वेसर्वा बना। राजभक्त होने पर भी वह संभवतः अन्य वासनाओं से शून्य न था उसके वध की कथा (जिसका सामान्यतः प्रसंग के परिचय में निर्देश है) मूल अपभ्रंश 'प्रिथीराज रासउ' का अंग रही होगी। अनेक वर्ष पूर्व 'राजस्थान भारती' में हम यह प्रतिपादित कर चुके हैं कि 'पुरातन प्रबंध संग्रह' में उद्धृत पद्य साकांक्ष हैं। उन्हें फुटकर छंद मानना ठीक नहीं है। हमें इस बात की प्रसन्नता है कि डॉ० माताप्रसाद गुप्त भी अब इसी निर्णय पर पहुँचे हैं।

जयचंद्र विषयक पद्य कवि जल्ह की कृति है। किंतु उनकी रचना भी प्रायः उसी समय हुई होगी। पृथ्वीराजरासो से उद्धृत यज्ञविध्वंस का विचार हम इन छप्पयों के साथ कर सकते हैं। इसमें संदेह नहीं है कि जयचंद्र अपने समय का अत्यंत प्रतापी राजा था। उसकी सेना की अपरिमेयता के कारण उसे 'लगदल पंगुल' कहते थे और इसी अपरिमेयता का वर्णन जल्ह कवि ने जोरदार शब्दों में किया है। पृथ्वीराज और जयचंद्र साम्राज्यपद के लिये प्रतिद्वंद्वी थे। दोनों ने अनेक विजय भी प्राप्त की थीं। रासो के कथनानुसार जयचंद्र ने राजसूययज्ञ द्वारा अपने को भारत क

सम्राट् घोषित करने का प्रयत्न किया। 'पृथ्वीराजविजय' से हमें ज्ञात है कि वह अपने को भारतेश्वर मानता था। इसलिये इसमें आश्चर्य ही क्या कि उसने जयचंद्र के राजसूययज्ञ का विरोध किया। उद्धृत अंश में चौहानों के इस विरोध का अच्छा वर्णन है। कन्नौज और दिल्ली का यह विरोध भारत के लिये कितना घातक सिद्ध हुआ यह प्रायः सभी जानते हैं। पृथ्वीराज के अन्य दो विरोधी भी थे, महोबे के परमर्दी या परमाल और गुजरात के राजा भीम। इन दोनों से संघर्ष की ,कल्पनारंजित कथा अब भी 'पृथ्वीराज-रासो' में प्राप्त है।

संयोगिता स्वयंवर और संयोगिता को कुछ विद्वानों ने कल्पित माना है। किंतु जिन प्रमाणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है वे स्वयं आधारशून्य हैं, यह हम अन्यत्र (राजस्थान भारती) प्रतिपादित कर चुके हैं। रासो की ऐतिहासिकता का संयोगिता की सत्ता से बहुत अधिक संबंध है। इसलिये हम उस लेख को यहाँ अविकल रूप से उद्धृत करते हैं (देखें राजस्थान भारती के पहले वर्ष का दूसरा अंक, पृ० २४-२५)।

इस संग्रह के अनेक रास इसी संघर्षयुग के हैं। उनमें ओज है और स्फूर्ति भी। संदेशरासक भी प्रायः इसी समय की कृति है। इसका कर्ता अब्दुररहमान नवागंतुक मुसलमान नहीं है। वह उतना ही भारतीय है जितने उस देश के अन्य निवासी। रास के आरंभ में उसने अपना नाम न दिया होता तो हमें यह ज्ञात ही न होता कि वह हिंदू नहीं है। इन बातों को और इसके अपभ्रंश के रूप को ध्यान में रखते हुए शायद यही मानना संगत होगा कि वह पश्चिमी भारत के किसी पुराने मुसलमान नागरिक की कृति है। जीवदयारास, बुद्धिरासादि उस समाज की कृति हैं जिसमें कवित्व की स्फूर्ति आपेक्षिक दृष्टि से कम थी।

संवत् १२४६ में पृथ्वीराज चौहान की पराजय के बाद भारत का स्वातंत्र्यसूर्य अस्त होने लगा। इस संधिकाल का कोई ऐतिहासिक रास इस संग्रह में नहीं है। जनता को अपने पराजय के गीत गाने में आनंद भी क्या आता? अलाउद्दीन खिल्जी के समय जब प्रायः समस्त उत्तरी भारत मुसल-मानों के हाथों में चला गया और मुसलमानी सेनाएँ दक्षिण में रामेश्वर और कन्याकुमारी तक पहुँच गईं तब समरारास की रचना हुई। हिंदू पराजित होकर अपने मुसलमान शासकों से मानो हीनसंधि करने के लिये

उद्यत थे। धर्म और संस्कृति की रक्षा का साधन अब शास्त्र नहीं था। कवि को इसीलिये लिखना पड़ा—

> भरह सगर हुइ भूप चक्रवति त हूअ अतुलबल।
> पंडव पुहवि प्रचंड तीरथु उधरइ अवि सबल ॥ ४ ॥
> जावड तणउ संजोग हूअउं सु दूसम तव उदए।
> समइ भलेरइ सोइ मंत्रि वाहडदेव उपनए ॥ ५ ॥
> हिव पुण नवीयज बात जिणि दीहाडइ दोहलिए।
> खत्रिय खग्गुन लिंति साहसियह साहसु गलए ॥ ६ ॥
> तिणि दिणि दिनु दिखा उ समरसीह जिणधम्मवणि।
> तसु गुण करउं उद्योउ जिम अंधारउ फटिकमणि ॥ ७ ॥

सीधे शब्दों में इसका यही मतलब है कि दंड शक्तिहीन हिंदुओं को सशस्त्र युद्ध के अतिरिक्त अपनी रक्षा का और ही उपाय सोचना था। अलाउद्दीन चतुर राजनीतिज्ञ था। उसने गुजरात में हिंदू मंदिरों को नष्ट कर इस्लाम की विजय का डंका बजाया किंतु साथ ही उसने ऐसे प्रांतीय शासक की नियुक्ति की जो हिंदुओं को प्रसन्न रख सके। इसलिये कवि ने अलपखान के लिये लिखा है—

> पातसाहि सुरताण भीवु तहिं राजु करेई।
> अलपखानु हींदूअह लोय घणु मानु जु देई ॥ पृ० २३२.९
> साहु रायदेसलह पूतु तसु सेवइ पाय।
> कलाकरी रंजविउ खान बहु देइ पसाय ॥ पृ० २३२.१०

इसी अलपखाँ से फरमान प्राप्त कर समर ने शत्रुंजयादि के तीर्थों का उद्धार किया। अलाउद्दीन ने दिल्ली तक में हिंदुओं को अच्छे स्थान दिए थे। उसकी टंकशाला का निरीक्षक जैनमतावलंबी ठक्कुर फेरु था जिसके अनेक ग्रंथों पर इतिहासकारों का ध्यान अब तक पूरी तरह नहीं पहुँचा है। अलाउद्दीन की मृत्यु के बाद प्रथम दो तुलक सुलतानों ने भी इस नीति का अनुसरण किया।

तुगलक राज्य के अंतिम दिनों में अवस्था बदलने लगी। इधर उधर की अराजकता से लाभ उठाकर हिंदू राजा फिर स्वतंत्रता का स्वप्न देखने लगे। ईडर कोई बहुत बड़ा राज्य न था। किंतु उसके शूरवीर राजा रणमल्ल

ने मुसलमानों के दाँत खट्टे कर दिए। रणमल्ल छंद के रचयिता श्रीधर को अपने काव्यनायक के शौर्य पर गर्व था। वह न होता तो मुसलमान गुजराती राजाओं को बाजार में बेच डालते—

"यदि न भवति रणमल्लः प्रतिमल्ल; पातशाहकटकानाम्।
विक्रीयन्ते धराडैर्बाजारे गुर्जरभूपाः" ॥ ७ ॥

किंतु रणमल्ल भी न रहा। कान्हडदे और हम्मीर जैसे वीर जिनके यशोगान में कान्हडदे प्रबंध और हम्मीर महाकाव्य आदि ग्रंथ लिखे गए, इससे पूर्व ही अस्त हो चुके थे।

हिंदुओं ने अपना स्वातंत्र्ययुद्ध चालू रखा। किंतु इस बीच के संघर्ष का ज्ञान हमें संस्कृत शिलालेखों द्वारा अधिक होता है और रासो से कम। मेवाड़वाले अच्छे लड़े, किंतु उनके शौर्य का वर्णन करने के लिये श्रीधर जैसा भाषाकवि उत्पन्न न हुआ।

सन् १५२६ में बाबर ने मुगल साम्राज्य की स्थापना की। उसके पुत्र हुमायूँ के सन् १५३० में सिंहासनारूढ़ होने पर, मुगल केंद्रीय सत्ता कुछ दुर्बल पड़ गई। उसके भाइयों ने इतस्ततः अपनी शक्ति बढ़ाने और स्वतंत्र होने का प्रयत्न किया। कामरान पंजाब और काबुल का स्वामी बन बैठा। उसने राजस्थान पर आक्रमण कर बीकानेर आदि राजस्थान के भूभागों का स्वामी बनने का प्रयत्न किया किया। बीकानेर के सं० १५६१ (सन् १५३४ ई०) के शिलालेख से सिद्ध है कि उसने बीकानेर तक पहुँचकर वहाँ के प्रसिद्ध श्री चिंतामणि जी के मंदिर की मूर्ति को भग्न किया था। किंतु दुर्ग बीकानेर राज्य के संस्थापक बीका जी के पौत्र जैतसी के हाथ में ही रहा। रात के समय जब मुगल सेना अपनी विजय से मस्त होकर आराम कर रही थी, राव जैतसी और उसके सरदारों ने मुगल शिविर पर आक्रमण किया। मुगल परास्त हुए। उनकी बहुत सी युद्धसामग्री और छत्रादि चिह्न राजपूतों के हाथ आए। इस विजय से बीकानेर ही नहीं, समस्त राजस्थान भी कुछ समय के लिये मुगलों के अधिकार से बच गया।

इस शानदार विजय का बीकानेर के कवियों ने अनेक काव्यों और कविताओं में गान किया। सूजा नगर जोत का "छंद राउ जइतसी रउ" डॉ० टैसीटरी द्वारा संपादित होकर प्रकाशित हो चुका है। उसी समय

का एक और काव्य श्री अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर, में है। इस संग्रह में प्रकाशित रास को प्रकाश में लाने का श्रेय श्री अगरचंद्र नाहटा को है। रास सूजा नगरकोत की रचना से शायद यह रासो कुछ परवर्ती हो।[1]

रासो के जैतसी के अश्वारोहियों की संख्या तीन हजार बतलाई है, जो ठीक प्रतीत होती है (पृ० २६२)। युद्धस्थल 'राणीबाव' के पास था (२६४)। मुगल कामिनी ने मान किया था, मरुधर नरेश (जैतसी) उसे प्रसन्न करने के लिये पहुँचा (२६६)। मल्ल जैतसी ने मुगल सैन्य को भग्न कर दिया (२६८)।

हुमायूँ को पराजित कर शेरशाह दिल्ली की गद्दी पर बैठा। शेरशाह के राठोड़ों से संबंध की कुछ गद्य रचनाएँ प्राप्त हैं। सूरवंश की समाप्ति सन् १५५५ ई० में हुई। सन् १५५६ में अकबर सिंहासन पर बैठा। उसकी राजनीतिज्ञता ने राजपूतों और अन्य सब हिंदुओं को भी उसके हितैषियों में परिवर्तित कर दिया। जैनों से उसके संबंध बहुत अच्छे थे। तपागच्छ के श्री हीरविजय सूरि ने और खरतरगच्छ के श्री जिनचंद्र सूरि ने अकबर के दरबार में बहुत प्रतिष्ठा प्राप्त की थी।

संवत् १६४८ (वसुयुगरसशशि) में इस रास की रचना हुई। अनेक कारणों से बीकानेर के मंत्री कर्मचंद बछावत को बीकानेर छोड़ना पड़ा। उसने लाहौर जाकर अकबर की सेवा की। जैन धर्म के विषय में प्रश्न करने पर कर्मचंद ने सामान्य रूप से उसके सिद्धांत बताए और विशेष जिज्ञासा के लिये अपने गुरु खरतरगच्छ के आचार्य श्री जिनचंद्र सूरि का नाम लिया। अकबर ने सूरि जी को बुला भेजा। चौमासा निकट आने पर श्री जिनचंद्र खंभपुर से रवाना हुए और अहमदाबाद पहुँचे। यहाँ फिर दूसरा फरमान मिला, और गुरु सिद्धपुर, पाल्हणपुर, शिवपुरी आदि होते जालोर पहुँचे। यहाँ चौमासा पूरा किया। फिर रोहीठ, पाली, लंबिया, बिलाड़ा, जैतारण, के मार्ग से ये मेड़ते पहुँचे। यहाँ फिर बादशाही फरमान मिला। फलौदी, नागोर, पडिहारा, राणलदेसर, रीणी, महिम, पाटलसर, कसूर और हापाणा आदि नगर और ग्राम पारकर श्री जिनचंद्र सूरि अकबर के पास पहुँचे। उन्होंने अकबर को जैन धर्म का उपदेश दिया। उसने गुरु जी को १०१ मुहर नजर की किंतु गुरु जी ने उन्हें लेने से इनकार कर दिया। अक-

---

१ इस विषय में हम अन्यत्र लिख रहे हैं।

वर काश्मीर गया और साथ में मुनि मानसिंह को भी ले गया। लाहौर वापस आकर उसने सूरि जी को युगप्रधान की पदवी दी। यहीं अकबर के कहने पर उन्होंने मानसिंह को आचार्य पदवी देकर संवत् १६४८, फाल्गुन शुक्ला द्वितीया के दिन जिनसिंह नाम दिया। उत्सव हुआ। स्त्रियों ने उल्लास में भरकर गाते हुए रास दिया (पृ० २८५)।

इससे भी अधिक लाभ हिंदूधर्म को अकबर की अमारी घोषणा से हुआ। उसने स्तंभतीर्थ के जलजंतुओं की एक साल तक हिंसा बंद कर दी। इसी प्रकार आषाढ़ादि में समयविशेष के लिये अमारी की घोषणा हुई।

तपागच्छीय श्री हरिविजय सूरि इस समय के दूसरे प्रभावक जैन आचार्य थे। शिलालेखों, काव्यों और रासों में प्राप्त उनके चरित का श्री जिनचंद्र सूरि के चरित के साथ उपयोग किया जाय, तो हमें अकबरी नीति पर जैन प्रभाव का अच्छा चित्र मिल सकता है। नागोर के श्री पद्मसुंदर के अकबरशाहिशृंगार दर्पण में इस विषय की कुछ सामग्री है। गोहत्यादि बंद करवाने में मुख्यतः जैन संप्रदाय का हाथ था। सूर्यपूजा भी अकबर ने संभवतः कुछ जैन गुरुओं से ग्रहण की थी। इस संग्रह के रासों से इनमें से कुछ तथ्यों की सामान्यतः सूचना मिल सकती है[1]।

युगप्रधान निर्वाण रास में मुगल नीति में परिवर्तन के चिह्न दिखाई पड़ते हैं। कुछ साधुओं के अनाचार से क्रुद्ध होकर जहाँगीर ने सभी साधुओं पर अत्याचार करना शुरू कर दिया था। श्री जिनचंद्र सूरि ने निर्भय होकर हिंदुओं की विज्ञप्ति जहाँगीर के सामने रखी और साधुओं को शाही कारागार से मुक्त करवाया। इस अत्याचार का विशेष विवरण भानुचंद्रगणि चरित और तुजुके जहाँगीरी से पाठक प्राप्त कर सकते हैं। श्री जिनचंद्र उस समय विशेष स्वस्थ न रहे होंगे। उन्होंने बिलाड़े में चौमासा किया। वहीं संवत् १६७० के आश्विन मास में आपने इस नश्वर शरीर का त्याग किया।

---

१ द्रष्टव्य सामग्री—

(१) श्री अगरचंद नाहटा एवं भँवरलाल नाहटा, युगप्रधान श्री जिनचंद्रसूरि
(२) वी० ए० स्मिथ-अकबर दी ग्रेट मुगल; (३) भानुचंद्रचरितादि में श्री हीरविजय सूरि पर पर्याप्त सामग्री प्रकाशित है।

विजयतिलक सूरि रास अपना निजी महत्व रखता है। श्री हीरविजय सूरि के बाद तपागच्छ में कुछ फूट के लक्षण प्रकट हुए। परंपरा में श्री हीरविजय के बाद श्री विजयसेन, विजयदेव और विजयसिंह अभिषिक्त हुए। ये सभी आचार्य अत्यंत प्रभावक थे किंतु श्री हीरविजय के गुरु श्री विजयदान के समय और फिर श्री विजयसूरि के समय उनके सहाध्यायी धर्मसागर उपाध्याय ने कुछ ऐसे मतों की स्थापना की थी जिनसे अन्य तपागच्छीय विद्वान् सहमत नहीं थे। श्री विजयदेव सूरि ने किसी अंश में श्रीधर्मसागर के मत का समर्थन किया। इसलिये गच्छ के अनेक व्यक्तियों ने इनका विरोध किया। मुगल दरबार में प्रतिष्ठित श्री भानुचंद्र इस दल में अग्रणी थे। संवत् १६७२ में श्री विजयसेन के स्वर्गस्थ होने पर इन्होंने श्रीरामविजय को विजयतिलक नाम देकर पटाभिषिक्त किया। संग्रह में उद्धृत विजयतिलक सूरिरास इस कलह के इतिहास का एक प्रकार से उपोद्घात है।

गुजरात में वीसलनगर नाम का एक नगर था। उसके साह देव जी के दो पुत्रों को श्री विजयसेन सूरि ने दीक्षित किया और उनके नाम रतनविजय और रामविजय रखे। दोनों अच्छी तरह पढ़े। दोनों को गुरु ने पंडित पद दिया। श्री विजयसेन सूरि के गुरु श्री हीरविजय के सहाध्यायी और विजयदान के शिष्य उपाध्याय धर्मसागर और राजविमल वाचक भी अच्छे पंडित थे। धर्मसागर ने परमलकुद्दाल नाम का ग्रंथ बनाया (पृ० ३११-१५६) जिसमें दूसरों के धर्मों पर अनेक आक्षेप थे। श्री विजयदान सूरि ने उस ग्रंथ को जलसात् करवा दिया। किंतु श्री धर्मसागर राजनगर जाकर अपने मत का प्रतिपादन करते रहे और अनेक व्यक्तियों ने उनका साथ दिया। श्री विजयदान सूरि ने इसके विरोध में पत्र लिखकर राजनगर भेजा। किंतु धर्मसागर के अनुयायी संदेशवाहक को मारने पीटने के लिये तैयार हुए और वह कठिनता से गुरु के पास वापस पहुँच सका। श्रीविजयदान ने अपराध के दंड में अन्य आचार्यों का सहयोग प्राप्त कर श्री धर्मसागर को बहिष्कृत कर दिया श्री धर्मसागर को लिखित क्षमा माँगनी पड़ी। संवत् १६१६ में धर्मसागर को यह भी स्वीकार करना पड़ा कि वह परंपरागत समाचारी को मान्यता देंगे। संवत् १६२२ में श्री विजयदान स्वर्गस्थ हुए। इसके बाद हीरविजय सूरि का पट्टाभिषेक हुआ और उन्होंने जयविमल को आचार्य पद दिया।

इसके आगे की कथा उद्धृत अंश में नहीं है। किंतु इसके बाद भी श्री

धर्मसागर से विरोध चलता रहा और इसी के फलस्वरूप श्री विजयसेन सूरि के स्वर्गस्थ होने पर उनके दो पट्टधर हुए। एक तो विजयतिलक और दूसरे विजयदेव जो श्री विजयसेन के समय ही, आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हो चुके थे। इनके इतिहास के लिये गुणविजयकृत विजयसिंहसूरि विजय प्रकाश रास पढ़ना आवश्यक है।

इनके बाद में भी अनेक ऐतिहासिक रासों की रचना हुई है। किंतु इस संग्रह में प्रायः सत्रहवीं शताब्दी तक के रासों को स्थान दिया गया है। रासो में अनेक ऐतिहासिक सामग्री हैं। इन सबको एकत्रित करके प्रस्तुत किया जाय तो उस समय के जीवन का पूरा चित्र नहीं तो कुछ झाँकी अवश्य हमारे सामने आ सकती है। भारत का इतिहास अब तक बहुत अंधकारपूर्ण है। उसके लिये हर एक तथ्यस्फुलिंग का प्रकाश भी उपयोगी है और इनका एकत्रित प्रकाश सर्चलाइट का न सही, दिये का तो अवश्य काम देता है।

जनभाषा का स्वरूप और रास में उसका परिचय

जनभाषा या जनबोली का क्या लक्षण है ? साहित्यिक भाषा और जन-भाषा में मूलतः क्या अंतर है ? स्कीट[1] नामक भाषाशास्त्री ने इस अंतर को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'केवल पुस्तकगत भाषा का अभ्यासी व्यक्ति जब ऐसी लोकप्रचलित भाषा सुनता है जिसकी शब्दावली एवं अभिव्यक्ति शैली से वह अपरिचित होता है और जिसकी उच्चारणध्वनि को वह समझ नहीं पाता तो वह ऐसी भाषा को जनपद की बोली नाम से पुकारता है। वह बोली यदि स्वरों एवं संयुक्त शब्दों की स्थानीय उच्चारणगत विशेषताओं को पृथक् करके लेखबद्ध बना दी जाय तो शिक्षित व्यक्ति को समझने में उतनी असुविधा नहीं प्रतीत होगी।'

जनभाषा की यह विशेषता है कि वह नवीन विचारों को प्रकट करने की सामर्थ्य बढ़ाने के लिये नवागत शब्दों को तो आत्मसात् कर लेती है किंतु अपनी मूल अभिव्यक्त शैली में आमूल परिवर्तन नहीं होने देती। जनकवि शब्द की अभिधा शक्ति की अपेक्षा लक्षणा एवं व्यंजनायें से अधिक काम लेता है। इस दृष्टि से हमारे जनकाव्यों में लाक्षणिकता का बहुल प्रयोग प्रायः देखने में आता है।

इस राससंग्रह में जिन काव्यों को संगृहीत किया गया है उनमें अधिकांश काव्यसौष्ठव से संपन्न हैं। इस विषय पर अलग अध्याय में प्रकाश डाला जा

1—When we talk of speakers of dialect, we imply that they employ a provincial method of speech to which the man who has been educated to use the language of books is unaccustomed. Such a man finds that the dialect speaker frequently uses words or modes of expression which he does not understand or which are at any rate strange to him; and he is sure to notice that such words as seem to be familiar to him are, for the most part strangely pronounced. Such differences are especially noticable in the use of vowels and diphthongs and in the mode of intonation.

(Skeat : English Dialects., pp.1,2)

रहा है। इस स्थान पर रास की भाषा का भाषाविज्ञान की दृष्टि से विवेचन अभीष्ट है। देखना यह है कि बारहवीं शताब्दी आते आते उत्तर भारत के विभिन्न भागों में जनभाषा किस प्रकार इन काव्यों की भाषा बन गई ? इस भाषा का मूल क्या है ? किस प्रकार आर्यों की मूल भाषा में परिवर्तन होते गए ? अपभ्रंश भाषा के इन काव्यों पर किन किन भाषाओं का प्रभाव पड़ा ? व्रजबुलि का स्वरूप क्या है ? वैष्णव रासों की रचना व्रजबुलि में क्यों हुई ? इन काव्यों की भाषा का परवर्ती कवियों पर क्या प्रभाव पड़ा ? ये प्रश्न विचारणीय हैं। सर्वप्रथम हम आर्य जनभाषा के विकासक्रम को समझने का प्रयास करेंगे। इस क्रमिक विकास का बीज वैदिक काल की जनभाषा में विद्यमान रहा होगा। अतः सर्वप्रथम उसी भाषा का निरूपण करना उचित प्रतीत होता है।

आर्य जाति किसी समय भारत के केवल एक भाग में रही होगी। ज्यों ज्यों यह फैली इसकी भाषाओं में विभिन्नताएँ उत्पन्न हुईं। इसका संपर्क द्रविड़ और निषाद जातियों से हुआ और आनुर्यविरोधिनी आर्य जाति को भी धीरे धीरे इन जातियों के अनेक शब्द ग्रहण करने पड़े। स्वयं ऋग्वेद से हमें ज्ञात है कि आर्यों ने अन्य जातियों से केवल कुछ वस्तुओं के नाम ही नहीं कुछ विचार भी ग्रहण किए ? जिन शब्दों से मंत्रद्रष्टा ऋषि भी प्रभावित हुए उनसे सामान्य जनता तो कहीं अधिक प्रभावित हुई होगी। इस तरह वैदिक काल में ही दो बोलियाँ अवश्य उत्पन्न हो गई होंगी। (१) वैदिक जिसमें द्रविड़ शब्दों और विचारों का प्रवेश सीमित था, (२) जनभाषा जिसने आवश्यकतानुसार खुले दिल से नए शब्दों की भर्ती की थी। इसी प्रकार की दूसरी भाषा को हम अपनी प्राचीनतम प्राकृत मान सकते हैं।

बोलचाल की भाषा सदा बदलती रहती है। उसमें कुछ न कुछ नया विकार आए बिना नहीं रहता। इसी कारण से ऋग्वेद के अंत तक पहुँचते पहुँचते वैदिक भाषा बहुत कुछ बदल जाती है। ऋग्वेद के दशम मंडल की भाषा दूसरे मंडलों की भाषा से कहीं अधिक जनभाषा के निकट है।

आर्यों के विस्तार का क्रम हम ब्राह्मण ग्रंथों से प्राप्त कर सकते हैं। वे सप्तसिंधु से उत्तर प्रदेश में और उत्तर प्रदेश से होते हुए सरयूपारीण प्रांतों में पहुँचे। इस तरह धीरे धीरे भारत की सीमा अफगानिस्तान से बंगाल तक पहुँच गई। इतने बड़े भूभाग पर आर्यभाषा का एक ही रूप संभव नहीं

था। ब्राह्मण ग्रंथों का अनुशीलन करने से, आर्यभाषा के तीन मुख्य भेदों की ओर निर्देश मिलता है—(१) उदीच्य या पश्चिमोत्तरीय, (२) मध्य-देशीय, (३) प्राच्य। उदीच्य प्रदेश की बोली अनार्य बोलियों से पृथक् रहने के कारण अपेक्षाकृत शुद्ध रूप में विद्यमान थी। कौषीतकि ब्राह्मण में इसके संबंध में इस प्रकार उल्लेख मिलता है—

'उदीच्य प्रदेश में भाषा बड़ी विज्ञता से बोली जाती है; भाषा सीखने के लिये लोग उदीच्य जनों के पास जाते हैं; जो भी वहाँ से लौटता है, उसे सुनने की लोग इच्छा करते हैं।'[1]

ब्राह्मण काल के मध्य देश की भाषा पर कोई टीका टिप्पणी नहीं है। किंतु प्राच्य भाषा के विषय में कटु आलोचना है। प्राच्य भाषाभाषियों को आसुर्य, राक्षस, बर्बर, कलहप्रिय संबोधित किया गया है। पंचविंश ब्राह्मण में व्रात्य कहकर उनकी इस प्रकार निंदा की गई है—'व्रात्य लोग उच्चारण में सरल एक वाक्य को कठिनता से उच्चारणीय बतलाते हैं और यद्यपि वे (वैदिक धर्म) में दीक्षित नहीं हैं, फिर भी दीक्षा पाए हुओं की भाषा बोलते हैं।'[2]

इन उद्धरणों से यह अनुमान लगाया गया है कि 'प्राच्य में संयुक्त व्यंजन समीकृत हो गए हों, ऐसी प्राकृत प्रवृत्तियाँ हो चुकी थीं।'[3]

मध्यदेशीय भाषा की यह विशेषता रही है कि वह नवीन युग के अनुरूप अपना रूप बदलती चलती है। उदीच्य के सदृश न तो सर्वथा रूढ़िबद्ध रहती है और न प्राच्यों के सदृश शुद्ध रूप से सर्वथा हटती ही जाती है। वह दोनों के बीच का मार्ग पकड़ती चलती है। प्राच्य बोली में क्रमशः परिवर्तन होते गए और ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी आते आते शुद्ध वैदिक बोली से प्राच्य भाषा इतनी भिन्न हो गई कि महर्षि पतञ्जलि को स्पष्ट कहना पड़ा—'असुर लोग संस्कृत शब्द 'अरयः' का 'अलयो' या 'अलवो' उच्चारण करते थे।'

१—तस्माद् उदीच्याम् प्रज्ञाततरा वाग उद्यते; उदञ्च उ एव यन्ति वाचम् शिक्षितुम्; यो वा तत आगच्छति, तस्य वा शुश्रूषन्त इति। (कौषीतकि ब्राह्मण, ७-६।)

२—अदुरुक्तवाक्यम् दुरुक्तम् आहुः; अदीक्षिता दीक्षितवाचम् वदन्ति—
(ताण्ड्य या पंचविंश ब्राह्मण, १७-४।)

३—सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या—भारतीय आर्यभाषा और हिंदी, पृ० ६२।

[भारतीय आर्य भाषा के विकास की द्वितीय अवस्था]

इस अवस्था में दंत्य के मूर्द्धन्यीकरण की प्रक्रिया परिपक्व हो चुकी थी। 'र' तथा 'ऋ' के पश्चात् दंत्य वर्ण मूर्द्धन्य हो जाता था। संस्कृत 'कृत' का 'कट', 'अर्थ' का 'अट्ठ' और 'अर्द्ध' का 'अड्ड' इसका प्रमाण है। किंतु ये ही शब्द मध्य देश में 'कत' (कित), 'अत्थ' और 'अद्ध' बन गए। 'र' का 'ल' तो प्रायः दिखाई पड़ता है। 'राजा' का 'लाजा', 'क्षीर' का 'खील', 'मृत' का 'म्लृत', 'भर्त्ता' का 'भल्ता' रूप इस तथ्य का साक्षी है। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का मत है कि 'विकृति' का 'विकट', 'किम्-कृत' का 'कीकट', 'नि-कृत' का 'निकट', 'अन्द्र' का 'अण्ड' रूप इस बात को स्पष्ट करता है कि वैदिक काल में ही विकार की प्रक्रिया प्रारंभ हो गई थी। किंतु परिवर्तन का जितना स्पष्ट रूप इस काल में दिखाई पड़ता है उतना वैदिक काल में नहीं।

डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या[1] का मत है कि इस प्रकार भारतीय आर्य-भाषा के विकास की द्वितीय अवस्था व्यंजनों के समीभवन आदि परिवर्तनों के साथ सर्वप्रथम पूर्व में आई। इस काल में भाषा के प्रादेशिक रूप त्वरित गति से फैलते जा रहे थे। प्रारंभ में विजित अनार्यों के बीच बसे हुए आर्यों की भाषा के मुख्य मुख्य स्थानों पर द्वीपों के समान केंद्र थे, परंतु जिस प्रकार अग्नि किसी वस्तु का ग्रास करती हुई बढ़ती जाती है, उसी प्रकार आर्यभाषा पंजाब से बड़े वेग से अग्रसर हो रही थी, और ज्यों ज्यों अधिकाधिक अनार्य भाषी उसके अनुगामी बनते जा रहे थे त्यों त्यों उसकी गति भी क्षिप्रतर होती जाती थी। धीरे धीरे अनार्य भाषाओं के केवल गंगातटवर्ती भारत में कुछ ऐसे केंद्र रह गए जिनके चारो ओर आर्यभाषा का साम्राज्य छाया हुआ था।

[ईसा पूर्व ६ठी शताब्दी से २०० वर्ष पूर्व]

यदि अनार्य आर्यों के संपर्क में न आए होते तो भी वैदिक भाषा में परिवर्तन अवश्य होता। किंतु अनार्यों का सहवास होने पर भी आर्यभाषा अपरिवर्तनीय बनी रहे, यह संभव था ही नहीं। अनार्यों के उच्चारण की दूषित प्रणाली, उनके नित्यव्यवहृत शब्दों का प्रयोग, देश की जलवायु का प्रभाव, दूरस्थ स्थानों पर आर्यों के निवास, ऐसे कारण थे कि वैदिक भाषा में परिवर्तन द्रुत गति से होना स्वाभाविक हो गया। हाँ, इतना अवश्य था कि भाषापरिवर्तन का यह वेग पश्चिम की अपेक्षा पूर्व में द्रुत गति से बढ़ने लगा।

१—सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या—भारतीय आर्यभाषा और हिंदी पृ० ६४

ईसा से पूर्व ६ठी शताब्दी में शाक्य वंश में एक प्रतिभासंपन्न व्यक्ति उत्पन्न हुआ। उसने जनभाषा में एक क्रांति उत्पन्न की। संस्कृत की अपेक्षा जनभाषा का सम्मान बढ़ा। भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेशों का वाहन संस्कृत को त्यागकर जनभाषा को ग्रहण किया। जनभाषा का इतना सम्मान और इतने बड़े भूभाग पर उसके प्रचार का प्रयास संभवतः बुद्ध से पूर्व आर्य देश में कभी नहीं हुआ था।

बुद्धजन्म से पूर्व उत्तर भारत के चार वंशों—मगध, कोशल, वत्स एवं अवंती—में सर्वाधिक शक्तिसंपन्न राज्य कोशल था। यह हमारे देश की परंपरा रही है कि शक्तिशाली जनपद की भाषा को अन्य बोलियों की अपेक्षा अधिक गौरव प्रदान करके उसे एक प्रकार की राष्ट्रभाषा स्वीकार किया जाता रहा है। अतः स्वाभाविक रीति से कोशल की जनभाषा को नित्य प्रति के कार्य-व्यवहार में प्रयुक्त किया गया होगा। इसका प्रभाव संपूर्ण उत्तर भारत की बोलियों पर पड़ना स्वाभाविक था।

प्रश्न उठता है कि बुद्ध से पूर्व कोशल एवं मगध की भाषा का क्या स्वरूप रहा होगा? ऐसा प्रमाण मिलता है कि वैदिक आर्य पूर्व के अवैदिक आर्यों को व्रात्य कहकर पुकारते और उनकी भाषा को अशुद्ध समझते थे। मगध तो ब्राह्मण काल में आर्य देश से प्रायः बाहर समझा जाता था[1]। किंतु बुद्धजन्म के कुछ पूर्व मगध एक शक्तिशाली राज्य बन गया था। यह निश्चित है कि उस समय तक आर्य मगध में जम चुके होंगे और उनकी भाषा व्रात्यों से प्रभावित हो रही होगी। यद्यपि पश्चिमी आर्य व्रात्यों के विचारों का सम्मान नहीं करते थे परंतु उनकी भाषा को आर्य परिवार के अंतर्गत मानते थे। यहाँ तक कि ईसा पूर्व आठवीं शताब्दी में मागधी का प्रभाव तांड्य ब्राह्मण में स्पष्ट झलकने लगा। डा० सुनीतिकुमार का मत है कि 'Real Prakrit stage was first attained by I. A. in the east in कोशल and in मगध[2]।' सर्वप्रथम वास्तविक प्राकृत कोशल और मगध में बनी।

ब्राह्मण और व्रात्य

१—ऋग्वेद (३, ५३, १४) में मगध का नाम केवल एक बार आता है। अथर्ववेद में मागधों को विलक्षण मनुष्य कहा गया है।

२—S. K. Chatterjee—O. D. B. L., page 48.

इस काल में मगध में बौद्ध और जैन धर्म का प्रसार हुआ। धर्मप्रचार के लिये पूर्वी जनभाषा का प्रयोग हुआ। संस्कृत से अनभिज्ञ जनता ने इस आंदोलन का स्वागत किया। प्रश्न है कि इस जनभाषा का स्वरूप क्या रहा होगा[1]। महात्मा बुद्ध की मातृभूमि मगध होने से उन्हें जन्मभूमि की भाषा का ज्ञान स्वभावतः हो गया होगा। राजकुमार सिद्धार्थ ने पंडितों से संस्कृत का अध्ययन किया होगा। घरबार छोड़ने पर उस युवक ने दूर दूर तक भ्रमण करके जनभाषा का ज्ञान प्राप्त कर लिया होगा। इस प्रकार कोशल, काशी एवं मगध की बोलियों से तो उन्हें अवश्य परिचय हो गया होगा। तात्पर्य यह है कि मध्यदेश और पूर्व की जनबोलियों का बुद्ध को पूरा अनुभव रहा होगा। बुद्ध ने उन सब के योग से अपने प्रवचन की भाषा निर्मित की होगी ?

ईसा पूर्व ५०० के उपरांत

[बुद्ध के प्रवचन की भाषा अनिश्चित है किंतु वह कालांतर में लेखबद्ध होने पर पाली भाषा मानी गई।]

बुद्धकाल में बुद्धिवादी ब्राह्मणों का एक ऐसा वर्ग था जो अपने साहित्य को उच्च शिक्षाप्राप्त विद्वानों तक ही सीमित रखना चाहता था। वे लोग उदीच्य भाषा तक तो अपनी मातृभाषा को ले जाने को प्रस्तुत थे परन्तु प्राच्य बोली को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं थे। बुद्ध के जीवनकाल में भाषा के क्षेत्र में यह भेदभाव स्पष्ट हो गया था। प्राच्य जनबोली में बुद्ध के उपदेश संस्कृत भाषा से इतने दूर चले गए थे कि बुद्ध के दो ब्राह्मण शिष्यों को तथागत से उनकी वाणी का संस्कृत में अनुवाद करने के लिये अनुरोध करना पड़ा। बुद्ध भगवान् को यह अभीष्ट न जान पड़ा और उन्होंने यही निश्चय

---

1. But Buddhism and Jainism, two religions which had their origin in the East at first employed languages based on eastern vernaculars, or on a Koine that grew up on the basis of the Prakritic dialects of the midland, and was used in the early M. I. A. Period (B. C. 500 downwards) as a language of intercourse among the masses who did not care for the Sanskrit of Brahman and the Rajanya.

S. K. Chatterjee—O. D. B. L.,
Page 53

किया कि 'समस्त जन उनके उपदेश को अपनी मातृभाषा में ही ग्रहण करें'। "अनुजानामि भिक्खवे सकाय निरुत्तिया बुद्धवचनं परियापुणितु" [भिक्खुओ अपनी अपनी भाषा में बुद्धवचन सीखने की अनुज्ञा देता हूँ।]

इसका परिणाम यह हुआ कि देश्य भाषाओं का प्रभाव बढ़ने लगा और इसमें प्रचुर साहित्य निर्मित होने लगा। जिस भाषा में सिंहल देश में जाकर बुद्धसाहित्य लेखबद्ध हुआ उसे पालि कहते हैं।

संभवतः हमारे देश में लौकिक भाषा को संस्कृत के होड़ में खड़ा करने का यह प्रथम प्रयास था। इस प्रयास के मूल में एक जनक्रांति थी जो वैदिक संस्कृत से अपरिचित होने एवं वैदिक कर्मकांड के आडंबर से असंतुष्ट होने के कारण उत्पन्न हुई थी। उपनिषदों का चिंतक द्विजाति वर्ग जनसामान्य की उपेक्षा करके स्वकल्याणसहित ब्रह्मचिंतन में संलग्न हो गया था, किंतु बौद्ध भिक्षु और जैनाचार्य जनसामान्य को अपने नवीन धर्म का संदेश जनभाषा के माध्यम से घर घर पहुँचा रहे थे।

बुद्ध की विचारधारा को प्रकट करनेवाली भाषा का प्राचीनतम रूप अशोक के शिलालेखों में प्राप्त है। किसी एक जनभाषा को आधार मानकर उसमें प्रदेशानुरूप परिवर्तन के साथ संपूर्ण देश में व्यवहार के उपयुक्त एक भाषा प्रस्तुत की गई। यह भाषा पालि तो नहीं, किंतु उसके पर्याप्त निकट अवश्य है।

शताब्दियों तक देश विदेश को प्रभावित करनेवाली पालिभाषा के उद्भव पर संक्षेप में विचार कर लेना आवश्यक है। इस प्रश्न पर भाषाशास्त्रियों के

पालि का नामकरण

विभिन्न मत हैं—पं० विधुशेखर भट्टाचार्य पालि का निर्वचन पंक्ति>पंति>पत्ति>पट्टि>पल्लि से बताते हैं। मैक्सवालेसर पाटलिपुत्र से पालि की उत्पत्ति मानते हैं। ग्रीक में 'पाटलि' के स्थान पर 'पालि' शब्द "किसी भारतीय-जनपदीय-भाषा के आधार पर ही लिखा गया होगा।" भिक्षु जगदीश काश्यप पालि की व्युत्पत्ति सं० पर्याय>परियाय>पलियाय>पालियाय से बताते हैं। डा० उदय-नारायण तिवारी ध्वनिपरिवर्तन के नियमों के आधार पर उक्त सभी मतों का खंडन करते हुए कहते हैं कि "पालि शब्द की सीधी सादी व्युत्पत्ति 'पा' धातु में 'णिच' प्रत्यय 'लि' के योग से संपन्न होती है।" अतः 'पालि' का अर्थ हुआ—अर्थों की रक्षा करनेवाली। बुद्ध भगवान् के उपदेशप्रद अर्थों की रक्षा जिस भाषा में हुई वह पालि भाषा कहलाई।

कतिपय विद्वान् पालिभाषा को मगध की जनभाषा मानते हैं किंतु डा० ओल्डनवर्ग इसे कलिंग की जनभाषा बताते हैं। उनका मत है कि कलिंग में

पालि का जन्मस्थान

अशोक काल में मथुरा से धर्मोपदेशकों एवं विजेताओं का अनवरत आगमन होता रहा, अतः उत्तरी कलिंग को ईसा की प्रथम सहस्राब्दि के पश्चात् दक्षिण पश्चिम बंगाल तथा महाकोशल अथवा छत्तीसगढ़ से आर्यभाषा प्राप्त हुई। यही भाषा पालि नाम से प्रसिद्ध हुई।

वेस्टरगार्ड पालिभाषा को उज्जैन की जनपदीय बोली कहते हैं और स्टेनकोनो ने उसे विंध्य प्रदेश की जनभाषा माना है। ग्रियर्सन ने इसे मगध की जनभाषा और प्रो० रीज डेविड्स ने कोशल की बोली स्वीकार किया है। डा० चैटर्जी का मत रीज डेविड्स से मिलता है। विंडिश और गायगर ने इसे वह साहित्यिक भाषा माना है जो विभिन्न जनपदों के स्थानीय उच्चारणों को आत्मसात् करने के कारण सभी जनपदों में समझी जाती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि कोशल जनपद की बोली की भित्ति पर पालिभाषा का भवन निर्मित हुआ होगा और सबको बोधगम्य बनाने के लिये इसमें एक एक शब्द के कई रूप दिए गए होंगे।

एक ओर तो पालिभाषा उच्चारणगत एवं व्याकरण संबंधी विशेषताओं के कारण आर्षप्राकृत के समीप जा पहुँचती है किंतु दूसरी ओर उसमें वैदिक

पालि और वैदिक भाषा

भाषा की भी कई विशेषताएँ विद्यमान हैं। वैदिक भाषा के समान इसमें भी एक ही शब्द के अनेक रूप मिलते हैं। वैदिक भाषा के सदृश ही देव शब्द के कर्ताकारक बहुवचन में ये रूप मिलते हैं—देवा, देवासे (वैदिक देवासः), करण कारक बहुवचन में देवेहि (वै० देवेभिः) रूप मिलते हैं। 'गो' का रूप संबंध कारक बहुवचन में गोनं या गुन्नं (वैदिक गोनाम्—सं० गवाम्) की तरह रूप बनता है। (२) वैदिक भाषा में लिंग एवं कारकों का व्यत्यय दिखाई पड़ता है। पालि में भी इसके उदाहरण मिल जाते हैं। (३) प्राचीन आर्यभाषा के सुप् प्रत्यय पालि भाषा में विद्यमान हैं। (४) पालि में सभी गणों के धातु रूप प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के सदृश विविध रूपों में विराजमान हैं। उदाहरण के लिये 'भू' धातु के 'होमि' एवं 'भवामि' दो रूप मिलते हैं। (५) सन्नंत, यङंत, णिजंत, नामधातु रूपों का प्रयोग पालि में भी संस्कृत से समान होता है। (६) संस्कृत के समान पालि में भी कृदंत

के रूप दिखाई पड़ते हैं। (७) तुमुन्नंत (Infinite) रूप बनाने के लिये पालि में संस्कृत के समान 'तुम-तवे-तये एवं तुये' का योग पाया जाता है।

हम आगे चलकर पालि भाषा और विभिन्न प्राकृतों का संबंध स्पष्ट करेंगे। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ईसा की प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी में अश्वघोष विरचित नाटकों में गणिका अथवा विदूषक की बोली प्राचीन शौरसेनी के सदृश तो है ही, वह पालि से भी सादृश्य रखती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उस काल की जनबोली पाली अथवा शौरसेनी मानी जानी चाहिए। तात्पर्य यह है कि मध्यप्रदेश की बोली के रूप में प्रचलित भाषा प्राचीन शौरसेनी अथवा पाली दोनों मानी जा सकती है। दोनों एक दूसरे से इतनी अभिन्न हैं कि एक को देखते ही दूसरे का अनुमान लगाया जा सकता है।

सिंहल निवासियों की यह धारणा रही है कि पालि मगध की भाषा थी क्योंकि बुद्ध भगवान् के मुख से उनकी मातृभाषा मागधी में ही उपदेश निकले होंगे। किंतु भाषाविज्ञान के सिद्धांतों द्वारा परीक्षण करने पर यह विचार भ्रामक सिद्ध होता है। सबसे स्पष्ट अंतर तो यह है कि मागधी में जहाँ तीनों ऊष्म व्यंजन श, स, ष के स्थान पर केवल 'श' का प्रयोग होता है वहाँ पालि में दंत्य 'स' ही मिलता है। मागधी में 'र', 'ल' के स्थान पर केवल 'ल' मिलता है किंतु पालि में 'र', 'ल' दोनों विद्यमान हैं। पुल्लिंग एवं नपुंसक लिंग अकारांत शब्दों के कर्ताकारक एकवचन में मागधी में 'ए' परंतु पालि में 'ओ' प्रत्यय लगता है। किंतु इसके विरुद्ध मध्य भारतीय आर्यभाषा के प्रारंभकाल की सभी प्रवृत्तियाँ पालि में पूर्णतया विद्यमान हैं। 'ऐ' 'औ' स्वर 'ए' 'ओ' में परिणत हो गए हैं। पालि में संयुक्त व्यंजन से पूर्व ह्रस्व स्वर ही आ सकता था। अतः संयुक्त व्यंजन से पूर्व 'ए', 'ओ' का उच्चारण भी ह्रस्व हो गया, यथा—मैत्री > मेत्री, ओष्ठ > ओट्ठ।

पालि और मागधी

पालिभाषा की अनेक विशेषताओं में एक विशेषता यह भी है कि इसमें अनेक शब्दों के वे वैदिक रूप भी मिलते हैं जिनको संस्कृत में हम देख नहीं पाते। वैदिक देवासः का पालि में देवासे और देवेभिः का देवेहि, गोनाम् का गोनं, पतिना का पतिना रूप यहाँ विद्यमान है। अतः मागधी प्राकृत पालिभाषा के स्वरूप से साम्य नहीं रखती। पालि पर मागधी की अपेक्षा मध्यदेशीय भाषा शौरसेनी का अधिक प्रभाव है। इस प्रकार हमें इस तथ्य का प्रमाण मिल

जाता है कि मध्यदेश की भाषा शौरसेनी का प्रभुत्व समकालीन प्राकृतों से अधिक महत्वपूर्ण था। इसका परिणाम आधुनिक भारतीय भाषाओं पर क्या पड़ा, इस पर आगे चलकर विचार करेंगे।

पालि और प्राकृत

कालांतर में पालि के सन्निकट भाषाएँ भी लुप्त होने लगीं और उनका स्थान अनेक ऐसी भाषाओं ने ग्रहण किया जिनके लिये हम अब 'प्राकृत' शब्द प्रयुक्त करते हैं।

प्राकृत भाषा के नामकरण के कारणों पर आचार्यों के विभिन्न मत मिलते हैं। सन् १६६६ ई० के आसपास नमिसाधु काव्यालंकार की टीका करते हुए लिखते हैं—सकलजगज्जन्तूनां व्याकरणादिभिरनाहितसंस्कारः सहजो वचनव्यापारः प्रकृतिः। तत्र भवं सैव वा प्राकृतम्। ··· ··· प्राक्पूर्वं कृतं प्राकृतं बालमहिलादि सुबोधं सकलभाषा निबन्धनभूतं वचनमुच्यते।

जो सहजभाषा व्याकरणादि नियमों से विनिर्मुक्त अनायास वाणी से निकल पड़ती है वह प्राकृत कहलाती है। प्राकृत को संस्कृत का विकृत रूप समझना बुद्धिमानी नहीं। एक ही काल में विद्वान् संस्कृत भाषा का उच्चारण करते हैं। उसी काल में व्याकरणादि के नियमों से अपरिचित व्यक्ति सहज भाव से जिस भाषा का प्रयोग करते हैं वह प्राकृत कहलाती है। भाषाशास्त्री दोनों की तुलना करते हुए संस्कृत के शब्दों में नियम बनाकर प्राकृत भाषा की उपपत्ति सिद्ध करते हैं। यह प्राकृतिक नियम है कि अपठित समाज संस्कृत शब्दों का यथावत् रूप में उच्चारण नहीं कर पाता और ध्वनिपरिवर्तन के साथ उन संस्कृत शब्दों को बोलता रहता है। इस प्रकार संस्कृत भाषा में जहाँ एक ओर पठित समाज के प्रयोग के कारण कुछ कुछ विकास होता रहता है वहाँ प्राकृत भाषा भी अपठित अथवा अर्द्धशिक्षित समाज में विकसित होती रहती है। प्रतिभाशाली व्यक्ति शिक्षित, अर्द्धशिक्षित एवं अशिक्षित सभी समाजों में उत्पन्न होते हैं। जब अशिक्षित एवं अर्द्धशिक्षित समाज में कबीर, दादू जैसे महात्मा उत्पन्न होकर अपनी स्वाभाविक प्रतिभा से ऐसी जनभाषा में काव्यरचना करने लगते हैं तो प्राकृत भाषा श्रीसंपन्न हो जाती है और उसके शब्दपरिवर्तन के लिये नियम बनाते हुए संस्कृत शब्दों में ध्वनिपरिवर्तन के सिद्धांत निर्णीत होते हैं।

आचार्य हेमचंद्र तथा अन्य प्राकृत वैयाकरण प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में कुछ और लिखते हैं—

"प्रकृतिः संस्कृतम् , तत्रभवम् , तत आगतं वा प्राकृतम् ।"[1]

अर्थात्—'प्रकृति' शब्द का अर्थ 'संस्कृत' है और प्राकृत का अर्थ हुआ 'संस्कृत से आया हुआ'। इसके दो अर्थ निकाले जा सकते हैं—

(१) संस्कृत शब्दों का उच्चारण शुद्ध रीति से न होने के कारण जो विकृत रूप दिखाई पड़ता है वह प्राकृत है। इस प्रकार प्राकृत भाषा का मूल स्रोत संस्कृत भाषा है।

(२) "संस्कृत उत्पत्तिकारण नहीं अपितु प्राकृत भाषा को सीखने के लिये संस्कृत शब्दों को मूलभूत रखकर उनके साथ उच्चारणभेद के कारण प्राकृत शब्दों का जो साम्य वैषम्य है उसको दिखाते हुए प्राकृत भाषा के वैयाकरणों ने प्राकृत व्याकरण की रचना की। अर्थात् संस्कृत भाषा के द्वारा प्राकृत सिखलाने का उन लोगों का यत्न है। इसीलिये और इसी आशय से उन लोगों ने प्राकृत की योनि—उत्पत्तिक्षेत्र कहा है[2] ।"

नाटकों में सबसे प्राचीन प्राकृत भाषा का दर्शन अश्वघोष के नाटकों में होता है। अश्वघोष ने तीन प्रकार की प्राकृत (१) दुष्ट पात्र द्वारा (२) गणिका एवं विदूषक द्वारा (३) गोभम् द्वारा प्रयुक्त कराया है। इनमें प्रथम प्रकार की प्राकृत का रूप प्राचीन मागधी से, दूसरे प्रकार की प्राकृत का रूप प्राचीन शौरसेनी एवं तीसरी प्राकृत का रूप प्राचीन अर्धमागधी से मिलता-जुलता है।

अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत

इसी युग के आसपास भाषा में एक नवीन प्रवृत्ति दिखाई पड़ी जिसने देशी भाषा का स्वरूप ही परिवर्तित कर दिया। इस काल में स्वर मध्यम अघोष स्पर्श व्यंजन सघोष होने लगे। इस प्रवृत्ति के कतिपय उदाहरण देखिए—

हित > हिद > हिद॰ > हिअ; कथा > कधा > कधा॰ > कहा; शुक > सुग॰ > सुग > सुअ; मुख > मुघ > मुघ॰ > मुह ।

भाषापरिवर्तन की इस प्रवृत्ति ने भाषा के रूप में आमूल परिवर्तन कर दिया। ईसा के उपरांत प्राकृत भाषाओं का भेदभाव क्रमशः अधिक स्पष्ट होने लगा।

---

१. हेमचंद्र—प्राकृत व्याकरण, ८-१-१ ।

२. अध्यापक बेचरदास जोशी—जिनागम कथा संग्रह, पृष्ठ ४

ईसा के २०० वर्ष पूर्व से २०० ई० तक प्राचीन भारतीय भाषाओं में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। (१) सभी शब्दों के रूप प्रायः अकारांत शब्द के समान दिखाई पड़ने लगे। (२) संप्रदान

भाषा की नई प्रवृत्तियाँ

और संबंध कारक के रूप समान हो गए। (३) कर्ता और कर्म कारक के बहुवचन का एक ही रूप हो गया। (४) आत्मनेपद का प्रयोग प्रायः लुप्त सा हो गया। (५) लङ्, लिट्, विविध प्रकार के लुङ् समाप्त हो गए। (६) कृदंत रूपों का व्यवहार प्रचलित हो गया।

इसी काल में कार्यक>केरक>केर का उद्भव होने लगा जो वैष्णव भक्तों की भाषा में खूब प्रचलित हुआ। इस काल में रामस्य गृहम् के स्थान पर "रामस्स केरक (कार्यक) घरम्" रूप हो गया।

शूरसेन (मथुरा) प्रदेश का वर्णन वैदिक साहित्य में उपलब्ध है। यह स्थान मध्यदेश में आर्य संस्कृति का केंद्र माना जाता था। आर्यभाषा संस्कृत इस प्रदेश की भाषा को सदैव अपने अनुरूप

शौरसेनी प्राकृत

रखने का प्रयास करती आ रही है। स्वर के मध्यस्थित 'द्' 'थ्' यहाँ तद्वत् रूप में विद्यमान रहता है। उदाहरण के लिये देखिए—

कथयतु>कधेदु, कृत>किद-कद, आगतः>आगदो। इसमें क्ष का क्ख हो जाता है, जैसे—कुक्षि>कुक्खि, इक्षु>इक्खु इस प्राकृत में संयुक्त व्यंजनों में से एक के लुप्त होने पर पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ करने का नियम नहीं पाया जाता।

शकुंतला नाटक के शौरसेनी प्राकृत के एक उद्धरण से इसकी विशेषताएँ स्पष्ट हो जाएँगी—

इमं अवत्थतरं गदे तादिसे अणुराए किं वा सुमराविदेण। अत्ता दाणिं मे सोअणीओत्ति ववसिदं एदं।

संस्कृत रूपांतर—इदमवस्थांतरं गते तादृशेऽनुरागे किं वा स्मारितेन। आत्मेदानीं मे शोचनीय इति व्यवसितमेतत्।

[शकुंतला, अंक ५]

शौरसेनी की अपेक्षा मागधी[1] प्राकृत में वर्णविकार कहीं अधिक दिखाई पड़ते हैं। इसमें सर्वत्र 'र' का 'ल' और 'स', 'ष्', 'श' के स्थान पर 'श', 'ज' के स्थान पर 'य', 'झ' के स्थान पर य्ह्, य्य; द्य् के स्थान पर जं्; र्य के स्थान पर य्य; ण्य् के स्थान पर न्य्; ज्ञ् के स्थान पर ञ्ञ् हो जाता है। जैसे, राजा > लाजा, पुरुषः > पुलिशे, समर > शमल, जानाति > याणादि, जायते > यायदे, झटिति > य्हति, अद्य > अय्य, आर्य > अय्य, अर्जुन > अय्युण, कार्य > कय्य, पुण्य > पुञ्ञ, अन्य > अञ्ञ, राज्ञः > लञ्ञो, अञ्जलि > अञ्ञलि, शुष्क > शुश्क, हस्त > हश्त, पक्ष > पश्क

अर्ध मागधी

कोशल और काशी प्रदेश की जनभाषा अर्धमागधी कहलाती थी। मगध और शूरसेन के मध्य स्थित होने के कारण दोनों की कुछ कुछ प्रवृत्तियाँ इसमें विद्यमान थीं। कर्ताकारक एकवचन का रूप मागधी के समान 'एकारांत', और शौरसेनी के समान 'ओकारांत' हो जाता है। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि स्वरमध्यग स्पर्श व्यंजन का लोप होने पर उसके स्थान पर 'य्' हो जाता है, जैसे—सागर > सायर, स्थित > ठिय, कृत > कय।

अर्धमागधी में अन्य प्राकृतों की अपेक्षा दंत्य वर्णों को मूर्धन्य बनाने की प्रवृत्ति सबसे अधिक पाई जाती है। तीसरी प्रवृत्ति है पूर्वकालिक क्रिया के प्रत्यय 'त्वा' एवं 'त्य' को 'त्ता' एवं 'च्च' में बदल देने की। 'तुमुन्नन्त' शब्दों का प्रयोग पूर्वकालिक क्रिया के समान होता है, जैसे—'कृत्वा' के लिये 'काउँ' का प्रयोग देखा जाता है। यह काउँ > कर्तुम् से बना है।

अर्धमागधी का एक उद्धरण देकर उक्त प्रवृत्तियाँ स्पष्ट की जाती हैं—

तेणं कालेणं तेणं समएणं सिंधुसोवीरेसु जणवएसु वीयभए नामं नयरे होत्था, उदायणे नामं राया, पभावई देवी।

१—मागधी प्राकृत का उदाहरण—

अले कुम्भीलआ, कहेहि कहिं तुए एशे मणिबंधणुक्किण्णणामहेए लाअकीलए अंगुलीअए शमाशादिए?

संस्कृत रूपांतर

अरे कुंभीरक, कथय, कुत्र त्वयैतन्मणिबंधनोत्कीर्णं नामधेयं राजकीयमंगुलीयकं समासादितम्।

संस्कृत रूपांतर—

तस्मिन् काले तस्मिन् समये सिंधुसौवीरेषु जनपदेषु वीतभयं नाम नगरं आसीत्। उदायनो नाम राजा प्रभावती देवी।

महाराष्ट्री प्राकृत

भाषाशास्त्रियों का मत है कि महाराष्ट्री-शौरसेनी एक प्राकृत के दो भेद हैं। वास्तव में शौरसेनी प्राकृत का दक्षिणी रूप महाराष्ट्री है। इस प्रकार शौरसेनी से महाराष्ट्री में यत्र तत्र अंतर दिखाई पड़ता है। इस प्राकृत के प्रमुख काव्य हैं—'गउड़-वहो', 'सेतुबंध', 'गाथासत्तसई'। इस प्राकृत की मुख्य विशेषताएँ ये हैं—

स्वरमध्यग अल्पप्राण व्यंजन समाप्त हो गए हैं और महाप्राण में केवल 'ह्' ध्वनि बच गई है, जैसे—प्राकृत> पाउअ, प्राभृत>पाहुड, कथयति> कहेइ, पाषाण>पाहाण

महाराष्ट्री में कारकों के प्रत्यय अन्य प्राकृतों से भिन्न हैं। अपादान कारक एकवचन में 'आहि' प्रत्यय प्रायः मिलता है, जैसे—'दूरात्' का 'दूराहि' रूप मिलता है। अधिकरण के एकवचन में 'म्मि' अथवा 'ए' प्रत्यय दिखाई पड़ता है, जैसे 'लोकस्मिन्' का 'लोअम्मि' रूप।

'आत्मन्' का रूप शौरसेनी एवं मागधी में 'अत्त' होता है किंतु महाराष्ट्री में 'अप्प' रूप मिलता है। कर्मवाच्य में 'य' प्रत्यय का रूप 'इज्ज' हो जाता है, जैसे—पृच्छ्यते> पुच्छिज्जइ; गम्यते> गमिज्जइ।

महाराष्ट्री प्राकृत का उद्धरण

ईसीसिचुम्बिआइं भमरेहिं सुउमार केसर सिहाइं।
ओदंसयन्ति दअमाणा पमदाओ सिरीसकुसुमाइं।

संस्कृत रूपांतर—

ईषदीषच्चुम्बितानि भ्रमरैः सुकुमारकेसरशिखानि।
अवतंसयन्ति दयमानाः प्रमदाः शिरीषकुसुमानि।

प्राकृत के इन विभिन्न भेदों के होते हुए भी इनमें ऐसी समानता थी कि एक को जाननेवाला औरों को समझ लेता था। सामान्य शिक्षित व्यक्ति भी प्रत्येक प्राकृत को सरलता से बोधगम्य बना लेता था। आरंभ में तो इन प्राकृतों में और भी कम अंतर था। भाषा प्रायः एक थी जिसमें उच्चारणभेद

के कारण अंतर होता जाता था। डा०, वुलनर इसी को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

"In the older stage the difference was still less marked. Still further back we should find only the difference between 'correct' and 'incorrect' pronunciation, grammatical speech and ungrammatical, standard speech and dialectical the differences between the speech of educated and uneducated people speaking substantially the sane language.

—Dr. A. C. Woolner, Introduction to Prakrit, Page 9.

संस्कृत नाटकों में प्राप्य शौरसेनी प्राकृत के संबंध में हम पहले कुछ प्रकाश डाल चुके हैं। ईसा की दूसरी शती से इस प्राकृत का प्रयोग होने लगा था और इसका क्रम शताब्दियों तक चलता रहा।

अपभ्रंश का उद्भव

प्रारंभ में शौरसेनी प्राकृत जनभाषा पर पूर्णतया निर्भर रही किंतु कालांतर में वह शिष्ट साहित्य के अनुसार बोलचाल की भाषा से असंपृक्त होकर व्याकरणसंमत भाषा पर सर्वथा अवलंबित रहने लगी। संभवतः चौथी शताब्दी तक तो जनभाषा और नाटक की प्राकृत में तादात्म्य सा बना रहा किंतु चौथी शताब्दी के उपरांत जनभाषा का स्वाभाविक रूप साहित्यिक रूप से बहुत दूर जा पड़ा। इस मध्य भारतीय आर्यभाषा के विकास ने शौरसेनी का एक नवीन रूप प्रस्तुत कर दिया जिसमें जनसामान्य का लोकसाहित्य विरचित होने लगा। भाषा का यह नवीन प्राकृत रूप विकसित होकर अपभ्रंश के नाम से प्रख्यात हुआ।

अपभ्रंश के उद्भव काल के संबंध में विविध मत हैं। वररुचि ने अपने प्राकृत व्याकरण में अपभ्रंश भाषा का कहीं उल्लेख नहीं किया। संभवतः उस काल तक इस भाषा का अस्तित्व नहीं बन पाया था।

उद्भव काल

जैकोबी महोदय ने शिलालेखों एवं भामह, दंडी की रचनाओं के आधार पर यह मत स्थापित किया है कि ६ठी शताब्दी में अपभ्रंश नामक भाषा का उपयोग साहित्यिक रूप में होने लगा था।

जैकोवी ने द्वितीय तृतीय शताब्दी के मध्य विरचित 'पउमचरिउ' में अपभ्रंश भाषा का अंश ढूँढ़ निकाला है। किंतु प्रायः सभी भाषाशास्त्रियों ने इस मत का खंडन किया है। 'मृच्छकटिक नाटक' के द्वितीय अंक में कुछ कुछ अपभ्रंश भाषा के समान प्राकृत का रूप दिखाई पड़ता है। 'विक्रमोर्वशी' नाटक के चतुर्थ अंक में अपभ्रंश भाषा की छंदयोजना और शैली प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि चौथी पाँचवीं शताब्दी में अपभ्रंश का स्वरूप बन चुका था।

डा० चैटर्जी[1] ने यह निष्कर्ष निकाला है कि पाँचवीं शताब्दी में गांधार, टक्क आदि उत्तरी पंजाब के भूभागों एवं सिंध, राजस्थान, मध्यदेश स्थित आभीरों में अपभ्रंश भाषा का विधिवत् प्रचलन हो चला था। यह जनभाषा शौरसेनी प्राकृत से दूर हटकर अपभ्रंश का रूप धारण कर चुकी थी।

अपभ्रंश के नामकरण का इतिहास

ईसा पूर्व दूसरी शती में सर्वप्रथम पतंजलि[2] ने अपभ्रंश शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने 'गो' शब्द का गावी, गोणी, गोता आदि रूप अपभ्रंश माना है। भर्तृहरि[3] ने भी व्याडि नामक आचार्य का मत देते हुए अपभ्रंश शब्द का उल्लेख किया है।

शब्द संस्कार हीनो यो गौरिति प्रयुयुक्षिते।
तमपभ्रंशमिच्छंति विशिष्टार्थ निवेशिनम्॥

भरत मुनि ने अपभ्रंश भाषा का उल्लेख तो नहीं किया है किंतु एक स्थान पर उन्होंने उकारबहुला भाषा का उल्लेख इस प्रकार किया है।

हिमवत्सिन्धुसौवीरान् ये जनाः समुपाश्रिताः।
उकारबहुलां तज्ज्ञस्तेषु भाषां प्रयोजयेत्॥

नाट्य० ११, ६२

---

१. Dr. S. K. Chatterjee—O. D. B. L., Page 88.

२. एकस्यैव शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद् यथा गौरित्यस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोतालिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः।

३. वार्तिक—शब्दप्रकृतिरपभ्रंशः इति संग्रहकारो नाप्रकृतिरपभ्रंशः स्वतंत्रः कश्चिद्विद्यते। सर्वस्यैव हि साधुरेवापभ्रंशस्य प्रकृतिः। प्रसिद्धेस्तु रूढितामापाद्यमाना स्वातंत्र्यमेव केचिदपभ्रंशा लभंते। तत्र गौरिति प्रयोक्तव्ये अशक्त्या प्रमादिभिर्वा गव्याद-यस्तत्प्रकृतयोपभ्रंशाः प्रयुज्यन्ते।

उकारबहुला भाषा का नाम कालांतर में अपभ्रंश हो गया। अतः भरत मुनि के समय एक ऐसी भाषा निर्मित हो रही थी जो आगे चलकर अपभ्रंश के नाम से विख्यात हो गई। भरत मुनि ने संस्कृत और प्राकृत को तो भाषा कहा किंतु शक, आभीरादि बोलियों को विभाषा नाम से अभिहित किया। अतः हम अपभ्रंश को उस काल की विभाषा की संज्ञा दे सकते हैं।

भामह[१] ने छठी शताब्दी में अपभ्रंश की गणना काव्योपयोगी भाषा के रूप में किया। इसके उपरांत दंडी (७वीं शताब्दी) उद्योतन सूरि (वि० सं० ८३५), रुद्रट (नवीं शताब्दी), पुष्पदंत (१०वीं शताब्दी) आदि अनेक आचार्यों ने इस भाषा का उल्लेख किया है। राजशेखर ने तो काव्य-पुरुष के अवयवों का वर्णन करते हुए लिखा है—

शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुखं प्राकृतं बाहुः,
जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम्।

अ० ३, पृ० ६

इसके उपरांत मम्मट (११वीं शताब्दी), वाग्भट (११४० वि०) रामचंद्र गुणचंद्र (१२वीं शताब्दी) अमरचंद्र (१२५० ई०) ने अपभ्रंश को संस्कृत और प्राकृत के समकक्ष साहित्यिक भाषा स्वीकार किया।

उक्त उद्धरणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि पतंजलि[२] काल में जिस अपभ्रंश शब्द का प्रयोग भ्रष्ट बोली के लिये होता था वही छठी शताब्दी में काव्यभाषा के लिये प्रयुक्त होने लगा। ऐसा प्रतीत होता है कि पाली, शौरसेनी तथा अन्य मध्य आर्यभाषाओं की स्थापना के उपरांत पश्चिमी एवं उत्तर पश्चिमी भारत के अशिक्षित व्यक्तियों के मुख से अपभ्रष्ट उच्चारण होने के कारण अपभ्रंश शब्द का आविर्भाव हुआ था। जब अपभ्रष्ट शब्दों की सूची इतनी विस्तृत हो गई कि भाषा का एक नया रूप निखरने लगा तो

---

१. शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद्द्विधा।
संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा॥

काव्यालंकार १. १६. - २८

२. No one would suggest that the word Apabhramsa, as used by Patanjali, means anything but dialectal, ungrammatical or vulgar speech, or that it can mean anything like the tertiary development of M.I.A.

S. K. Chatterjee—O. D. B. L., Page 89

इस नवीन भाषा को प्राकृत से भिन्न सिद्ध करने के लिये अपभ्रंश नाम से पुकारा गया। नाटकों की प्राकृत एवं आधुनिक भाषाओं के मध्य शृंखला जोड़ने के कारण भाषाविज्ञान की दृष्टि से इस भाषा का बड़ा महत्व माना गया है। इस भाषा का उत्तरोत्तर विकास होता गया और चौदहवीं शताब्दी में शौरसेनी अपभ्रंश ने अवहट्ट का रूप धारण कर लिया। इस भाषा में कीर्तिलता, प्राकृतपैंगलम् आदि ग्रंथों की रचना हुई जिनका प्रभाव परवर्ती कवियों पर स्पष्ट झलकता है।

बाण कवि ने अपने मित्र भाषाकवि ईशान का उल्लेख किया है। साथ ही प्राकृत कवि वायुविकार के उल्लेख से स्पष्ट है कि ईशान अपभ्रंश भाषा का कवि रहा होगा। महाकवि पुष्पदंत ने अपने अपभ्रंश महापुराण की भूमिका में ईशान का बाण के साथ उल्लेख किया है।

प्राकृत और अपभ्रंश का अंतर

जहाँ प्राकृत के अधिकांश शब्द दीर्घस्वरांत होते हैं, अपभ्रंश के अधिकांश शब्द ह्रस्वस्वरांत देखे जाते हैं। जैकोबी[1] और अल्सडार्फ[2] ने इस अंतर पर बड़ा बल दिया है। यद्यपि इसनियम में कहीं कहीं अपवाद भी मिलता है किंतु इसके दो ही कारण होते हैं—(१) या तो साहित्यिक प्राकृत के प्रभाव से अपभ्रंश के शब्द दीर्घस्वरांत बन जाते हैं, (२) अथवा जब ह्रस्व स्वर अंत में आ जाते हैं तो उन्हें दीर्घ करना आवश्यक हो जाता है।

अपभ्रंश में भाषा के सरलीकरण की प्रक्रिया प्राकृत से आगे बढ़ी। इस प्रकार प्राकृत की विश्लेषणात्मक प्रवृत्तियाँ यहाँ आकर भली प्रकार विकसित हो उठीं। क्रियापदों के निर्माण, सुबंत, तिङन्त रूपों एवं कारक संबंध की अभिव्यक्ति में अपभ्रंश ने प्राकृत से सर्वथा स्वतंत्र पथ अपनाया। इस प्रकार अपभ्रंश में प्राकृत से कई मूल अंतर धातुरूपों, शब्दरूपों, परसर्गों के प्रयोग आदि में दिखाई पड़ता है।

(१) अपभ्रंश में कृदंतज रूपों का व्यवहार बढ़ने से तिङन्त रूपों का प्रयोग अत्यंत सीमित हो गया। हम आगे चलकर इसपर अधिक विस्तार से विचार करेंगे।

---

१. जैकोबी—सनत्कुमार चरितम् पृष्ठ ६।

२. अल्सडार्फ—अपभ्रंश स्टूडिएन, पृष्ठ ६–७।

(२) लिंगभेद को प्रायः मिटाकर अपभ्रंश ने शब्दरूपों को सरल बना दिया। स्त्रीलिंग शब्दों की संख्या नगण्य करके नपुंसक लिंग को सर्वथा बहिष्कृत कर दिया गया। अतः पुल्लिंग रूपों की प्रधानता हो गई।

(३) आठ कारकों के स्थान पर तीन कारकसमूह—(क) कर्ता-कर्म-संबोधन, (ख) करण अधिकरण, (ग) संप्रदान, अपादान एवं संबंध रह गए।

(४) अपभ्रंश की सबसे बड़ी विशेषता परसर्गों का प्रयोग है। लुप्त-विभक्तिक पदों के कारण वाक्य में आनेवाली अस्पष्टता का निवारण करने के लिये परसर्गों का प्रयोग अनिवार्य हो गया।

(५) देशज शब्दों एवं धातुओं को अपनाने से तथा तद्भव शब्दों के प्रचलित रूपों को ग्रहण करने से प्राकृत से भिन्न एक नई भाषा का स्वरूप निखरना।

(६) डा० टेस्सिटोरी ने एक अंतर बहुत ही स्पष्ट किया है। प्राकृत के अंतिम अक्षर पर विद्यमान अनुस्वार को उसके पूर्ववर्ती स्वर को ह्रस्व करके अपभ्रंश में अनुनासिक कर दिया जाता है।

(७) व्यंजनद्वित्व के स्थान पर एक व्यंजन लाने के लिये क्षतिपूर्ति के हेतु आद्य अक्षर का दीर्घीकरण।

(८) अंत्य स्वरों का ह्रास एवं समीपवर्ती स्वरों का संकोच—जैसे, प्रिया > पिय।

(९) उपांत्य स्वरों की मात्रा को रक्षित रखना। गोरोचण > गोरोअण।

(१०) पुरुषवाचक सर्वनामों के रूप में कमी।

(११) शब्द के आदि अक्षर के स्वर को सुरक्षित रखना, जैसे—ग्राम > गांम; ध्यान > झाण। पर कहीं कहीं लोप भी पाया जाता है, जैसे—अरण्ण > रण्ण।

(१२) 'य', 'व' श्रुति का सन्निवेश पाया जाता है, जैसे,—सहकार > सहयार।

(१३) आदि व्यंजन को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति पाई जाती है। आदि व्यंजन का महाप्राणीकरण भी पाया जाता है, जैसे—स्तब्ध > ढड्ढ, भगिनी > बहिणि।

प्राकृत एवं आधुनिक आर्य भाषाओं के मध्य संबंध जोड़नेवाली शृंखला के विषय में विद्वानों के दो वर्ग बन गए हैं। पिशेल, ग्रियर्सन, भंडारकर, चैटर्जी तथा वुलनर का मत है कि प्राकृत और आधुनिक भाषाओं के मध्य अपभ्रंश नामक जनभाषा थी जिसकी विभिन्न बोलियाँ में कुछेक विकसित होकर देशभाषा का रूप धारण कर सकीं। दूसरा वर्ग जैकोबी, कीथ और आल्सफोर्ड का है जो इस मत से सहमत नहीं। उनका मत है कि अपभ्रंश किसी जनभाषा का साहित्यिक रूप नहीं अपितु प्राकृत का ही रूपांतर है जो सरलीकरण के आधार पर बन पाया था। इसकी शब्दावली तो प्राकृत की है केवल देशी भाषा के आधार पर संज्ञा एवं क्रियारूपों की छटा इसमें दिखाई पड़ती है। कभी कभी तो इस भाषा में प्राकृत जैसी ही रूपरचना देखने में आती है।

परवर्ती अपभ्रंश

उक्त दोनों प्रकार के विचारक अपने अपने मत के समर्थन में युक्ति एवं प्रमाण उपस्थित करते हैं। संभवतः सर्वप्रथम सन् १८४६ ई० में विक्रमोर्वशी नाटक का संपादन करते हुए बोल्लेनसेन (Bollensen) ने चतुर्थ अंक की अपभ्रंश को बोलचाल की भाषा (Volksdialekt, Volksthu-) mliche Skrache) घोषित किया। उन्होंने प्राकृत और अपभ्रंश के सुवंत, तिङन्त, समास और तद्धित की विशेषताएँ दिखाकर यह सिद्ध किया कि अपभ्रंश उस काल की बोलचाल की भाषा थी। इस भाषा की विशेषताओं को आगे चलकर ब्रजभाषा ने आत्मसात् कर लिया।

दूसरे भाषाशास्त्री हार्नली (Hornle) ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि जिस समय शौरसेनी प्राकृत नितांत साहित्यिक भाषा बन गई थी उस समय उसकी अपेक्षा अधिक विकृत होकर अपभ्रंश सामान्य जनता के व्यवहार का वाहन बन रही थी। आपका निश्चित मत है कि आर्यभाषाओं के विकासक्रम में प्राकृत कभी जनसामान्य की बोलचाल की भाषा नहीं रही, किंतु इसके विपरीत मागधी एवं शौरसेनी अपभ्रंश ऐसी बोलचाल की भाषाएँ रही हैं जिन्होंने आगे चलकर आधुनिक आर्यभाषाओं को जन्म दिया।

पिशेल का मत इससे भिन्न है। उनका कथन है कि शुद्ध संस्कृत से भ्रष्ट होनेवाली भाषा अपभ्रंश है। उन्होंने पतंजलि[1] और दंडी[2] के मतों में

---

१. एकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः।

२. शास्त्रेषु संस्कृतादनयदपभ्रष्टयोऽदित्तम्।

समन्वय स्थापित करते हुए अपना मत स्थिर किया है। उनका मत है कि अपभ्रंश भारत की जनबोली रही है और इसे एक प्रकार की देशभाषा समझना चाहिए। पिशेल ने प्राकृत के टीकाकार रविकर[1] और वाग्भट[2] के मतों को समन्वित करते हुए अपना यह मत बनाया है। उन्होंने यह घोषित किया कि कालक्रम से प्राकृत एवं आधुनिक भाषाओं के मध्य शृंखला जोड़नेवाली भाषा अपभ्रंश है। आगे चलकर ग्रियर्सन, भांडारकर एवं चैटर्जी ने इसका समर्थन किया।

जैकोबी ने पिशेल के उक्त मत का बलपूर्वक खंडन किया। उन्होंने कहा कि अपभ्रंश कभी देशभाषा हो नहीं सकती। उनका कथन है कि यद्यपि प्राकृत की अपेक्षा अपभ्रंश में देशी शब्दों की कहीं अधिक संख्या है किंतु देशी शब्दों से ही अपभ्रंश भाषा नहीं बनी है। यह ठीक है कि देशी और अपभ्रंश शब्दों में बहुत अंतर नहीं होता और हेमचंद्र ने अनेक ऐसे शब्दों को अपभ्रंश माना है जो देशीनाममाला में भी पाए जाते हैं। यह इस तथ्य का प्रमाण है कि अपभ्रंश एवं ग्रामीण शब्दों में बहुत ही सामीप्य रहा है। किंतु दोनों को एक समझना भी बुद्धिमानी नहीं होगी। उन्होंने दंडी के इस मत का समर्थन किया कि "आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृतः" अर्थात् आभीरादि की बोलियाँ काव्य में प्रयुक्त हों तो वे अपभ्रंश कहलाती हैं।

जैकोबी का समर्थन और ग्रियर्सन का खंडन करते हुए डा० कीथ ने सिद्ध करने का प्रयास किया है कि अपभ्रंश एकमात्र साहित्यिक भाषा थी जिसका उद्भव सिंधु देश के प्राकृत काव्य में आभीरों की पदावली के संमिलन से हुआ। आभीरों ने तत्कालीन (३०० ई० से ६०० ई० तक) पंजाब की प्राकृत में अपनी जनबोली का मिश्रण कर अपनी सभ्यता के प्रचारार्थ पंजाब से बिहार तक अपभ्रंश साहित्य को विकसित किया। कीथ के इस सिद्धांत के अनुसार अपभ्रंश वास्तव में जनभाषा नहीं अपितु साहित्यिक प्राकृत में पश्चिमी बोली की चाशनी देकर बनी काव्यभाषा है। उनके मतानुसार अपभ्रंश कभी देशभाषा नहीं रही। अतः प्राकृत तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं के मध्य वह शृंखला कभी नहीं बन सकती।

---

१. अपभ्रंश दो प्रकार की हैं। प्रथम तो प्राकृत से विकसित हुई और सुबन्त और तिङन्त में उससे बहुत दूर नहीं हटी। दूसरी देशभाषा के रूप में थी।

२. किसी भी प्रांत की शुद्ध बोलचाल की भाषा है और साहित्यिक रूप धारण करने पर संस्कृत, प्राकृत और पैशाची के सदृश बन जाती है।

आल्सफोर्ड ने भी जैकोबी के मत का समर्थन करते हुए कहा कि अपभ्रंश एकमात्र काव्यभाषा थी क्योंकि गद्य में उसकी कोई रचना उपलब्ध नहीं। उन्होंने अपभ्रंश को (Weiler fortgeschrittenen volkssprache) प्राकृत एवं जनभाषा का मिश्रण माना। उनका कथन है कि जब प्राकृत साहित्य जनभाषा से बहुत दूर हटने के कारण निष्प्राण होने लगा तो उसे जनभाषा का शीतल छींटा डालकर पुनरुज्जीवित किया गया। अतः अपभ्रंश को जनभाषा कहना धृष्टता होगी क्योंकि प्राकृत की शब्दावली एवं भाषाशैली तद्वत् बनी रही उसमें केवल जनभाषा के सुबंत तिङन्त का ही समावेश हो पाया।

ग्रियर्सन ने अपभ्रंश के उद्भव का मूल सिद्धांत पिशेल से ग्रहण करके उसे भली प्रकार विकसित किया। उन्होंने प्रमाणित किया कि अपभ्रंश वास्तविक जनभाषा ही थी जो क्रमशः विकसित होती हुई बोलचाल की प्राकृत एवं आधुनिक भारतीय भाषाओं के मध्य शृंखला स्थापित करनेवाली बनी। ग्रियर्सन का कथन है कि जब द्वितीय प्राकृत (मागधी, शौरसेनी आदि) साहित्यिक भाषा बनकर व्याकरण के नियमों एवं विविध विधि विधानों से जकड़ने के कारण इतनी रूढ़ हो गई कि प्रचलित बोलचाल की भाषा से इसने सर्वथा संबंध विच्छेद कर लिया, उस समय समाण जनभाषाएँ निरंतर विकसित होती गईं और कालांतर में उन जनभाषाओं से अधिक संपन्न होती गईं जिनके आधार पर प्राकृत भाषाएँ निर्मित हुई थीं। इन्हीं समाण जनभाषाओं का साहित्यिक स्वरूप अपभ्रंश विकसित होकर आधुनिक आर्यभाषाओं के रूप में परिणत हो गया। इस प्रकार अपभ्रंश भाषाएँ एक ओर तो प्राकृत के समीप पहुँचती हैं और दूसरी ओर आधुनिक आर्यभाषाओं को स्पर्श करती हैं।

ग्रियर्सन ने अपनी पुस्तक 'लैंग्वेज आफ इंडिया' में अपभ्रंश का बड़ा व्यापक लक्षण किया है। इसके अंतर्गत उन्होंने उस जनभाषा को भी संनिविष्ट कर लिया है जो प्राकृत भाषाओं का आधार थी। इस प्रकार उन्होंने प्रारंभिक अपभ्रंश और साहित्यिक अपभ्रंश कहकर अपभ्रंश के दो भेद किए हैं। जनभाषाएँ स्थानभेद के कारण भिन्न भिन्न अपभ्रंश रूपों में विकसित होती गईं। किंतु सबका नाम देशभाषा रखा गया। ग्रियर्सन ने यह स्पष्ट कर दिया है कि यद्यपि देशभाषाएँ अनेक थीं किंतु उनमें नागर जनभाषा ही सबसे अधिक विकसित होकर साहित्यिक रूप धारण कर सकी। मार्कंडेय एवं राम तर्कवागीश

ने जिन २७ प्रकार के अपभ्रंशों का उल्लेख किया है वे वास्तव में केवल नागर अपभ्रंश के विविध रूप हैं जिन्होंने दूरी के कारण अल्प परिवर्तित रूप धारण कर लिया। यहाँ इतना और स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यद्यपि नागर के अतिरिक्त अन्य देशभाषाओं ने भी वर्णनात्मक कविता का साहित्य सृजन किया तथापि नागर अपभ्रंश की उत्कृष्टता के संमुख वे साहित्य संचय के योग्य नहीं प्रतीत हुए। अतः उनका उल्लेख अनावश्यक प्रतीत हुआ।

भंडारकर, चैटर्जी और बुलनर ने ग्रियर्सन के इस मत का समर्थन किया। इन भाषाशास्त्रियों ने प्राकृत और आधुनिक आर्यभाषाओं के मध्य अपभ्रंश को शृंखला की एक कड़ी माना। भंडारकर ने स्पष्ट किया कि आधुनिक आर्यभाषाओं के शब्द एवं उनकी व्याकरण संबंधी रूपरचना या तो अपभ्रंश से साम्य रखती है अथवा उससे उद्भूत है। अपभ्रंश में व्याकरण के जिन प्रारंभिक रूपों का दर्शन होता है वे ही आधुनिक आर्यभाषाओं में विकसित दिखाई पड़ते हैं।

चैटर्जी ने ग्रियर्सन के अपभ्रंश संबंधी मत का पूर्णतया विवेचन करके यह सिद्ध किया कि शौरसेनी अपभ्रंश भाषा इतनी अधिक शक्तिशाली बन गई कि अन्य सभी अपभ्रंशों ने उसकी प्रभुता स्वीकार करके उसके संमुख माथा टेक दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि साहित्यिक एवं सांस्कृतिक भाषा के रूप में शौरसेनी अपभ्रंश का समस्त उत्तर भारत में एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित हो गया। मध्य देश में स्थित राजपूती केंद्रों की राजसभाओं में समादृत होने के कारण शौरसेनी अपभ्रंश की वैभववृद्धि हुई ही, पश्चिमी भारत में भी जैन मुनियों के प्रभूत साहित्य के कारण इसकी पावनता निखर उठी।

लकोट[1] (Lacote) ने भी यह स्वीकार किया है कि अपभ्रंश प्रारंभ में बोलचाल की जनभाषा थी किंतु कालांतर में वही साहित्यिक भाषा में परिणत हो गई। लकोट का मत है कि प्राकृत कभी बोलचाल की स्वाभाविक भाषा नहीं थी, वह केवल कृत्रिम साहित्यिक भाषा थी जिसका निर्माण रूढ़िबद्ध नियमों के आधार पर होता रहा। उनका कथन है कि प्राकृत भाषा का मूलाधार अपभ्रंश थी जो जनभाषा रही पर भारतीय भाषाओं के क्रमिक विकास में प्राकृत भाषा का उतना महत्व नहीं जितना अपभ्रंश का क्योंकि अपभ्रंश स्वाभाविक बोलचाल की भाषा थी पर प्राकृत कृत्रिम।

---

१. Lacote—Essay on Gunadhya and the Brihat Katha.

प्रो० सुकुमार सेन[1] भी इस विषय में लकोट के मत से सहमत हैं। वे प्राकृत के उपरांत अपभ्रंश का उद्भव नहीं मानते। उनका कथन है कि प्राकृत के मूल में विभिन्न अपभ्रंश भाषाएँ थीं जो बोलचाल के रूप में व्यवहृत होती थीं।

विविध भाषाशास्त्रियों के उपर्युक्त मतों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अपभ्रंश किसी न किसी समय में देशभाषा अर्थात् प्रचलित बोलचाल की भाषा थी जिसका विकसित रूप आधुनिक आर्यभाषाओं में दिखाई पड़ता है। इसके विकासक्रम के विषय में विभिन्न आचार्यों के मत का समन्वय करते हुए संक्षेप में यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है—

(१) भरतमुनि के समय में अपभ्रंश जनबोली थी।

(२) इस भाषा के आधार पर संस्कृत नाटकों के उपयुक्त कृत्रिम प्राकृत भाषाएँ निर्मित होती गईं।

(३) जब प्राकृत भाषा ने जनसंपर्क त्याग कर एकमात्र साहित्यिक रूप धारण कर लिया और जनसामान्य के लिये वह नितांत दुर्बोध होती गई तो (प्राकृत काल में) जनभाषा में निर्मित होनेवाली स्वाभाविक काव्यधारा फूट पड़ी और ६ठी शताब्दी में वह काव्य के रूप में प्रकट हो गई। ६ठी शताब्दी के उपरांत कृत्रिम प्राकृत काव्यधारा एवं अपभ्रंश की स्वाभाविक काव्यधारा साथ साथ चलती रहीं। अपभ्रंश काव्य ने जनसंपर्क रखने का प्रयास किया किंतु साहित्यशास्त्र के विधि विधानों से बँध जाने के कारण वह भी क्रमशः जटिलता की ओर झुकने लगा। बारहवीं शताब्दी तक आते आते वह भी राजसभा की विद्वन्मंडली तक परिसीमित हो चला और सामान्य जनसमुदाय के लिये सरल एवं सुबोध नहीं रह पाया।

(४) ६ठी शताब्दी पूर्व से जनभाषा अपभ्रंश अपने स्वाभाविक पथ पर शताब्दियों तक चलती रही। जनकवियों ने साहित्यिक कवियों का मार्ग

---

१. The Prakrits do not come into the direct line of development of the Indo-Aryan speech, as these were the artificial generalisations of the second phase of the N I A., which is sepresented by early Apabhramsas. Thus, the spoken speeches at the basis of the Pkts are the various Aps.—J. A. S., Vol. XXLL, p. 31.

त्याग कर सरल पद्धति में अपनी रचना जारी रखी थी। बारहवीं तेरहवीं शताब्दी तक आते आते अपभ्रंश साहित्य की दुर्बोधता के कारण जनता ने इन सहज कवियों को प्रोत्साहन दिया जो जनभाषा के विकसित रूप में गेय पदों की प्रभूत रचना कर रहे थे। इन गेय पदों का जनता ने इतना संमान किया कि उमापति एवं विद्यापति जैसे संस्कृत के धुरंधर पंडितों को भी अपने नाटकों में गीतों के लिये स्थान देना पड़ा।

(५) बारहवीं शताब्दी के मध्य से ही हमें अपभ्रंश के ऐसे कवि मिलने लगते हैं जो अपभ्रंश के उस परवर्ती रूप को जिसमें शब्द-रूप-रचना की सरलता एक पग आगे बढ़ी हुई दिखाई पड़ती है, स्वीकार किया। यहीं से आधुनिक भाषाओं का बीजारोपण प्रारंभ हो गया और अवहट्ट भाषा का रूप निखरने लगा।

सारांश यह है कि जनबोलियाँ अपने स्वाभाविक रूप में चलती गईं, यद्यपि उन्हीं के आधार पर निर्मित काव्य की कृत्रिम भाषाएँ अपना नवीन रूप ग्रहण करती रहीं। इस प्रकार वैदिक काल की जनभाषा, पाली-प्राकृत एवं अपभ्रंशकाल की काव्यभाषाओं को जन्म देती हुई स्वतः स्वाभाविक गति से अवहट्ट में विद्यमान दिखाई पड़ती है। यद्यपि इसमें दहमुहु, भुवणमयंकरु, तोसिय, संकरु, णिग्गउ, णिग्गअ, चडिउ, चउमुह, लाइवि, सायर, तल, रयण, अग्गिअ, जग, वाअ, पिअ, अज्ज, कज्ज आदि अनेक शब्द प्राकृत एवं अपभ्रंश दोनों में विद्यमान हैं तथापि इसका यह अर्थ नहीं कि अपभ्रंश ने इन शब्दों को प्राकृत से उधार लिया है। तथ्य तो तह है कि ये शब्द सरलता की ओर इतने आगे बढ़ चुके थे कि इनमें अधिक सरलीकरण की प्रक्रिया संभव थी ही नहीं।

अपभ्रंश के प्रमुख भेद

भाषावैज्ञानिकों ने पश्चिमी अपभ्रंश (शौरसेनी) और पूर्वी अपभ्रंश के साम्य एवं वैषम्य पर विचार करके इनकी तुलना की है। ग्रियर्सन, चैटर्जी आदि का मत है कि उक्त दोनों प्रकार के अपभ्रंशों में कोई तात्विक भेद नहीं। अब यह प्रश्न उठता है कि यदि पूर्वी अपभ्रंश मागधी प्राकृत से उद्भूत है और पश्चिमी अपभ्रंश शौरसेनी से तो दोनों में अंतर कैसे न होगा? हम पहले देख चुके हैं कि शौरसेनी प्राकृत की प्रकृति मागधी प्राकृत से बहुत ही भिन्न

पश्चिमी और पूर्वी

है। ऐसी स्थिति में दो परिवार की भाषाओं में अंतर होना स्वाभाविक है। फिर इन दोनों मतों का सामंजस्य कैसे किया जाय ?

ग्रियर्सन ने इस प्रश्न को सुलझाने का प्रयत्न किया है। उनका कथन है कि पश्चिमी अपभ्रंश का साहित्यिक रूप केवल शौरसेन देश तक सीमित नहीं था। यह तो संपूर्ण भारत की सांस्कृतिक भाषा मान ली गई थी। अतः आंचलिक संकीर्णता को पारकर यह सार्वदेशिक भाषा बन चुकी थी। यद्यपि दूरी के कारण उसपर स्थानीय भाषाओं का प्रभाव कहीं कहीं परिलक्षित होता है, पर वह प्रभाव इतना क्षीण है कि पश्चिमी अपभ्रंश के महासागर में स्थानीय भाषाओं की सरिताएँ विलीन होती दिखाई पड़ती हैं और वे एक महती भाषा की उपभाषाएँ प्रतीत होती हैं।

डा० चैटर्जी ने पश्चिमी अपभ्रंश के महत्वशाली बनने के कारणों पर प्रकाश डाला है। उन्होंने यह तर्क उपस्थित किया है कि पूर्वी भारत में पश्चिमी अपभ्रंश के प्रचार का कारण था ९वीं से १२वीं शताब्दी के मध्य उत्तर भारत में राजपूतों का राजनैतिक प्रभाव। उन राजपूतों के घरों में शौरसेनी अपभ्रंश से साम्य रखनेवाली जनभाषा बोली जाती थी और राजदरबारों में राजकवि साहित्यिक अपभ्रंश की काव्यरचना सुनाते थे। राजपूतों के प्रभाव एवं राजकवियों के साहित्यसौष्ठव से मुग्ध पूर्वी भारत भी इसी अपभ्रंश में काव्यसृजन करने लगा। अतः पंजाब से बंगाल तक इस भाषा का प्रचार फैल गया। पूर्वी भारत के कवियों ने प्राकृत और संस्कृत के साथ साथ शौरसेनी अपभ्रंश के साहित्यिक रूप का अध्ययन किया। इस प्रकार शौरसेनी अपभ्रंश पूर्वी भारत में भी सर्वत्र साहित्यिक भाषा मान ली गई[1]।

---

1. Duing the 9th–12th centuries, through the prestige of North Indian Rajput princely houses, in whose courts dialects akin to this late form of Sauraseni were spoken, and whose bards cultivated it, the Western or Sauraseni Apabhramsa became current all over Aryan India, from Gujrat and Western Punjab to Bengal, probably as a Lingua Franca, and certainly as a polite language, as a bardic speech which alone was regarded as suitable for poetry of all sorts.

—Chatterjee, 'The Origin and Development of the Bengali Language', Page 113

जैकोबी ने भी पूर्वी भारत में शौरसेनी अपभ्रंश का महत्व स्वीकार किया है। उन्होंने यही निर्णय किया है कि गौड़देश की साहित्यिक रचना पर मागधी प्राकृत का कोई प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। डा० घोपाल ने जैकोबी से भिन्न प्रतीत होनेवाले मतों का सामंजस्य करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि 'पूर्वी अपभ्रंश वास्तव में पश्चिमी भारत से पूर्व देश में आई। इस अपभ्रंश का मूल भी अन्य अपभ्रंशों की भाँति प्राकृत में विद्यमान था और वह प्राकृत शौरसेनी थी जो पश्चिमी भारत की मान्य साहित्यिक भाषा थी। यद्यपि गौड़ देश में मागधी प्राकृत विद्यमान थी किंतु पूर्वी अपभ्रंश पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इस प्रकार मागधी प्राकृत से उत्पन्न मागधी अपभ्रंश पूर्वी अपभ्रंश से सर्वथा भिन्न रही[1]।'

अवहट्ट का स्वरूप

हम पहले संकेत कर चुके हैं कि गुजरात और पश्चिमी पंजाब से लेकर बंगाल तक पश्चिमी अथवा शौरसेनी अपभ्रंश किस प्रकार राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन थी। जनसामान्य के कार्यव्यवहार से लेकर राजसभा की मंत्रणा तक यही भाषा—स्थानीय विशेषताओं को आत्मसात् करती हुई—सर्वत्र प्रयोग में आती थी। पंद्रहवीं शताब्दी आते आते इस भाषा के एकच्छत्र अधिकार पर विवाद उठने लगा और मैथिली, राजस्थानी, बंगाली, गुजराती, महाराष्ट्रीय आदि आधुनिक भाषाओं को क्रमशः शौरसेनी अपभ्रंश का एकाधिकार असह्य होने लगा। अतः पश्चिमी अपभ्रंश में अधिकाधिक आंचलिक भाषाओं को संमिश्रित कर एक नई भाषा निर्मित हुई जो 'अवहट्ट' नाम से अभिहित हुई। डा० चैटर्जी कहते हैं—

---

1. "Eastern Ap. was a literary speech imported from Western India and was, in fact, foreign to the eastern region. The basis of this Ap., as of all other kinds, was Pkt. which was current as a literary dialect in the West. In the kingdom of Gauda there was another Pkt. which was called Magadhi. But this Mag. had nothing to do with the Eastern or Buddhist Ap. As such, the Mag. Ap. or the actual descendant of the Mag. Pkt. was absolutely different from this Eastern Ap. and had no ostensible contribution to the formation of the latter."

J. A. S., Vol. XXII, Page 19

A younger form of this Sauraseni Apabhramsa, intermediate in forms and in general spirit to the genuine Apabhramsa of times before 1000 A. C. and to the Braj Bhakha of the Middle Hindi period say, of the 15th. century, is sometimes known as 'Avahattha'

स्थूलिभद्र फाग, चर्चरिका, संदेशरासक, कीर्तिलता, वर्णरत्नाकर, उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण, प्राकृतपैंगलम्, मूल पृथ्वीराजरासो, आदि में इसी भाषा का दर्शन होता है। रासों की यही भाषा थी क्योंकि हिंदू राजदरबारों में भाटगण इसी भाषा का मूलतः प्रयोग करते थे। हमारे अधिकांश रासों की यही भाषा रही है।

इस अवहट्ट भाषा का प्रयोग काशी, मिथिला, बंगाल एवं आसाम के कवि भी किया करते थे। बँगला भाषा के गर्भकाल में बंगाल के सभी कवि, जिनकी यह मातृभाषा नहीं थी, प्रसन्नतापूर्वक इस भाषा का उपयोग करते। परिणामतः बंगाल में विरचित सहजिया (बौद्ध) साहित्य इसी अवहट्ट में विरचित हुआ। मातृभाषा अवहट्ट न होने से बंगाल के कवियों ने स्वभावतः आंचलिक शब्दों का खुल्लमखुल्ला प्रयोग किया है जिससे भाषा और भी रसमयी बन गई है।

मिथिला में इस अवहट्ट का प्रयोग विद्यापति के समय तक तो विधिवत् पाया जाता है। विद्यापति ने अवहट्ट में ब्रजभाषा एवं मैथिली का स्वेच्छा-पूर्वक प्रयोग किया। इस महाकवि का प्रभाव परवर्ती वैष्णव कवियों पर भली प्रकार परिलक्षित होता है। अतः वैष्णव रास की भाषा समझने के लिये मिथिला की अवहट्ट का रूप स्पष्ट हो जाना चाहिए। बिहार के अन्य कवियों में सरहपाद ने दोहाकोश में इसी भाषा को अपनाया है। इस भाषा की विशेषता पर प्रकाश डालते हुए राहुलजी कहते हैं—(१) "इस भाषा में भूतकाल के लिये 'इल' का प्रयोग मिलता है। फुल्लिल्ल, गेल्हिअहुं, झंपाविल्ल जैसे इल प्रत्ययांत शब्द मौजूद हैं, जिनका इस्तेमाल आज भी भोजपुरी, मगही, मैथिली, बँगला में प्रायः वैसा ही होता है। (२) विनयश्री प्राकृत अपभ्रंश की चरम विकारवाली 'व्यंजन स्थाने स्वर' की परंपरा को छोड़ तत्सम रूप की ओर लौटते दिखाई देते हैं।"

इन दोनों प्रवृत्तियों का प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता गया। हम परवर्ती अपभ्रंश के प्रसंग में इन विशेषताओं का उल्लेख कर आए हैं। इनका प्रभाव वैष्णव रासों पर स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

रासों की भाषा में ध्वनिपरिवर्तन के नियम प्राकृत से कहीं कहीं भिन्न दिखाई पड़ते हैं। यहाँ संदेशरासक के निम्नलिखित उदाहरण देखिए—

१. ह्रस्व को कई प्रकार से दीर्घ बना देना—प्रवास > पावास

प्रसाधन > पासाहरण
करोति > कुणाइ
हृत > हीय
सभय > सब्भय
परवश > परवस > परव्वस
तुषार > तुसार > तुस्सार

दीर्घ को ह्रस्व बनाना— ज्वाला > झल
शीतल > सियल
भूत > हुय
निर्भ्रांत > निभंति
संमुख > समुह

२. स्वर में परिवर्तन— शशधर > ससिहर
अक्षोट > ईखोड

अ का उ होना— अंजलि > अंजुलि
पद दंडक > पउदंडउ

इ का अ होना— विरहिणि > विरहणि
धरित्री > धरत्ति

उ का अ होना— कुसुम > कुसम

३. इ का य और य का इ होना— रति > रय
रति > रय
आयन्नहिं > आइन्निहिं

४. उ का व होना— नूपुर > णेउर > णेवर
गोपुर > गोउर > गोवर

५. ए का इ होना— पेक्खइ > पिक्खइ
ऐम > इम

६. श्रो का उ होना— मौक्तिक > मोक्तिक > मुत्तिय.

७. प्रारंभिक स्वर का लोप— अरण्य > अरण्ण > रन्न

अरविंद > रविंद

व्यंजन में परिवर्तन

१. न् का ण् और क् का ग् होना— अनेक > अणेग

२. म् का व् होना— रमणीय > रवणिज्ज

मन्मथ > वम्मह

३. स् का ह् होना— संदेश > संदेस > संनेह

दिवस > दियह

४. ह् का लोप होना— तुहुँ < तूँ

तुह > तुअ

५. थ् का ह् होना— पथिक > पहिय

संयुक्ताक्षर में परिवर्तन— आश्चर्य > अचरिय

चतुष्क > चउक्कय

शष्कुलिका > सक्कुलिय

> सकुलिय

निद्रा > निंद

मुग्धा > मुंध

एकत्र > एकत्ति

एकस्थ > इकट्ट

उच्छ्वास > ऊसास

कारकरचना

रास की भापा में लुप्तविभक्तिक पदों का वहुल प्रयोग मिलता है। उदाहरण के लिये संदेशरासक के उद्धरण देखिए—

कर्त्ता कारक—लहि छिद्दु वियंभिउ विरह घोर—रौद्रो विरहः छिद्रं लभित्वा।

कर्मकारक—तूरारवि तिहुयण वहिरयंति—तूर्य रवेण त्रिभुवनं वधिरयंति।

करण कारक—णियवरणिय सुमरंत विरह सवसेय कय—निज गृहिणी [:] स्मरंतः विरहेण वशीकृताः।

संवंध कारक—अवर कहव वरमुद्ध हसंतिय अहरयलु—अपरस्या वरमुग्धाया हसंत्या अधर दलं

अधिकरण—गोवर चरण विलग्गिवि तह पहि पंखुडिय

[नूपुर चरणाभ्यां विलग्य निर्बलत्वात् पतिता]

निर्विभक्तिक कारक रूपों में भ्रम से बचने के लिये तणि[1], रेसि, लग्गि तहुं[2] का होंतओ, तणेण, करेअ, केर, मज्झि आदि परसर्गों का प्रयोग मिलता है।

पूर्वकालिक क्रिया बनाने के लिये इति, अवि, एवि, एविण, अप्पि, इय, इ प्रत्यय लगाए जाते हैं। उदाहरण के लिये संदेशरासक के उदाहरण देखिए—छुट्टिवि, भंमवि, मन्नाएवि लेविणु, दहेविकरि इत्यादि।

तव्यार्थ क्रिया बनाने के लिये—इव्वउ,[3] इय, इज्ज प्रत्यय लगाते हैं। कर्मवाच्य बनाने के लिये 'आण'[4] का प्रयोग करते हैं—

पुरुषवाचक सर्वनाम

सर्वनाम का रूप

		उत्तम पुरुष	मध्यम पुरुष
एकवचन	कर्ता	हउ (हउँ)	तुहु, तूँ
	कर्म	मइ	
	करण	मइ	—तइ
	संबंध	मइ	—पइ
	अधिकरण	मह, महु	तुअ (तुय), तुह, तुज्झ,
बहुवचन	करण	अम्हिहि	तुम्हेहिं, तुम्हि
	अधिकरण	अम्ह	

---

१. संबंध वाचक के अर्थ में—तसु लह मइ तणि णिद णाहु। (सं० रा०, ६४)

२. अपादान के अर्थ में—तिह हुंतउ हउँ इक्कि लेहउ पेसियउ। (सं० रा०, ६५)

३. तिह पुरउ पढिव्वउ णहु वि एउ। (सं० रा०, २०)

४. वे वि समाणा हत्था (सं० रा०, ८०)

वैष्णव रास की भाषा

बारहवीं शताब्दी में जयदेव नामक एक ऐसा मेधावी वैष्णव कवि आविर्भूत हुआ जिसने जनभाषा के साहित्य में क्रांति उत्पन्न कर दी। बंगाल के इस कवि की दो कविताएँ सोलहवीं शताब्दी में 'गुरुग्रंथ' में संकलित मिलती हैं। भाषाशास्त्रियों ने उनकी भाषा का परीक्षण करके यह निष्कर्ष निकाला है कि वे संभवतः पश्चिमी अपभ्रंश में विरचित हुई होंगी क्योंकि अधिकांश शब्दों का प्रथमांत उकारबहुल है जो पश्चिमी अपभ्रंश की विशेषता रही है। दूसरा प्रमाण यह है कि 'गीतगोविंद' की शैली एवं मात्रावृत्त संस्कृत की अपेक्षा अपभ्रंश के अधिक समीप है। पिशेल का तो मत है कि गीतगोविंद के गीत मूलतः उस पश्चिमी अपभ्रंश में लिखे गए जिनका पूर्वी भारत में प्रचलन था। तीसरा प्रमाण यह है कि 'प्राकृतपैंगलम्'[1] में गीतगोविंद की पदशैली एवं भावविधान में विरचित कई ऐसे पद हैं जो अवहट्ट भाषा के माने जाते हैं। अतः भाषाशास्त्रियों[2] ने यही अनुमान लगाया है कि जयदेव ने इन गीतों की रचना परवर्ती अपभ्रंश में की होगी। जगन्नाथपुरी देवालय के एक शिलालेख (१४९९ ई०) से यह ज्ञात होता है कि गीतगोविंद के गीतों का गायन जगन्नाथ की प्रतिमा के संमुख बड़े धूमधाम से होता था। संभव है, रथयात्रा के समय इनका अभिनय भी होता रहा हो क्योंकि चैतन्य महाप्रभु ने उसी परंपरा में आगे चलकर रासलीला का अभिनय अपनी साधुमंडली के साथ किया था।

गीतगोविंद की भाषा को यदि अपभ्रंश स्वीकार कर लें तो इसके संस्कृत रूपांतर एवं अपभ्रंश में अनुपलब्ध वैष्णव रास के कारणों का अनुमान लगाना दुष्कर नहीं रह जाता। ऐसा प्रतीत होता है कि वैष्णव विद्वान् रास का रहस्य अत्यंत गुह्य समझकर राधा कृष्ण की घोर श्रृंगारी लीला को सामान्य जनता के संमुख रखने के पक्ष में नहीं थे। अतः उन्होंने रास को अपभ्रंश में विरचित नहीं होने दिया और जयदेव जैसे कवि ने प्रयास भी किया तो उनकी रचना का पंडितों ने संस्कृत में रूपांतर कर दिया।

---

१. प्राकृत पैंगलम्—पृ० ३३४, ५७०, ५७६, ५८१, ५८६

2. Dr. S. K. Chatterjee. O. D. B. L. Page 126

हमें वैष्णव रास के प्राचीन उद्धरण नरसिंहमेहता, सूरदास, नंददास तथा बंगाली कवियों के प्राप्त हुए हैं। हम उन्हीं के आधार पर वैष्णव रास की भाषा का विवेचन करेंगे।

यह स्मरण रखना चाहिए कि वैष्णव कवियों को धर्मोपदेश के लिये संतसिद्धों की भाषा पैतृक संपत्ति के रूप में मिली थी। संपूर्ण उत्तर भारत में सिद्ध-संत-महात्माओं ने किस प्रकार एक जनभाषा का निर्माण किया इसका मनोरंजक इतिहास संक्षेप में देना उचित होगा।

यहाँ इतना स्पष्ट कर देना यथेष्ट होगा कि ब्रजबुलि में उपलब्ध रास-साहित्य पर हिंदी, बँगला, गुजराती आदि देशी भाषाओं का उसी प्रकार समान अधिकार है जिस प्रकार सिद्ध संतों के साहित्य पर। सोलहवीं शताब्दी में पंजाब में संकलित मराठी, गुजराती, हिंदी, बंगाली संत महात्माओं की वाणियाँ इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं कि उस काल तक आधुनिक भाषाएँ एक दूसरे से इतनी दूर नहीं चली गई थीं जितनी आज दिखाई पड़ती हैं। इसी तथ्य को प्रकट करते हुए राहुल जी कहते हैं—"हम जब इन पुराने कवियों की भाषा को हिंदी कहते हैं तो इसपर मराठी, उड़िया, बँगला, आसामी, गोरखा, पंजाबी, गुजराती भाषाभाषियों को आपत्ति हो सकती है। लेकिन हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं है, कि यह पुरानी भाषा मराठी आदि की अपनी साहित्यिक भाषा नहीं। उन्हें भी उसे अपना कहने का उतना ही अधिकार है, जितना हिंदी भाषाभाषियों को। वस्तुतः ये सारी आधुनिक भाषाएँ बारहवीं तेरहवीं शताब्दी में अपभ्रंश से अलग होती दिखाई पड़ती हैं। जिस समय (आठवीं सदी में) अपभ्रंश का साहित्य पहले पहल तैयार होने लगा था, उस वक्त बँगला आदि उससे अलग अस्तित्व नहीं रखती थीं। यह भाषा वस्तुतः सिद्ध सामंतयुगीन कवियों की उपर्युक्त सारी भाषाओं की संमिलित निधि है।'

आधुनिक[1] भारतीय भाषाओं के जन्मकाल की तिथि निकालना सहज नहीं। किंतु प्रमाणों द्वारा इनका वह शैशवकाल ढूँढ़ा जा सकता है जब इन्होंने एक दूसरे से पृथक् होकर अपनी सत्ता सिद्ध करने का प्रयास किया हो। प्रायः प्रत्येक प्रमुख भारतीय भाषा का भाषाविज्ञान के आधार पर

---

१. डा० सुनीतिकुमार आधुनिक देशीभाषाओं का उद्भवकाल १४वीं शताब्दी के लगभग मानते हैं।

परीक्षण करके एक दूसरे के साथ संबंध निश्चित किया जा चुका है। उन्हीं नवीन शोधों के आधार पर हम आसामी, बँगला, हिंदी, गुजराती एवं महाराष्ट्री के उद्भव पर प्रकाश डालकर सबकी संमिलित पैतृक संपत्ति का निर्णय करना चाहेंगे।

एक सिद्धांत सभी भाषावैज्ञानिकों को मान्य है कि अपभ्रंश भाषा के परवर्ती युग में तीन प्रकार के साहित्य का अनुसंधान किया जा सकता है। जिस प्रकार हेमचंद्र के युग में संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश तीनों भाषाओं में काव्यरचना होती रही, एक ही व्यक्ति तीनों भाषाओं में साहित्य सृजन करता रहा, उसी प्रकार परवर्ती कवियों ने साहित्यिक अपभ्रंश अवहट्ट (मध्यभाषा) एवं जनभाषा के माध्यम से रचना करने की प्रवृत्ति बनी रही। यही कारण है कि विद्यापति जहाँ गोरक्षविजय नाटक संस्कृत में लिखते हैं वहीं कीर्तिलता एवं कीर्तिपताका अवहट्ट में और पदावली जनभाषा में। इसी प्रकार तत्कालीन बंगाल, उड़ीसा आदि भागों के कवियों की भी प्रवृत्ति रही होगी।

नवीं से तेरहवीं शताब्दी तक भाषा एवं विचारों में एक क्रांति और दिखाई पड़ती है। इस क्रांति का कारण है नवीन राजनैतिक व्यवस्था। बौद्धधर्म के ह्रासोन्मुख होने पर शैवधर्म के प्रति अनुराग उत्पन्न हुआ और वज्रयानी सिद्धांतों को आत्मसात करता हुआ नाथ संप्रदाय उठ खड़ा हुआ। इस संप्रदाय में मत्स्येंद्रनाथ तथा गुरु गोरखनाथ जैसे महात्मा उत्पन्न हुए जिन्होंने अपने तप एवं त्याग, सिद्धि एवं योगबल से निराश जनता के हृदयों में आशा की झलक दिखाई। मुसलमानों के अस्त्र शस्त्र से पराजित, बौद्ध साधुओं के भारतत्याग से हताश जनता इन त्यागी सिद्ध पुरुषों के चमत्कारपूर्ण कृत्यों से आश्वस्त हुई। शताब्दियों से स्वतंत्र आर्य जाति को बर्बर विदेशियों की क्रूरता से हतप्रभ होकर घुटने टेकने को बाध्य होने पर नाथपंथी सिद्ध महात्माओं के योगबल पर उसी प्रकार सहसा विश्वास हुआ जिस प्रकार किसी हँसते खेलते बालक के सर्पदंशन से मूर्च्छित होने पर अभिभावकों को मंत्रबल का ही भरोसा होने लगता है।

बौद्ध भिक्षुओं के देशद्रोह का दुष्परिणाम भारतवासी देख चुके थे। पश्चिमी भारत में हिंदू शासकों को पराजित करने के लिये बौद्धों ने विदेशियों को आमंत्रित किया था। सिंध के बौद्धों ने आक्रमणकारी यवनों की खुल्लमखुल्ला सहायता की थी। फलतः जनता में बौद्धों के प्रति भीषण प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। उसका परिमार्जन करने एवं अपने संप्रदाय की त्रुटियों से लज्जित

होने के कारण वज्रयानी सिद्धों ने तुर्कों का विरोध किया। कहा जाता है कि विरूपा के चमत्कारों से दो बार म्लेच्छों को पराजित होना पड़ा।

सम्राट् रामपाल के समय वनबादल नामक हाथी को विरूपा का चरणामृत पिलाया गया जिसका परिणाम यह हुआ कि उसके साहस के बल पर म्लेच्छों को पराजित कर दिया गया। इसी प्रकार सिद्ध शांतिगुप्त ने पश्चिम भारत में तुरुष्क, मुहम्मदी एवं ताजिकों को अपनी सिद्धि के बल से पराजित किया। एक बार पठान बादशाह ने इन सिद्धों को सूली पर लटकाने का प्रयास किया, पर मंत्रों से अभिषिक्त सरसों का प्रयोग करने से जल्लाद उन्हें फाँसी पर लटकाने में असमर्थ होकर पागल हो गए[1]।

इन लोकवार्ताओं से राजनैतिक तथ्य का उद्घाटन तो नहीं होता किंतु लोकप्रचलित धारणा का आभास अवश्य मिलता है। इस लोकधारणा से सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि सिद्ध महात्माओं एवं नाथपंथी योगियों के प्रति जनता की श्रद्धाभावना बढ़ी। आमुष्मिकता की दृष्टि से ही नहीं अपितु निराशामय राजनैतिक परिस्थिति में सांत्वना की दृष्टि से भी इन महात्माओं ने जनता का कल्याण किया। लोकहित की कामना से प्रेरित इन महात्माओं के कंठ से जो वाणी उद्भूत हुई वह काव्य का शृंगार बन गई। जिस भाषा में इनके उपदेश लेखबद्ध हुए वह भाषा देश की मान्य भाषा बन गई। जिस शैली में उन्होंने उपदेश दिया वह शैली भविष्य की पथ-प्रदर्शिका सिद्ध हुई।

हम पहले कह आए हैं कि बुद्ध के शिष्यों ने जिस प्रकार पाली भाषा को व्यापक रूप देकर उसे जनभाषा उद्घोषित किया, उसी प्रकार इन सिद्धों और योगियों ने ९वीं से १३वीं शताब्दी तक एक जनभाषा को निर्मित करने में बड़ा योगदान दिया। इन लोगों ने अपने प्रवचन के लिये मध्यदेशीय अपभ्रंश को स्वीकार किया। हमारे देश की सदा यह परंपरा रही है कि मध्य देश की भाषा को महत्व देने में बहुमत को कभी संकोच नहीं हुआ। इन महात्माओं में अधिकांश का संबंध नालंदा, विक्रमशील एवं उदांदपुर के विश्वविद्यालयों से रहा। किंतु इन्होंने अपनी रचनाओं का माध्यम उस काल की आंचलिक भाषा को न रखकर मध्यदेश की सार्वदेशिक भाषा को ग्रहण किया। इनका संमान इसी देश में नहीं, अपितु तिब्बत, ब्रह्मा, आदि

---

१. मिस्टिक टेल्स, पृ० ६९-७०।

बाहरी देशों में भी होता रहा। इनकी रचनाएँ विदेशी भाषाओं में आज भी लेखबद्ध मिलती हैं जिनके आधार पर तत्कालीन जनभाषा की प्रवृत्ति का परिचय मिलता है।

इस काल की जनभाषा का परिचय पाने के हमारे पास मुख्य साधन ये हैं—(१) सिद्धों एवं नाथपंथियों की बानी, (२) उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण, (३) वर्णरत्नाकर (४) प्राकृतपैंगलम्। सिद्धों की बानियों को उस काल की जनभाषा केवल इसीलिये नहीं मानते कि उन्होंने निम्न स्तर की जनता के लिये बोधगम्य भाषा में अपने उपदेश दिए; इसका दूसरा कारण यह भी है कि ये सिद्ध योगी किसी एक आंचलिक बोली का ही उपयोग नहीं करते थे, अपितु विभिन्न भागों की जनभाषा का समन्वयात्मक अनुशीलन करने पर इनके कंठों से ऐसी साधु भाषा फूट निकलती थी जिसका श्रवण पुण्य और जिसका पठन-पाठन धर्म समझा जाता था। नालंदा, विक्रमशील, उदंतपुर आदि विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा प्रदान करते हुए भी इनकी दृष्टि कल्याण की ओर सतत लगी रहती थी और इसी कारण इनकी भाषा सरल एवं सुबोध बनी रहती। इन योगियों के शिष्यसंप्रदाय ने राजस्थान,[1] बंगाल,[2] कर्नाटक,[3] पूना,[4] गिरनार,[5] मद्रास,[6] नासिक,[7] आगरा,[8] बीकानेर,[9] जंमू,[10] सतारा,[11] जोधपुर,[12] मैसूर,[13] जयपुर,[14] दरनौर,[15] कपिलानी,[16] आदि सुदूर स्थानों पर मठों की स्थापना की जहाँ इनके उपदेश की पावन सरिता में स्नान करने के लिये दूर दूर से यात्री आते और सिद्ध योगियों का आशीर्वाद एवं आदेश पाकर तृप्त होते।

पश्चिमी भारत में गोरखनाथ का प्रभाव डा० मोहनसिंह दिवाना के निम्न-लिखित उद्धरण से और भी स्पष्ट हो जाता है—

"Of places specially associated with Gorakh as seats of his sojourns are Gorakh Hatri in Peshawar

---

१. अमना मठ, और लाड्वास जयपुर में, २. चंद्रनाथ गोरखवंशी, योगिनबन बंगाल में, ३. कादिरमठ कर्नाटक में, ४. पर्वोर मठ पूना में, ५. गोरखक्षेत्र और मनुदुरा गिरनार में, ६. चंतुरगिरि मठ मद्रास में, ७. त्र्यम्बक मठ नासिक में, ८. नीलकंठ एवं पञ्चमुखी आगरे में, ९. गोरखमठ बीकानेर में, १०. पीर सोहर जम्मू में, ११. दर्शन धराला सतारा में, १२. महामंदिर मठ जोधपुर में, १३ हाँडी भरंगनाथ मैसूर में, १४. हिंगुआ मठ जयपुर में, १५. गरीबनाथ टीला सारनोर में, १६. कपिलानी का आश्रम गंगासागर में।

City, Gorakh Nath Ka Tilla in Jhelum district. Gorakh ki Dhuni in Baluchistan (Las Bela state).

Dr. Mohan Singh—"An Introduction to Punjabi Literature.

डा० मोहनसिंह का कथन है कि गोरखनाथ का प्रभाव भारत के अतिरिक्त सीलोन तक फैला हुआ था। वे भ्रमणशील व्यक्ति थे और सर्वत्र विचरण करते रहते थे।

"He is our greatest Yogin, who probaly personally went and whose influence certainly travelled as far as Afghanistan, Baluchistan, Nepal, Assam, Bengal, Orissa, Central India, Karnatak, Ceylon, Maharashtra and Sind. He rightly earned the title of Guru, Sat Guru and Baba.

इन योगमार्गियों की भाषा में एक ओर तो सांख्य एवं योग दर्शन की पारिभाषिक शब्दावली मिलती है दूसरी ओर जैन साधना की पदावली भी। एक ओर वज्रयानी सिद्धों की बौद्ध परंपरागत पदावली मिलती है तो दूसरी ओर शैव साधना के दार्शनिक शब्दसमूह। प्रश्न उठता है कि इसका मूल कारण क्या था ? इस नए साहित्य में इतनी सामर्थ्य कैसे आ गई ?

वज्रयानियों एवं नाथपंथियों के साहित्य का अनुशीलन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि मत्स्येंद्रनाथ एवं गोरक्षनाथ के पूर्व प्रायः जितनी प्रमुख साधना पद्धतियाँ उत्तर भारत में प्रचलित थीं उनकी विशेषताओं को आत्मसात् करता हुआ सिद्धों का दल देश के एक छोर से दूसरे छोर तक जनता को उपदेश देता हुआ भ्रमण करता। मत्स्येंद्रनाथ, गोरखनाथ, जलंधरनाथ प्रभृति सिद्ध महात्माओं ने देखा कि प्रत्येक संप्रदाय का योग में दृढ़ विश्वास जमा हुआ है। उन्होंने इस ऐक्य सूत्र को पकड़ लिया और इसी के आधार पर सबको संगठित करने का प्रयास किया। प्रमाण के लिये देखिए कि निरीश्वर योग में विश्वास करनेवाले कपिल मुनि के अनुयायी कालांतर में वैष्णव[१] योगी होकर गोरखनाथ के संप्रदाय में आ मिले।

---

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी—नाथसिद्धों की बानियाँ, भूमिका, पृ० १८।

गोरक्षनाथ को गुरु रूप में स्वीकार करनेवाले प्रथम सिद्ध संभवतः चाँदनाथ थे जिनमें नागनाथी अनुयायी नेमिनाथ एवं पारसनाथी अनुयायी पार्श्वनाथ नामक संप्रदायों का समन्वित रूप पाया जाता था। ये दोनों महात्मा गोरक्षनाथ से पूर्व हो चुके थे और योग की आवश्यकता निरूपित कर चुके थे। जैन संप्रदाय में भी योगाभ्यास का माहात्म्य स्वीकार किया गया है अतः जैन पदावली का इसमें प्रवेश होना स्वाभाविक ही था। चाँदनाथ के गोरक्ष संप्रदाय में संमिलित होने से जैन धर्म की पदावली स्वतः आ धमकी।

कहा जाता है कि जालंधरपाद वज्रयानी[1] सिद्ध थे। उनके शिष्य कृष्णपाद कापालिक थे। उनके दोहाकोष की मेखला टीका से उनकी कापालिक साधना का पूरा परिचय मिल जाता है। कान्हपाद (कृष्णपाद) के उपलब्ध साहित्य के आधार पर यह निश्चय किया जाता है कि वे हठयोगी भी थे। इस प्रकार अनेक संप्रदायों का उस काल में गुरु गोरक्षनाथ को गुरु स्वीकार करना इस तथ्य का परिचायक है कि वे तेजस्वी महात्मा प्रतिभा के बल से सभी संप्रदायों की साधनागत विशेषताओं को जनभाषा के माध्यम से जनता तक पहुँचा सके और वैष्णव कवियों को धर्मप्रचारार्थ एक सार्वदेशिक भाषा पैतृक संपत्ति के रूप में दे गए।

विभिन्न आचार्यों एवं गुरुओं की एकत्र वंदना इस तथ्य का प्रमाण है कि इन योगियों में समन्वयात्मक शक्ति थी जिससे तत्कालीन विभिन्न संप्रदायों को एक स्थान पर एकत्रित होने का अवसर मिला और सबने सामूहिक रूप से देश को दुर्दिन के क्षणों में आश्वासन प्रदान किया। प्रेमदास ने सभी संप्रदायों के योगियों की इस प्रकार वंदना की है। इस वंदना से उस काल की नवीन साधना पद्धति एवं भाषाशक्ति का परिचय मिलता है—

नमः नमो निरंजनं भरम कौ विहंडनं। नमो गुरदेवं अगम पंथ भेवं।
नमो आदिनाथं भए हैं सुनाथं। नमो सिद्ध मछिन्द्रं बड़ो जोगिन्द्रं॥
नमो गोरख सिधं जोग जुगति विधं। नमो चरपट रायं गुरु ग्यान पाय।
नमो भरथरी जोगी ब्रह्मरस भोगी। नमो बाल गुंदाई कीयौ क्रम घाई॥
नमो पृथीनाथं सदानाथ हाथं। नमो हांडी भड़ंगं कीयौ क्रम षंडं॥

---

१. "इसमें तो कोई संदेह नहीं कि जालंधरपाद का पूरा का पूरा संप्रदाय बौद्ध वज्रयान से संबद्ध था।" हजारीप्रसाद द्विवेदी—नाथ सिद्धों की बानियाँ, पृष्ठ १८

नमो ठीकर नाथं सदानाथ साथं। नमो सिध जलंधरी ब्रह्मबुधि संचरी ॥
नमो कान्ही पायं गुरु सबद भायं। नमो गोपीचंदं रमत्त ब्रह्मनंदं ॥
नमो औघड़देवं गोरख सबद लेवं। नमो बालनाथं निराकार साथं ॥
नमो अजैपालं जीत्यौ जमकालं। नमो हनूनामं निरंजनं पिछानं ॥

इस काल की जनभाषा का परिचय करानेवाले दूसरे साधन उक्त-व्यक्ति-प्रकरण प्राकृतपैंगलम एवं वर्णरत्नाकर से अवहट्ट भाषा का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। अवहट्ट की कतिपय विशेषताएँ उक्त ग्रंथों के अनुशीलन से सामने आती हैं।

वैष्णव परिव्राजकों के लिये मुसलिम युग में मथुरा वृंदावन सबसे बड़ा तीर्थ बन गया था। इसके कारण थे—महमूद गजनवी के समय से ही देव-विग्रह-विद्रोही एवं धनलोलुप विदेशी आक्रमणकारियों की क्रूर दृष्टि हिंदू देवालयों पर रहा करती थी। काशी, अयोध्या, मथुरा आदि तीर्थ उनकी आँखों में खटकते थे। ये ही तीर्थ हिंदू संस्कृति के केंद्र और धर्मप्रचारकों के गढ़ माने जाते थे। इनके विध्वंस का अर्थ था इसलाम की विजय। इन तीर्थों में मथुरा, वृंदावन, ऐसे स्थान हैं जो इंद्रप्रस्थ एवं आगरा के समीप होने से सबसे अधिक संकट में रहे। यह स्वाभाविक है कि सबसे संकटापन्न तीर्थ की रक्षा के लिये सबसे अधिक प्रयास किया गया होगा। इतिहास यही कहता है कि उत्तर भारत ही नहीं, दक्षिण भारत से भी रामानुज, वल्लभ, रामानंद प्रभृति दिग्गज आचार्य वृंदावन में आकर बस गए और शंकर, चैतन्य सदृश महात्माओं ने यहाँ वर्षों निवास करके धर्मप्रचार किया और जाते समय अपने शिष्यों को इस पावन कार्य के लिये नियुक्त किया। इसी उद्देश्य से साधु महात्माओं ने मथुरा वृंदावन में विशाल मंदिरों की स्थापना की और यहाँ की पावन रज के साथ यहाँ की भाषा को भी संमानित किया। वैष्णव महात्माओं ने सारे देश के परिभ्रमण के समय शौरसेनी अपभ्रंश मिश्रित व्रजबोली के माध्यम से इस धर्म के सिद्धांतों को समझाने का प्रयास किया और शताब्दियों तक यह प्रयास चलता रहा। गुजरात, राजस्थान तो शौरसेनी अपभ्रंश एवं व्रज की बोली से परिचित थे ही, आसाम और बंगाल में भी शौरसेनी अपभ्रंश का साहित्य सरहपा आदि संतों से प्रचार पा चुका था। इस प्रकार सुदूरपूर्व में भी वैष्णव पदावली की भाषा के लिये व्रजबोली को स्थान मिला। तात्पर्य यह कि मध्यकाल में कृष्ण की जन्मभूमि, उस भूमि की भाषा और उस भूमि में होनेवाली कृष्णलीला के आधार पर वैष्णव धर्म

एवं संस्कृति का निर्माण होने लगा। तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी में मिथिला के हिंदू राजा भारतीय संस्कृति के परिपोषक रहे। महाराज शिवसिंह ने वैष्णव धर्म की रक्षा की। उनके राज्य में शौरसेनी अपभ्रंश के साथ साथ मैथिल एवं भोजपुरी बोली को आश्रय मिला। मिथिला के संस्कृत के दिग्गज विद्वानों ने संस्कृत के साथ साथ जनपदीय बोली में अपभ्रंश की शैली पर पदावली की रचना की। विद्यापति के कोकिलकंठ से सबसे अधिक मधुर स्वर फूट पड़ा। उसे सुनने को अनेक विद्वान् आचार्य, संत महात्मा मिथिला में एकत्रित हुए।

जब विदेशी विजेताओं की कोपाग्नि में समस्त उत्तर भारत की राज्य-शक्ति होमी जा रही थी उस समय भी मिथिला और उत्कल भौगोलिक स्थिति के कारण सुरक्षित रहकर भारतीय धर्म एवं संस्कृति की रक्षा के लिये प्रयत्नशील थे और वहाँ की विद्वन्मंडली के आकर्षण से कामरूप से कन्नौज तक के ज्ञानपिपासु आकर्षित हो रहे थे। ज्योतीश्वर और विद्यापति की कृतियाँ उत्तर भारत में सर्वत्र संमानित हो रही थीं। जयदेव के गीतगोविंद की ख्याति जगन्नाथपुरी के दर्शनार्थियों के द्वारा सारे देश में फैल रही थी और सभी देवालयों में कीर्तन का प्रधान साधन बन रही थी। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि गीतगोविंद की शैली पर प्रत्येक जनपदीय बोली में कीर्तन पदावली निर्मित हुई जिसके गान से वैष्णव धर्म के प्रसार में आशातीत सहायता मिली।

मध्ययुग की विषम परिस्थितियों ने जब संत हृदयों का मंथन किया तो आवश्यकताओं के अनुरूप नवीन दर्शन नवनीत के रूप में प्रस्फुटित हो उठे।

ब्रजबुलि का उद्भव

उन नवीन विचारों के प्रचार की भावना ने संत महात्माओं का एक ऐसा समाज तैयार कर दिया जो समस्त देश का परिभ्रमण करते हुए अधिकाधिक जनसंपर्क में आते गए। इन महात्माओं ने लक्ष लक्ष अनाश्रित जनता की मूक वाणी को सुनकर चिंतन किया और राजनैतिक एवं धार्मिक आपदाओं के निवारणार्थ प्रभु का आश्रय लेकर जनता को वैष्णव धर्म का संदेश सुनाना प्रारंभ किया। इस नवसंदेश को सर्वत्र प्रचारित करते हुए अनायास एक नवभाषा का निर्माण होने लगा जिसके प्रादुर्भाव में ब्रज एवं मैथिली मूल रूप से किंतु अन्य उपभाषाएँ गौण रूप से योग दे रही थीं। यही भाषा आगे चलकर 'ब्रजबुली' के नाम से प्रख्यात हुई। इसके निर्माण में विद्यापति के

गीतों का विशेष योगदान मिलता है। 'ब्रजबुली'[1] की निर्माणपद्धति पर विचार करते हुए डा० चैटर्जी कहते हैं कि "विद्यापति के राधाकृष्ण प्रेम संबंधी गीतों ने बंगाल में नवजागरण उत्पन्न किया। बंगाल के कविवृंद ने मैथिली के अध्ययन के बिना ही मैथिली, बंगाली और ब्रजभाषा के मेल से एक मिश्रित भाषा का प्रयोग किया जो आगे चलकर 'ब्रजबुली' के नाम से प्रख्यात हुई। इसी भाषा का उपयोग करके गोविंददास, ज्ञानदास आदि वैष्णव कवि अमर साहित्य की सृष्टि कर गए।"

हम पहले कह आए हैं कि सिद्धों एवं नाथपंथियों ने योग के आधार पर एक नवीन जीवनदर्शन की स्थापना करके उसके प्रसार के लिये नवीन साहित्यिक भाषा का निर्माण किया था, जिसको सभी प्रचलित दार्शनिक पद्धतियों की पदावली तथा संपूर्ण उत्तरी भारत की जनभाषा का सहयोग प्राप्त हुआ था। न्यूनाधिक दो तीन शताब्दियों तक इन सिद्धों एवं नाथ-योगियों ने जनसाहित्य को समृद्ध किया। किंतु तुर्कों का आधिपत्य स्थापित होने पर जनता शुष्क ज्ञान से संतुष्ट न रह सकी। सिद्धों एवं नाथपंथियों का जीवनदर्शन तत्कालीन स्थिति में अनुपयोगी प्रतीत होने लगा। इधर वैष्णव महात्माओं ने संतप्त हिंदू जनता को भक्तिधारा में अवगाहन कराना प्रारंभ कर दिया और जनभाषा भी दो तीन शताब्दियों में सिद्धों की साहित्यिक भाषा से बहुत आगे बढ़ चुकी थी। परिस्थिति की विवशता के कारण ब्रज को ही हिंदू संस्कृति का केंद्र बनाना उचित समझा गया था। अतः वैष्णव आचार्यों ने यहाँ निवास करके यहाँ की भाषा में कृष्णलीलाओं का कीर्तन प्रारंभ किया।

आचार्यों ने कृष्ण की ब्रजलीला का प्रसार ब्रज तक ही सीमित नहीं रखा। देश के कोने कोने में घूम घूमकर उस लीलामृत का पान कराना वैष्णव भक्तों ने अपना कर्त्तव्य समझा। इस प्रकार ब्रजाधिपति की लीलाओं को ब्रजभाषा के साथ अन्य भाषाओं के मिश्रण से काव्यरस में आप्लुत करने का स्थान स्थान पर प्रयत्न होने लगा। पश्चिमी एवं उत्तरी पश्चिमी भारत की धर्मपिपासा की शांति का केंद्र तो ब्रज को बनाया गया किंतु पूर्व भारत-स्थित मिथिला, बंगाल, आसाम तथा उत्कल में अनेक महात्माओं एव कवियों ने स्वतंत्र रूप से प्रयास किया। इस प्रयास के मूल में एक मुख्य धारणा यह कार्य कर रही थी कि भाषा सार्वदेशिक एवं सार्वजनीन हो। आंचलिक

---

1. Dr. S. K. Chatterji, O. D. B. L., Page 103

बोलियों का प्रयोग ब्रज एवं मैथिल भाषा में ऐसे कौशल के साथ किया जाय कि संकीर्णता की झलक न आने पावे। उस काल में ब्रजाधिपति की लीला को उन्हीं की बोली में सुनना पुण्य समझा जाता था।

हम यह भी देख चुके हैं कि सिद्धों एवं नाथपंथियों ने परवर्ती शौरसेनी अपभ्रंश को अपनी काव्यभाषा स्वीकार कर लिया था। अतः यह भाषा जनता में समादृत हो चुकी थी। पूर्वी भारत में परवर्ती अपभ्रंश का परिचय होने से वैष्णवों की नई भाषा ब्रजबुलि का समादर स्वाभाविक था।

इन वैष्णव कवियों में सबसे अधिक मधुर स्वर विद्यापति का सुनाई पड़ा था। पूर्व में मिथिला उस समय प्राचीन संस्कृति की रक्षा का केंद्र बन गया था। आसाम का सीधा संपर्क होने से मैथिली मिश्रित ब्रजभाषा शंकरदेव प्रभृति महात्माओं की काव्यभाषा बनी। बंगाल और उत्कल में भी वैष्णव महात्माओं के प्रयास से कृष्णकीर्तन के अनुरूप भाषा अनायास ही बनती गई। इस कृत्रिम भाषा में विरचित साहित्य इतना समृद्ध हो गया कि कालांतर में उसे एक नई भाषा का साहित्य स्वीकार करना पड़ा और ब्रजभाषा से पृथक् करने के लिये इसका नाम ब्रजबुलि रख गया।

बंगाल में ब्रजबुलि के निर्माण का कारण बताते हुए सुकुमार सेन लिखते हैं[१]।

Sanskrit students from Bengal, desiring higher education, especially in Nyaya and Smriti, had to resort to Mithila. When returned home they brought with them, along with their Sanskrit learning, popular vernacular songs, mostly dealing with love in a conventional way, that were current in Mithila. These songs were the composition of Vidyapati and his predecessors, and because of the exquisite lyric charm and the appeal of the music of an exotic dialect, soon became immensely popular among the cultured community.

मिथिला का वैष्णव साहित्य ब्रज से प्रभावित था और बंगाल और

---

१. Sukumar Sen–A history of Brajbuli Literature.

आसाम का मिथिला और व्रज दोनों से। इस प्रकार बंगाल और आसाम के व्रजबुलि के साहित्य में एक कृत्रिम भाषा का प्रयोग स्वाभाविक था। इसी कारण सुकुमार सेन कहते हैं—[1] "There is no wonder that a big literature grew up in Brajbuli which is a mixed and artificial language."

इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि जिस प्रकार पालि, गाथा, प्राकृत एवं अवहट्ट भाषाएँ कृत्रिम होते हुए भी विशाल साहित्य की सृष्टि कर सकीं उसी प्रकार व्रजबुलि नामक कृत्रिम भाषा में १५वीं शताब्दी के यशोराज खान से लेकर रामानंदराय, नरहरिदास, वासुदेव, गोविंददास, नरोत्तमदास, राधामोहनदास, बलरामदास, चंडीदास, अनंतदास, रामानंद वसु, गोविंददास, ज्ञानदास, नरोत्तम प्रभृति कवियों की प्रभूत रचनाएँ हुईं। इस राससंग्रह में व्रज के कवियों की रास रचनाएँ सर्वत्र प्रचलित होने के कारण नहीं संमिलित की गई हैं। सूरदास, नंददास प्रभृति कवियों की कृतियों से प्रायः सभी पाठक परिचित हैं।

इनके अतिरिक्त शोधकर्ताओं को अनेक रासग्रंथ मिले हैं जिनका संक्षिप्त परिचय शोध रिपोर्ट से ज्ञात होता है। ऐसी रचनाओं में निम्नलिखित ग्रंथ प्रसिद्ध हैं जिनकी भाषा परिमार्जित व्रजभाषा है—

(१) श्रीरास-उत्साह-वर्द्धन वेलि, रचयिता वृंदावनदास
(२) रास के पद (अष्टछाप के कवियों का राससंग्रह)
(३) रासपंचाध्यायी, रचयिता कृष्णदेव
(४) रासदीपिका जनकराज किशोरीशरण, रचयिता
(५) रास पंचाध्यायी, आनंद कविकृत।

शोध द्वारा प्राप्त वैष्णव रासग्रंथों में रामरास की निजी शैली है।

कतिपय रास दोहा चौपाई में आबद्ध हैं किंतु अधिकांश के छंद सवया और कवित्त हैं। एक रामरास का उद्धरण यहाँ भाषापरीक्षण के लिये देना आवश्यक प्रतीत होता है—

छलिकै छबीली नव नायिका को दूतिका लै,
अटा पै चढ़ाय छटा चंद्रिका सी लसी है।

---

१. वही।

उतरि कै झपाक दिए जीना के किवार त्यों,
दूती करताल देके मोद मन हँसी है।
तैसेइ भीतर के किवारा खोलि राघव जू,
देखि के नवोढा वाल जकी चकी ससी है।
लीनी भरि अंक पिया लाज साज दवी तिया,
फवी धुनि रसना की मानो देत दसी है।

एक पुरुप श्रीराम है, इस्त्री सव जग जानि।
सिव ब्रह्मादिक को मतो, समुझि गहो हित मानि॥
वाद विवाद न कीजिए, निरविरोध भजु राम।
सव संतन को मत यही, तव पावो विश्राम॥

तात्पर्य यह है कि कृष्णरास के सदृश रामरास का भी प्रचुर साहित्य उपलब्ध है जिसकी भापा प्रायः ब्रजभापा है। इस प्रकार ब्रजभापा और ब्रज बुलि के प्रभूत साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन भापा की दृष्टि से भी अत्यंत महत्वमय है।

रास के छंद

रास काव्यों की छंदयोजना संस्कृत, पाली एवं प्राकृत से प्रायः भिन्न दिखाई पड़ती है। जिस प्रकार प्रत्येक भाषा की प्रकृति पृथक् होती है उसी प्रकार उसका छंदविधान भी नवीन होता है। छंदयोजना काव्यप्रकृति के अनुरूप हुआ करती है। अपभ्रंश का राससाहित्य प्रारंभ में अभिनय एवं गायन के उद्देश्य से विरचित हुआ था अतः इसमें संगीत को प्रधानता दी गई और जो छंद संगीत को अपने अंतस्तल में बिठला सका उसी को आदर मिला। आगामी पृष्ठों में हम रास में प्रयुक्त छंदों का लक्षण एवं उदाहरण देख सकेंगे।

रास स्वरूप का छंद

हम पहले कह आए हैं कि रास या रासक नामक एक छंदविशेष रास ग्रंथों में प्रयुक्त हुआ है। 'रास' छंद का लक्षण विरहांक के 'वृत्तजातिसमुच्चय'[1] में इस प्रकार मिलता है—

> **वित्थारिअ आणुमएण कुण। दुवईछन्दोणुमएव्व पुण।**
> **इअ रासअ सुअणु मणोहरए। वेआरिअसंमत्तक्खरए ॥४–३७॥**
> **अडिलाहिं दुवहएहिंव मत्तारड्डाहिं तहअ ढोसाहिं।**
> ***बहुएहिं जो रइज्जई सो भण्णइ रासऊ णाम ॥३८॥***

अर्थात् कई द्विपदी अथवा विस्तारित के योग से रासक बनता है और इसके अंत में विचारी होता है।

द्विपदी, विस्तारित और विचारी के लक्षण आगामी पृष्ठों पर पृथक् पृथक् दिए जायँगे।

डा० वेलंकर ने भाष्यकार के आधार पर इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—"A रासक is made up of several (?) द्विपदी S or विस्तारित S ending in a विचारी or of several अडिला S, द्विपद S, मात्रा S, रड्डा S or ढोसा S।

१—विस्तारितकानुमतेन कुरु। द्विपदाच्छन्दोनुमतं वा पुनः।
एतद् रासकं सुतनु मनोहरम्। विदारी समाप्ताक्षरम ॥३७॥
अडिलाभिर्द्विपथकैर्वा मात्रारथ्याभिस्तथा च ढोसाभिः।
बहुभिर्यो रच्यते स भण्यते रासको नाम ॥३८॥

विरहांक ने वृत्तजातिसमुच्चय में ही दूसरे स्थान पर 'रासा' नाम देकर छंद का लक्षण इस प्रकार लिखा है—

रासा—मात्रावृत्तम्

चतुर्मात्रास्त्रयः ग ग

अथवा

पढमगइन्दणिऊइअएहिं । बीअअतइअ तुरंगमएहिं ।
जाणसु कण्णविरामअएहिं । सुन्दरि रासाअ पाअएहिं[1] ॥८५॥

गजेंद्र=४
तुरंग=४
कर्ण=SS
अर्थात् प्रत्येक पद में ४+४+४+SS=१६ मात्राएँ

डा० वेलंकर ने भाष्यकार के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

'रासा—Four Padas, each having 4+4+4+SS. This is differet from the रासक mentioned at IV-37,-38 and also from the रास mentioned by Hemacandra at P. 36a, line 7. This metre is very frequently employed in the old Gujrati poems called 'Rasas'

'प्राकृतपैंगलं' नामक ग्रंथ में अपभ्रंश में प्रयुक्त होनेवाले अडिल्ला, रड्डा, घत्ता, आदि छंदों के लक्षण तो विद्यमान हैं किंतु रासा या रासक छंद की कहीं चर्चा भी नहीं है। संभव है, प्राकृत भापा के छंदों की ओर ही मूलतः ध्यान होने और रासक का केवल अपभ्रंश में ही प्रयोग देखकर आचार्य ने इस छंद का लक्षण न दिया हो।

स्वयंभूछंदस् में रासक का लक्षण स्वयंभू ने इस प्रकार दिया है—

घत्ता छड्डणिआहिं पद्धडिआ [हिं] सु = अण्णरूएहि ।
रासावंधो कव्वे जण-मण-अहिरामो (मओ ?) होइ ॥

अर्थात् काव्य में घत्ता, छड्डणिया, पद्धडिआ और दूसरे सुंदर छंद बड़े युक्तिपूर्वक राधाबंध होकर लोगों को सुंदर लगते हैं।

१—प्रथमगजेन्द्र नियोजितैः । द्वितीय तृतीय तुरङ्गमैः ।
जानीहि कर्ण विरामैः । सुन्दरि रासां च पादैः ॥

इसी के उपरांत स्वयंभू ने (१४+७)=२१ मात्रा के छंद की व्याख्या की है जिससे प्रतीत होता है कि रासकबंध में रासा छंद विशेष रूप से प्रयुक्त होते थे।

हेमचंद्र ने छंदानुशासन में रास की व्याख्या करते हुए लिखा है—

सयलाओ जाईओ पत्थारवसेण एत्थ बज्झंति।

रासाबन्धो नूणं रसायणं बुद्ध गोठ्ठीसु॥

रासा का लक्षण इससे भिन्न है। रासा में चार पाद होते हैं और प्रत्येक पाद में ४+४+४+ — — =१६ मात्राएँ होती है।[1]

हेमचंद्र ने छंदानुशासन में रासक और आभाणक को एक ही छंद स्वीकार किया है। हेमचंद्र ने रासक का लक्षण देते हुए कहा है—

रास, रासक

(१) दामाऽत्रानो रासके डै

टीका—दा इत्यष्टादशमात्रा नगणश्च रासकः। डैरिति चतुर्दशभिर्मात्राभिर्यतिः।

अर्थात् रासक छंद में १८ मात्रा+ललल=२१ मात्रा होती है और १४ पर यति होती है।

हेमचंद्र के रासक के लक्षण से सर्वथा साम्य रखनेवाला लक्षण छंदःकोष में आभाणक का मिलता है। आभाणक का लक्षण इस प्रकार है—[2]

(२) मत्तहु, वइ चउरासी, चउपइ चारि क, लं
तेसठ, जोनि नि, बंधी, जाणहु, चहुयद, ल
पंच, कलव, ज्जिज्जहु, गणुसु, द्धुवि गण, हु
सोविअ, हाणउ, छंदुजि, महियलि बुह मुण, हु

[मत्त होहि चउरासी चहुपय चारिकल
ते सठि जोणि निबद्धी जाणहु चहु अ दल।
पंचक्कलु वज्जिज्जहु गणु सुद्धि वि गणहु
सो वि आहाणउ छंदु केवि रासउ मुणहु॥]

१—वृत्तजातिसमुच्चय-(विरहांक)-४।८५

२—प्रत्येक पद में २१ मात्रा होती हैं अतः कुल ८४ मात्राएँ हैं। प्रारंभ में ६ मात्राएँ, तदुपरांत चार चार, अंत में ३ मात्रा। पाँच मात्रा वर्जित हैं। यही रासक छंद का भी लक्षण है।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारंभ में रासक और आभाणक एक ही प्रकार के छंद थे किंतु कालांतर में इनके विकास के कारण अंतर आ गया। संदेशरासक में इन दोनों में स्पष्ट अंतर दिखाई पड़ता है। प्रमाण यह है—

सो वि आभाणउ, छंदु केवि रासऊ मुणहु[1]।

अर्थात् कोई आभाणक छंद और कोई रासक छंद गा रहा था।

श्री रामनारायण विश्वनाथ पाठक ने 'प्राचीन गुजराती छंदो' में इसका विवेचन करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है—

'अर्थात् रासक अने आभाणक अेक ज छंद नुं नाम छे आ बे नामो मां रासक नाम बधी जाति रचनाओ नुं सामान्य नाम छे, ते उपरांत बीजु विशेष रचनाओ नुं पण छे, तेथी उपरनी रचनीने आपणे आभाणक कही अे तो सारुं। अे रीते जोतां भविसयत्त कहानी उपर उतारेली रचना आभाणक गणवी जोई अे।'[2]

आभाणक : दादा दादा दादा दादा दालल ल

(३) रासा से सर्वथा साम्य रखनेवाला एक और छंद रासावलय है। इसमें भी २१ मात्राएँ होती हैं। रासावलय का लक्षण इस प्रकार है—

६+४+६+५ =२१ मात्राएँ

रासावलय और आभणक या रास में अंतर यह है कि आभणक में पंच-कल वर्जित है—

(४) रासक के अन्य लक्षण इस प्रकार हैं—

(१८ मात्रा+ललल) १४ मात्रा पर यति

अथवा

(५) पाँच चतुष्कल के उपरांत लघु गुरु मिलाकर कुल २३ मात्राएँ होती हैं।[3]

अब अपने संगृहीत रास काव्यों के रासक, रास या रासा छंद पर विचार कर लेना आवश्यक है—

१—संदेशरासक, पृष्ठ १२

२—प्राचीन गुजराती छंदो—गुजरात विद्या सभा, अहमदाबाद, पृ० ८०

३—वही, पृ० ३७७

संदेशरासक के प्रायः तृतीयांश में रास छंद का प्रयोग हुआ है। इस छंद का सामान्य रूप इस प्रकार मिलता है—

∨∨ +४+ ∨∨ ∨∨ +∨/३+ ∨∨ ∨∨ +∨ ∨ ∨=२१ मात्राएँ

अथवा

∨∨+४+∨∨ ∨∨+∨ ∨/∨∨+∨∨ ∨∨+∨ ∨ ∨=२१ मात्राएँ

हम पहले देख आए हैं कि रासक में द्विपदी विस्तारितक एवं विचारी का प्रयोग होता है। इन छंदों का विवेचन कर लेना आवश्यक है।

द्विपदी—

द्विपदी (दुवई) नाम से यही प्रतीत होता है कि. इस छंद में २ पद अथवा चरण होंगे. किंतु अपभ्रंश काव्यों का अनुशीलन करने पर ५७ प्रकार की चार पादवाली द्विप्रदी प्राप्त होती है। परीक्षण करने पर डा० भयाणी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि जब अपभ्रंश महाकाव्य की संधि के प्रारंभ में द्विपदी का प्रयोग होता है तो उसमें दो ही पाद होते हैं। किंतु गीतों में प्रयुक्त द्विपदी के चार पाद होते हैं। छंदानुशासन के अनुसार द्विपदी इस प्रकार है।

६+∨ ∨∨ ∨+४+४+४+∨ ∨∨ ∨+—=२८ मात्राएँ

वृत्तजातिसमुच्चय में द्विपदी छंद का उल्लेख नहीं मिलता। किंतु इस राससंग्रह में संदेशरासक में इसका प्रयोग मिलता है।

इस छंद का प्रयोग अधिकांश रासग्रंथों में हुआ है।[1] वृत्तिजातकसमुच्चय अडिल (अडिल्ला) में इसका लक्षण इस प्रकार है—

> श्रुति सुखानि पर्यालोच्य इह प्रस्तार सागरे
> सुतनु विविध वृत्तानि सुसंचित गुण मनोहरे।
> अडिला भवति आभीर्या नताङ्गि भाषया
> सयमकैः पादैः समार्धसमैः कुरु सदा॥
> स्यन्दनो रथाङ्गं संजानीत। हार संजानीत।
> यमक विशुद्धैः संजानीत। अडिला लक्षणे संजानीत॥

कोई भी वह सुंदर छंद अडिल्ल माना जाता है जिसकी भाषा (अपभ्रंश)

१—केवल संदेशरासक के १०४, १८२; १५७–१७०, १७४ से १८१ तक

आभीरी हो और यमक का प्रयोग हो इसी के उपरांत दूसरा लक्षण विरहांक इस प्रकार लिखते हैं—

६ + V — V + — — + V V + यमक । प्रत्येक पंक्ति में ये ही लक्षण होते हैं।

भयाणी जी का मत है कि प्रारंभ में अडिल्ल किसी छंद विशेष का नाम नहीं प्रत्युत टेकनिकल शब्द था और कोई भी सामान्य छंद अपभ्रंश में विरचित होकर यमक के साथ संयुक्त होने से अडिल्ल बन जाता था। कालांतर में १६ मात्राओं का छंद (६+४+४+V V) अडिल्ल के नाम से अभिहित हुआ। यमक का प्रतिबंध भी निकाल दिया गया। अंत में प्रथम और द्वितीय का तथा तृतीय और चतुर्थ का तुकांत आवश्यक बन गया।

संदेशरासक के कतिपय छंदों में यमक का पूर्ण निर्वाह मिलता है। शरद्वर्णन के प्रारंभ में (पाइउ, पाइउ) (रमणीयव, रमणीयव) यमक पाया जाता है। कहीं केवल तीसरे एवं चौथे चरण में यमक है।

कहीं कहीं ६ चरणों में यमक का प्रयोग पाया जाता है। ऋषभदास कृत कुमारपालरास में ६ पंक्तियों में 'सल्लइ' यमक का प्रयोग पाया जाता है।

संदेशरासक की टिप्पणी में पद्धडिया छंद का लक्षण इस प्रकार मिलता है—

सोल समत्तउँ जहिं पउदीसउ,
अक्खर गंत्तु न किं पि सलीसइ।
पायउ पायउ यमक विसुद्धउ
पद्धडि यह इहु छंदु मडिला पसिद्धउ ॥

अडिल्ल एवं मडिला में बहुत ही सूक्ष्म अंतर है। ऐसा प्रतीत होता है कि हेमचंद्र ने इन्हें एक ही छंद के दो प्रकार मान लिए हैं।

संदेशरासक के टीकाकार ने १११ वाँ छंद मडिल्ल नाम से घोषित किया है और उसका लक्षण इस प्रकार है—[३]

जमक्कु होइ जहि विहु पय जुत्तउ। मडिल्ल छंदु तं अज्जुणि वुत्तउ ॥

दो पादों के अंत में यमक हो तो अडिल्ल एवं चारो पादों में यमक हो तो मडिल्ल होगा। अडिल्ल छंद का प्रयोग आगे चलकर लुप्तप्राय हो गया।

---

१. संदेश रासक छंद १५७
२. वही, छंद १६१
३. वही, छंद १११

रामनारायण विश्वनाथ पाठक का मत है कि 'अने आपणा विषय ने अंगे अे कशा महत्व नो प्रश्न न थी। आपणी प्रस्तुत वात अेछे के आ अलिल्लह के अडयल मात्र अेक कौतुक नो छंद रह्यो हतो अने ते आपणा जातिवद्ध प्रबंधो मांथी लुप्त थाय थे।'[1]

अपभ्रंश महाकाव्य का मुख्य छंद होने के कारण प्रायः सभी आचार्यों ने इस छंद पर विचार किया है। इस छंदकी महत्ता इतनी है कि अकेले संदेश रासक के ६४ पादों में इसका प्रयोग किया गया है।

पद्धडिका (पज्झटिका)

इस छंद में चतुर्मात्र गण (४+४+४+४) १६ मात्राएँ होती हैं। कतिपय छंदशास्त्रियों का मत है कि चतुर्मात्रा का क्रम (∨ ∨ —) होना चाहिए। संदेशरासक के २०, २१, ५६–६३१, २००–२०३, १०५–२०७, २१४–२२० आदि छंदों में पद्धडिया छंद दिखाई पड़ता है। पद्धडिया छंद का लक्षण संदेशरासक की अवचूरिका में इस प्रकार मिलता है—

सोलसमत्तउ जहिं पउ दीसइ, अक्खरु अंतु न किं पि सालीसइ।
पायउ पायउ जमक विसुद्धउ, पद्धडीअइ इह छंद विसुद्धउ॥
चत्वारोऽपि पदाः षोडश मात्रिकाः। आद्यार्धे उत्तरार्द्धे च यमकम्।

रामनारायण विश्वनाथ पाठक का मत है कि 'आमां घणी पंक्तिओ मां अंते लगाल (∨ — ∨) आवे छे, जे पद्धडी नुं खास लक्षण छे। बाकी मात्रा संख्या अने संधि नुं स्वरूप जोतां आकृति मूल थी पण पद्धडी गणाय अेवी न थी।'[2]

रड्डा

रड्डा अपभ्रंश साहित्य के प्रमुख छंदों में है। प्राकृतपैङ्गलम् में इसका लक्षण देते हुए लिखते हैं कि इसके प्रथम चरण में पंद्रह, द्वितीय में बारह, तृतीय में पंद्रह, चतुर्थ में ग्यारह, पंचम में पंद्रहमात्राएँ होती हैं। इस प्रकार कुल ६८ मात्राओं का रड्डा छंद होता है। इसके अंत में एक दोहा होता है।

---

१. प्राचीन गुजराती छंदो पृ० १५१

२. प्राचीन गुजराती छंदो—रामनारायण विश्वनाथ पाठक पृ० १४६

पढम विरमइ मत्त दह पंच, पअ बीअ बारह ठवहु,
बीअ ठाँइ दहपंच जाणहु, चारिम एग्गारहहिं,
पंचमे हि दहपंच आणहु।

संदेशरासक की टिप्पनक रूपा व्याख्या में रड्डा का लक्षण इस प्रकार दिया हुआ है—जिसके प्रथम पाद में १५ द्वितीय में ११, तृतीय में १५, चतुर्थ में ११, पंचम में १५ मात्राएँ होती हैं और अंत में दोधक छंद होता है उसे रड्डा कहते हैं।

संदेशरासक के १८, १६, २२२, २२३, इन चार छंदों में रड्डा पाया जाता है।

वृत्तजातिसमुच्चय में रड्डा का लक्षण देते हुए विरहांक लिखते हैं—

> एअहु मत्तहु अन्तिमउ। जव्विहि दुवहउ ओदि।
> तो तहु णामें रड्ड फुडु। छन्दइ कइअणु ओदि॥

अर्थात् जब 'मात्रा' के विविध भेदों में से किसी एक के अंत में दोहा आता है तो उसे रड्डा कहते हैं।

यह ऐसा छंद है जिसका उपयोग केवल अपभ्रंश भाषा में होता है।

मात्रा

अर्थात् अपभ्रंश का यह विशेष छंद है। इसका लक्षण इस प्रकार है—

> विषमच्छन्दसः पादा मात्राणां। द्वौत्रयश्च सौम्यमुखि।
> मणिरूपसगणविनिर्मिताः। तेषां पादानां मध्यमानां।
> निपुणैः लक्षणं निरूपितम्॥

अर्थात् विषम मात्राओं के इस छंद में पाँच पाद होते हैं। प्रथम, तृतीय और पंचम में करही मात्रा में १३, मोदनिका में १४, चारुनेत्री में १५, राहुसेनी में १६ मात्राएँ होती हैं। दूसरे और चौथे पाद में इनमें क्रमशः ११, १२, १३, १४ मात्राएँ होती हैं।

हेमचंद्र ने इसके अनेक भेद किए हैं। इनमें मुख्य मात्रा छंद के पाँचों पादों में क्रमशः १६, १२, १६, १२, १६ मात्राएँ होती हैं।

इस छंद का अपभ्रंश में बड़ा ही महत्व है। मात्रा के किसी भेद के अंत में द्विपदक (दोहा) रख देने से रड्डा बन जाता है।

विस्तारितक

वृत्तजातिसमुच्चय में विस्तारितक का लक्षण देते हुए विरहांक लिखते हैं—

> भट्ठासट्ठी पूरवहु अग्गे दोहा देहु।
> राअसेण सुपसिद्ध इअ रड्डु भणिज्जइ एहु।
>
> —प्राकृतपैङ्गलम्, पृ० २२८

दुवईश जो ण छन्दो सारिच्छं वहइ जं च दुअईण।
महुरं च कइअएहिं वित्थारिअअंति तं जाण।

अर्थात् विस्तारितक वह छंद है जो कुछ सीमा तक द्विपदी से सादृश्य रखता है और कुछ सीमा तक असादृश्य। रचनापद्धति तो द्विपदी के समान ही होती है किंतु विस्तार में अंतर होता है। द्विपदी में चार पद होते हैं किंतु विस्तारितक में एक, दो या तीन।

इस छंद का उल्लेख हेमचंद्र के छंदानुशासन में कहीं नहीं मिलता। हमारे राससंग्रह में भी इस छंद का प्रयोग नकारात्मक ही है। केवल रासक छंद को स्पष्ट करने के लिये इसकी व्याख्या आवश्यक समझी गई।[1]

ठवणी

ठवणी की उत्पत्ति स्थापनिका शब्द से हुई है। यही शब्द प्राकृत में ठवणिआ बन गया। काव्य के शुद्ध वर्णनखंड को ठवणी कहते हैं। इसी कारण यह कड़वक से साम्य रखता है। वस्तु का प्रयोजन है पूर्वस्थित और परस्थित ठवणी को संयोजित करना। इसके द्वारा पूर्व कड़वक का सारांश तो स्पष्ट हो ही जाता है आगामी कड़वक के स्वरूप का अल्प आभास सा मिलने लगता है।

ठवणी और वस्तु की गेयता

ठवणी में ऐसे छंदप्रयोग की आवश्यकता पड़ती है जो सरलता से गाया जा सके। इनके मूल में चउपई, पद्धड़ी, दुहा, सुरठा इत्यादि छंद पाए जाते हैं। वस्तु छंद की कतिपय विशेषताएँ हैं। वस्तु शब्द का अर्थ ही है कथानक की रूपरेखा का गान।[2] यह एक प्रकार से कड़वक का संक्षिप्त रूप है। इसके प्रथम चरण के प्रथम अर्द्धांश की वारंबार पुनरावृत्ति होती है। इसी से यह सिद्ध होता है कि यह ध्रुवपद की भाँति प्रयुक्त होता है। वस्तु के मूल शरीर में दो ही चरण होते हैं, यद्यपि हेमचंद्र एवं प्राकृतपिंगल के अनुसार इसमें चार चरण माने जाते हैं—हेमचंद्र ने इसका नाम रड्डा

---

१. वृत्तजातिसमुच्चय, ३.१६

२. The वस्तु metre as its very name expresses is a song of the outline of the story. It is a miniature कड़वक itself the first half of the first line always being repeated to signify that it is a ध्रुवपद."—गुर्जररासावलि, P. 7.

बताया है किंतु रास काव्यों में इसे सर्वत्र छंद कहकर घोषित किया गया है। इस छंद की रचना इस प्रकार है। प्रथम पंक्ति में ७ मात्राएँ +७ (जिसकी मात्राएँ ध्रुवपद की भाँति बार बार पुनरावृत्ति होती हैं)। इसके उपरांत आठ मात्राएँ जिनमें अंतिम मात्रा लघु होती है। इस प्रकार प्रथम चरण में २२ मात्रा, द्वितीय एवं तृतीय में १२+१६ अर्थात् २८ मात्राएँ होती हैं। प्राकृतपिंगल के अनुसार चतुर्थ चरण में (११+१६) मात्राएँ होती हैं और सबसे अंत में २४ मात्रा का दोहा होता है। यही वस्तु चरण ठवणी का प्राण स्वरूप है।

विचारी

वृत्तजातिसमुच्चय २।५

(या वस्तुकाछुध्वी सा विदारीति संज्ञिता छन्दसि।
द्वौ पादौ भण्यते द्विपथकमिति तथा एककं एकः॥)

द्विपदीनां यत्र छन्दसि सादृश्यं वहति; यच्च द्विपदीनाम्।
मधुरं च कृतककैर्विस्तारितकमिति तज्जानीहि॥
या अवलम्बते चतुर्वस्तुकानामर्थं पुनः पुनर्भणिता।
विचार्यैवासौ विषधराभ्यां ध्रुवकेति निर्दिष्टा॥

विचारी का एक चरण द्विपदी की पूर्ति करते हुए ध्रुवक कहलाता है इसी प्रसंग में विरहांक ने विस्तारिक का भी लक्षण दे दिया है। इससे स्पष्ट होता है कि विस्तारिक, द्विपदी एवं विचारी एक ही कोटि के छंद हैं।

द्विपदी (द्विपथक) की व्याख्या की जा चुकी है। इसमें केवल दो पद होते हैं और प्रत्येक पद में ४+४+४+गुरु+४+४+गुरु गुरु मात्राएँ होती हैं। पिंगल के दोहे के समान यह छंद होता है।

रमणीयक

वृत्तजाति समुच्चय ४।२६

(यच्चियुक्तशरतोमरयोधतुरंगं । विरामे दूरोज्वलवर्णध्वजाग्रम्।
तं विजानीहि सुपरिष्ठितयतिरमणीयं। छन्दसि शातोदरि रमणीयकम्॥)

ध्वज ।ऽ
शर =५
तोमर=५
योध =४
तुरंग=४

इस प्रकार २१ मात्राओं का रमणीयक (रमणिज्ज) छंद होता है।
संदेशरासक का २०८ वाँ छंद यही है।

मालिनी

वृत्तजातिसमुच्चय ३।४४

(यस्याः पादे पङ्कजवदने दूरं श्रवणसुखावहे
सुललितबन्धे सन्नतबाहुके मुग्धे अंतिमरत्ने ।
प्रथमद्वितीयौ तृतीयचतुर्थौ पञ्चमः षष्ठश्च सप्तमश्च
भवति पुरोहित इति विम्बोष्ठि छन्दसि जानीहि मालिनीति ॥)

जिसमें ७ गण हों और पुरोहित प्रत्येक गण में (४-५ मात्राएँ) हों उसे मालिनी छंद कहते हैं ।

संदेशरासक के १०० वें पद में मालिनी छंद है जिसका लक्षण है—

पञ्चदशाक्षरं मालिनीवृत्तम् ।
द्वौ नगणौ तदनु मगणः तदनु द्वौ यगणौ ।

अर्थात् प्रत्येक पाद में १५ अक्षर हों और उनका क्रम हो—दो नगण, मगण, दो यगण । इस प्रकार १५ अक्षरों का मालिनी छंद होता है ।

खडहडक

वृत्तजातिसमुच्चय ४.७२ ॥

(भ्रमरावल्या अन्ते गाथा यदि दीयते प्रयोगेषु ।
तज्जानीत खडहडकं पूर्वं कवीभिर्विनिर्दिष्टम् ॥)

भ्रमरावली के अंत में यदि गाथा छंद प्रयुक्त हो तो प्राचीन कवियों ने उसे खडहडक नाम से निर्दिष्ट किया है ।

गाथा

वृत्तजातिसमुच्चय ४।२

(गाथा प्रस्तारमहोदधेस्त्रिदक्षराणि समारम्भे ।
जानीहि पञ्चपञ्चादशक्षराणि तस्य च विरामे ॥)

गाथा वृत्त के प्रस्तार में ३० तीस अक्षरों से लेकर ५५ पचपन अक्षरों तक पर विराम होता है ।

चतुष्पद

वृत्तजातिसमुच्चय ४।६६

(पक्षिनाथौ द्वौ कर्णः । पटह-रस-रव-करम् ।
चापविहगाधिपौ । द्वयोश्च चतुष्पदे ॥)

इस छंद में चार पद होते हैं । प्रथम चरण में गुरु, लघु, गुरु+गुरु, लघु, गुरु+गुरु, गुरु, दूसरे चरण में लघु, लघु, लघु+लघु, लघु+लघु+लघु, लघु, गुरु, और तीसरे और चौथे चरणों में ५+गुरु, लघु, गुरु होते हैं ।

नंदिनी

वृत्तजातिसमुच्चय ३।२

(सुविदग्ध कवीनां सुखापणिके । ललिताक्षरपंक्ति प्रसाधनिके ।

कुरु नन्दिनी मनोहरपादे । रसनूपुरयोर्युगस्य युगम् ॥)

नंदिनी छंद के एक पद में रस और नूपुर के चार युग्म (जोड़े) होते हैं अर्थात् ।।ऽ+।।ऽ+।।ऽ+।।ऽ । इस प्रकार चतुर कवियों ने ललित अक्षरों द्वारा नंदिनी के मनोहर पादों की रचना का निर्देश किया है ।

भ्रमरावलि

वृत्तजातिसमुच्चय ४।६१

(रसनूपुरभावमणीनां युगस्य युगं
नियमेन नियुङ्क्ष्व रूपयुगं समणिम् ।
भ्रमरावल्याः सुदूरमनोहरे
ललिताक्षरपंक्ति प्रसाधन शोभिते ॥)

रस, नूपुर, भाव और मणि के युग्मों (जोड़ों) से नियमपूर्वक ललित अक्षरों से बना हुआ छंद भ्रमरावली कहलाता है, जिसका रूप यों है—
।।ऽ+।ऽऽ+।।ऽ+।।ऽ+।।ऽ ।

स्कंधक

वृत्तजातिसमुच्चय ४।६-१२

पंचानां सदा पुरतो द्वयोश्चाग्रे वारणयोर्नियमितः ।
यथा दयिते पूर्वार्धे तथा पश्चार्धेऽपि स्कन्धकस्य नरेन्द्रः ॥ ९
षड्विंशतिर्यथा गाथा रत्ने लुप्ते रसे वर्धमाने ।
एकोनत्रिंशत् स्कन्धकस्य नामानि तथा च प्रिये ॥ १०
पवन-रवि-धनद-हुतवह-सुरनाथ-समुद्र-वरुण-शशि-शैलाः ।
मधु-माधव-मदन-जयन्त-भ्रमर-शुक-सारस-मार्जाराः ॥ ११
हरि-हरिण-हस्ति-काकाः कूर्मो नय विनय-विक्रमोत्साहाः ।
धर्मार्थकामसहिता एकोनत्रिंशत् स्कन्धका भवन्ति ॥] १२

स्कंधक छंद में ८ चतुर्मात्राएँ होती हैं जिसमें छठी चतुर्मात्रा सदा ।ऽ। होती है । इस प्रकार स्कंधक में ३४ से ६२ तक अक्षर होते हैं । इसके २९ प्रकार होते हैं जिनके नाम वृत्तजातिसमुच्चय में पवन से काम तक गिनाए गए हैं ।इस छंद के अनेक नाम इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं कि इसका बहुल प्रचार रहा होगा । स्कंधक का इसी प्रकार का लक्षण एक स्थान पर और मिलता है—

चउमत्ता अट्ठगणा पुव्वद्धे उत्तरद्ध होइ समरुआ।
सा खंधआ विआणहुँ पिंगल पभणेहि मुद्धि बहु संभेहा॥

अर्थात् चतुर्मात्रा के आठ गण होने से ३२ मात्रावाला खंधआ छंद होता है जिसके बहुत भेद हैं।

खंधहा स्कंधक का अपभ्रंश रूप है। संदेशरासक में कवि ११६ वें पद्य का खंधउ कहता है जो इस प्रकार है—

मह हियय रयणनिही, महियं गुरुमंदरेण तं णिच्चं।
उम्मूलियं असेसं, सुहरयणं कड्ढियं च तुह पिम्मे॥

इस प्रकार (१२ + १८)= ३० मात्राओं द्वारा कुल ६० मात्राओं का भी स्कंधक छंद हो सकता है।

सवंगम

पेथड रास में इस छंद का उपयोग हुआ है। इस छंद का लक्षण प्राकृतपैंगलम् में इस प्रकार मिलता है—

जत्थ पढम छअ मत्त पअप्पअ दिज्जए
पंच मत्त चउमत्त गणाणहि किज्जए।
संभलि अंत लहू गुरु एक्कक चाहए।
मुद्धि पअंगम छंद विअक्खण सोहए॥

—प्रा० पैं० १८६

जहाँ प्रत्येक पद में पहले छकल गण हो, पंचमात्रा अथवा चतुर्मात्रा गण न आवें, अंत में लघुगुरु आवे, ऐसा छंद प्लवंगम होता है। कुछ लोगों का मत है कि प्रत्येक पद आदि में गुरु हो और ११ मात्राएँ हों।

इस छंद का उदाहरण रास से इस प्रकार दिया जा सकता है—

जलहर संहरु एहु कोपि आढत्तओ
अविरल धारा सार दिसामुह कन्तओ।
ए मइं पुहवि भमन्तो जइ पिअ पेक्खिमि
तव्वे जं जु करीहिसि तंतु सहीहिमि॥

काव्य

इस छंद का उपयोग दो प्रकार से होता है—(१) स्वतंत्र रूप से, (२) वस्तु के रूप में उल्लाला के साथ। इस छंद के प्रत्येक पाद में २४ मात्राएँ होती हैं। प्राकृतपैंगलम् में इसका लक्षण इस प्रकार है—

आइ अंत दुहु छक्कलउ तिण्णि तुरंगम मज्झ।
तीए जगण कि बिप्पगणु कव्वह लक्खण बुज्झ॥

अर्थात् प्रत्येक चरण में २४ मात्राएँ होती हैं। आदि अंत में दो षट्कल होते हैं। शेष रचना इस प्रकार होती है—

(६+४+ह्रस्व दीर्घ ह्रस्व+४+६)। द्वितीय और चतुर्थ गण में जगण वर्जित है।

इस छंद का प्रयोग स्वतंत्र रूप से संदेशरासक के १०७ वें छंद में हुआ है और वस्तुक के रूप में संदेशरासक में १४८, १८३, १६१, १६६ छंद में मिलता है।

वत्थु (वस्तु)

इसे षट्पद भी कहते हैं। इस छंद की रचना काव्य और उल्लाला के योग से प्रायः मानी जाती है। किंतु संदेशरासक के उद्धरणों के आधार पर भयाणी जी ने यह सिद्ध किया है कि वस्तु के तीन प्रकार होते हैं—

(१) काव्य और उल्लाल, (२) रासा और उल्लास, (३)—काव्य-रासासंकीर्ण और उल्लाल के योग से बना हुआ।

दुम्मिल

'रणमल्लछंद' नामक काव्य में दुमिला छंद का सुंदर प्रयोग हुआ है। इस छंद का लक्षण प्राकृतपैंगलम् में इस प्रकार मिलता है—

दह वसु चउदह विरइ करु यिसम कण्णगण देहु।
अंतर विप्प पइक्क गण दुम्मिल छंद कहेहु॥
—प्रा० पै०, १६७

इससे सिद्ध होता है कि ३२ मात्रा का यह छंद है। इसमें १०+८+१४ मात्राएँ आती हैं। रणमल्लछंद[1] में दुम्मिल दिखाई पड़ता है।

उपर्युक्त छंदों के अतिरिक्त चुप्पइ, पंच चामर, सारसी, हाँढकी, सिंह विलोकित आदि विविध छंदों का प्रयोग दिखाई पड़ता है। इन छंदों का हिंदी पर प्रभाव पड़ा और हिंदी ने संस्कृत के अतिरिक्त अपभ्रंश के इन छंदों को भी प्रयुक्त किया। अपभ्रंश के कवियों ने रसानुकूल छंदों की योजना की। गेय पदों के छंदों में पाठ्य से विशेषता दिखाई पड़ती है। अधिक संगीतात्मक होने से अपभ्रंश छंदों का हिंदी में बहुल प्रयोग हुआ।

---

१. गौरीदल गाहवि दिट्ठ दहुदिसि गढि मढि गिरिगह्वरि गढियं।
हणहणि हक्कन्तउ हुं हुं हय हय हुङ्कारवि हयमरि चढियं।
धडहडतउ धडि धमधज्ज धरातलि धम्रि धगडायण धूंसधरइ।
ईडरवइ पक्खर वेस सरिसु रणि रामायण रणमल्ल करइ।

ऐतिहासिक रास तथा रासान्वयी ग्रंथों की उत्पत्ति और विकास का विवेचन

किसी काव्य के रूपविशेष की उत्पत्ति को ढूँढ़ने की प्रवृत्ति आजकल प्रायः सार्वत्रिक है। किंतु अधिक से अधिक गहराई तक पहुँचने पर भी यह उत्पत्ति हमें प्रायः मिलती नहीं। मानव स्वभाव की कुछ प्रवृत्तियाँ इतनी सनातन हैं और उनकी अभिव्यक्ति भी इतनी प्राचीन है कि यह बताना प्रायः असंभव है कि यह अभिव्यक्ति इस समयविशेष में हुई होगी। भारतीय सभ्यता को आर्य-द्रविड़-संस्कृति कहा जाय तो असंगत न होगा। द्रविड़ भाषा की प्राचीन से प्राचीन शब्दावली को लिया जाय तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उस काल के वंदीजन (पुळवन) रणवीर द्रविड़ राजाओं का यशोगान किया करते थे। ऋग्वैदिक ऋषि 'इंद्रस्य वीर्याणि प्रोवाचम्' कहते हुए जब इंद्र के महान् कार्यों का वर्णन करने लगते हैं तो वर्तमान पवाड़ों की स्मृति स्वतः हो आती है। इंद्र और वृत्र का युद्ध वीर-काव्य के लिये उपयुक्त विषय था, और इसका समुचित उपयोग केवल वैदिक ऋषियों ने ही नहीं, अनेक परकालीन कवियों ने भी किया है।

प्राचीन कालीन अनेक आर्य राजाओं के कृत्य भी उस समय काव्य के विषय बने। दशराज्ञ युद्ध अनेक क्षत्रिय जातियों का ही नहीं, वसिष्ठ और विश्वामित्र के संघर्ष का भी सूत्रपात करता है। देवता केवल स्तुतियों से ही नहीं, इतिहास, पुराण और नराशंसी गाथाओं से भी प्रसन्न होते हैं। नराशंसी गाथाओं में हमारे पूर्वपुरुषों के वीर्य और पराक्रम का प्रथम गुणानुवाद है। इन्हीं गाथाओं ने समय पाकर अनेक वीरकाव्यों का रूप धारण किया होगा। ये काव्य प्रायः लुप्त हो चुके हैं। किंतु उनके रूप का कुछ आभास हमें रामायण और महाभारत से मिलता है। रामायण और महाभारत से पूर्व भी संभवतः अनेक छोटे मोटे काव्यों में राम, कृष्ण, युधिष्ठिर, अर्जुनादि का गुणगान हो चुका था। अन्य अनेक राजाओं के वीरकृत्यों का भी कवियों ने गुणगान किया होगा। महाभारत में नहुष, नलदमयंती, शकुंतला दुष्यंत, और विपुलादि के उपाख्यान इन्हीं वीरकाव्यों के अवशेष हैं।

शनैः शनैः इन गुणगान करनेवालों की जातियाँ भी बन गईं। सूत

और मागध राजाओं का गुणगान करते। वेदों के द्रष्टा ऋषि हैं, किंतु पुराणों के वक्ता सूत और मागध। शौनकादि मुनि भी इतिहास के विषय में आदरपूर्वक सूत से प्रश्न करते हैं। रामायण श्रीवाल्मीकि की कृति रही है, किंतु उसके गायक संभवतः कुशीलव थे। इन्हीं जातियों के हाथ आरंभिक वीर-काव्यों की श्रीवृद्धि हुई।

वीरकाव्यों में अनेक संभवतः प्राकृत भाषा में रहे। किंतु जनता की स्मृति मात्र में निहित होने के कारण उनका स्वरूप समय, देश, और परिस्थिति के अनुसार बदलता गया। शिवि आदि की कथा बौद्ध, हिंदू और जैन ग्रंथों में प्रायः एक सी है, किंतु रामकथा विभिन्न रूप धारण करती गई है। यह बताना कठिन है कि वास्तव में किसी कथाविशेष का पूर्वरूप क्या रहा होगा। किंतु ऐसे काव्यों की सत्ता का अनुमान अवश्य हम पौराणिक उपाख्यानों से कर सकते हैं।

अभिलेखों में वीरकाव्य की प्रवृत्ति किसी अंश में प्रशस्तियों के रूप में प्रकट हुई। सीमाविशेष में सीमित होने के कारण स्वभावतः उनमें कुछ लंबा चौड़ा वर्णन नहीं मिलता, किंतु वीरकाव्य के अनेक गुण उनमें मिलते हैं। इन्हें देखते कुछ ऐसा भी प्रतीत होता है कि संभवतः प्राचीन वीरकाव्यों में गद्य और पद्य दोनों प्रयुक्त होते रहे। राजस्थान के वीरकाव्यों में इसी प्रथा को हम दूर तक देख सकते हैं। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति चंपू काव्य का आनंद देती है। चंद्र का महरोली स्तंभाभिलेख सुंदर वीरगीत है। यशोधर्म विष्णुवर्धन के तिथिरहित मंदसोर के अभिलेख की रचना उसके गुणगान के लिये ही हुई थी। छंद और शब्द दोनों ही इस प्रशस्ति में उपयुक्त रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

सामान्यतः लोग समझने लगे हैं कि प्राचीन भारतीय प्रायः अध्यात्म विषय के प्रेमी थे। उन्हें सांसारिक और भौतिक समृद्धि से कुछ विशेष प्रेम न था। इसलिये उन्होंने वीरकाव्यों की विशेष रचना नहीं की; और यदि की तो उस समय जब वे बहिरागंतुक रीति रस्मों से प्रभावित हो चुके थे। किंतु उपरिनिर्दिष्ट तथ्यों से यह स्पष्ट है कि वीरकाव्य भारत की अनादि काल से संचित संपत्ति है और किसी न किसी रूप में यह लगातार वर्तमान रही है। पुराणों और प्रशस्तियों से होती हुई यह हर्षचरितादि में पहुँचती है, और उसके बाद वीर-काव्य-लता को हम अनेक रूपों में प्रस्फुटित और प्रफुल्लित होते पाते हैं। गौडवहो, विक्रमांकदेवचरित, राजतरंगिणी,

नवसाहसांकचरित, द्व्याश्रय महाकाव्य, पृथ्वीराजविजय महाकाव्य, कीर्ति-कौमुदी, वंसतविलास, सुकृतसंकीर्तन, हम्मीर महाकाव्य आदि इसी काव्यलता के अनेक विविधवर्ण प्रसून हैं।

कालिदास के शब्दों में भारतीय कह सकते हैं कि यशोधन व्यक्तियों के लिये यश ही सबसे बड़ी वस्तु है। इस यश को स्थायी बनाना ऐतिहासिक काव्यरचना का मुख्य हेतु रहा है। प्रतिहारराज बाउक का मत था कि जब तक उसके पूर्वपुरुषों की कीर्ति वर्तमान रहेगी, तब तक वे स्वर्ग से च्युत नहीं हो सकते। शिक्षण प्रवृत्ति भी हम आरंभ से देख पाते हैं। मम्मट ने काव्यरचना के कारणों का विवेचन करते समय इस बात का ध्यान रखा कि मनुष्य काव्यों को पढ़कर राम का सा आचरण करे, रावण का सा नहीं। धन की प्राप्ति भी समय समय पर ऐतिहासिक काव्यों की रचना का कारण बनती रही है। निस्पृह आदिकवि वाल्मीकि ने राम के चरित का ग्रथन किया, तो राजाओं से संमानित और वृत्तिप्राप्त कवि उनके यशोगान में किस प्रकार उदासीन हो सकते थे। वे किसी अंश में राजाओं के ऋणी थे, और राजा किसी अंश में कवियों के, क्योंकि उनके यशःकाय का अजरत्व और अमरत्व कवियों पर ही आश्रित था। इसी परस्पराश्रय से अनेक काव्यों की रचना हुई है। किंतु कुछ ऐतिहासिक काव्य अपनी काव्यशक्ति का परिचय देने के लिये भी रचित हैं। तोमर राजा वीरम के सभ्यों के यह कहने पर कि उस समय पूर्व कवियों के समान कोई रचना नहीं कर सकता था, नयचंद्र सूरि ने हम्मीर महाकाव्य की रचना की। साथ ही साथ उसने अंत में यह प्रार्थना भी की—'युद्ध में विक्रमरसाविष्ट राजा प्रसन्नता से राज्य करें और उनके विक्रम का वर्णन करने के लिये कवि सदा समुद्यत हों। उनकी रसामृत से सिक्त वाणी सदा समुल्लसित होती रहे और रसास्वाद का आनंद लेनेवाले व्यक्ति उसका आस्वादन करते हुए पान किया करें।'

इस दृष्टिकोण से रचित ऐतिहासिक काव्यों में कुछ दोष और गुण अवश्यंभावी थे। ये रचनाएँ काव्य हैं, शुद्ध इतिहास नहीं। इनका उद्भव भी क्रौंच क्रौंची की सी हृदयस्पर्शिणी घटना से नहीं हुआ है। अतः इनमें पर्याप्त जोड़ तोड़ हो तो आश्चर्य ही क्या है? कवि को यह भी छूट रहती है कि वह वर्णन को सजीव बनाने के लिये नवीन घटनाओं की कल्पना करे। ऐसी अवस्था में यह मालूम करना कठिन होता है कि काव्य का कौन सा भाग कल्पित है और कौन सा सत्य। वाक्पति ने गौड़राज के वध का वर्णन करने

के लिये अपने काव्य की रचना की; किंतु अपने संरक्षक यशोवर्मा को महत्त्व प्रदान करने के लिये झूठ मूठ की दिग्विजय का वर्णन कर डाला, और कवि महोदय इस कार्य में इतने व्यस्त हुए कि गौड़राज के विषय में दो शब्द लिखना भी भूल गए। इस दिग्विजय के वर्णन पर कालिदास की दिग्विजय की स्पष्ट छाप है। सभी उसकी नकल है, या कुछ तथ्य भी है, यह गवेषणा का विषय बन चुका है। नवसाहसांकचरित में कवि पद्मगुप्त ने नवसाहसांक सिंधुराज की असली कथा कम और नकली बहुत कुछ दी है। हमें सिंधुराज की ऐतिहासिक सत्ता का ज्ञान न हो तो हम इस काव्य को अलिफलैला का किस्सा मात्र समझ सकते हैं। विक्रमांकदेवचरित में तथ्य की मात्रा कुछ विशेष है; किंतु यह भी निश्चित है कि उसकी अनेक घटनाएँ सर्वथा कल्पित हैं। हेमचंद्र के द्व्याश्रय महाकाव्य में एक और रोग है। उसका ध्येय केवल चौलुक्य वंश का वर्णन करना ही नहीं, विद्यार्थियों को संस्कृत और प्राकृत व्याकरण भी सिखाना है। फिर यह काव्य नीरसता दोष से किस तरह मुक्त रह सकता है। प्राचीन पद्धति का अनुसरण कर कल्पित स्वयंवर और दिग्विजयादि का वर्णन करना तो सामान्य सी बात है। पृथ्वीराजविजय काव्य अपूर्ण है, किंतु अवशिष्ट भाग से यह अनुमान किया जा सकता है कि कवि ने उसे काव्य का रूप देने का ही मुख्यतः प्रयत्न किया है। यही बात प्रायः अन्य ऐतिहासिक या अर्ध ऐतिहासिक संस्कृत काव्यों के विषय में कही जा सकती है।

यद्यपि इन काव्यों के विषय में शायद कवि यह सच्चा दावा नहीं कर सकते कि उन्होंने किसी नृपतिविशेष के गुणों से प्रमुदित होकर अपने काव्य की रचना की है, तो भी काव्य की दृष्टि से ये अधम नहीं हैं। हम उनपर यह दोषारोप कर सकते हैं कि जलक्रीड़ा, वनक्रीड़ा, पुष्पचयन आदि का वर्णन कर उन्होंने कथासरित् के प्रवाह को प्रायः रुद्ध कर दिया है; किंतु हम कथा मात्र को ध्येय न मानें तो उनकी कथा का समुचित आस्वादन कर सकते हैं। गौडवहो में अनेक प्रकाशित दृश्यों का सुंदर वर्णन है। नवसाहसांकचरित के वर्णन भी कवित्वपूर्ण हैं। बिल्हण तो वास्तव में कवि है। विक्रमांकदेवचरित के चतुर्थ सर्ग में आहवमल्ल की मृत्यु का वर्णन संस्कृत साहित्य में अतुल्य है। अंतिम सर्ग में कवि के वृत्त की तुलना भी हर्षचरित में बाण के आत्मचरित से की जा सकती है। कवि का स्वाभिमान और स्वदेशप्रेम भी दर्शनीय है। पृथ्वीराजविजय भी काव्यदृष्टि से सुंदर है। कवि में कल्पनाशक्ति

है और संस्कृत शब्दावली पर पूर्ण अधिकार। यही बात कुछ कम या अधिक अंश में संस्कृत के अनेक वीरकाव्यकारों के संबंध में कही जा सकती है। केवल राजतरंगिणी में इतिहास तत्व को हम विशेषांश में प्राप्त करते हैं।

देश्यभाषा के कवियों को संस्कृत ऐतिहासिक काव्यों की यह पद्धति विरासत में मिली थी। इसके साथ ही देश्यभाषाओं में अपना भी निजी वीरकाव्य साहित्य था। कवि पंप ने विक्रमार्जुनविजय में अरिकेसरी द्वितीय के युद्धों का ओजस्वी वर्णन किया है। अपभ्रंश के महान् कवि स्वयंभू ने हरिवंश-पुराण, पउमचरिय आदि धार्मिक ग्रंथ लिखे। किंतु इनमें वीररस का भी यथासमय अच्छा निर्वाह हुआ है। कवि पुष्पदंत की भी निवृत्तिपरक कृतियाँ ही विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। किंतु उनके राजदरबार, देशविजय, युद्धादि के वर्णनों से यह भी निश्चित है कि उनमें वीरकाव्यग्रथन की पूर्ण क्षमता थी। वास्तव में अपना कविजीवन संभवतः उन्होंने ऐसे वीरकाव्यों द्वारा ही आरंभ किया था। निवृत्तिपरक ग्रंथों की बारी तो कुछ देर से आई। इस प्रसंग में आदिपुराण की निम्नलिखित पंक्तियाँ पठनीय हैं—

देवी सुएण कइ भणिउ ताम।
भो पुप्फयंत ! ससि लिहिय णाम।
णिय-सिरि-विसेस-णिज्जिय सुरिंदु। गिरि-धीर-वीरु भइरव-णरिंदु।
पइं मण्णिउ वण्णिउ वीरराउ। उप्पण्णउ जो मिच्छत्त राउ।
पच्छित्त तासु जइ करहि अज्जु। ता घडइ तुज्झु परलोय कज्जु॥

जिस भैरव नरेंद्र की वीरता का गान पुष्पदंत ने किया था, उसके विषय में हमें कुछ ज्ञान नहीं है। किंतु यह गुणानुवाद इस परिमाण में और इतना सरस रहा होगा कि इससे लोगों को मिथ्यात्व में अनुराग उत्पन्न हुआ और इसके प्रायश्चित्त रूप में कवि को निवृत्तिपरक काव्य आदिपुराण की रचना करनी पड़ी। काश हमें कहीं यह काव्य प्राप्त होता! णायकुमारचरिउ की निम्नलिखित पंक्तियाँ भी शायद पृथ्वीराजरासो की याद दिलाएँगी—

चरण-चार चालिय-धरायलो। धाइयो भुया-तुलिउ-मयगलो।
ताकयंतेहि तेण दारुणं। परियलंत-वण-सहिण-सारुणं।
मलिय-दलिय-पडिखलिअ-संदणं। णिविड-गय-घडा-वीढ-मदणं।
अरिदमणु पधायउ साहिमाणु। 'हणु हणु' भणंतु कड्ढिवि किवाणु।

धनपाल, कनकामर, आमभर आदि ने भी शौर्य का अच्छा वर्णन किया है, और हेमचंद्र ने ऐसे अनेक पद्य उद्धृत किए हैं जिनसे अपभ्रंश में वीरकाव्य का अनुमान किया जा सकता है। मंत्री विद्याधर के जयचंद विषयक अनेक अपभ्रंश पद्य मिले हैं। शायद वे किसी वीरकाव्य के अंग हों। जज्जल रणथंभोर के राजा हम्मीर का प्रसिद्ध सेनापति था। उसके शौर्य का वर्णन करनेवाले पद्य शायद हम्मीर संबंधी किसी काव्य के भाग रहे हैं। ग्वालियर में एक अन्य राजपूत जाति के दरबार में रहते हुए भी नयचंद्र सूरि हम्मीर के जीवन का प्रामाणिक वृत्त उपस्थित कर सके। यह भी इस बात का निर्देश करता है कि हम्मीर महाकाव्य से पूर्व हम्मीर के कुछ प्रामाणिक वृत्तांत लिखे जा चुके थे। प्राचीन काल से उद्भूत वीरकाव्य की धारा अनेक भाषा-स्रोतों से बहती हुई १२वीं शताब्दी तक पहुँच चुकी थी।

हमें यह कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है कि यह धारा देश के किसी भागविशेष में कुछ समय के लिये सूख गई थी या हमारे देश में यह नवीन काव्यरूप किसी अन्य देश से पहुँचा। वीरों के गुण गाने की प्रवृत्ति स्वाभाविक है, यह न भारतीय है और न ईरानी। कालिदास ने रघुवंश के गुणों से मुग्ध होकर उसका अनुकीर्तन किया। हरिषेण समुद्रगुप्त के अचिंत्य चरित से प्रभावित था। बाण ने हर्ष का चरित लिखना आरंभ किया। बाण की अनैतिहासिकता का आरोप करनेवाले यह भूल जाते हैं कि हर्षचरित अपूर्ण है। उसकी कथा केवल हर्ष के सिंहासनारूढ़ होने तक ही पहुँचती है। वहाँ तक के लिये यह हर्ष के जीवन का ही नहीं, हर्षकालीन समाज का भी संपूर्णांग चलचित्र है। कथा समाप्ति तक पहुँचती तो हमें हर्षविषयक बातें और मिलतीं। खेद केवल इतना ही है कि परवर्ती कवियों ने बाण की बराबरी तक पहुँचने के प्रयास में इतिहास को बहुत कुछ छुट्टी दे दी है। बाण में यह दोष नहीं है। कथा के ऐतिहासिक भाग तक पहुँचने के बाद हर्षचरित प्रभाकरवर्धन और हर्षवर्धन कालीन युग का सजीव चित्र है।

राजस्थान और गुजरात में इस परंपरा के सजीव रहने के हमें अनेक प्रमाण प्राप्त हैं। मध्यदेश में भी यह परंपरा कुछ विशृंखल सी प्रतीत होती हुई भी बनी रही होगी। इसी प्रदेश में गौडवहो की रचना हुई। भोज की प्रशस्ति भी प्रायः इसी देश की है। प्रचंडपांडवादि के रचयिता राजशेखर से भी हमें ज्ञात है कि दसवीं शताब्दी के प्रायः मध्य तक मध्यदेशीय कवि सर्वभाषानिषण्ण थे। स्वयंभू मध्यदेशीय थे। भद्रपा को राहुल जी ने

श्रावस्ती का माना है। तिलकमंजरी (संस्कृत), पाइलच्छीनाममाला (प्राकृत कोश), ऋषभपंचाशिका (प्राकृत) और सत्यपुरीय श्रीमहावीर उत्साह (अपभ्रंश) के रचयिता, राजा मुंज और भोज की सभा के भूषण धनपाल भी सांकाश्य के थे। संवत् १२३० में कवि श्रीधर ने चंदवाड़ में भविष्यदत्तचरित की अपभ्रंश में रचना की। जयचंद्र के मंत्री के अनेक अपभ्रंश पद्य प्राप्त हैं ही। फिर यह कहना किस प्रकार ठीक माना जा सकता है कि गाहडवालों के प्रभाव के कारण कुछ समय तक देश्यभाषा को धक्का लगा था। गाहडवालों ने संस्कृत को संरक्षित अवश्य किया; किंतु यह मानना कि उन्होंने बाहरी जाति का होने के कारण देश्यभाषा की अवज्ञा की, संभवतः ठीक नहीं है। यह कुछ संशयास्पद है कि गाहडवाल बाहर से आए, और यदि कुछ समय के लिये यह मान भी लिया जाय कि गाहडवाल दक्षिणी राष्ट्रकूटों की एक शाखा थे तो भी हम यह समझ नहीं पाते कि उन्होंने अपभ्रंश की इस कारण से अवज्ञा की। अपभ्रंश काव्य तो दक्षिणी राष्ट्रकूटों के संरक्षण में फला फूला था। जिस वंश के राजाओं का संबंध स्वयंभू और पुष्पदंत जैसे अपभ्रंश कवियों से रहा हो, उनके वंशजों से क्या यह आशा की जा सकती है कि उन्होंने जान बूझकर अपभ्रंश की अवज्ञा की होगी। दामोदर भट्ट के उक्तिव्यक्तिप्रकरण के आधार पर भी हमें यह अनुमान करना ठीक प्रतीत नहीं होता कि राजकुमारों को घर पर मध्यदेशीय भाषा से भिन्न कोई अन्य भाषा बोलने की आदत थी। यदि वास्तव में यह स्थिति होती तो उसी भाषा द्वारा राजकुमारों को बनारसी या कन्नौजी भाषा की शिक्षा देने का प्रयत्न किया जाता। किंतु वस्तुस्थिति तो कुछ और ही है।

इन बातों को ध्यान में रखते हुए यही मानना होगा कि काव्यधारा सर्वत्र गतिशील थी। यह भी संभव है कि अनेक वीरकाव्यों की इस समय प्रायः सर्वत्र रचना हुई, यद्यपि उनमें से अधिकांश अब नष्ट हो चुके हैं। उनके साथ ऐसी धार्मिक भावना नहीं जुड़ी थी जो उन्हें सुरक्षित रखे। पुष्पदंत विनिर्मित भैरवनरेंद्रचरित कालकवलित हो चुका है। उनके आदिपुराणादि ग्रंथ वर्तमान हैं। देश्यभाषा में रचित वीरकाव्य के बचने के लिये एक ही उपाय था। उसका जीवन न राजाओं के संरक्षण पर निर्भर था और न जनता की धर्मभीरुता या धर्मप्राणता पर। उसकी स्वयंभू सप्राणता, सरसता, एवं अमर वर की तरह नित्यनवीन रहने की शक्ति ही उसे बचा सकती थी।

इस स्वयंभू सप्राणता का सबसे अच्छा उदाहरण पृथ्वीराजरासो है। किंतु पृथ्वीराजरासो रासो काव्यरूप का प्रथम उदाहरण नहीं, यह तो इसका पूर्णतया पल्लवित, पुष्पित, विविध-वर्ण-रंजित रूप है। रास शब्द, जिसका प्रथमांत अपभ्रंश रूप रासउ या रासो है, उस समय तक घिस घिसाकर अनेकार्थों में प्रयुक्त होने लगा था। रास का सबसे प्राचीन प्रयोग एक मंडलाकार नृत्यविशेष के लिये है। अब भी जब हम गुजरात के रास और गर्बा के विषय में बातचीत करते हैं तो यही रूप अधिकतर हमारे सामने रहता है। किंतु बहुधा मानव नृत्य अधिक समय तक सर्वथा मूक नहीं रहता। जैसा हमने रिपुदारण रास को जनता के संमुख उपस्थित करते हुए लिखा था, 'जब आनंदातिरेक से जनसमूह नृत्य करता है तो अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिये स्वभावतः वह गान और अभिनय का आश्रय लेता है। उसकी उमंग के लिये सभी द्वार खुले हों तभी उसे संतोष होता है। उसे संपूर्णांग नृत्य चाहिए; केवल मूक नृत्य उसकी भावाभिव्यक्ति के लिये पर्याप्त नहीं है। श्रीमद्भागवत पुराण का रास कुछ इसी तरह का है। उसमें गान, नृत्य और काव्य का मधुर मिश्रण है। पश्चिमी भारत के अनेक रास चिरकाल तक संभवतः इसी शैली के रहे। रिपुदारण रास (रचना संवत् ६६२ वि०) में रास को हम अभिनेय रूप में प्राप्त करते हैं। इसी अभिनेयांश ने शनैः शनैः बढ़कर रास को उपरूपक बना दिया। किंतु इसी तरह गेयांश भी जनप्रिय होता जा रहा था। उसमें भी जनता को प्रसन्न और आकृष्ट करने की शक्ति थी। उसमें भी वह सरस्वती शक्ति थी जो कवि को अमरत्व प्रदान करती है।'

रास के साथ गाई जानेवाली कृतियाँ आरंभ में लघुकाय रही होंगी। अंगविज्जा में निर्दिष्ट 'रासक' जाति नाचती और साथ में गाती भी होगी। छंद भी संभवतः प्रायः वही एक रहा होगा जिसे रास छंद कहते हैं। उसका ताल ही ऐसा है जो नर्तन के लिये सर्वथा उपयुक्त है। शनैः शनैः लोगों ने अडिल्ल, ढोसा, पद्धडिका आदि छंदों को भी प्रयुक्त करना आरंभ कर दिया। किंतु इससे उसकी नर्त्यता में कोई बाधा नहीं पड़ी। प्राचीन अपभ्रंश छंदों की रचना ताल और लय पर आश्रित है। इनका समुचित प्रयोग भी वही कर सकता है जिसका कान अच्छी तरह से सधा हो। हेमचंद्र ने तो सभी मात्रिक छंदों तक के लिये रासक शब्द प्रयुक्त करनेवाले विद्वानों का मत भी उद्धृत किया है।

रास के गेयांश के जनप्रिय होने पर उसका अनेक रूप से प्रयुक्त होना स्वाभाविक था। धार्मिक आचार्यों ने रास द्वारा अपना संदेश जनता तक पहुँचाने का प्रयत्न किया। रास नाचने के बहाने से मोहसक्त पाँच सौ चोरों को प्राकृत चर्चरी द्वारा प्रतिबोधित करने का उल्लेख 'उत्तराध्ययन सूत्र' (कपिलाध्ययन ८) में तथा 'प्राकृत कुवलयमाला' में मिलता है। उसी प्रकार वादी सूरि को सिद्ध सेन दिवाकर के साथ लाट भरुच के बाहर गवालों के समक्ष जो वाद करना पड़ा, उसमें रास की पद्धति से ताल देते हुए उन्होंने ये पद्य गाए थे :—

नवि मारियइ नवि चोरियइ, परदारह गमण निवारियइ।
थोवा थावें दाइयइ, सग्गि दुगु दुगु जाइयइ॥

अब भी अनेक जैन आचार्य अपभ्रंश में रचना करते हैं, और उन्हें उपयुक्त रागों में गाते भी हैं। तेरह पंथ के क्षेत्र में यह पद्धति बहुत जनप्रिय रही है। जनता में वीरत्व, देशभक्ति आदि के भावों को जागृत करने के लिए भी रास उपयुक्त था। अतः उस क्षेत्र में रास का प्रयोग भी शायद नवीं दसवीं शताब्दियों तक होने लगा हो।

इस प्रकार के काव्यों के विकास का मार्ग इससे पूर्व ही प्रशस्त हो चुका था। संस्कृति की प्रशस्तियाँ, संस्कृत के ऐतिहासिक काव्य और नाटक, अपभ्रंश की अनेक कृतियाँ जिनमें इतस्ततः छोटे मोटे वीर काव्य समाविष्ट हैं, रासो-वीर-काव्य के मार्ग प्रदर्शक रहे होंगे। उनमें जिन कृतियों को कराल काल कवलित न कर सका है, हम उसका कुछ परिचय यहाँ दे रहे हैं :—

१. भरतेश्वर बाहुबलि घोरः—इसकी रचना संवत् १२२५ के लगभग वज्रसेन सूरि ने की। कथा प्रसिद्ध है। भरतेश्वर ने सर्वत्र दिग्विजय की। किंतु उसका छोटा भाई बाहुबली अपने को भरतेश्वर का अधीनस्थ राजा मानने के लिये तैयार न था। इसलिये चक्र दिग्विजय के बाद भी आयुधशाला में न घुसा। भरतेश्वर ने बाहुबलि पर आक्रमण किया; किंतु अंततः द्वंद्वयुद्ध में उससे हार गया। स्वगोत्री पर चक्र प्रहार नहीं करता, इसलिये चक्र भी बाहुबली का कुछ न बिगाड़ सका। विजय के पश्चात् बाहुबली को ज्ञान उत्पन्न हुआ और उसने स्वाभिमान का त्याग कर दिया। इस रास में सेना के प्रयाण आदि का वर्णन सामान्यतः ठीक है, किंतु उसमें कुछ विशेष

नवीनता नहीं है। संभवतः जैन मंदिरों में गान और नर्तन के लिये इसकी रचना हुई हो।

२. भरतेश्वर वाहुवलि-रास (रचनाकाल, सं० १२४१)—इसके रचयिता शालिभद्र सूरि आचार्य श्री हेमचंद के समकालीन रहे होंगे। काव्य के सौष्ठव के देखते हुए यह मानना पड़ेगा कि तत्कालीन देशी भाषाओं में उस समय उत्कृष्ट काव्य लिखे जा रहे थे। दिग्विजय के लिये प्रस्थान करने से पूर्व भरतेश्वर ऋषभदेव को प्रणाम करने के लिये चला;—

चलीय गयवर चलीय गयवर गुहिर गज्जंत।
हुंकइ हसमस हणहणइ तरवरंत हय-घट्ट चल्लीय;
पायल पयभरि टलटलीय मेरु-सेस-सीस-मणि मउड डुल्लीय।
सिउं मरुदेविहिं संचरीय कुंजरि चडीयनरिंद
समोसरणि सुरसरि सहिय वंदिय पढसजिणंद ॥१॥ (कं० १६)

चक्र ने पहले पूर्व दिशा में प्रयाण किया। साथ में चतुरंग सेना थी। सर्वत्र भरतेश्वर की विजय हुई। किंतु अयोध्या वापस आने पर चक्र ने आयुधशाला में प्रवेश न किया। इस पर भरत ने एक दूत वाहुवली के पास भेजा। रास्ते में सर्वत्र अपशकुन हुए—

काजल काल विडाल, आवीय आडिहं ऊतरइए।
जिमणउ जम विकराल, खर खर खर-रव ऊछलीय ॥१५॥ (कं० ५७)

सूकीय बाउल-डालि, देवि वइठि य सुर करइ ए।
झंपी य झालम झालि, घूक पोकारइ दाहिणइ ए ॥१६॥ (कं० ५८)

वाहुवली की राजधानी पोयणपुर पहुँच कर दूत ने अनेक तरह समझाते हुए अंत में कहा—

सरवसु सुंपि मनाविन भाई।
कहि कुणि कूडी कुमति विलाई?
मूंझि म भूरख! मरि म गमार?
पय पणमीय करि करि न समार ॥२१॥ (कं० ११०)

किंतु वाहुवली ने उत्तर में कहा कि मनुष्य को उतना ही प्राप्त होता है जितना भाग्य में लिखा है—

नेसि निवेसि देसि धरि मंदिरि
जलि थलि श्रृंगलि गिरि सुइ कंदरि।
दिसि दिसि देसि देसि दीपंतरि
लहीउं लाभइ जुगि सचराचरि ॥९४॥

साथ ही दूत से यह भी कहा कि वह भरत से कम बली नहीं है। दूत अयोध्या पहुँचा, भरत की सेना पोयणपुर पहुँची। भयंकर युद्ध हुआ दोनों पक्ष के बहुत से योद्धा मारे गये। अंत में सुरेंद्र के कहने पर दोनों भाइयों का द्वंद्व युद्ध हुआ। भरत हारा; किंतु विजयोन्मत्त न होकर बाहुबली ने कहा—

तइं जीतऊं मइं हरिउं भाइ।
अम्ह सरणि रिसहेसर पाय ॥ (कं० १९१)

और मन में पश्चात्ताप करते हुए—

सिरि वरि ए लोच करेउ
का सगि रहेउ बाहु बले।
आसूंइ ऐ अंखि भरेउ
तस पय पणमए भरह भडो ॥ (१९५)

भाई को कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित देख कर भरत ने बार बार क्षमा माँगी। किंतु बाहुबली को केवल ज्ञान उत्पन्न हो चुका था। भरत अयोध्या आये, और चक्र ने आयुधशाला में प्रवेश किया।

दो सौ पाँच छंदों का यह छोटा सा काव्य भारतीय वीर गाथाओं में निजी स्थान रखता है। इसके कथानक के गायन में कहीं शिथिलता नहीं है। युद्ध, सेना - प्रयाण, दूतोक्ति, बाहुबली की मनस्विता आदि के चित्र सजीव हैं। शब्दों का चयन अर्थानुरूप है। उक्ति वैचित्र्य भी द्रष्टव्य है। भरतेश्वर के चक्रवर्तित्व की हँसी उड़ाता हुआ बाहुबली कहता है—

कहिरे भरहेसर कुण कहीइ।
मइ सिउं रणि सुरि असुरि न रहीइ।
चक्र धरइ चक्रवर्ति विचार।
तउ अम्ह पुरि कुंभार अपार ॥ (११२)

भरतेश्वर ही केवल मात्र चक्री न था। बाहुबली के नगर में भी अनेक चक्रवर्ती, यानि, कुम्हार थे। बाहुबली का बल चक्रादि आयुधों पर आश्रित न था—

परह आस किणि कारणि कीजइ ?
साहस सइंवर सिद्धि वरीजइ ।
हीऊं अनइं हाथ हत्थीयार
एहूजि वीर-तणउ परिवार ॥१०४॥

इस रास की भाषा की हम 'रास और रासान्वयी काव्य' में प्रकाशित आबूरास, रेवंतगिरि रास आदि की भाषा से तुलना कर सकते हैं। राजस्थानी और गुजराती भाषा के विद्वानों के लिये यह मानों अपनी निजी भाषा है। प्राचीन हिंदी के जानकारों के लिये भी यह सुज्ञेय है।

पृथ्वीराज रासो

'भारत बाहु बलिरास' के कुछ समय बाद हम पृथ्वीराज रासो को रख सकते हैं। यह निश्चित है कि इसकी रचना सोलहवीं शताब्दी तक हो चुकी थी। अकबर के समय में रचित 'सुर्जन चरित' 'आईने-अकबरी' आदि ग्रंथों से सिद्ध है कि तत्कालीन समाज चंद और उसके काव्य से भली भाँति परिचित था। इसलिये प्रश्न केवल इतना ही रहता है कि सोलहवीं शताब्दी से कितने समय पूर्व पृथ्वीरासो की रचना हुई होगी।

रचनाकाल की प्रथम कोटि निश्चित की जा सकती है। संयोगिता स्वयंबर और कइमास वध रासो के प्राचीनतम अंश हैं। स्वयंवर की तिथि अनिश्चित है। किंतु कइमास वध की तिथि निश्चित की जा सकती है। खरतरगच्छ पट्टावली के उल्लेख से सिद्ध है कि संवत् १२३६ तक मंडलेश्वर कइमास पृथ्वीराज के दरबार में अत्यंत प्रभावशाली था। 'पृथ्वीराजविजय' की रचना के समय भी उसका प्रभाव प्रायः वही था। हम अन्यत्र सिद्ध कर चुके हैं कि 'पृथ्वीराजविजय' की रचना सन् ११९१ और ११९२ के बीच में हुई होगी। उसके नाम से ही सिद्ध है कि वह पृथ्वीराज की महान् विजय का काव्य रूप में स्मारक है। यह विजय सन् ११९१ में हुई। एक वर्ष बाद यही विजय पराजय में परिणत हो चुकी। कइमास-बध को हम ऐतिहासिक घटना मानें, तो हमें इसे पृथ्वीराजविजय की रचना के बाद, अर्थात् सन् ११९२ के आरंभ में रखना होगा। पृथ्वीराजविजय को यह घटना अज्ञात है; रासो के कथानक का यह प्रमुख भाग है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए हम रासो की रचना की प्रथम कोटि को सन् ११९२ में रख सकते हैं।

निश्चित रूप से इससे अधिक कहना कठिन है। रासो के अपभ्रंशरूप

वाले पद्य 'पुरातन प्रबंध संग्रह' की जिस प्रति में मिले हैं, उसका लिपिकाल संवत् १५२८ है। इसलिये जिस पुस्तक से ये पद्य लिये गए हैं वह निश्चित ही वि० १५२८ (सन् १४७१) से पूर्व बनी होगी किंतु इसी संग्रह में निम्नलिखित ये शब्द भी मिले हैं:—

सिरि वत्थु पाल मंतीसर जयतसिंहभणणत्थं।
नागिंदगच्छमंडण उदयप्पह सूरि सी सेयं॥
जिणभद्देण य विक्कमकालाउ नवइ अहियबारसए।
नाणा कहाणपहाणा एप पवंधावली रईआ॥

इससे यह स्पष्ट है कि प्रबंधसंग्रह के अंतर्गत कुछ प्रबंध संवत् १२८६ से पूर्व के भी हैं। क्या पृथ्वीराज प्रबंध उन्हीं प्राचीन प्रबंधों में है? कहना कुछ कठिन है। प्रबंध में एकाध बात वर्तमान है जो इतिहास की दृष्टि से ठीक नहीं है। पृथ्वीराज ने सात बार सुल्तान को हराकर नहीं छोड़ा, न उसने कभी गजनी से कर उगाहा। किंतु साथ ही कुछ बातें ऐसी भी हैं जिन्हें कोई जानकार ही कह सकता था। हांसी से आगे जाकर मुसलमानों से युद्ध करना ऐसी ही एक घटना है। युद्ध के समय पृथ्वीराज का सोना भी वैसी ही तथ्यमयी दूसरी घटना है। पृथ्वीराज का बंदी होकर अंत में मारा जाना भी इसी प्रकार सत्य है। गुर्जर देश में रहनेवाला कोई व्यक्ति सपादलक्षाधिपति पृथ्वीराज के विषय में यदि इतनी बातें जानता हो तो उसका समय पृथ्वीराज से बहुत अधिक दूर न रहा होगा। पर 'पुरातन प्रबंध संग्रह' के छप्पयों की भाषा के आधार पर भी रासो के काल का कुछ विचार किया जा सकता है। छप्पय निम्नलिखित हैं:—

इक्कु बाणु पहुवीसु जु पई कइंबासह मुक्कओ
उर भिंतरि खडहडिउ धीर कक्खंतरि चुक्कउ।
बीअं करि संधीउं भंमइ सूमेरनंदण?
एहु सु गडि दाहिमओ खणइ खुद्दइ सइंभरि वणु।
फुड छंडि न जाइ इहु लुब्भिउ वारइ पलकउ खल गुलह,
न जाणउं चंदबलद्दिउ किं न वि न छुट्टइ इह फलह॥ २७५॥
अगहु म गहि दाहिमओ रिपुराय खयंकरु
कूडु मंत्रु मम ठवओ एहु जं बूय मिलि जग्गरु।
सह नामा सिक्खवउं जइ सिक्खिविउं बुज्झइं,
जंपइ चंदबलिद्दु मज्झ परमक्खर सुज्झइ।

पहु पहुविराय सइं–भरिधणी सयंभरि सउणइ संभरिसि,
कइंबास बिआस विसट्ठविणु मच्छिवंधिवद्धओ मरिसि ॥

भाषा स्पष्टतः अपभ्रंश है; किंतु सर्वथा टकसाली अपभ्रंश नहीं। जिस अपभ्रंश का वर्णन हमें 'हेम व्याकरण' में मिलता है, यह उससे कुछ अधिक विकसित और कुछ अधिक घिसी है। इस बात को ध्यान में रखते हुए डॉ० माता-प्रसाद ने मूल रासो की रचना को सन् १४०० के लगभग रखने का प्रयत्न किया है। किंतु भाषादि के विषय में 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' का संपादन करते समय मुनि जिनविजयजी ने जो शब्द लिखे थे वे पठनीय हैं:—इकार उकार के ह्रस्व दीर्घ का निश्चित नियम अपनी भाषा के पुराने लेखक नहीं रखते।...इसके सिवाय शब्दों की वर्ण संयोजना के बारे में भी अपने पुराने लेखक एकरूपता नहीं रखते। अकेले 'हवे' शब्द को 'हिवं' 'हिवु'। वर्ण संयोजना की इस अवस्था के कारण कोई भी पुरानी देशभाषा के लेखक की रचना में हमें उसकी निजी निश्चित भाषाशैली और लोगों की उच्चारण पद्धति का निश्चित परिचय नहीं मिलता। कोई ऐसी पुरानी कृति परिमाण में विशेष लोकप्रिय बनी हो और उसका पठन पाठन में अधिक प्रचार हुआ हो, तो उसकी भाषा रचना में जुदा जुदा जमानों के अनेक जाति, रूप और पाठभेद उत्पन्न होते हैं, और वह अत्यधिक अनवस्थित रूप धारण करती है। और उसी के साथ किसी भाषातत्वानभिज्ञ संशोधक विद्वान् के हाथ यदि वह उसके शरीर का कायाकल्प हो जाय तो वह उसी दम नया रूप भी प्राप्त कर लेती है।' यदि इन्हीं शब्दों को हम वि० सं० १५२८ में लिपि की हुई पुस्तक पर लागू करें तो रासो के उद्धृत छंदों की भाषा हमें रासो को लगभग सन् १४०० के लगभग रखने के लिये बाध्य नहीं करती। उसकी अपेक्षाकृत परवर्तिता भाषा उपर्युक्त अनेक कारणों से हो सकती है।

मूल अपभ्रंश रासो इस समय उपलब्ध नहीं है। किंतु उसके अनेक परवर्ती रूप अब प्राप्त हैं। आरंभ में केवल रासो के लगभग ४०,००० श्लोक परिमाण वाले वृहद् रूप की ओर लोगों का ध्यान गया। श्यामसुंदरदास और मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या आदि ने १९०४–१९१२ में नागरीप्रचारिणी सभा से इस रूपांतर को प्रकाशित किया, और कई वर्ष तक इसी के आधार पर रासो की ऐतिहासिकता के विषय में विचार और विमर्श चलता रहा। कुछ समय के बाद उसके अन्य रूपांतर भी सामने आए। किंतु विद्वान् उन्हें रासो के संक्षिप्त रूप मानते रहे। सन् १९३८ में मथुराप्रसाद जी दीक्षित ने

असली पृथ्वीराज रासो के नाम से रासो के मध्यम रूपांतर के एक समय को लाहौर से प्रकाशित किया। इस रूपांतर का परिमाण लगभग १०,००० श्लोक है। सन् १९३९ में हमने इसके तीसरे रूपांतर के विषय में 'पृथ्वीराजरासो एक प्राचीन प्रति और प्रामाणिकता नाम का एक लेख नागरीप्रचारिणी पत्रिका, काशी, में प्रकाशित किया। इस रूपांतर का परिमाण लगभग ४,००० श्लोक है। इस रूपांतर की प्रेस-कॉपी भी हमने तैयारी की थी। किंतु हमारे सहयोगी प्रोफेसर मीनाराम रंगा का अकस्मात् देहावसान हो गया। और उसके बाद उस प्रति का कुछ पता न लग सका। रासो के चौथे रूपांतर का अंशतः संपादन 'राजस्थान भारतीय' में श्रीनरोत्तमदास स्वामी ने किया है। कन्नौज समय का संपादन डॉ० नामवर सिंह ने किया है। इस रूपांतर का परिमाण लगभग १३०० श्लोक है।

पाठों की छानबीन करने पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि छोटे रूपांतर बड़े रूपांतरों के संक्षिप्त संस्करण नहीं हैं। डॉ० माताप्रसाद ने सपरिश्रम परीक्षण के बाद बतलाया है कि बृहद् तथा मध्यम रूपांतरों में ४९ स्थानों में से केवल १६ स्थानों पर बलाबल संबंधी समानता है, शेष स्थानों में विषमता है। मध्यम और लघु में ५१ स्थानों में से २४ में विषमता है। यदि छोटे रूपांतर वास्तव में दूसरों के संक्षेप होते तो ऐसी विषमता न होती।

यह विषमता स्पष्टतः परवर्ती कवियों की कृपा है। रासो की जनप्रियता ही उसकी ऐतिहासिकता की सबसे बड़ी शत्रु रही है। समय के प्रवाह के साथ ही अनेक काव्य-स्रोतस्विनी इसमें आ घुसी है, और अब उसमें इतनी घुल मिल गई कि मुख्य स्रोत को ढूँढना कठिन हो रहा है। अपभ्रंश-काल से लघुतम संस्करण तक पहुँचते-पहुँचते इसमें पर्याप्त विकृति आ चुकी थी; किंतु तदनंतर यह विकृति शीघ्र गति से बढ़ी। चारों रूपांतरों में पाए जाने वाले खंड केवल सोलह हैं। मध्यम रूपांतर में २१ समय और अधिक हैं। तेतीस खंड केवल बृहद् रूपांतर में वर्तमान है; और इनमें से भी पाँच इस रूपांतर की प्राचीनतम प्रतियों में नहीं मिलते। लोहाना आजनबाहु, नाहर रायकथा, मेवाती मूगल कथा, हुसेनखाँ चित्ररेखा पात्र, प्रिथा विवाह, देवगिरि युद्ध, सोमवध, मोरा राइ भीमंगवध आदि अनैतिहासिक प्रसंग छोटे रूपांतरों में वर्तमान ही नहीं हैं।

यह स्थूलकायता किस प्रकार आई उसका अनुमान भी कठिन नहीं

है। केवल कनवज्ज समय में लघुतम रूपांतर की अपेक्षा वृहद् रूपांतर में २१०७ छंद अधिक और उसकी काया लघुतम से सतगुनी है। इधर उधर की सामान्य वृद्धि के अतिरिक्त कन्नौज यात्रा के वर्णन में निम्नलिखित प्रसंग अधिक हैं:—

१. जमुना किनारे पड़ाव	२. अपशकुनों की लंबी सूची
३. सामंत-वर्णन	४. देवी, शिव, हनुमान आदि का प्रत्यक्ष होकर आशीर्वाद प्रदान
४. नागा साधुओं की फौज	५. शंखध्वनि साधुओं का वर्णन

डॉ० नामवरसिंह ने ठीक ही लिखा है, यह विस्तार स्पष्ट रूप से अनावश्यक और अप्रासंगिक है। अपशकुनों की कल्पना केवल प्रमुख सामंतों की मृत्यु को पुष्ट करने के लिये बाद में की गई और पूर्व सूचना के रूप में जोड़ी गई प्रतीत होती है। अलौकिक और अतिमानवीय घटनाओं के लिये भी ऐसी ही व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती है।' हमने भी इसी प्रकार की वृद्धि को ध्यान में रखते हुए कई वर्ष हुए लघुकाय रूपांतरों को ही अधिक प्रामाणिक मानने का विद्वानों से अनुरोध किया था।

रासो का परिवर्धन-क्रम

मूल रासो के ठीक रूप का अनुमान असंभव है। किंतु इसमें तीन कथानक अवश्य रहे होंगे। संयोगिता स्वयंवर की कथा रासो का मुख्य भाग रही है। यही इसकी मुख्य नायिका है। इसी से यह काव्य सप्राण है। अन्यत्र हमने संयोगिता स्वयंवर की भाषा के आपेक्षिक प्राचीनत्व का भी कुछ दिग्दर्शन किया है। कइमास-वध का वर्णन पृथ्वीराज प्रबंध के अपभ्रंश पद्यों में है। अतः उसका भी रासो का मूलभाग होना निश्चित है। इसी प्रकार मुहम्मद गोरी से युद्ध और पृथ्वीराज का उसका अंततः वध भी मूल रासो के भाग रहे होंगे। इस घटना का उपक्षेप ऊपर उद्धृत 'कइंवास विश्रास विसट्ठ विणु मच्छिबंधिवद्धओ मरिसि' पंक्ति में स्पष्टतः वर्तमान है।

लघुतम की धारणोज की प्रति संवत् १६६७ की है। लगभग चार सौ वर्ष तक भाटों की जबान पर चढ़े इस काव्य में स्वतः अनेक परिवर्तन हुए होंगे। पुरातन कवियों की रचना में संभवतः अधिक भेद नहीं हुआ है। व्यास, शुकदेव, श्रीहर्ष, कालिदास आदि प्राचीन कवि हैं। भोजदेशीय प्रवरसेन का

सेतुबंध भी प्राचीन ग्रंथ है। दंडमाली के विषय में कुछ निश्चित रूप से कहना कठिन है? शायद दंडी को ही दंडमाली संज्ञा दी गई हो। वंशावली दीर्घकाय नहीं है। उत्पत्ति की कथा केवल इतना ही कह कर समाप्त कर दी गई है कि माणिक्यराज ब्रह्मा के यज्ञ से उत्पन्न हुआ। इसी के वंश में कामांधवीसल हुआ। उसकी मृत्यु के बाद ढुंढ दानव की उत्पत्ति का वर्णन है। जिसके अत्याचार से सोमर की प्रजा में हाहाकार मच गया। अनल्ल का जन्म मातृगृह में हुआ। अंत में ढुंढ को प्रसन्न कर उसने राज्य प्राप्त किया। आनल्ल का पुत्र जयसिंह हुआ। जयसिंह के पुत्र आनंदमेव ने राज्य करने के बाद तप किया और राज्य अपने पुत्र सोम को दिया। सोमेश्वर के अनंगपाल तंवर की पुत्री से पृथ्वीराज ने जन्म लिया।

इसके बाद रासो के मुख्य छंद, कवित्त, जाति, साटक, गाथा दोहा आदि का निर्देश कर कवि ने रास का परिमाण 'सहस पंच' दिया है जिसका अर्थ '१००५' या '५०००' हो सकता है। इसके बाद मंगलाचरण का पुनः आरंभ है। पृथ्वीराज का वर्णन इसके बाद में शुरू होता है। एक कवित्त में सामान्य दिल्ली किल्ली कथा का भी निर्देश है। यह भविष्यवाणी भी इसमें वर्तमान है कि दिल्ली तंवरों के हाथ से चौहानों के हाथ में और फिर तुर्कों के अधीन होगी। तंवरों का एक बार यहाँ राज्य होगा और अंत में यह मेवाड़ के अधीन होगी।

इस रूपांतर के अनुसार अनंगपाल ने अपने दौहित्र को राज्य दिया और स्वयं तीर्थयात्रा के लिये निकल पड़ा। १११५ वि० सं० में पृथ्वीराज ने राज्य की प्राप्ति की। कन्नौज के पंगराय (जयचंद्र) ने मंत्रियों की मंत्रणा के विरुद्ध राजसूय यज्ञ का आरंभ किया। पृथ्वीराज उसमें संमिलित न हुआ। जयचंद्र ने दिल्ली दूत भेजा। किंतु गोविंद राजा से उसे कोरा करारा जवाब मिला—

> तुम जानहु छत्रिय है न कोइ, निरवीर पुहमि कवहू न होइ।
> (हम) जंगलिह वास कालिंदि कूल, जानहिं न राज जैचंद मूल॥
> जानहिं न देस जोगिनि पुरेसु, सुर इंदु वंस प्रिथिवी नरेसु।
> तिहं वारि साहि वंधियौ जेन भंजियो भूप भिढि भीमसेन॥

जयचंद ने पृथ्वीराज की प्रतिमा द्वार पर लगाई और यज्ञ आरंभ कर दिया। इसके बाद संयोगिता के सौंदर्य क्रीड़ादि का और पृथ्वीराज द्वारा यज्ञ के

विध्वंस का वर्णन है। संयोगिता ने भी कथा सुनी और वीर पृथ्वीराज को वरण करने का निश्चय किया। राजा ने और ही वर का निश्चय किया था और हुआ कुछ और ही। राजा ने पुत्री के पास दूती भेजी। उसने संयोगिता को बहुत मनाया; किंतु संयोगिता अपने निश्चय से न टली। राजा ने उसे गंगा के किनारे एक महल में रखा।

उधर अजमेर में अन्य घटनाएँ घट रही थीं। पृथ्वीराज अजमेर से बाहर शिकार के लिये गया था। दुर्भाग्यवश कैमास इस समय पृथ्वीराज की कर्णाटी के प्रणय-पाश में फँस गया। पृथ्वीराज को भी सूचना मिली, और उसने रात्रि के समय लौट कर उसे बाण का लक्ष्य बनाया। लाश गाड़ दी गई। किंतु सिद्ध सारस्वत चंदबरदाई से यह बात न छिपी रही।

११९१ की चैत्र तृतीया के दिन सौ सामंत लेकर पृथ्वीराज ने कन्नौज के लिये यात्रा की। किंतु वे कहाँ जा रहे हैं यह पृथ्वीराज और जयचंद ही जानते थे। रास्ते में राजा ने गंगा का दृश्य देखा और कन्नौज नगरी को देखते हुए राजद्वार पर पहुँचे। चंद के आने की सूचना प्रतिहार ने जयचंद्र को दी। चंद ने जयचंद्र की प्रशंसा में कुछ पद्य कहे, किंतु उनमें साथ ही पृथ्वीराज की प्रशंसा की पुट थी। दासी पान देने आई और पृथ्वीराज को देखते ही सिर ढक लिया। जयचंद उसके रहस्य को पूरी तरह न समझ पाया। किंतु प्रातःकाल जब चंद को द्रव्यादि देने के लिये पहुँचा तो पृथ्वीराज को उसकी राजोचित चेष्टाओं से पहचान गया। किंतु पृथ्वीराज भयभीत न हुआ। वह नगर देखने गया और गंगा के किनारे पहुँचा। वहीं संयोगिता ने उसे देखा। पृथ्वीराज संयोगिता का वरण करके दिल्ली के लिये रवाना हुआ। महान् युद्ध हुआ। पृथ्वीराज यथा-तथा दिल्ली पहुँचा और विलास में मग्न हो गया।

अंतिम भाग में शिहाबुद्दीन से संघर्ष का वर्णन है। मुसलमानी आक्रमण से स्थिति शनैः शनैः भयानक होती गई। सामंतों ने चामुण्ड राज को छुड़वाया। अंतिम युद्ध में बाकी सामंत मारे गाये। पृथ्वीराज को पकड़ कर शिहाबुद्दीन गजनी ले गया और अंधा कर दिया। चंद यथा-तथा वहाँ पहुँचा। उसने राजा को उत्साहित किया, और शिहाबुद्दीन को मारने का उपाय निकाल लिया। शिहाबुद्दीन के आज्ञा देते ही शब्दवेधी पृथ्वीराज ने उसे मार डाला। चंद ने खंजर से आत्मघात किया।

लघु रूपांतर में कुछ परिवर्धन हुआ। मंगलाचरण के बाद दशावतार की स्तुति आवश्यक प्रतीत हुई। पुनः दिल्ली राज्याभिषेक कथा के बाद भी यह प्रसंग रखा गया। कैमास मंत्री द्वारा भीम की पराजय, सामंत सलख पंवार द्वारा 'गोरीसाहबदीन' का निगाह, द्रव्यलाभ, संयोगिता उत्पत्ति, द्विजद्विजी संवाद, गंधर्व गंधर्वी संवाद, चंदविरोध, आदि कुछ नए प्रसंग इस रूपांतर में आए हैं। इनसे रासो की ऐतिहासिक सामग्री नहीं बढ़ती। द्विज-द्विजी संवाद, गंधर्व गंधर्वी संवाद आदि तो स्पष्टतः ऊपर की जोड़तोड़ हैं। दो दशावतार स्तुतिओं में एक के लिये ग्रंथ में वास्तव में कोई स्थान नहीं है।

मध्यम रूपांतर की कथा लघु रूपांतर से द्विगुण या कुछ अधिक है। स्वभावतः उसकी परिवृद्धि भी तदनुरूप है। नाहर राज्य पराजय, मूगल पराजय, इछिनी विवाह, आखेटक सोलंकी सारंगदेह स्तेन मूगल ग्रहण, भूमि सुपन सुगन कथा, समरसी प्रिथा कुमारी विवाह, ससिव्रता विवाह, राठौर निड्ढर डिल्ली आगमन, पीपजुद्ध विजय हंसावती विवाह, वरुण दूत सामंत उभयो युद्ध वर्णन, मोराराइ विजय युद्ध वर्णन, मोराराइ भीमंग दे वधन, संजोगिता पूर्व जन्म कथा, विजयपाल दिग्विजय, बालुकाराय वधन, पंगसामंत युद्ध, राजा पानी पंथ मृगया केदार संवाद, पाहार हस्तेन पाति साहिग्रहण, सपली गिधिनी संजोतिको सूर सामंत पराक्रम कथन आदि नव्य नव्य प्रसंगों के सृजन द्वारा रासो की अनैतिहासिकता इसमें दशगुणित हो चुकी है। किंतु इससे रस के काव्य सौष्ठव में कमी नहीं होती। कुछ नवीन प्रसंग तो काव्य दृष्टि से पर्याप्त सुंदर है।

बृहद् रूपांतर में बहुत अधिक पाठ वृद्धि है। कन्ह अंख पट्टी, आखेटक वीर वरदान, खट्टू आखेट, चित्ररेखा पूर्व जन्म, पुंडीर दाहिमो विवाह, देवगिरि युद्ध, रेवातटयुद्ध अनंगपाल युद्ध, घघ्घर की लड़ाई, करहेड़ा युद्ध, इंद्रावती विवाह, जैतराई पातिसाह साहव, कांगुरा विजय, पहाड़राइ पातिसाह साहव, पज्जूनक छवाहा, चंद द्वारका गमन, कैमास पातिसाहग्रहण, सुकवर्णन, हांसी के युद्ध, पज्जून महुवा युद्ध, जंगम सोफी कथा, राजा आखेटक चख-श्राप, रैनसी युद्ध आदि इसमें नवीन प्रसंग हैं। डॉ० नामवरसिंह के विश्ले-षण से यह भी स्पष्ट है कि सबके बाद की जोड़ तोड़ में लोहाना आजानु बाहु पद्मावती विवाह, होली कथा दीपमाला कथा और प्रथिराज विवाह हैं। संभव है कि इनमें से कुछ स्वतंत्र काव्यों के रूप में वर्तमान रहे हों, और अठारहवीं शताब्दी में ही इनकी रासो में अंतर्भुक्ति हुई हो।

कुछ ऊहापोह

रूपांतरों के परिवर्धन क्रम के आधार पर रासो के विषय में कुछ ऊहापोह किया जा सकता है। रासो की मुख्य कथा पृथ्वीराज से संबंध रखती है। उसका आदि भाग, चाहे हम उसे आदि पर्व कहे या आदि प्रबंध, वास्तव में रासो की पूर्वपीठिका मात्र है। हम 'मुद्राराक्षस' दशकुमारचरितादि की पूर्वपीठिकाओं से परिचित हैं। इनमें सत्य का अंश अवश्य रहता है; किंतु कल्पना सत्य से कहीं अधिक मात्रा में रहती है। यही बात पृथ्वीराजरासो के आदि भाग की है। उसमें सब वीसल एक हैं, पृथ्वीराज भी एक बन चुका है। ढुंढा दानव की विचित्र कथा भी है, और उसके बाद आनल्ल की। वास्तव में आनल्ल के पिता के समय सपादलक्ष को बहुत कष्ट उठाना पड़ा था। शायद इसी सत्य की स्मृति ने ढुंढा को जन्म दिया हो। दिल्ली प्राप्ति इस भाग के रचयिता को ज्ञात थी। किंतु उस समय तक लोग किसी अंश तक यह भूल चुके थे कि यह प्राप्ति विजय से हुई थी। अनंगपाल ने खुशी खुशी दिल्ली चौहानों को न दी थी। धारणोज की प्रति में यह आदि भाग वर्तमान है। निश्चित रूप से इसलिये यही कहा जा सकता है कि आदि पर्व की रचना वि० सं० १६६७ में हो चुकी थी। इसकी तिथि तालिका कल्पित है, और उसी के आधार पर रासो के अवशिष्टांश में भी तिथियां भर दी गई हैं।

स्वल्पसी प्रस्तावना के बाद संभवतः रासो का आरंभ पंगयज्ञ विध्वंश से होता है। उसके बाद संयोगिता को पृथ्वीराज को वरण करने का निश्चय, कैमासवध, कन्नौज प्रयाण, कन्नौज वर्णन, संयोगिता विवाह, पंग से युद्ध और दिल्ली आगमन आदि के प्रसंग रहे होंगे। इनमें यत्र तत्र परिवर्धन और परिवर्तन तो संभव ही है। पुरातन-प्रबंध-संग्रह में उद्धृत भविष्यवाणीसे यह भी संभव है कि रासो में पृथ्वीराज के युद्ध और मृत्यु के भी प्रसंग रहे हों। किंतु उस अंतिम भाग का गठन अवश्य कुछ भिन्न रहा होगा। पृथ्वीराज का शब्दवेध द्वारा मुहम्मद गोरी को मारना किसी परतर कवि की सूझ है। मूल के शब्द 'मच्छिग्रंधिग्रंदूओ मरिसि' से तो अनुमान होता है कि पृथ्वीराज की मृत्यु कुछ गौरवपूर्ण न रही होगी। उत्तर पीठिका का बानवेध प्रसंग संभव है मूल रासो में न रहा हो।

इसके बाद भी जो जोड़ तोड़ चलती रही उसका ज्ञान हमें लघु रूपांतरों से चलता है। इस रूपांतर की एक प्रति का परिचय देते हुए हमने लिखा

था कि इसमें अनेक प्रसंग अनैतिहासिक हैं। लघु और लघुतर रूपातरों की तुलना से इनमें कुछ अनैतिहासिक प्रसंग आसानी से चुने जा सकते है।

मध्य और बृहत् रूपांतरों का सृजन संभवतः मेवाड़ प्रदेश में हुआ। इनमें मेवाड़ विपयक कथानक यत्र तत्र घुस गये हैं, और पृथ्वीराज के समय मेवाड़ को कुछ विशेष स्थान देने का प्रयत्न किया गया है। समरसिंह पृथ्वीराज का साला नहीं, बहनोई है मध्यरूपांतर में समरसिंह जयचंद से युद्ध करता है। बृहदरूपांतर में वह शिहाबुद्दीन के विरुद्ध भी दिल्ली की सहायता करता है। इस रूपांतर में कविकल्पना ने रासो के आकार की खूब वृद्धि की है। इस रूपांतर का सृजन न हुआ होता तो संभवतः न रासो को इतनी ख्याति ही प्राप्त होती और न उसकी ऐतिहासिकता परही इतने आक्षेप होते। पडिहार, मुगल, सोलंकी, पेवार, दहिया, यादव, कछवाहादि सभी राजपूत जातियों को इसमें स्थान मिला है। कथा-वार्ताओं की सभी रूढ़ियों का भट्टदेवों ने इसकी कथा को विस्तृत करने में उपयोग किया है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने जिन कथानक रूढ़ियों का निर्देश किया है, उनमें कुछ ये हैं —

(१) कहानी कहनेवाला सुग्गा
(२) (i) स्वप्न में प्रिय का दर्शन
(ii) चित्र में देखकर किसी पर मोहित हो जाना
(iii) भिक्षुओं या बंदियों से कीर्ति वर्णन सुनकर प्रेमासक्त होना इत्यादि
(३) मुनि का शाप
(४) रूप परिवर्तन
(५) लिंग परिवर्तन
(६) परकाय प्रवेश
(७) आकाशवाणी
(८) अभिज्ञान या सहिदानी
(९) परिचारिका का राजा से प्रेम और अंत में उसका राजकन्या और रानी की बहन के रूप में अभिज्ञान
(१०) नायक का औदार्य
(११) षड्ऋतु और बारहमासा के माध्यम से विरहवेदना
(१२) हंस कपोत आदि से संदेश भेजना

इनमें अनेक रूढियां रासो के वृहद रूपांतर में सफलतापूर्वक प्रयुक्त हुई हैं। हमारा अनुमान है कि मूल रासो शृंगाररसानुप्राणित [वीर काव्य था और उनमें इन रूढ़ियों के लिये विशेष स्थान न था। रासो में रूढ़ियों का आश्रय प्रायः इसी लक्ष्य से लिया गया है कि प्रायः आलक्षित रूप से नई कथाओं को प्रक्षिप्त किया जा सके। यही अनुमान लघुकाय रूपांतरों के अध्ययन से दृढ़ होता है। लघु और लघु रूपांतर में दिल्ली किल्ली की कथा का उल्लेख मात्र है। राज-स्वप्न की रूढ़ि द्वारा उसे मध्यम रूपांतर में विस्तृत,कर दिया गया है। शुक और शुकी के वार्तालाप से इंछिनी और शशिव्रता के विवाह उपस्थित किये गये हैं। संभवतः यह किसी अच्छे कवि की कृति हैं। किंतु ये रासो में कुछ देर से पहुँची। संयोगिता की कथा राजसूय यज्ञ की तैयारी से हुई होगी। उसमें 'मदनवृद्धवंभनी गृहे' सकलकला पठनार्थ द्विज-द्विजी संवाद गंधर्व-गंधर्वी संवाद, और वृहदरूपांतर का शुकवर्णन प्रक्षेप मात्र हैं। शुक संदेश वाली पद्मावती की कथा शायद सतरहवीं शताब्दी से पूर्व वर्तमान रही हो। किंतु वृहद रूपांतर की प्राचीन प्रतियों में भी यह कथा नहीं मिलती। इसलिये रासो में इस कथानक का प्रवेश पर्याप्त विलंब से हुआ है।

संयोगिता की कथा का आरंभ होते ही अन्य रस गौण हो जाते हैं। उसके विवाह से पूर्व वृहद रूपांतर में 'हांसी पर प्रथम युद्ध पातिसाह पराजय' हांसीपुर द्वितीय युद्ध पातिसाह पराजय', 'पज्जून महुवायुदू पातिसाह पराजय' पज्जून कछवाहा पातिसाह ग्रहण, जैचंद समरसी युद्ध, दुर्गा केदार, जंगम सोफी कथा आदि प्रसंग स्पष्टतः असंगत हैं। इनसे न मुख्य रस की परिपुष्टि होती है और न कोई ऐसा कारण उत्पन्न होता है जिससे पृथ्वीराज कन्नौज जाने की तैयारी करे। इसके विपरीत कैमास वध प्रेरक और षट्ऋतु वर्णन विलंब के रूप में यहाँ संगत कहे जा सकते हैं।

इसी तरह जब वृहद् रूपांतर के ६३ खंड 'सुकविलास' पर पहुँचते हैं तो स्वभावतः यह भावना उत्पन्न होती है कि प्रक्षेप की फिर तैयारी की जा रही है। राजा आखेटक चखश्राप, प्रथिराज विवाह, समरसी दिल्ली सहाई आदि इस प्रक्षेप के नमूने हैं। जिस प्रकार रासो में एक कल्पना प्रधान पूर्वपीठिका है, उसी तरह उसमें एक उत्तरपीठिका भी वर्तमान है। यह किस समय जुड़ी यह कहना कठिन है। कुछ अंश शीघ्र ही और कुछ पर्याप्त विलंब से इसमें संमि-

लित किये गए हैं। रैनसी जुद्ध, जै चंद गंगासरन आदि प्रसंग इसके मध्य-रूपांतर में भी नहीं हैं।

भाषा

पृथ्वीराज प्रबंध के अंतर्गत रासो पद्यों के मिलने के बाद हमारी यह धारणा रही है कि मूल रासो अपभ्रंश में रहा होगा। अब उसका कोई भी रूपांतर यदि अपभ्रंश का ग्रंथ न कहा जा सके तो उसका कारण इतना ही है कि जनप्रिय अलिखित काव्यों की भाषा सदा एक सी नहीं रहती। उनमें पुरानेपन की झलक मिल सकती है, यत्र तत्र कुछ अपभ्रंश-प्राय स्थल भी मिल सकते हैं। किंतु भाषा बहुत कुछ बदल चुकी है। साहित्यिक अपभ्रंश किसी समय मुख्यतः टक्क, भादानक, मरुस्थलादि की बोलचाल की भाषा थी, इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए हमने राजस्थान में रचित, राजस्थान-शौर्य-प्रख्यापक इस पृथ्वीराजरासो काव्य के मूलस्वरूप को तेरहवीं शताब्दी में प्रयुक्त राजस्थानी भाषा, अर्थात् अपभ्रंश का ग्रंथ माना था। इस विकसित राजस्थानी या पश्चिमी राजस्थानी का ग्रंथ मानने की भूल हमने नहीं की है।

पृथ्वीराज प्रबंध में उद्धृत रासो के पद्यों में अपभ्रंश की उकार बहुलता है, जैसे इंक्कु, वाणुं, पहुविास, जु, चंदबलद्दिउ। कइंबासह, गुलह, पइं, जेपइ आदि भी अपभ्रंश की याद दिलाते है। क्तांत क्रियाओं के मुक्कओ, खंडहडिउ आदि भी द्रष्टव्य हैं।

लघुतम संस्करण की भाषा अपभ्रंश नहीं है। किंतु यह बृहद् और लघु रूपांतरों की भाषा से प्राचीन है। इसमें फारसी भाषा के शब्दों का बृहद् रूपांतरों से कम प्रयोग है। रेफ का विपर्यय (कर्म > क्रम्म, धर्म > ध्रम्म) लघुतम रूपांतर में अधिक नहीं है। व्यंजनों का द्वित्व प्राकृत और अप्रभ्रंश की विशेषता है। लघुतम रूप में यह व्यंजनद्वित्व प्रायशः रक्षित है। अंत्य 'आइ' अभी 'ऐ' में परिवर्तित नहीं हुआ है 'ऋ' के लिये प्रायः 'रि' का प्रयोग है। कर्ताकारक में अपभ्रंश की तरह रूप प्रायः उकारांत है। संबंधकारक में अपभ्रंश के 'ह' का प्रयोग पर्याप्त है। पुरानी ब्रज के परसर्ग 'ने' का रासो में प्रायः अभाव है। ब्रज का 'कौ' इसमें नहीं मिलता। अन्य भी अनेक प्राचीन ब्रज के तत्त्व इसमें नहीं है। किंतु चौहानों का मूलस्थान मत्स्य प्रदेश था। पूर्वी राजस्थान में पृथ्वीराज के वंशज सन् १३०१ तक राज्य करते रहे। अतः इन्हीं प्रदेशों में शायद रासो का आरंभ में विशेष प्रचार रहा हो।

रासो के जिन भाषा तत्वों को हम ब्रज का पूर्वस्वरूप मानते हैं वे संभवतः पूर्व राजस्थानी के रूप है जो हिंदी के पर्याप्त सन्निकट हैं।

लघुरूपांतर की भाषा यत्र-तत्र इससे अधिक विकसित है। इसके दशावतारवंदन में कंसवध पर्यंत कृष्णचरित संमिलित है। इसके प्रक्षिप्त होने का प्रमाण निम्नलिखित पद्यों की नवीन भाषा है—

सुनौ तुम चंपक चंद चकोर, कहौ कहं स्याम सुनौ खग मोर।
कियो हम मान तज्यो उन संग, रह्यो नहीं गर्व रहयो नहीं रंग॥
सकल लोक ब्रजवासि जहँ, तहँ मिलि नंदकुमार।
दधि तंडुल मंजुल सुखहिं, किय बहु विद्धि अहार॥

किंतु इसके पुराने अंश की भाषा अपभ्रंश के पर्याप्त निकट है।

रासो

हम जंगलहं वास कालिन्दि कूल
जानहि न राज जैचन्द मूल।
जानहिं तु एक जुग्गिनि नरेस
सुर इंद वंस पृथ्वी नरेस॥

अपभ्रंश

जंगलह वासि कालिन्दि-कूल, जाणइ ण रज्ज जइचंदमूल।
जाणइ तु इक्कु जोइणि-णरेसु, सुरिंदवंसहिं पुहविणरेसु॥

मध्यम और वृहद् रूपांतरों में भाषा का विकास और स्पष्ट है। फारसी शब्दों का प्राचुर्य द्वित्व युक्त व्यंजनों का सरलीकरण, स्वरसंकोचन, 'ण' के स्थान पर 'न' का और 'आइ' के स्थान पर 'ए' का प्रयोग विशेष रूप से दर्शनीय है। भाषाविभेद, प्रसंग विभेद, प्रकरण संगति आदि को ठुकरा कर ही हम यह सिद्ध कर सकते हैं कि रासो में कोई रूपांतर नहीं है। वृहद् रूपांतर की प्राचीनतम प्रति संवत् १७६० की है। इसके संकलयिता ने इस बात का ध्यान रखा है कि उस समय की सभी प्रसिद्ध जातियाँ उसमें आ जायँ और हर एक के लिये कुछ न कुछ प्रशंसा के शब्द हों।

रासो में ऐतिहासिक तथ्य

रासो की कथाओं के ऐतिहासिक आधार का हमने कई वर्ष पूर्व विवेचन

किया था। वृहद् रूपांतर में अनेक अनैतिहासिक कथाओं का समावेश स्पष्ट रूप में वर्तमान है। उसके संवत् अशुद्ध हैं। वंशावली कल्पित है। प्रायः सभी वर्णन अतिरंजित हैं। सभी रूपांतरों के विशेष विचार एवं विमर्श के बाद हम तो इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि रासो का मूल भाग संभवतः पंग-यज्ञ-विध्वंस, संयोगिता नेम-आचरण, कैमास वध, षट्रितु वर्णन, कनवज्जकथा और बड़ी लड़ाई मात्र है। इसमें आदि पर्व, दिल्ली किल्ली दान और अनंग-पाल दिल्ली दान पूर्व पीठिका के रूप में जोड़ दिये गये हैं। इस पीठिका में कुछ ऐतिहासिक तथ्य वर्तमान हैं, किंतु तीन पृथ्वीराजों के एक पृथ्वीराज और चार वीसलों के एक वीसल होने से पर्याप्त गड़बड़ हो गई है। अनल और वीसल के संबंध में भी अशुद्धि है। ढुंढा दानव की कल्पना यदि सत्याश्रित मानी जाँय तो उसे मुहम्मद बहलिम मानना उचित होगा। इसके हाथों अनल के पिता के समय सपाद लक्ष देश को काफी कष्ट उठाना पड़ा था। बाणवेध मूल रासो की उत्तर पीठिका है। इसमें भी कल्पना मिश्रित कुछ सत्य है। पृथ्वी-राज प्रबंध और ताजुल मासीर से स्पष्ट है कि पृथ्वीराज की मृत्यु युद्ध स्थल में नहीं हुई। कोई षड्यंत्र ही उसकी मृत्यु का कारण हुआ।

इतिहास की दृष्टि से रासो के वृहद् रूपांतर में दी हुई निम्नलिखित कथाएँ सर्वथा असत्य हैं—

१. लोहाना आजानबाहु—वृहत् रूपांतर के प्राचीन प्रतियों में यह खंड नहीं मिलता। भाषा देखिये—

> तब तबीब तसलीम करि लै धरि आइ लुहान ॥ ४ ॥
> हज्जार पंच सेना समथ, करि जुहार भर चल्ल्यौ ॥ ७ ॥

तबीब, तसलीम आदि विदेशी शब्द हैं। तंवर वंशी आजानु बाहु का कच्छ पर आक्रमण भी असंभव है। पृथ्वीराज के साम्राज्य का कोई भूभाग कच्छ से न लगता था।

२. नाहरराय कथा—पृथ्वीराज अपने पिता की मृत्यु के समय केवल १०-११ साल का था। सोमेश्वर के जीवन काल में मंडोर राज नाहरराय को हराना और उसी की कन्या से विवाह करना पृथ्वीराज के लिये असंभव था।

३. मेवाती मूगल कथा—सोमेश्वर के जीवन काल में पृथ्वीराज द्वारा मेवाती मूगल की पराजय भी इसी तरह असंभव है। कविराज मोहनसिंहजी

मूगल शब्द को मेवाती सरदार का नाम माना है। किंतु उसके सपच्चीय वाजिद खाँ पठान, खुरासान खान मगंद मरदान आदि के नामों से प्रतीत होता है कि इस प्रसंग के रचयिता ने मूगल को मुसलमान ही माना है। पृथ्वीराज के समय मुसलमानों के मेवात में न होने का ज्ञान उसे न था।

४. हुसेन कथा
५. आखेट चूक
६. पुंडीर दाहिमी विवाह
७. पृथा विवाह
८. ससिव्रता विवाह
९. हंसावती विवाह
१०. इंद्रावती विवाह
११. कांगुरा युद्ध

इन सब में अनेक ऐतिहासिक असंगतियों के अतिरिक्त यह बात भी ध्यान देने के योग्य है कि यह सब घटनाएँ सोमेश्वर के जीवन काल में अर्थात् पृथ्वीराज के शैशवकाल में रखी गई हैं। पृथ्वीराज का जन्म सं० १२२३ में हुआ और सोमेश्वर की मृत्यु सं० १२३४ में। पृथ्वीराज की आयु इतनी कम थी कि राजका कपूर देवी को संभालना पड़ा।

१२. खड्वन मध्ये कैमास-पातिसाह ग्रहण
१३. भीमरा वध

भीम वास्तव में पृथ्वीराज के बाद भी चिरकाल तक जीवित रहा।

(१४) पृथ्वीराज के शिहाबुद्दीन से कुछ युद्ध—

इन युद्धों की संख्या शनैः-शनैः बढ़ती गई है। कुछ इनमें से अवश्य कल्पित हैं।

(१५) समरसी दिल्ली सहाय

(१६) रैनसी युद्ध

समरसी को सामंतसिंह का विरुद मानकर ऐतिहासिक आपत्तियों को दूर करने का प्रयत्न किया गया है। किंतु सामंतसिंह स्वयं सं० १२३६ से पूर्व मेवाड़ का राज्य खो बैठा था। संवत् १२४२ के पूर्व वागड़ का राज्य भी उसके हाथ से निकल गया। इसलिये यह संभव नहीं है कि उसने सं० १२४८ के लगभग पृथ्वीराज की कुछ विशेष सहायता की हो। मेरा निजी विचार है कि परिवर्धित संस्करणों की उत्पत्ति मुख्यतः मेवाड़ जनपद में हुई है, और इसी कारण उनमें मेवाड़ के माहात्म्य को विशेष रूप से बढ़ाया चढ़ाया गया है;

परिवर्धित भाग सभी शायद अनैतिहासिक न रहा हो। पूर्व पीठिका, और उत्तरपीठिका की अर्ध-ऐतिहासिकता के विषय में हम कुछ कह चुके हैं; भीम चौलुक्य और पृथ्वीराज का वैमनस्य कुछ ऐतिहासिक आधार रखता है। यद्यपि न भीम ने सोमेश्वर को मारा और न स्वयं पृथ्वीराज के हाथों मारा गया। कन्ह, अखपट्टी, पद्मावती विवाह आदि में भी शायद कुछ सत्य का अंश हो। वास्तव में यह मानना असंगत न होगा कि वर्तमान रासो का वृहद् रूपांतर एक कवि की कृति नहीं है। बहुत संभव है कि पृथ्वीराज के विषय में अनेक कवियों की रचनाएँ वर्तमान रही हों। महाभारत-व्यास की तरह किसी रासो-व्यास ने इन्हें एकत्रित करते समय सभी को चंदवरदाई की कृतियाँ बना दी हैं। शुक शुकी, द्विज द्विजी आदि की प्रचलित रूढ़ियों द्वारा इन कथाओं को रासो के अंतर्गत करना भी विशेष कठिन न रहा होगा। जब रासो ने कुछ विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की, तो इसमें अन्य जातियों के नाम भी जोड़ दिये गए। पज्जून कछवाहा, नाहडराय पडिहार, धीरपुंडीर, संभव है कि ऐतिहासिक व्यक्ति रहे हों। किंतु उनका पृथ्वीराज से संबंध संदिग्ध है।

रासो के मूलभाग में संयोगिता स्वयंवर, कैमासवध और पृथ्वीराज शिहा-बुद्दीन-संघर्ष-प्रसंग हैं। इन तीनों की ऐतिहासिकता सिद्ध की जा सकती है। केवल रंभामंजरी और हम्मीर महाकाव्य में संयोगिता का नाम न आने से संयोगिता की अनैतिहासिकता सिद्ध नहीं होती। रंभामंजरी प्रायः सर्वथा ऐतिहासिक तथ्यों से शून्य है। हम्मीर महाकाव्य में भी पृथ्वीराज के नागार्जुन भादानक जाति, चंदेलराज परमर्दिन्, चौलुक्य राज भीमदेव द्वितीय एवं परमारराज धारावर्षादि के साथ के युद्धों का वर्णन नहीं है। हम्मीरमहाकाव्य का पृथ्वीराज के जीवन की इन मुख्य घटनाओं के विषय में मौन यदि इन्हें अनैतिहासिक सिद्ध न कर सके तो संयोगिता के विषय में मौन ही उसे अनैतिहासिक सिद्ध करने की क्या विशेष क्षमता रखता है? पृथ्वीराज प्रबंध से जयचंद्र और पृथ्वीराज का वैमनस्य सिद्ध है। 'पृथ्वीराज-विजय' में भी गंगा के किनारे स्थित किसी राजकुमारी से पृथ्वीराज के प्रणय का निर्देश है। काव्य यहीं त्रुटित न हो जाता तो यह विवाद ही सदा के लिये शांत हो जाता। 'सुर्जन चरित' और 'आइने अकबरी' में संयोगिता की कथा अपने पूर्ण रूप में वर्तमान है। संयोगिता के विषय में अनेक वर्षों के बाद भी हम निम्नलिखित शब्द दोहराना अनुचित नहीं समझते—

"जो राजकुमारी 'रासो' की प्रधान नायिका है, जिसके विषय में अबुल-फ़ज्ल को भी पर्याप्त ज्ञान था, जिसकी रसमयी कथा चाहमानवंशाश्रित एवं चाहमान वंश के इतिहासकार चंद्रशेखर के 'सुर्जनचरित' में स्थान प्राप्त कर चुकी है, जिसे सोलहवीं शती में और उससे पूर्व भी पृथ्वीराज के वंशज अपनी पूर्वजा मानते थे; जिसका सामान्यतः निर्देश 'पृथ्वीराज विजय' महाकाव्य में भी मिलता है; जिसके पिता जयचंद्र और जयचंद्र का वैमनस्य इतिहासानुमोदित एवं तत्कालीन राजनीतिक स्थिति के अनुकूल है; जिसकी अपहरण-कथा अभूतपूर्व एवं असंगत नहीं है; जिसकी सत्ता का निराकरण 'हम्मीर-महाकाव्य' और 'रंभामंजरी' के मौन के आधार पर कदापि नहीं किया जा सकता; जिसकी ऐतिहासिकता के विरुद्ध सभी युक्तियाँ हेत्वाभास मात्र हैं, उस कांतिमती संयोगिता को हम पृथ्वीराज की परमप्रेयसी रानी मानें तो इसमें दोष ही क्या है ? यह चंद्रमुखी भ्रम-राहु द्वारा अब कितने समय तक और ग्रस्त रहेगी ?"

कैमास की ऐतिहासिकता भी इसी तरह सिद्ध है। पृथ्वीराजविजय में यह पृथ्वीराज के मंत्री के रूप में वर्तमान है। खरतरगच्छपट्टावली में इसे महामंडलेश्वर कहा गया है और राजा की अनुपस्थिति में यह उसका प्रतिनिधित्व करता है। जिनप्रभसूरि के विविध तीर्थ कल्प में भी कैमास का जिन प्राकृत के शब्दों में उल्लेख है। उनका हिंदी अनुवाद निम्नलिखित है:—'जब विक्रम संवत्सर १२४७ में चौहानराज श्रीपृथ्वीराज नरेंद्र सुल्तान शिहाबुद्दीन के हाथों मारा गया, तो राज-प्रधान परमश्रावक श्रेष्ठी रामदेव ने श्रावक संघ के पास लेख भेजा कि तुर्कराज्य हो गया है। श्री महावीर की प्रतिमा को छिपा कर रखना। तब श्रावकों ने दाहिमाकुल मंडन कयंबास मंडलिक के नाम से अंकित कयंबास स्थल में बहुत सी बालुका ढेर में उसे दबा दिया।' रासो में भी कैमास को दाहिमा ही कहा गया है। कवि ने कथा को अतिरंजित भी कर दिया हो तो भी मूलतः वह ठीक प्रतीत होती है।

शिहाबुद्दीन और पृथ्वीराज के युद्ध के विषय में हमें कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। यह सर्वसंमत ऐतिहासिक घटना है। इसके बाद की उत्तरपीठिका की अर्ध ऐतिहासिकता के विषय में हम ऊपर लिख चुके हैं।

काव्यसौष्ठव—

काव्यसौष्ठव की दृष्टि से रासो में स्वाभाविक विषमता है। जब सब रासो एक कवि की कृति ही नहीं है, तो उसमें एक सा काव्यसौष्ठव ढूँढना व्यर्थ है। लघुतम रूपांतर में जाह्नवी का अच्छा वर्णन है। कन्नौज की सुंदरियों का भी यह वर्णन पढ़ें—

भरन्ति नीर सुन्दरी ति पान पत्त अंगुरी।
कनंक बक्क जज्जुरी ति लग्गि कढ़ि जे हरि॥
सहज सोभ पंडरी जु मीन चित्रहीं भरी।
सकोल लोज जंघया ति लीन कच्छ रंभया॥
करिब्ब सोभ सेसरी मनो जुवान केसरी।
अनेक छब्बि छत्तिया कहूँ तु चंद रत्तिया॥
दुराइ कुच्च उच्छरे मनो अनंग ही भरे।
हरंत हार सोहाए विचित्र चित्त मोह ए॥
अधर अद्ध रत्तए सुकील कीर वद्धए।
सोहंत देत आलमी कहंत वीय दालमी॥

जयचंद के यज्ञ का वर्णन, पृथ्वीराज के सामंतों का जयचंद को उत्तर, यज्ञ-विध्वंस आदि प्रकरण कवि की प्रतिभा से सजीव हैं। वसंत का वर्णन भी पढ़ें—

लुट्टति भमर सुभ गंध वास।
मिलि चंद कुंद फुल्लयउ अगास॥
वनि वग्ग मग्ग वहु अंब मौर।
सिरि ढरइ मनु मनमत्थ चौर॥
चलि सीत मंद सुगंध वात।
पावक मनहु विरहिनि निपात॥
कुह - कुह करंति कलयंठि जोटि
दल मिलहिं मनहुँ आनंग कोटि
तरु पल्लव फुल्लहिं रत्त नील
दलि चलहि मनहु मनमत्थ पील

मूलरासो का अंत भी ग्रंथ के उपयुक्त रहा होगा। यह काव्य वास्तव में दुःखांत है, उसे सुखांत बनाना या उसके निकट तक पहुँचाना

संभवतः परवर्ती कवियों की सूझ है। शत्रुओं से घिर जाने पर भी पृथ्वीराज ने स्वाभिमान न छोड़ा।

दिन पलट्ट पलट्ट न मन भुज बाहत सब शस्त्र
अरि मिटि मिट्यो न कोइ लिख्यु विधाता पत्र ॥

जिस क्षत्रिय वीर से सब मुसलमान सशंकित थे, जिसकी आज्ञा सर्वत्र शिरोधार्य थी उसी को मुसलमान पकड़कर गजनी ले गए।[1]

रासो के परिवर्धित कुछ अंश काव्य-सौष्ठवयुक्त हैं। किंतु उन्हें चंद के कवित्व के अंतर्गत नहीं, अपितु महारासो के काव्यत्व के अंतर्गत मानना उचित होगा। इञ्छिनी और शशिव्रता के विवाहों का वर्णन कवित्वयुक्त है। चंद की परंपरा में भी अनेक अच्छे कवि रहे होंगे। वे चंद न सही, चंद-पुत्र कहाने के अवश्य अधिकारी हैं।

जल्ह

परंपरा से जल्ह चंद के पुत्र हैं। यह बात सत्य हो या असत्य, यह निश्चित है कि उनमें भी काव्यरचना की अच्छी शक्ति थी। 'पुरातनप्रबंध-संग्रह' में उद्धृत जयचंद विषयक पद्य जल्ह की रचना है। जल्ह और चंद के समय में अधिक अंतर न रहा होगा।

पश्चिमी प्रांतों में ऐतिहासिक काव्यधारा का प्रसार

भारत के पश्चिमी प्रांतों में यह ऐतिहासिक काव्यधारा अनेक रूप से प्रसृत हुई। गुजरातियों और राजस्थानियों ने मनभर कर धर्मवीरों, दानवीरों और युद्धवीरों की स्तुति की। कुमारपालचरित, नवसाहसांकचरित (संस्कृत) कीर्तिकौमुदी (संस्कृत), सुकृतसंकीर्तन (संस्कृत), वसंतविलास (संस्कृत) धर्माभ्युदय काव्य (संस्कृत), रेवंतगिरिरासु (गुजराती), जगडू-चरितं (संस्कृत), पेथडरास (गुजराती) आदि इसी प्रवृत्ति के फल हैं। जैनियों में धार्मिक कृत्य, जैसे जीर्णोद्धार आदि करनेवालों का विशेष महत्व है। साथ ही ऐसा व्यक्ति राज्य में प्रभावशाली रहा हो तो तद्विषयक रास आदि बनने की अधिक संभावना रहती है।

---

१ इसके बाद में उत्तरपीठिका है, और उसका अवतरण एक प्रसिद्ध साहित्यिक रूढ़ि द्वारा हुआ है।

संवत् १३६६ में अलाउद्दीन की सेना ने शत्रुञ्जय के तीर्थनाथ ऋषभदेव की मूर्ति को नष्ट कर दिया था। पाटण के समरासाह ने अलफखाँ से मिलकर फरमान निकलवाया कि मूर्तियों को नष्ट न किया जाय। उसने शत्रुञ्जय में नवीन मूर्ति की स्थापना की और संवत् १३७२ में संघसहित शत्रुञ्जयादि तीर्थों की यात्रा की। इस धर्मवीरता के प्रख्यापन के लिये अम्बदेव सूरि ने सं० समरारास की रचना की। रास की भाषा सरस है। यात्रा के बीच में वसंतावतार हुआ—

रितु अवतरियउ तहिजि वसंतो, सुरहि कुसुम परिमल पूरंतो
समरह वाजिय विजय ढक्क।
सागु सेलु सल्लइ सच्छाया, के सूय कुडय कयंब निकाया
संघसेनु गिरिमाहइ वहए।
बालीय पूछइं तरुवरनाम, बाटइ आवइं नव नव गाम
नय नीझरण रमाउलइं॥

जब संघ पाटण वापस पहुँचा, उस समय का दृश्य भी दर्शनीय रहेगा।

मंत्रिपुत्रह भीरह मिलीय अनु ववहारिय सार।
संघपति संघु वधावियउ कंठिहि एकंठिहि घालिय जयमाल।
तुरिय घाट तरवरि य तहिं समरउ करइ प्रवेसु।
अणहिलपुरि वद्धामणउ ए अभिनव ए अभिनवु।
ए अभिनवु पुन्ननिवासो॥

यह रास भाषा, साहित्य और इतिहास इन तीनों दृष्टियों से उपयोगी है। खिल्जीकालीन भारतीय स्थिति का इतना सुंदर वर्णन अन्यत्र कम मिलता है।

कुमारपाल, वस्तुपाल, विमल आदि के विषय में अनेक रास ग्रंथों की रचना हुई। किंतु इनमें शुद्ध वीर काव्य का आनंद नहीं मिलता। न इनके काव्य में कुछ मौलिकता ही है और न रमणीयता।

इनसे भिन्न युद्ध वीर काव्यों की परंपरा है। चौदहवीं शताब्दी में किसी कवि ने संभवतः अपभ्रंश भाषा में रणथंभोर के राजा हठी हम्मीर का चरित लिखा है। नयचंद के संस्कृत में रचित 'हम्मीर महाकाव्य' को संभवतः इससे कुछ सामग्री मिली हो और 'प्राकृतपैंगलम्' में उद्धृत अपभ्रंश पद्य संभवतः इसी देश्यकाव्य से हों। राहुलजी ने इसके रचयिता का नाम जज्जल दिया

है जो ठीक नहीं है।[1] जयचंद्र के मंत्री विद्याधर के जो पद्य मिले हैं वे भी इसी तरह अपभ्रंश में रचित हैं।[2] वे किसी काव्य के अंश हो सकते हैं, किंतु उन्हें मुक्तक मानना ही शायद ठीक होगा।

हमने अखण्डित रूप में प्राप्त 'रणमल्ल काव्य' को इस संग्रह में स्थान दिया है। इसकी रचना सन् १३९८ के लगभग हुई होगी। श्रीधर ने इसमें ईडर के स्वामी राठौड वीर रणमल्ल के यश का गायन किया है। भाषा नपी तुली और विषयानुरूप है। प्राचीन देश्य वीरकाव्यों में इसका स्थान बहुत ऊँचा है। रणमल्ल ने गुजरात के सूबेदार मुफर्रह को कर देने से बिल्कुल इनकार कर दिया :—

जा अम्बर पुढतलि तरणि रमइ, ता कमधज्जकंध न धगइ नमइ।
वरि वडवानल तण झाल शमइ, पुण मेच्छन चास आपूं किमइ ॥२०॥
पुण रणरस जाण जरइ जडी, गुण सींगणि खंचि खन्ति चडी।
छत्तीस कुलह वल करि सु घणूं, पयं भग्गिसुरा हम्मीर तणू ॥२१॥

मीर मुफर्रह और रणमल्ल की सेनाओं में भयंकर युद्ध हुआ। रणमल्ल ने खूब म्लेच्छों का संहार किया और अंत में उसकी विजय हुई :—

कडक्कि मूंछ भींछ मेच्छ मल्ल मोलि मुग्गरि।
चमक्कि चल्लि रणमल्ल भल्ल फेरि संगरि।
धमक्कि धार छोडि धान धाडि धग्गड़ा।
पडक्कि वारि पक्कडंत मारि मीर मक्कड़ा ॥४५॥

सींचाणउ रा कमधज्ज निरग्गल झड़पइ चड़वड़ धगड़ चिड़ा।
भडहड करि खत्तिरि सहस भडक्कइ कमधज्जभुज भड़वाय झड़ा।
खचित्तणि खयंकरि खप्फर खूंदिअ खान माल खयडन्त हुया।
रणमल्ल भयंकर वीरविडारण टोडरमलि टोडर लद्दिया ॥६१॥

जैसा हमने अन्यत्र लिखा है, साहित्य की दृष्टि से 'रणमल्ल छंद' उज्ज्वल रत्न है। पृथ्वीराजरासो के युद्ध-वर्णन से आकृष्ट और मुग्ध होनेवाले साहित्यिक उसी कोटि का वर्णन छंद में देख सकते हैं। वही शब्दाडंबर है, किंतु साथ ही वह अर्थानुरूपता जो रासो के युद्ध वर्णनों में है हमें उस अंश में

१—देखें हमारो Early Chauhan Dynasties पृष्ठ ११६

२—JBRS, १९४१, पृष्ठ १५५-१६० पर हमारा लेख देखें।

नहीं मिलती। इस सत्तर पद्यों के काव्य में शिथिलता कहीं नाममात्र को नहीं दिखाई पड़ती। इसके कथावतार में गंगावतार के प्रबल प्रताप का वेग, गुञ्जन और साथ ही अद्भुत सौंदर्य है।'

भाषा की दृष्टि से छंद में पर्याप्त अध्येय सामग्री है। पृथ्वीराजरासो में फारसी शब्दों से चकित होनेवाले विद्वान् ७० पद्यों के इस छोटे से पुराने काव्य में फारसी शब्दों की प्रचुरता से कुछ कम चकित न होंगे। सामान्यतः इस ग्रंथ की भाषा को पश्चिमी राजस्थानी कहा जा सकता है।[1]

पूर्वी प्रदेश में इस वीरकाव्य-धारा के अंतर्गत विद्यापति की कीर्तिलता मुख्यरूप से उल्लेख्य है। इसमें कवि ने केवल कीर्तिसिंह के युद्धादि का ही वर्णन नहीं किया। उस समय का सजीव चित्र भी प्रस्तुत किया है। इसकी भाषा को अनेक विद्वानों ने प्राचीन मैथिली माना है। किंतु उसे परवर्ती अपभ्रंश कहना अधिक उपयुक्त होगा। कीर्तिलता पर हम अन्यत्र कुछ विस्तार से अपने विचार प्रस्तुत कर रहे हैं। पुस्तक का रचनाकाल सन् १४०२ के आसपास रखा जा सकता है।

इससे लगभग पचास वर्ष बाद कवि पद्मनाभ ने 'कान्हडदे प्रबंध' की रचना की। पुस्तक का विषय कान्हडदे का अलाउद्दीन से संघर्ष है, वीरव्रती धर्मप्राण कान्हडदे ने किस प्रकार सोमनाथ का उद्धार किया, किस प्रकार सिवाने के गढ़पति वीर सातलदेव ने खिल्जियों के दाँत खट्टे किए। और किस तरह कान्हडदे ने कई वर्ष तक खिल्जी सेना का सामना किया—इन सब बातों का कान्हडदे प्रबंध ने अत्यंत ओजस्वी भाषा में वर्णन किया है।[2] इतिहास की दृष्टि से पुस्तक बहुमूल्य है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से इसका पर्याप्त महत्व है और इससे भी अधिक महत्व है इसके काव्यत्व का। पुस्तक चार खंडों में पूर्ण है। सेना के प्रमाण, नगर, प्रेम इन सबका इस काव्य में वर्णन है। किंतु इनसे कथा की गति कहीं रुद्ध नहीं होती। वीररस प्रधान इस काव्य के प्रणेता पद्मनाभ में वह शक्ति है जो अन्य सब रसों को, अन्य सब वर्णनों को, काव्य के मुख्यरस और विषय के परिपोषक बना सके। मुनि जिनविजय जी ने

---

१ छंद के ऐतिहासिक महत्व और सार के लिये संग्रह के अंतर्गत भूमिका देखें।

२ शोधपत्रिका, उदयपुर, भाग ३, अङ्क १ में कान्हडदे प्रबंध पर हमारा लेख देखें। कान्हडदे के जीवनवृत्त के लिये Early chauhan Dynasties पृष्ठ २५६-२७० पढ़ें।

बहुत सुंदर शब्दों में इस काव्य के विषय में कहा है—'इस प्रबंध में, कुछ तो राजस्थान-गुजरात के गौरवमय स्वर्णयुग की समाप्ति का वह करुण इतिहास अंकित है जिस पद पर हम खिन्न होते हैं, उद्विग्न होते हैं और रुदन करते हैं; पर साथ ही में इसमें कराल कालयुग में देवांशी अवतार लेनेवाले ऐसे धीरोदात्त वीर पुरुषों का आदर्श जीवन चित्रित है जिसे पढ़कर हमें रोमांच होता है, गर्व होता, हर्षाश्रु आते हैं।' कान्हडदे प्रबंध का बहुत सुंदर संस्करण, राजस्थान पुरातत्व मंदिर ने प्रस्तुत किया है।

इन्हीं वीरचरितानुकीर्तनक काव्यों में राससंग्रह में प्रकाशित 'राउ जैतसीरो रासो' है। वीर जैतसी बीकानेर के राजा थे। जब हुमायूं बादशाह के भाई कामरान ने बीकानेर पर आक्रमण कर देवमंदिरों को नष्टभ्रष्ट करना शुरू किया तो जैतसी ने अपनी सेना एकत्रित की और रात्रि के समय अचानक मुगल सेना पर आक्रमण कर दिया। कामरान अपना बहुत सा फौजी सामान और तंबू आदि छोड़कर भाग खड़ा हुआ। इस विजय का कीर्तन अनेक ओजस्वी काव्यों में हुआ है। बीठू सूजा के 'छंद राउ जइतसीरो' को डा० तैसीतरी ने संपादित और प्रकाशित किया था। इसके मुगल सेना के वर्णन की तुलना अमीर खुसरो के मुगलो के वर्णन से की जा सकती है :—

जोड़ाल मिलइ जमदूत सोध, काइरा कपीमुक्खो सक्रोध।
कुवरत्त केविकाला किरिट्ठ, गड़दनी गोल गाँजा गिरिट्ठ॥
वेसे विचित्र सिन्दूर अन्न, कूंडी कपाल के छाज कन्न।

इसी विषय पर एक अज्ञात कविकृत एक अन्य काव्य भी अनूप-संस्कृत-पुस्तकालय में है। इस संग्रह में प्रकाशित रास भी समसामयिक कृति है। कवि ने जैतसी और कामरान के संग्राम को अवश्यंभावी माना है—

खंडहियां बांका भडां प्रगटी हुवै परसिथ्थ।
राठौडां अर मुगलां नहु चूकै भारिथ्थ॥

जैतसी ने कामरान को मरुदेस पर आक्रमण करने की चुनौती दी और कामरान ने सदलबल बीकानेर पर कूच किया। ऐसा मालूम हुआ मानों महोदधि ने अपनी सीमा छोड़ दी है। यह जानकर कि मुसलमान 'जौधघर' को जीतने जा रहे हैं गिद्धनियों ने मंगलगान शुरू किया। जैतसी ने भी अपने तीन हजार योद्धाओं के साथ घोड़ों पर सवारी की। मुगल कामिनी

ने मान किया था, मरुराज उसे प्रसन्न करने के लिये पहुँचा। युद्ध एक चौगान बन गया—

चढै रिणचंग सरीखा संग, त्रुटै हय तंग मचै चौरंग।
बिचै रिण ढाणि पडंतजुश्राण, बिढे निरवाणि वधै वाखाण॥

अंततः युद्धक्षेत्र में जैतसी ने मुगल को पछाड़ दिया—

अणभंग तूंग करतंग रहरह्यां वड़ो प्रव लौढियो।
जैतसी जुड़े वलि मल्ल ज्यूं मुगलां दल मचकौड़ियो॥

मांडउ व्यास की कृति 'हम्मीरदेव चौपई' की भी हम वीरकाव्यों में गणना कर सकते हैं। 'चौपई' संवत् १५३८ की रचना है। काव्य की दृष्टि से इसका स्थान सामान्य है।

बीसलदे-रासो को हम ऐतिहासिक रासों में सम्मिलित नहीं कर सके हैं। इसका नाममात्र वीसल से संबद्ध है। कथा अनैतिहासिक है। रचना भी संभवतः सोलहवीं शताब्दी से पूर्व की नही है।[२]

इसी प्रकार आल्हा का रचनाकाल अनिश्चित है। किंतु संभव है कि पृथ्वीराजरासो की तरह यह भी किसी समय छोटा सा ग्रंथ रहा हो। इसके कर्ता जगनिक का नाम 'पृथ्वीराज विजय' के रचयिता जयानक की याद दिलाता है। जैसा हम अन्यत्र लिख चुके हैं, कि चंदेलराज परमर्दिन् और चौहान राजा पृथ्वीराज तृतीय का संघर्ष सर्वथा ऐतिहासिक है। किंतु जिस रूप में यह अब प्राप्त है उसमें ऐतिहासिकता बहुत कम है। अपने रूप रूपांतरों में आल्हाः ऊदल की कथा अब भी बढ़ घट रही है। बाबू श्यामसुंदरदास द्वारा संपादित 'परमाल रासो' आल्हा का एक अर्वाचीन रूपांतर मात्र है।

खुम्माण रासो की रचना सं० १७३० से सं० १७६० के बीच में शांतिविजय के शिष्य दलपत (दलपत विजय) ने की। इसमें वप्पा रावल से लेकर महाराणा राजसिंह तक के मेवाड़ के शासकों का वर्णन है। खोम्माण वंश के वर्णन की वजह से इस रासो का शायद इसका नाम 'खुम्माण रासो' रख दिया गया है। इसे नवीं शताब्दी की रचना भ्रांति मानना है।

१—देखें Earle Chauhan Dynasties, पृ० ३४२।
२—वही, पृ० ६३६।

विजयपाल रासो भी इसी तरह अधिक पुरानी रचना नहीं है। इसका निर्माणकाल पृथ्वीराजरासो के वृहद् रूपांतर की रचना के बाद हम रख सकते हैं। इतिहास की दृष्टि से पुस्तक निरर्थक है, किंतु काव्य की दृष्टि से यह बुरी नहीं है।

इसी प्रणाली से रचित 'कर्णसिंहजी रो छंद', 'राजकुमार अनोप सिंहजी री वेल', 'महाराज सुजान सिंघ जी रासो' आदि के विषय में दयालदास-रीख्यात की प्रस्तावना में कुछ शब्द लिखें हैं। शिवदास चारण रचित 'अचलदास खीची री वचनिका' संपादित है किंतु अब तक प्रकाशित नहीं हुई। कवि जान का 'क्याम खां रासो' नाहटा बंधुओं और हमारे सयुक्त संपादकत्व में राजस्थान पुरातत्व मंदिर, जयपुर से प्रकाशित हुआ है। इसमें फतेहपुर (शेखावाटी) के कायम खानी वंश का वर्णन है। जान अच्छा कवि था। इसी ग्रंथ के परिशिष्ट रूप में अलिफ खां की पैड़ी प्रकाशित है। इतिहास की दृष्टि से भी 'क्याम खां रासो' अच्छा ग्रंथ है। इसकी समाप्ति वि० सं० १७१० (सन् १६५३ ई०) के आस पास हुई होगी। इसके कुछ पद्य देखिये :—

बांके बांकेहि बने, देखहु जियहि विचार।
जो बांकी करवार है तो बांको परवार॥
बांके सौं सूधो मिलो तो नांहिन ठहराइ।
ज्यों कमांन कवि जान कहि, बानहिं देत चलाइ॥

दिल्ली का वर्णन भी पठनीय है :—

अनंत भतारहि भखि गइ, नैकु न आई लाज।
येक मरै दूजै धरै, यही दिली को काज॥
जात गोत पूछत नहीं, जोई पकरत पान।
ताहि सौं हिलि मिलि चलै, पै भखि जार निदान॥

संवत् १७१५ के लगभग प्रणीत जग्गाजी का 'रतनरासो' भी उत्कृष्ट वीरकाव्य है। कवि वृंद सं० १७६२ में इसी शाहजहाँ के पुत्रों के संघर्ष में मारे गए। किशनगढ के महाराजा रूपसिंहजी की वीरता का ओजस्वी भाषा में वर्णन किया है। सं० १७८५ में समाप्त जोधराज का 'हम्मीररासो' नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित है। बांकीदास, सूरजमल मिश्रण, केसरीसिंह जी आदि होती हुई यह वीरगाथा धारा वर्तमान काल तक पहुँच गई है।

असाधारण वीरत्व से रोमांचित होकर आशुकाव्य द्वारा इस वीरत्व को अमर बनानेवाले कवि अब तक राजस्थान में वर्तमान हैं।

किंतु जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, वीरत्व एक प्रकार का ही नहीं अनेक प्रकार का है। इसमें दानवीरत्व और धर्मवीरत्व का ख्यापन जैन कवियों ने बहुत सुंदर किया है। मुगल-सम्राट् अकबर ने सब धर्मों को प्रतिष्ठा दी। जैन साधुओं में से उसने विशेष रूप से तपागच्छ के श्रीहरिविजय सूरि और खरतरगच्छ के श्रीजितचंद्र सूरि को संमान दिया। इन दोनों प्रभावक आचार्यों ने धर्म की उन्नति के लिये जो कार्य किया वह जैन संप्रदाय के लिये गौरव की वस्तु है। 'रास और रासान्वयी काव्य' में संगृहीत 'अकबर-प्रतिबोधरास' में खरतराचार्य श्रीजितचंद्र के अकबर से मिलने और उन्हें प्रतिबुद्ध करने का वर्णन है। रास का रचना काल 'वसु युग रस शशि वत्सर' दिया जिसका मतलब १६२८ या १६४८ हो सकता है। इसमें सं० १६४८ ठीक है। उस समय कर्मचंद बीकानेर छोड़ चुका था। श्रीजिनचंद्र अति लंबा मार्ग तय करके अकबर से लाहौर में मिले, और उन्हें धर्म का उपदेश दिया। काव्यत्व की दृष्टिसे रास सामान्य है।

श्रीजिनचंद्र के देहावसान के समय लिखित 'युग-प्रवंध' में उनके मुख्य कार्यों का वर्णन है। सलीम के जैन साधुओं पर क्रोध करते ही सर्वत्र खलबली मच गई। कई पहाड़ियों में जा घुसे कई जंगलों और गुफाओं में। इस कष्ट से श्री जिनचंद्र ने उन्हें बचाया। बादशाह ने सबको छोड़ दिया। किंतु आचार्य का वृद्ध शरीर यात्रा कष्ट से क्षीण हो चुका था और सं० १६५२ में उनका देहावसान हुआ।

'श्रीविजयतिलक सूरि रास' के विषय हम भूमिका और सामाजिक जीवन में कुछ लिख चुके हैं। जंबूद्वीप का वर्णन अच्छा है। जंबूद्वीप में सोरठ, सोरठ में गुर्जरदेश और गुर्जरदेश में सुंदर वीसलनगर था। उसके भवनों की तुलना देवताओं के विमान भी न कर सकते थे—

सपतभूमि सोहइ आवासि देखत अमरहूआ उदास।
अह्म विमान सोभी अछही भरी जाणे तिहांथी आणीहरी।

स्थान स्थान पर लोग नाटक देखते। कोई नाचता, कोई गाता, कोई कथा कह कर चित्त रिझाता। कहीं पञ्च शब्द का घोष था कहीं शहनाई का। कहीं मल्लयुद्ध होता, कहीं मेढों का युद्ध।

बाणादि की कृतियों को अनुसरण करते हुए अकबर के राज्य में कवि ने केवल ध्वजाओं में दंड, धोबी की शिला पर मार, शूर (बहादुर, सूर्य) का पर्व पर ग्रहण, पाप का विरह, बंधन केशों का, दुर्व्यसन को देश निकाला, और दोहती समय गायों का दमन देखा है।

इस बीसलनगर में साहु देव के रूपजी और रामजी नाम के पुत्र हुए। इन्हीं पुत्रों का नाम रतनविजय और रामविजय हुआ। इसके बाद में उत्पन्न कलहादि का कुछ वर्णन जिसका सामान्यतः निर्देश रास की भूमिका और रासकालीन समाज नामक अनुच्छेदों में कर दिया गया। स्वभावतः रासो के इस अग्रिम भाग कुछ विशेप काव्य-सौष्ठव नहीं है।

धार्मिक रासों की, विशेषकर आचार्यों की दीक्षा, निर्वाण और जीवन से संबंध रखनेवाले रासों की, संख्या बहुत बड़ी है। इनके प्रकाशन से तत्कालीन समाज, भाषा, और इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ सकता है। किंतु इस संग्रह में हमने प्रायः उन्हीं ऐतिहासिक रास काव्यों को स्थान दिया है जिनमें इतिहास के साथ कुछ काव्य-सौष्ठव भी हो और जो किसी समय-विशेष का प्रतिनिधित्व कर सकें।

———

रास का जीवन दर्शन

[रास के पूर्व वैदिक और अवैदिक उपासना]

वैष्णव और जैन रास ग्रंथों का जीवन-दर्शन समझने के लिए प्रथम इस भक्ति-साधना के मूल स्रोत का अनुसंधान आवश्यक है। यह साधना-पद्धति किस प्रकार वैदिक एवं अवैदिक साधना परंपराओं के विकास क्रम को स्पर्श करती हुई बारहवीं शताब्दी के उपरांत सारे देश में प्रचलित होने लगी और हमारी धर्म-साधना पर इसने क्या प्रभाव डाला ? इसका विवेचन करने से मूल-स्रोत का अनुसंधान सुगम हो जायगा। हमारे देश में आर्य जाति की वैदिक कर्मकांड की परंपरा सबसे प्राचीन मानी जाती है। किसी समय इसका अपार माहात्म्य माना जाता था। किंतु प्रकृति का नियम है कि उत्तम से उत्तम सिद्धांत भी काल-चक्र से चूर-चूर हो जाता है और उसी भूमि पर एक नया पौदा लहराने लगता है। ठीक यही दशा यज्ञ और कर्मकांड की हुई।

वैदिक और अवैदिक उपासना

जब वैदिक काल की यज्ञ और कर्मकांड पद्धति में ज्ञान और उपासना के तत्वों का सर्वथा लोप हो जाने पर भारतीय समाज के जीवन में संतुलन बिगड़ने लगा और वैदिक ब्राह्मणों का जीवन स्वार्थपरक होने के कारण सर्वथा भौतिक एवंसुखाभिलाषी होने लगा तो मनीषियों ने संतुलन के दो मार्ग निकाले। कतिपय मनीषी उपनिषद्-रचना के द्वारा परमार्थतत्वचिंतन पर बल देने लगे और वैदिक ज्ञानकांड से उसका संबंध जोड़ कर वेद की मर्यादा को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए यज्ञों का अध्यात्मपरक अर्थ करने लगे। कई ऐसे भी महात्मा हुए जिन्होंने व्रात्यों का विशाल समाज देखकर और उन्हें वैदिक भाषा से सर्वथा अपरिचित पाकर यज्ञमय वैदिक धर्म का खुल्लम खुल्ला विरोध किया। भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध दूसरे वर्ग के मनीषी ऋषि माने जाते हैं।

उपनिषदों में यज्ञ की प्रक्रिया को आध्यात्मिक सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। ऊषा को अश्वमेध यज्ञ के अश्व का सिर, सूर्य को उसका चक्षु, पवन को श्वास, वैश्वानर को मुख, संवत्सर को आत्मा, स्वर्ग को पीठ, अंतरिक्ष को उदर, पृथ्वी को पुट्ठा, दिशाओं को पार्श्व, अवांतर दिशाओं को पार्श्व की

अस्थियाँ, ऋतुओं को अंग, मास और पक्ष जोड़, दिवारात्रि पग, नक्षत्रगण अस्थियाँ, आकाश मांस पेशियाँ, नदियाँ, स्नायु, पर्वत यकृत और प्लीहा; वृक्ष और वनस्पतियाँ लोम के रूप में स्वीकृत हुए। इस प्रकार यज्ञशाला के संकीर्ण स्थान से ध्यान हटाकर विराट विश्व की ओर साधकों का ध्यान आकर्षित करने का श्रेय उपनिषदों को है। वैदिक परंपरा की यह पद्धति गीता, वेदांत सूत्र सात्वत मत एवं भागवत मत से पुष्ट होती हुई हमारे आलोच्य काल में श्रीमद्भागवत में परिणत हो गई।

वैदिक यज्ञों के विरोध में व्रात्य-धर्म की स्थापना करने वाली वेदविरोधी दूसरी पद्धति वैदिकेतर धर्मों के उन्नायकों से परिपुष्ट होती हुई आलोच्यकाल में सिद्ध कापालिक, शाक्त आदि मतों में प्रचलित हुई। संक्षेप में इनके क्रमिक विकास का परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है—

"वेदविरोधी इन मनीषियों ने लोकधर्म के प्रचार के लिए लोकभाषा का आश्रय लिया। बौद्ध धर्म दसवीं शताब्दी के पूर्व ब्राह्मण धर्म की प्रगतिशील शक्ति से प्रभावित होकर विविध रूपों में परिवर्त्तित होता हुआ नैपाल, तिब्बत और दक्षिण भारत में अपना अस्तित्व बनाये रखने में समर्थ रहा। अकेले नैपाल में जहाँ सात शैवों और चार वैष्णवों के तीर्थ थे वहाँ ६ तीर्थस्थान बौद्धधर्म प्रचारकों के अधिकार में थे। पर बौद्धधर्म का मूलस्वरूप कालगति से इतना परिवर्त्तित हो चुका था कि बुद्धवाणी के स्थान पर तांत्रिक साधना और काया-योग का महत्व बढ़ रहा था। इसी प्रभाव से प्रभावित 'शैव योगियों का एक संप्रदाय नाथ पंथ बहुत प्रबल हुआ, उसमें तांत्रिक बौद्धधर्म की अनेक साधनाएँ भी अंतर्भुक्त थीं[१]।"

डा० हजारी प्रसाद ने अनेक प्रमाणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है—जो युक्ति संगत भी जान पड़ता है—कि 'इन योगियों से कबीरदास का सीधा संबंध था।' इस प्रकार हमारा भक्ति साहित्य किसी न किसी रूप में बौद्धधर्म से प्रभावित अवश्य दिखाई पड़ता है। इसका दूसरा प्रमाण यह है कि पूर्वी भारत जहाँ वैष्णव रास का निर्माण और अभिनय १५वीं शताब्दी के उपरांत प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है, बौद्धधर्म के प्रच्छन्न रूप निरंजन पूजा को पूर्ण रीति से अपना चुका था। वैदिक विद्वान् रमाई पंडित ने इस पूजा को वैदिक सिद्ध करने के लिए शून्य पुराण की रचना कर डाली।

१—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—मध्यकालीन धर्म साधना पृ० ८६

शून्य पुराण में एक स्थान पर निरंजन की स्तुति करते हुए रमाई पंडित कहते हैं—

शून्यरूपंनिराकारं सहस्रविघ्नविनाशनम् ।
सर्वपरः परदेवः तस्मात्त्वं वरदो भव ॥ निरंजनाय नमः ॥

एक और ग्रंथ निरंजन - स्तोत्र पाया गया है जिसमें एक स्थान पर लिखा है—

'ओं न वृक्षं न मूलं न बीजं न चांकुरं शाखा न पत्रं न च स्कन्धपल्लवं ।
न पुष्पं न गंधं न फलं न छाया तस्मै नमस्तेऽस्तु निरंजनाय ॥

इस निरंजन मत का प्रचार पश्चिमी बंगाल, पूर्वी विहार, उड़ीसा के उत्तरी भाग, छोटा नागपुर आदि भूभागों में उल्लेखनीय रूप में हो गया था। यद्यपि विद्वानों में इस विषय में मतभेद है कि निरंजन-पूजा बौद्धधर्म का ही विकृत रूप है। कतिपय विद्वान् निरंजन देवता को आदिवासियों का ग्राम-देवता मानते हैं। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि जब बौद्ध-धर्म किन्हीं कारणों से मूलबुद्ध वाणी का अवलंब लेकर जीवित न रह सका, तो वह बंगाल-बिहार में अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए अपने मत के समीपवर्त्ती आदिवासियों के निरंजन धर्म को आत्मसात् करने को बाध्य हुआ और उनके ग्राम देवता को पूज्य मानकर उन पर अपने मतों का उसने आरोप किया। कालांतर में जब वैदिक धर्म की शक्ति अत्यंत प्रवल होने लगी और वेद-विरोधी धर्म अपने धर्म को वैदिक धर्म कहने में गौरव मानने लगे तो निरंजन धर्मावलंबी पंडितों, अथवा वैदिक धर्म में उन्हें आत्मसात् करने के अभिलाषी वैदिक धर्मानुयायी विद्वानों ने निरंजन स्तोत्र, शून्यपुराण आदि की रचना के द्वारा उन पर वैदिक धर्म की मुद्रा लगा दी।

निरंजन और जैन मत

अक्षय निरंजन की उपासना बौद्ध-धर्म से ही नहीं अपितु नवीं-दशवीं शताब्दीमें जैन धर्म से भी संबद्ध हो गई थी। जैन-साधक जोइंदु ने एक स्थान पर अक्षयनिरंजन ज्ञानमय शिव के निवास स्थान का संकेत करते हुए लिखा है—

देउण देउले णवि सिलए
णवि लिप्पइ ण वि चित्ति ।

अखय णिरञ्जणु णाणघणु,
सिउ संठिउ समचित्ति ॥

अर्थात् देवता न तो देवालय में है न शिला में, न लेप्यपदार्थों (चंदनादि) में है और न चित्र में। वह अक्षय निरंजन ज्ञानघनशिव तो समचित्त में स्थित है।

जैन-साधकों के सिद्धांत भी इस युग के प्रचलित बौद्ध, शैव, शाक्त, योगियों एवं तान्त्रिकों के सिद्धांतों से प्रायः मिलते जुलते दिखाई पड़ते हैं। इस युग में चित्त शुद्धि पर अधिक बल दिया गया और बाह्याडंबर का विरोध खुल्लमखुल्ला किया गया। जैनियों ने भी समरसता की प्राप्ति के लिए शुद्ध आचार-विचार के नियमों का पालन करना और तपके द्वारा पवित्र शरीर को साधना के योग्य बनाना अपना लक्ष्य रखा। इस प्रकार जैनमत योग, तंत्र, बौद्ध, निरंजन आदि मतों के (इस युग में) इतना समीप आ गया था कि यदि डा० हजारीप्रसाद के कथनानुसार 'जैन' विशेषण हटा दिया जाय तो वे (रचनाएँ) योगियों और तान्त्रिकों की रचनाओं से बहुत भिन्न नहीं प्रतीत होंगी। वे ही शब्द, वे ही भाव, और वे ही प्रयोग घूमफिर कर उस युग के सभी साधकों के अनुभवों में आया करते हैं।

भागवत धर्म ने इसमें आवश्यक परिवर्त्तन किया। उसमें अच्युत भाव-वर्जित अमल निरंजन ज्ञान को अशोभनीय माना गया।

'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं
न शोभते ज्ञानमलं निरंजनम्।

शिवशक्ति मिलन

शाक्त और शैव साधना के अनुसार समरसता की प्राप्ति तब तक संभव नहीं जब तक शिव और शक्ति का मिलन नहीं हो जाता। शक्ति तो शिव से भिन्न है ही नहीं। शक्ति और कुछ नहीं वह तो शिव की सिसृक्षा अथवा सृष्टि की इच्छा शक्ति है। यदि इच्छा को अभाव का प्रतीक स्वीकार किया जाय तो शक्ति रहित शिव का अर्थ हुआ विषमी भाव अथवा द्वंद्वात्मक स्थिति। अतः समरसता की स्थिति तभी संभव है जब शिव और शक्ति का एकीकरण हो जाए। शरीर में यह स्थिति जीवात्मा के साथ मन के एकमेक हो जाने में है।

शाक्तों का सिद्धांत है—

ब्रह्मांडवर्ति यत्किंचित् तत् पिण्डेप्यस्ति सर्वथा।[१]

अर्थात् ब्रह्मांड में जो कुछ है वह सब इसी शरीर में विद्यमान है। इसका अर्थ यह हुआ कि ब्रह्मांड में व्याप्त शक्ति इस शरीर में भी किसी न किसी रूप में विद्यमान है। शाक्तों का मत है कि शरीर-स्थित कुंडलिनी शक्ति का जब साधक को भान हो जाता है और वह उद्‌बुद्ध होकर सहस्रार-स्थित शिव से एकाकार कर लेता है तो साधक में समरसता आ जाती है। उसकी सारी इच्छाओं का तिरोभाव हो जाता है क्योंकि शिव में उसकी इच्छा शक्ति विलीन हो जाती है।

गत-स्पृहा की इस स्थिति का विवेचन करते हुए सिद्धसिद्धांत सार कहता है—

समरसकरणं वदाम्यथाहं परमपदाखिलपिण्डयोनिरिदानीम्।
यदनुभवबलेन योगनिष्ठा इतरपदेषु गतस्पृहा भवन्ति॥[२]

अर्थात् इस पिंड योनि में योगनिष्ठा के अनुभव बल से जब साधक गत-स्पृहा हो जाता है तो उसको समरसता की स्थिति प्राप्त हो जाती है। उस स्थिति में उसके मन का संकल्प-विकल्प, तर्क-वितर्क शांत हो जाता है और मन, बुद्धि और संवित् की क्रिया स्थगित हो जाती है।[3]

शाक्तों का मत है कि यह जीव ही शिव है। अतः मुक्त केवल विविध विकारों से आच्छादित हो जाने के कारण वह अपने को अशिव और बद्ध मानता है।[४]

तंत्र साधना

हम पूर्व कह आए हैं कि तंत्र के दो वर्ग हैं—आगम और निगम। सदाशिव ने देवी को जो उपदेश दिया है उसे आगम कहते हैं और देवी जो

१—सिद्धसिद्धान्त सार ३।२

२—,, ,, ७।५।१

३—यत्र बुद्धिर्मनोनास्ति सत्ता संवित् पराकला।
ऊहापोहौ न तर्कश्च वाचा तत्र करोति किम्॥

४—शरीरकञ्चुकितः शिवो जीवः निष्कञ्चुकः परमः शिवः।
(परशुराम कल्प १, ५)

कुछ सदाशिव या महेश्वर से कहती है वह निगम कहलाता है। तंत्र-शास्त्र में उपलब्ध षट्चक्रों का भेदन प्रश्नोपनिषद् में भी पाया जाता है और तंत्र की कतिपय प्रक्रियाओं का उद्गम अथर्ववेद से माना जाता है। तंत्र का प्रमुख ओंकार वेदों में पाया जाता है।

उक्त धारणा को स्वीकार करते हुए भी तंत्र-साधना को महाभारत से बहुत प्राचीन नहीं माना जाता। इसका उद्भव चाहे जिस काल में हुआ हो पर इतना निश्चित है कि इसका बहुल प्रचार उस काल में हुआ, जब वैदिक ब्राह्मणों की यज्ञ-क्रिया से उदासीन होकर वेदभक्त जनता या तो उपनिषदों की ज्ञान-चर्चा में शांति ढूँढ़ रही थी अथवा पौराणिकों की भक्ति साधना की ओर आकर्षित हो रही थी। उक्त दोनों साधना-पद्धतियों में वृहद् यज्ञ-क्रियाओं को निम्नस्थान दिया जा रहा था। तंत्र साधना ने ऐसे समय में उन सिद्धांतों का प्रचार किया जिनमें यज्ञ-हवन के साथ उपनिषदों का ब्रह्मवाद, पुराणों की भक्ति, पतंजलि ऋषि का योग, अथर्वण वेद का मंत्रबल विद्यमान था। तात्पर्य यह कि उस समय तांत्रिक साधना में योग और भक्ति, मंत्र और हवन, ज्ञान और कर्म के सामंजस्य के कारण जीवन-लक्ष्य की प्राप्ति का सर्वोत्तम मार्ग दिखाई पड़ा।

तंत्र-सिद्धांत की दूसरी विशेषता यह है कि प्रत्येक प्रवृत्ति के अनुरूप इसमें सफलता के साधन विद्यमान हैं। इसमें मुक्ति के साथ भुक्ति की सफलता भी पाई जाती है। कुलार्णव तंत्र कहता है—

जपन् भुक्तिश्च मुक्तिश्च लभते नात्र संशयम्।

(कु० तं० ३, ९६)

अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनों की सिद्धि का पथ होने से तंत्र-साधना स्वभावतः संमान्य बनी। इसके प्रचार का एक और कारण था। जब शंकर के अद्वैत सिद्धांत को देश की अधिकांश जनता बुद्धि से अग्राह्य मान बैठी और जगत् को मिथ्या प्रपंच मानने से संतोष न हुआ तो तंत्र--साधना ने एक मध्य मार्ग निकाला।

मथित्वा ज्ञानदंडेन वेदागममहार्णवम्।
सारज्ञेन मया देवी कुलधर्मः समुद्धृतः॥
(कुलार्णव तंत्र २, १६ २, २१)

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे ।
मम तत्त्वं न जानन्ति द्वैताद्वैत विवर्जितम् ॥
(कुलार्णव, १।११०)

अर्थात् अद्वैत और द्वैत दोनों से विवर्जित एक नए तत्त्व का अनुसंधान तंत्र-साधना की विशेषता है। इस साधना-पद्धति में कुंडलिनी[1] शक्ति को जागृत करके जीव के आच्छादक आवरण को अनावृत कर दिया जाता है। आवरण निवारण में गुरु-कृपा अनिवार्य है। आवरण हटते ही जीव शिव बन जाता है। एक प्रकार से देखा जाय तो उपनिषदों का ब्रह्म ही शिव है।

जीव और शिव के अस्तित्व को तांत्रिकों ने बड़े सरलशब्दों में स्पष्ट करते हुए कहा है कि जीव ही शिव है, शिव ही जीव है। वह जीव केवल शिव है। जीव जब तक कर्म बंधन में है तब तक जीव है और जब वह कर्ममुक्त हो जाता है तो सदाशिव बन जाता है।[2]

तंत्र-साधना में शिव बनने के लिए वैदिक हवन क्रियाओं, भक्ति-संबंधी प्रार्थनाओं, और योग प्रक्रियाओं (प्राणायाम आदि) की सहायता अपेक्षित है। उपनिषद् के एकांत चिंतन से ही तांत्रिक साधना सिद्ध नहीं होती। इसकी एक विशेषता यह है कि उपर्युक्त साधना-पद्धतियों में प्रत्येक का सार भाग ग्रहण कर उसे सरल बना दिया गया है और इस प्रकार एक ऐसा पंचामृत बनाने का प्रयास किया गया है जो अधिकांश जनता की रुचि को संतुष्ट करता हुआ भुक्ति और मुक्ति दोनों का दाता हो। इस मार्ग को लघुतम मार्ग कहा गया है। प्रमाण के लिए देखिए—

The Tantric method is really a short cut and an abbreviation. It seeks to penetrate into the inner meaning of the rituals prescribed by the Vedas and only retains them in the smallest degree

---

१—सुप्ता गुरु प्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च।

२—(क) जीवः शिवः शिवो जीवः स जीवः केवलः शिवः।
(ख) कर्मबद्धः स्मृतो जीवः कर्ममुक्तः सदा शिवः।
कुलार्णव ६, ४२-४३

in order that they may serve symbols helping to remind one of the secret mysteries embodied in them,[1]

तंत्र साधना में वैदिक हवन का बड़ा महत्व है, पर हवन का रहस्यात्मक अर्थ संपूर्ण समर्पण ग्रहण किया जाता है। बाह्य प्रक्रिया को प्रतीक मानकर आंतरिक अर्थ को स्पष्ट करने का उद्देश्य होता है।

पुराण की देव-उपासना पद्धति का इसमें समावेश है। देवपूजा, मंत्र-जाप, कवच का महत्व पौराणिक धर्म एवं तंत्र-साधना दोनों में पाया जाता है। मंत्र-जाप की महत्ता लिखते हुए पिंगला[2] तंत्र कहता है—

मननं विश्वविज्ञानं त्राणं संसारबन्धनात्।
यतः करोति संसिद्धं मंत्र इत्युच्यते ततः॥

अर्थात् जो मनन के द्वारा संसार-बंधन से रक्षा करके सिद्धि प्रदान करे वह मंत्र कहलाता है।

मंत्र केवल शब्द या अभिव्यक्ति का साधन ही नहीं है। यह मंत्रद्रष्टा ऋषि की उस शक्ति से समन्वित है जो ऋषिवर ने ब्रह्मसाक्षात्कार के क्षणों में ज्ञानप्रकाश द्वारा प्राप्त किया। मंत्रजाप और चिंतन द्वारा जब साधक विचार के उस स्तर पर पहुँच जाता है जिसमें पूर्वऋषियों ने उसे (मंत्र को) पाया था तो साधक उसी प्रकाश का अनुभव करता है जिसे मंत्रद्रष्टा ऋषि ने देखा था।

मंत्र-जाप का प्रभाव तंत्र-पद्धति के शाक्त, शैव, वैष्णव सभी मतों में पाया जाता है। सब में शब्दब्रह्म और परब्रह्म को एक और अनश्वर स्वीकार किया गया है।

सिद्धों की युगनद्ध उपासना

वैष्णवों की माधुर्य उपासना के प्रचार से पूर्व पूर्वी भारत में विशेषरूप से सिद्धों की युगनद्ध उपासना प्रचलित थी। महायान संप्रदाय में ग्राह्य बुद्ध के

१—Nalini Kant Brahma, Philosophy of Hindu Sadhana Page. 278,

२—शारदा तिलक में उद्धृत पिंगला तंत्र से—

दिव्य स्वरूप की कल्पना का चरम विकास सिद्धों के युगनद्ध रूप में दिखाई पड़ता है। बुद्ध की तीन कायाओं—निर्माण काय (धातुनिर्मित) संभोग-काय (कामधातु निर्मित) धर्मकाय (धर्मधातु निर्मित) का अंतिम विकास सहजकाया (महासुख काया) के रूप में माना गया। इस रूप में बुद्ध मलावरण आदि दोषों से मुक्त अतः नितांत शुद्ध माने जाते हैं। सिद्धों ने साधक को इस महासुख की अनुभूति कराने के लिए विभिन्न रूपकों का आधार लिया है। ये विविध रूपक प्रज्ञा और उपाय के युगनद्ध स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए प्रयुक्त होते हैं।

सिद्ध-साधना में प्रज्ञा का भग प्रतीक है और उपाय का लिंग प्रतीक है।

प्रज्ञोपाय

भगवान वज्रधर हैं और भगवती नैरात्मा। 'ये सब युगनद्ध रूप में है। इनका स्वरूप मिथुन-परक है।...महाप्रज्ञा और महाउपाय के युगनद्ध का प्रतिपादन करने से इसका नाम महायान पड़ा।'

'प्रज्ञा तथा उपाय को पुरुष और नारी के रूप में परिकल्पित करने की प्रवृत्ति उसी तांत्रिक प्रवृत्ति का बौद्धरूप था जो तत्कालीन प्रत्येक संप्रदाय में परमतत्व और उसकी परम शक्तियों की युग्म कल्पना के रूप में प्रकट हो रही थी।'[१]

कुछ लोगों के मत से उक्त साधना-पद्धति का संबंध अथर्ववेद से जोड़ा जा सकता है। अथर्ववेद में पर्जन्य को पिता और पृथ्वी को माता के रूप में विभिन्न स्थानों पर प्रतिपादित किया गया है। इस आधार पर मिथुन-परक-साधना का मूलस्रोत अथर्ववेद माना जाता है।

वैदिक और अवैदिक परंपराओं का मिलन

यद्यपि वैदिक और अवैदिक परंपराएँ स्वतंत्र रूप से विकसित होती गईं, पर एक दूसरे से प्रभावित हुए बिना न रह सकीं। हम आगामी पृष्ठों में देखेंगे कि किस प्रकार श्रीमद्भागवत् ने भगवान् बुद्ध और ऋषभदेव को अवतारों में परिगणित कर लिया। बौद्ध और जैन दोनों धर्मों की विशेषताओं को आत्मसात् करता हुआ वैष्णव धर्म सारे देश में व्याप्त होने लगा। यहाँ

१—डा० धर्मवीर भारती, सिद्धसाहित्य पृ० १८२

हम भगवान् बुद्ध के त्रिकाय सिद्धांत और कृष्ण के तीन स्वरूप का विवेचन करके उक्त मत को प्रमाणित करने का प्रयास करेंगे।

महायान का त्रिकाय सिद्धांत और कृष्ण के स्वरूप

वैष्णव धर्म में भगवान् के मुख्य तीन स्वरूप माने जाते हैं—(१) स्वयं रूप (२) तदेकात्मरूप (३) आवेश रूप। भगवान् का शरीर प्राकृतिक न होकर चिन्मय है, अतः आनंदमय है। उनके शरीर और आत्मा में अन्य व्यक्तियों के समान भेद भाव नहीं। श्रीमद्भागवत् में इस रूप का विवेचन करते हुए कहा गया है गोपियाँ भगवान् के जिस लावण्य-निकेतन-रूप का प्रतिदिन दर्शन किया करती हैं वह रूप—अनन्य[1] सिद्ध (स्वयमुद्भूत रूप) है। यह केवल लावण्यसार ही नहीं, यश, श्री तथा ऐश्वर्य का भी एकमात्र आश्रय है। उसकी अपेक्षा श्रेष्ठ रूप की कल्पना नितांत असंभव है। योगशास्त्र में इस रूप को निर्माण-काय कहा गया है। भगवान् ने इसी एक शरीर से द्वारका में १६ सहस्र रानियों से एकसाथ विवाह किया था। यह रूप परिच्छिन्नवत् प्रतीत होते हुए भी सर्वव्यापक है। स्वयंरूप में चार गुण ऐसे हैं जो अन्यत्र नहीं मिलते। वे हैं—(१) समस्त लोक को चमत्कृत करनेवाली लीला (२) अतुलित प्रेम (३) वंशी निनाद (४) रूप माधुरी।

(२) भगवान् का दूसरा रूप तदेकात्म रूप है। इस रूप में स्वयं रूप से चरित के कारण भेद पाया जाता है। इसके भी दो भेद हैं—विलास और स्वांश। विलास में भगवान् की शक्ति स्वांश से कम होती है। विलास-रूप नारायण में ६० गुण और स्वांशभूत ब्रह्म शिव आदि में और भी कम।

भगवान् का तीसरा रूप आवेश कहलाता है। वैकुंठ में नारद, शेष, सनत्कुमार आदि आवेश रूप माने जाते हैं।

निर्विवाद रूप से मान्य प्रथम ऐतिहासिक व्यक्ति (बुद्ध) को अवतार मानकर उसके तीन रूपों का वर्णन महायान संप्रदाय में पाया जाता है। भगवान् बुद्ध के द्विकाय—रूपकाय और धर्मकाय—की अभिव्यक्ति अष्ट साहस्रिका प्रज्ञापारमिता में हो चुकी थी किंतु त्रिकाय का सिद्धांत महायान में सिद्ध हुआ। रूपकाय और धर्मकाय के साथ संभोग काय को और भी संमिलित कर लिया गया।

---

१. श्रीमद्भागवत १०।४४।१४

रूपकाय भगवान् का भौतिक शरीर, धर्मकाय भौतिक के साथ मिश्रित धर्म अर्थात् आध्यात्मिक शरीर है। संभोगकाय तथागत का आनंदमय शरीर है। 'इस प्रकार इस काय के द्वारा बुद्ध को प्रायः देवताओं का सा स्वर्गीय शरीर दे दिया गया है। संभोगकाय संबंधी सिद्धांत के निर्माण में योगाचारी महायानी आचार्यों का विशेष हाथ था। उन्होंने इसे श्रौत-परंपरा के ईश्वर की समानता पर विकसित किया है। निर्गुण निर्विकार तत्त्व धर्मकाय और नाम रूपमय ईश्वर संभोग काय है,"[1]

भगवान् बुद्ध ने अपने धर्मकाय को स्पष्ट करते हुए वक्कलि से कहा था—"वक्कलि! मेरी इस गंदी काया के देखने से तुझे क्या लाभ! वक्कलि, जो धर्म को देखता है वह मुझे देखता है।'[2]

इससे यह प्रमाणित होता है कि कृष्ण के संभोग शरीर की कल्पना महायान संप्रदाय से पूर्व हो चुकी थी जिसके अनुकरण पर महायान संप्रदाय ने बुद्ध के तृतीय शरीर का निर्माण किया। श्रौत धर्म की बौद्ध धर्म पर यह छाप प्रेमाभक्ति के प्रचार में सहायक सिद्ध हुई होगी। बौद्ध धर्म में मारविजय के चित्र एवं साहित्य पर कृष्ण के काम विजय का प्रभाव इस रूप में दिखलाया जा सकता है।

मध्ययुग में आगम प्रभाव

हमारे देश में बारहवीं तेरहवीं शताब्दी के उपरांत एक ऐसी साधना-पद्धति की प्रबल धारा दिखाई पड़ती है जो पूर्ववर्त्ती सभी धार्मिक आंदोलनों की धारा को समेट कर शताब्दियों तक अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित होती चली जा रही है। इस नए आंदोलन की गति-विधि से चमत्कृत होकर डा० ग्रियर्सन लिखते हैं—"कोई भी मनुष्य जिसे पंद्रहवीं तथा बाद की शताब्दियों का साहित्य पढ़ने का मौका मिला है उस भारी व्यवधान को लक्ष्य किए बिना नहीं रह सकता जो पुरानी और नई धार्मिक भावनाओं में विद्यमान है। हम अपने को ऐसे धार्मिक आंदोलन के सामने पाते हैं जो उन सब आंदोलनों से कहीं अधिक विशाल है जिन्हें भारतवर्ष ने कभी देखा है, यहाँ तक कि वह

---

१. डा० भरत सिंह उपाध्याय, बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन पृष्ठ ५८४

२. अलं वक्कलि किं ते पूतिकायेन दिट्ठेन। यो खो वक्कलि धम्मं पस्सति, सो मं पस्सति। यो मं पस्सति सो धम्मं पस्सति (संयुक्त निकाय)

बौद्ध धर्म के आंदोलन से भी अधिक विशाल है। क्योंकि इसका प्रभाव आज भी वर्त्तमान है। इस युग में धर्म ज्ञान का नहीं बल्कि भावावेश का विषय हो गया था। यहाँ से हम साधना और प्रेमोल्लास के देश में आते हैं और ऐसी आत्माओं का साक्षात्कार करते हैं जो काशी के दिग्गज पंडितों की जाति के नहीं बल्कि जिनकी समता मध्ययुग के यूरोपियन भक्त बर्नर्ड आफ क्लेयर वाक्स, थामस ए केम्पिन और सेंट थेरिसा से है।"

निश्चय ही डा० ग्रियर्सन का संकेत उस भक्ति-साधना-पद्धति से है जिस का प्रभाव उत्तर और दक्षिण भारत की प्रायः सभी लोक-भाषाओं के ऊपर दिखाई पड़ता है।

प्रत्येक प्रमुख भारतीय भाषा में श्री मद्भागवत् का अनुवाद[1] और उन के आधार पर भक्ति-परक पद-रचना का प्राधान्य इस काल की विशेषता है। इस काल में दशावतारों की महत्ता और विशेषतः कृष्ण की लीलाओं का वर्णन प्रायः सर्वत्र पाया जाता है। श्री मद्भागवत् के नवनीत रूप रास पंचाध्यायी ने भारतीय साधना-पद्धति को एक नई दिशा में मोड़ दिया जिसे माधुर्योपासना कहा जाता है और जिसके अंतर्गत द्वैत एवं अद्वैत सभी प्रचलित उपासना पद्धतियों को आत्मसात् करने की क्षमता दिखाई पड़ती है। उसके पूर्व प्रचलित साधना-पद्धतियों का संक्षेप में उल्लेख कर देने से रास के जीवन-दर्शन का माहात्म्य स्पष्ट हो जायगा।

शंकराचार्य का आविर्भाव हमारे देश की चिंतनप्रणाली में क्रांतिकारी सिद्ध हुआ। अद्वैत सिद्धांत की प्रच्छन्न धारा इस आचार्य के तपोबल से प्रस्फुटित हो उठी और उसके प्रवाह से उस काल के तंत्र, आगम, बौद्ध, जैन, आदि सिद्धांत दो किनारों पर विभक्त हो गए। एक तो वेदविहित अतः ग्राह्य माने गये दूसरे वेदबाह्य अतः अग्राह्य समझे गये। 'सिद्धांत चंद्रोदय' में ६ नास्तिक संप्रदायों की गणना की है—(१) चार्वाक (२) माध्यमिक (३) योगाचार (४) सौत्रांतिक (५) वैभाषिक (६) दिगंबर।

वेदविहित संप्रदायों में शैव, शाक्त, पाशुपत, गाणपत्य, सौर आदि प्रमुख हैं।

१—तेलगू महाकवि पोताना (१४००-१४७५) (तेलगू भागवत श्रीमद्भागवत का तेलगू अनुवाद। कन्नड़ चाटु विट्ठलनाथ (१५३० ई०) भागवत का कन्नड़ अनुवाद। मलयालम तुंजन कवि (१६वीं शताब्दी) भागवत का मलयालम अनुवाद।

इन धर्मों और सांप्रदायों के मूल आधार ग्रंथ हैं—पुराण, आगम, तंत्र और संहिताएँ। पुराणों के आधार पर पंचदेव (विष्णु, शिव, दुर्गा, गणपति और सूर्य) की उपासना प्रचलित थी। कहीं अठारह पुराणों में केवल दो वैष्णव दो शाक्त, चार ब्राह्म और दस शैव पुराणों का उल्लेख मिलता है। और कहीं चार वैष्णव पुराण (विष्णु, भागवत, नारदीय और गरुड़) का नामोल्लेख है। शैव पुराणों में शिव, भविष्य, मार्कंडेय, लिंग, वाराह, स्कंद, मत्स्य, कूर्म, वामन, और ब्रह्मांड प्रसिद्ध हैं। ये तो पुराण हुए। अब आगमों पर विचार कर लेना चाहिए।

उस शास्त्र का नाम आगम है जो भोग और मोक्ष दोनों के उपाय बताए। आगमों के तीन वर्ग हैं—(१) वैष्णव (२) शैव (३) शाक्त।

तंत्र आगम

तंत्र का अर्थ शैव सिद्धांत के अनुसार है—साधकों का त्राणकर्त्ता। श्री मद्भागवत् में पांचरात्र अथवा सात्वत संहिताएँ सात्वत तंत्र के नाम से अभिहित हैं। शैवों के कई संप्रदाय हैं—माहेश्वर, नकुल, भैरव, काश्मीर शैव इत्यादि। इसी प्रकार शाक्तों के चार संप्रदाय हैं—केरल, कश्मीर, विलास और गौड़।

यद्यपि शाक्त सारे देश में फैले हुए थे किंतु बंगाल और आसाम इनके मुख्य केंद्र थे। किसी समय शाक्तों का प्रधान स्थान काश्मीर था किंतु वहाँ से हट कर बंगाल और आसाम में इनका प्रभुत्व फैल गया।

यद्यपि आगम अनेक हैं जिनके आधार पर विविध संप्रदाय उत्तर एवं दक्षिण भारत में फैल गए पर उन सब में कुछ ऐसी समानताएँ हैं जिनको केंद्र बनाकर मध्यकाल में वैष्णव धर्म सारे देश में व्यापक बन गया। सर जान उडरफ के अनुसार सबसे बड़ी विशेषता इन आगमों में यह थी कि "वे अपने उपास्य देव को परम तत्व के रूप में स्वीकार करते हैं।...ईश्वर की इच्छा-शक्ति तथा क्रिया-शक्ति में विश्वास करते हैं, जगत् को परमतत्त्व का परिणाम मानते हैं, भगवान् की क्रमिक उद्भूति (व्यूह[1] आभास) आदि का समर्थन करते हैं, शुद्ध और शुद्धेतर पर आस्था रखते हैं; माया के कोश-कंचुक की कल्पना करते हैं, प्रकृति से परे परमतत्व को समझते हैं; आगे चलकर सृष्टिक्रम में प्रकृति को स्वीकार करते हैं; सांख्य के सत्व रज और तम गुणों को मानते

१—चतुर्व्यूह-वासुदेव से संकर्षण (जीव) संकर्षण से प्रद्युम्न (मन) और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध (=अहंकार) की उत्पत्ति चतुर्व्यूह कहलाती है।

हैं; भक्ति पर जोर देते हैं; उपासना में सभी वर्णों और पुरुष तथा स्त्री दोनों का अधिकार मानते हैं; मंत्र, बीज, यंत्र, मुद्रा, न्यास, भूत सिद्धि और कुंडलिनी योग की साधना करते हैं; चर्या (धर्मचर्या) क्रिया (मंदिर निर्माण आदि) का विधान करते[1] हैं।"

पांचरात्रों में लक्ष्मी, शक्ति, व्यूह और संकोच वहीं हैं जो शाक्तों की भाषा में त्रिपुर सुंदरी, महाकाली, तत्व और कंचुक हैं।[2]

भागवत धर्म

भागवत धर्म पांचरात्र संहिताओं पर आश्रित है। संहिताओं की संख्या १०८ से २१० तक बताई जाती है। इनमें कतिपय संहिताएँ उत्तर भारत में विरचित हुईं और कुछ का निर्माण दक्षिण भारत में। फर्क्हर ने विविध प्रमाणों के आधार पर अनुमान लगाया है कि प्रायः सभी संहिताओं की रचना आठवीं शताब्दी तक हो चुकी थी। इन संहिताओं में ज्ञान, योग, क्रिया और चर्या का विवेचन मिलता है।

यद्यपि इन चारों विषयों का प्रतिपादन संहिताओं का लक्ष्य रहा है पर ज्ञान और योग की अपेक्षा क्रिया और चर्या पर ही अधिक बल दिया गया है। उदाहरण के लिए 'पाद्मतंत्र नामक संहिता में योग के विषय में ११ और ज्ञान के विषय में ४५ पृष्ठ मिलते हैं किंतु क्रिया के लिए २१५ और चर्या के लिए ३७८ पृष्ठ खर्च किए गए हैं। देवालय का निर्माण, मूर्ति स्थापन क्रिया कहलाती है और मूर्तियों की पूजा-अर्चा, पर्व-विशेष के उत्सव चर्या के अंतर्गत माने जाते हैं।

वैष्णव धर्म का प्रचार

इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि हर्ष और उसके सेनापति भंडि की मृत्यु के उपरांत उत्तर भारत में कान्य-कुब्ज के मौखरी राजाओं की शक्ति क्षीण हो गई। पूर्व बंगाल में पालवंश राज्य करता था और उत्तर पश्चिम भारत में प्रतिहार वंशी क्षत्रिय राजा राज्य करते थे। सन् ८१५ ई० में कान्यकुब्ज पर प्रतिहार राज नागभट्ट ने आक्रमण किया और वह विजयी होकर वहीं राज्य करने लगा। दक्षिण भारत में चालुक्य राजा

१—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—मध्यकालीन धर्म साधना पृ० ३

२—सर जान वुडरफ कृत "शक्ति एंड शाक्त" पृष्ठ २४

राज्य करते थे। इन तीनों प्रबल शक्तियों ने एक प्रकार से बौद्ध और जैन धर्मों को निर्बल कर दिया और शैवधर्म का सर्वत्र प्रचार होने लगा।

सन् १०१८ ई० में एक राजनैतिक क्रांति हुई। महमूद गजनवी ने कान्यकुब्ज पर आक्रमण किया और प्रतिहारों की पराजय हुई। राज्य में अंतर्विद्रोह और बाह्य आक्रमण के कारण फैली हुई दुर्व्यवस्था देखकर अनेक विद्वान् ब्राह्मण दक्षिण भारत चले गए। राष्ट्रकूटों ने जब-जब उत्तर भारत पर आक्रमण किया था तब-तब दक्षिण भारत से अनेक विद्वान् ब्राह्मण उनके साथ उत्तर भारत आए थे। इस प्रकार विद्वानों के आवागमन से उत्तर और दक्षिण भारत की भक्ति-साधन-परंपरा एक दूसरे के समीप आती गई, और मध्यदेश की संस्कृति का प्रचार दक्षिण भारत में योग्य विद्वानों के पांडित्य द्वारा बढ़ता गया।

बंगाल के राजा बल्लाल सेन ने १२वीं शताब्दी में कान्यकुब्ज के विद्वान् ब्राह्मणों को अपने देश में बसाया और गुजरात के राजा मूलराज और दक्षिण के चोल राजाओं ने भी अपने राज्य में मध्यदेश के योग्य विद्वानों को आमंत्रित किया। उत्तर भारत को सर्वथा अरक्षित समझ कर उत्तर भारत के विद्वान् दक्षिण और पूर्व भारत में शरण लेने चले गए। इसका एक शुभ परिणाम यह हुआ कि मुसलमानी राज्य में—भारत का यातायात संकटापन्न होने पर भी—उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम भारत में मध्यदेश की संस्कृति, रामकृष्ण की जन्मभूमि के माहात्म्य के सहारे फैलती गई जो कालांतर में भारतीय एकता में बड़ी सहायक सिद्ध हुई।

तमिल देश में आजकल पांचरात्र संहिता का प्रचार है। कहा जाता है कि रामानुजाचार्य से पूर्व वैखानस संहिताओं का ही प्राधान्य था। तिरुपति के वेंकटेश्वर तथा कांजीवरम् के मंदिरों में अद्यापि वैखानस संहिता के अनुसार मंदिर में पूजा अर्चा होती है। अप्पय दीक्षित तो पांचरात्र संहिता को अवैदिक और वैखानस को वैदिक उद्घोषित करते रहे। वैखानस संहिता के अनुसार शिव और विष्णु दोनों देवताओं का समान आदर होता था किंतु रामानुजाचार्य ने उसके स्थान पर विष्णु पूजा को प्रधानता देकर वैष्णव धर्म का दक्षिण में माहात्म्य बढ़ाया।

दक्षिण भारत में पांचरात्र वैखानस संहिता

कतिपय विद्वान् शाक्त मार्ग को शैव धर्म की ही एक शाखा मानते हैं, किंतु किसी निश्चित प्रमाण के अभाव में इसे केवल अनुमान ही कहा जा सकता है। दसवीं शताब्दी में शाक्तमत और शैवमत में विभेद स्पष्ट दिखाई पड़ता है। गुप्त-कालीन लिपि में विरचित 'कुब्जिका मत-तंत्र', संवत् ६०१ में निर्मित 'परमेश्वर मत तंत्र' तथा 'महाकुलांगना विनिर्णय तंत्र' तथा वाणभट्ट की रचनाओं से शाक्तमत की स्पष्ट अलग सत्ता प्रमाणित होती है। यद्यपि यह सत्य है कि शैव तंत्र के आठवें अध्याय के आधार पर शक्ति और नारायण को एक ही माना जा सकता है और आदि नारायण ही निर्गुण ब्रह्म एवं शिव हैं तथापि शैव और शाक्त मत में एक अंतर यह है कि शाक्त तंत्रों में आद्या ललिता महाशक्ति को ही राम और कृष्ण के विग्रह के रूप में स्वीकार किया गया है। उन्होंने यह भी स्पष्ट कहा है कि राम और शिव में भेद भाव रखना मूर्खता है। किंतु इन दोनों धर्मों में एक समानता ऐसी है जो एक को दूसरे के समीप ला देती है—वह है अद्वैत की प्रधानता। दोनों जीवात्मा और ब्रह्म की एकता स्वीकार करते हैं।[१]

पूर्वी भारत में शाक्त और शैव

कालांतर में शैव सिद्धांत से नाथ, कापालिक[२], रसेश्वर आदि संप्रदाय निकले जिनका प्रभाव उत्तर और दक्षिण भारत पर सर्वत्र दिखाई पड़ता है। एक ओर तो नाथ संप्रदाय का बोलबाला था दूसरी ओर पाशुपत,[३] पांचरात्र, भैरव, एवं जैन और बौद्धमत चल रहे थे। श्री पर्वत बौद्ध धर्म के अंतिम रूप वज्रयान, शैव-शाक्त एवं तांत्रिक साधनाओं का पीठ माना जा रहा था।

१—शिव ज्ञेय हैं और उपास्य है उसकी शक्ति। शक्ति का दूसरा नाम कुंडलिनी है। शक्ति रहित शिव शव सदृश है—'शिवोऽपि शवतां याति कुंडलिन्या विवर्जितः।'

२—'मालती माधव' नाटक के आधार पर कापालिक साधना को शैव मत साधना कह सकते हैं।

३—जीव मात्र पशु है और शिव पशुपति। पशुपति ही समस्त कार्यों के कारण हैं। दुःखों से आत्यंतिक निवृत्ति और परमेश्वर्य प्राप्ति—इन दो बातों पर इनका विश्वास था।

[मध्यकालीन धर्म साधना पृ० ४५]

माधुर्य उपासना में उड़ीसा और चीन का योग

उत्तर भारत में माधुर्य उपासना-पद्धति के प्रचार-केंद्र मथुरा-वृंदावन एवं जगन्नाथपुरी तीर्थ माने जाते हैं। ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर पुरी का मंदिर वृंदावन की अपेक्षा प्राचीनतर माना जाता है। मथुरा-वृंदावन के वर्तमान मंदिर पुरी के मंदिरों की अपेक्षा नए प्रतीत होते हैं। मध्यदेश में स्थित होने के कारण मथुरा-वृंदावन पर निरंतर विदेशियों के आक्रमण होते रहे। अतः बारबार इनका विध्वंस होता रहा। इसके विपरीत पुरी तीर्थ हिंदुओं के हाथ में प्रायः बना रहा[1]। अल्पकाल के लिये ही मुसलमानों का अधिकार हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि पश्चिम में हिंदू मंदिरों के ध्वंस होने पर हिंदू राजाओं के अधिकार में स्थित पूर्वी तीर्थों का विस्तार स्वाभाविक रूप से होने लगा। प्रमाण के लिये मूलस्थान (मुल्तान) के सूर्य मंदिर के विध्वस्त होने पर कोणार्क में रथ पर सूर्य-मंदिर का निर्माण हुआ। पर उसमें एक विशेषता यह आई कि पूर्व के तांत्रिकों और शाक्तों के प्रभाव के कारण सूर्य की विभिन्न निर्माण शक्ति को विभिन्न आसनों के द्वारा दिखाया गया। इस प्रकार मूर्तिकला के माध्यम से युगनद्ध उपासना की जनरुचि को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया गया।

वैष्णवधर्म विशेषतः रागानुगा भक्ति में आर्य-अनार्य, उच्चावच, धनी-निर्धन, विद्वान्-मूर्ख का भेदभाव सर्वथा विलुप्त रहता है। खानपान में वैष्णवजन अन्यत्र भेदभाव भले ही रखते हों पर जगन्नाथपुरी में इसका सर्वथा तिरोधान पाया जाता है। यह नवीनता कब और कैसे आई, इसका निश्चय कठिन है। पर उड़ीसा में एक कथा इस प्रकार प्रचलित है—

1—Tughral Tughan Khan was no doubt out-generalled by the king of Orissa who had drawn the enemy far away from their frontier. A greater disaster had not till then befallen the Muslims in any part of Hindustan. "The Muslims", Says Mintaj. "sustained an overthrow, and a great number of those holy warriors attained martyrdom."

—Y. N.Sarcar, The History of Bengal Part II. Page 49.

उक्त घटना सन् १२४३ ई० की है। उस समय तक प्रायः संपूर्ण उत्तर भारत पर मुसलमानों की विजयपताका फहरा रही थी।

मालवा महाराज इंद्रद्युम्न ने अपने राज्य के उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम में विष्णुदेव के अनुसंधान के लिए ब्राह्मणों को भेजा। अन्य दिशाओं से ब्राह्मण लौट आए किंतु पूर्व दिशा का ब्राह्मण-उत्कल में वसु नामक अनार्य शबर की कन्या से विवाह करके जगन्नाथदेव के दर्शन में तल्लीन हो गया। जीवन की दुर्बलताओं से क्षुब्धहृदय जगन्नाथ की करुणाभरी शक्ति का परिचय एक कौवे की मुक्ति के रूप में पाकर भक्ति-भावना से उमड़ उठा। उसके श्वसुर जगन्नाथ के बड़े पुजारी थे और जंगल से फल-फूल लाकर नील वर्ण की प्रस्तर प्रतिमा को अर्पण किया करते थे। एक दिन ब्राह्मण की भक्तिभावना से प्रसन्न होकर जगन्नाथदेव ने स्वप्न में आदेश दिया कि मालवराज से कहकर समुद्र तक मेरे मंदिर का निर्माण कराओ और वन्य फल फूलों से अब मैं ऊब गया हूँ मेरे पूजन में ५६ प्रकार के भोजन की व्यवस्था कराओ। मेरे मंदिर में जाति-भेद का सर्वथा लोप होगा और बौद्ध, तांत्रिक शैव आदि सभी पद्धतियों के समन्वय में वैष्णव धर्म की उपासना होगी। मालवराज ने जगन्नाथ के आदेशानुसार जगन्नाथ-मंदिर का निर्माण किया।

नीलाद्रि महोदय ने उस काल की नवीन पूजा पद्धति का वर्णन करते हुए लिखा है—

न मे भक्ताश्चतुर्वेदी मद्भक्तः श्वपचः प्रियः।
तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथाह्यहम्॥

जगन्नाथ के मंदिर में ब्राह्मण से शूद्र तक आर्य-अनार्य सभी को प्रवेश का अधिकार मिला। आदिवासी जातियों की बलिदान की पद्धति और आर्यों की अहिंसामय पूजा पद्धति दोनों का इसमें समावेश हुआ। प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता हंटर ने उस नवीन उपासनापद्धति को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

The worship of Jagannath aims at a Catholocism which embraces every form of Indian belief, and every Indian conception of the Deity. Nothing is too high, and nothing is too low to find admission into his temple. The fetishism and bloody rites of the aboriginal races, the mild flower-worship of the Vedas, and every compromise

between the two, along with the lofty spiritualities of the great Indian Reformers, have here found refuge.

\+ + + +

The disciple of every Indian sect can find his beloved rites, and some form of his chosen deity, within the sacred precincts.

\+ + + +

The very origin of Jagannath proclaims him not less the god of the Brahmans than of low caste-aboriginal races.

अर्थात् 'जगन्नाथ जी की पूजा का लक्ष्य भारत की सभी विश्वास परंपराओं और पूजा-पद्धतियों को समेट लेने का रहा है। इस मंदिर में ऊँचनीच का भेद भाव नहीं। आदिवासियों की हिंसामय पूजा तथा वैदिकों की पुष्पपूजा का संमिलन यहाँ दिखाई पड़ता है। भारत के प्रमुख सुधारवादी महात्माओं की आध्यात्मिकता का यहाँ समय समय पर अन्य उपासना पद्धतियों से सामंजस्य होता रहा है।

\+ + +

सभी मतमतांतरों के माननेवाले यहाँ अपने सिद्धांत के अनुसार साधना करने के अधिकारी हैं।

\+ + +

जगन्नाथ मंदिर का उद्भव ही इस तथ्य का प्रमाण है कि वे ब्राह्मण, शूद्र एवं आदिवासी सभी के देवता हैं।'

इन प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि जिस मंदिर के संमुख राधा-कृष्ण-प्रेम का कीर्तन करते हुए चैतन्य महाप्रभु प्रेमविभोर हो उठते थे और जहाँ से माधुर्यभक्ति की धारा कीर्तनों एवं यात्रा-नाटकों के अभिनयों द्वारा उत्तर भारत में प्रचलित हुई वही हिंदूधर्म का केंद्र बन सका। जगन्नाथ-पुरी के मंदिरों पर उत्कीर्ण मूर्तियाँ इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं कि वैष्णव धर्म की मध्ययुगीन धर्मसाधना में तांत्रिक, शैव, शाक्त आदि सभी सिद्धांतों

का समन्वय करने, सूफियों की भावनामयी शृंगारपरक भक्तिपद्धति को मूर्तरूप देने के लिए राधाकृष्ण की शृंगारिक चेष्टाओं की भित्ति पर रागानुगा भक्ति का निर्माण हुआ।

कुछ विद्वानों का मत है कि इस साधना के मूल में तिब्बत द्वारा हमारे देश में आई हुई चीनी शृंगार-साधना भी विद्यमान हैं।

चीनी साहित्य का प्रभाव

यद्यपि सहसा विश्वास नहीं होता कि हमारे देश की माधुर्य उपासना पर चीनी साहित्य का प्रभाव पड़ा होगा, पर भारत और चीन की प्राचीन मैत्री देखकर अविश्वास का कारण भी उचित नहीं प्रतीत होता। कुछ विद्वानों का मत है कि चीन में 'याङ्ग' और 'इन' का युग्म साधना के क्षेत्र में ईसा पूर्व से महत्त्वमय माना जा रहा था। वहाँ इन दोनों का मिलन सृष्टि विधायक और जीवनदायिनीशक्ति का विवर्द्धक माना जाता था। ऐसा अनुमान किया जाता है कि तांग वंशी राजाओं के राज्य में (६१८ ई० से ९०७ ई० तक) 'याङ्ग' और 'इन' देवताओं पर आधृत शृंगारी उपासना तंत्रागम के माध्यम से भारत में पहुँची। उसने कालान्तर में भारतीय माधुर्य उपासना पद्धति को प्रभावित किया। ज्यों ज्यों हम चीनी साहित्य के सम्पर्क में अधिकाधिक आते जाते हैं, यह मत और दृढ़ होता जा रहा है। चीन की शृंगारी उपासना पद्धति को तांत्रिक टवोइस्टिक कहते हैं। इसके सिद्धांत 'याङ्ग' और 'इन' के यौन संबंध पर आधारित हैं। 'याङ्ग' पुरुष है और 'इन' स्त्री। इन दोनों का एकीकरण जीवात्मा का विश्वात्मा से मिलन माना जाता है। प्रमाण के लिए देखिए—

The whole theory had been based on the fundamental concept of Chinese Cosmology, the dualism between yang (the male principle Sun, fire, light) and yin (the female principle moon, water, Darkness) as the interaction of yang and yin represent the macrocosmic process, the sexual act in its microcosmic reproduction, the creation in the flesh but also the experience by self - identification of the macrocosmus.

Annal of Bhandarker Oriental
Research (1957)

रासक का जीवन दर्शन

वैष्णव एवं जैन दोनों प्रकार के रासकों में विश्वविजय की कामना से प्रेरित कामदेव किसी योगी महात्मा पर अभियान की तैयारी करता दिखाई पड़ता है। सृष्टि की सबसे अधिक रूपवती रमणियों को ही इस सेना में सैनिक बनने का सौभाग्य मिलता है। वे रमणियाँ काम की आयुधशाला से अस्त्र-शस्त्र लेकर स्वतः मन्मथदेव से युद्धकला सीखती हैं। कामदेव इन्हीं की सेना बनाकर कामविजगीषु तपस्वियों पर आक्रमण करने चलता है। विश्वविजयिनी यह वीरवाहिनी अनेक बार समरांगणों में विजयध्वजा फहराती हुई अपने रणकौशल का परिचय दे चुकी है। वसुधामंडल में कोई ऐसा स्थान नहीं, जहाँ इन्होंने अपना राज्य स्थापित न कर लिया हो। इनकी अमोघशक्ति से ऋषि-मुनि तो क्या ब्रह्मा तक काँप उठे थे। शिव को अपने दुर्ग से बाहर आकर इनसे युद्ध करने का साहस न हुआ था, अतः उन्होंने अपने बाह्य नेत्रों को बन्द कर लिया और समाधिस्थ होकर काम के कुसुमशरों को तृतीय नेत्र की ज्वाला में भस्म करने लगे। उन बाणों की शक्ति से वे इतने आतंकित थे कि उनमें से एक का भी शरीरस्पर्श उन्हें असह्य प्रतीत हो रहा था। अतः उन्होंने शरीर-दुर्ग का द्वार बंद कर लिया और व्यूह के अंदर बैठकर प्रहारों का निराकरण करने लगे।

ठीक यही दशा श्री महावीर स्वामी की थी। उन्होंने भी काम के अभियान से भयभीत होकर समाधि लगाई। काम की सेना ने भरपूर शक्ति संकलित कर उन पर आक्रमण किया पर अपने दुर्ग के अंदर सुरक्षित महावीर स्वामी कामशक्ति से विचलित नहीं हुए। दुर्ग के बाहर सेना संगठित कर काम प्राचीर से बाहर उनके निकलने की प्रतीक्षा करता रहा पर उन्होंने ऐसी दीर्घ समाधि लगाई कि कामदेव अधीर हो उठा और अंत में हार मानकर उसे घेरा हटाना पड़ा। उसके पराजित होते ही देवताओं में उल्लास उमड़ उठा। अब भगवान् की अभ्यर्चना के लिए देव-अप्सराओं में आगे बढ़ने के लिए होड़ लग गई। किसी ने पुष्पमाला गूँथी, कोई चामर ढारने लगी। भगवान् के महिमस्तवन का आयोजन होने लगा। इस आयोजन में जिन्हें भाग लेने का अवसर मिला वे धन्य हो गए। नृत्य-संगीत की लहरियों पर भक्तों का मन नाच उठा। भगवान् के काम-विजय की रसमय लीला का गान होने लगा और इस प्रकार रास का प्रवर्तन हुआ।

भगवान् की समाधि-वेला समाप्त हुई। उन्होंने भक्तों का समुदाय सामने

देखा जिनके नेत्रों से श्रद्धा और विश्वास टपक रहा था। जिनकी मुखमुद्रा से जिज्ञासा झलक रही थी। भक्तों ने भगवान् से कामविजय की कथा श्रीमुख से सुनाने का आग्रह किया। भगवान् उनकी भक्ति से विभोर होकर काम के अभियान का विवेचन करने लगे। उन्होंने काम से रक्षा के लिए अपनी व्यूह-रचना की कहानी सुनाकर भक्तों का मन मोहित कर लिया। भक्तों में देवेंद्र नामक अत्यंत प्रवीण अभिनेता इस घटना से इतना प्रभावित हुआ कि भगवान् के प्रवचन को नृत्य-संगीत के माध्यम से जनता के संमुख प्रदर्शित किये विना उससे रहा न गया। उसने अभिनेताओं की सहायता से ३२ शैलियों में इसे अभिनीत करने का प्रयास किया। उनमें एक थी रास की शैली जो सबसे अधिक प्रचलित हुई। इस प्रकार काम की पराजय और जैनाचार्यों की विजय जैन रास का मूल विषय बनी।

जैन रास की कथावस्तु की दो शैलियाँ थीं। एक शैली में भगवान् के केवल उपदेश भाग को ही ग्रहण कर गीतों की रचना हुई। दूसरी शैली में काम के अभियान की तैयारी, कामिनियों के प्रसाधन, काम की युद्ध-प्रणाली एवं उसकी पराजय का विशद चित्रण पाया जाता है। इस प्रणाली में कोई विरक्त जैनाचार्य अथवा धर्मनिष्ठ गृहस्थ नायक के रूप में स्वीकृत होते हैं।

वैष्णव रासों में भी कामदेव अपनी प्रशिक्षित सेना का संचालन करता दिखाई पड़ता है। पर उसकी पद्धति जैन रास से पृथक् है। पद्धति के पृथक् होने का कारण यह है कि वैष्णव रास (विशेषतः कृष्ण रास) में कामदेव का खुले मैदान में युद्ध दिखाया जाता है, दुर्ग के अंदर नहीं। मैदान में होनेवाले इस युद्ध का प्रयोजन 'गर्ग संहिता' में निम्नलिखित रूप में दिया गया है—

कामदेव ने ब्रह्मा और शिव से युद्ध समाप्त करके विष्णु को संग्राम के लिए आमंत्रित किया। उसने यह भी अभिलाषा प्रकट की कि यह युद्ध समाधि रूपी दुर्ग के भीतर न होकर खुले मैदान में हो जिससे मैं अपनी सेना का पूर्णरीति से सदुपयोग कर सकूँ। विष्णु भगवान् ने कामदेव के आह्वान को स्वीकार किया पर युद्ध का समय द्वापर में कृष्णावतार के समय निश्चित किया।

कृष्णावतार में भगवान् व्रज में आविर्भूत हुए। वाल्यकाल से ही उनके अनुपम सौंदर्य पर गोपियाँ रीझने लगीं। कामदेव प्रसन्न होकर यह लीला

देखने लगा। भगवान् की चीरहरण लीला के उपरांत उसने शरद् पूर्णिमा की रात्रि को उपयुक्त समय समझकर सैन्य-संग्रह प्रारंभ किया। प्रकृति ने कामदेव के आदेशानुसार विश्वब्रह्मांड के सुधाकर का सार लेकर एक नये चंद्रमा का आविष्कार किया। उस पूर्ण चंद्र को स्वतः लक्ष्मी ने अपनी मुख-श्री प्रदान की। कामदेव के संकेत से चंद्रदेव प्राची दिशा के मुखमंडल पर अपने कर कमलों से लालिमा की रोली-केशर मलने लगा। प्राची के मुख-संस्पर्श से रागरंजित लाल केशर झड़झड़ कर पृथ्वी मंडल को अनुराग-रंजित करने लगी। धवल चाँदनी से व्रजभूमि के सिकता प्रदेश में अमृत-सागर लहराने लगा। परिणाम यह हुआ कि व्रज का कोना-कोना उस रस से आप्लावित हो उठा। कामदेव ने व्यूह-रचना प्रारंभ की। मल्लिकादि पुष्पों की भीनी-भीनी सुगंध से वनप्रदेश सुवासित हो उठा। त्रैलोक्य के सौरभसार से सिक्त पवन मंथर गति से चलता हुआ कलिकाओं का मुख चूम चूम कर मस्त होने लगा। ऐसे मादक वातावरण में योगिराज कृष्ण ने कामयुद्ध संबंधी अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार प्यारी मुरलिका को अधरों पर धारण किया। वंशी स्मरदेव के आमंत्रण को उद्घोपित करने लगी। उस आह्वान को विश्वविमोहक मंत्र से निर्मित किया गया था। कौन ऐसी रमणी थी जो इस विमुग्धकारी काम मंत्र को सुनकर समाहित रह सके और अपने शयनकक्ष में उद्विग्न न हो उठे। वंशी ध्वनि से रमणी हृदय रमणको विकंपित हो उठा।

[श्री मद्भागवत् में यह दृश्य शरदकालीन शोभा के कारण निर्मित हुआ था किंतु जयदेव ने इसमें आमूल परिवर्तन कर दिया है और शरद् के स्थान पर वसंत श्री का प्रभाव गीत[1]गोविंद में प्रदर्शित हुआ। इसके उपरांत जैन, वैष्णव तथा ऐतिहासिक रासों में कामोद्दीपक स्थिति लाने के लिए शरद के स्थान पर वसंत सुषमा का ही प्रायः उपयोग हुआ है।]

ऐसी मनोहारी ऋतु की पूर्णिमा की मचलती ज्योत्स्ना में रास का आमंत्रण पाकर यूथ-यूथ गोपियाँ गुरुजनों की अवहेलना करती हुई लोक-

---

१—विहरति हरिरिह सरस वसन्ते।...

इसी स्थान पर वकुल कलाप एवं विविध कुसुमों पर मँडराने वाले भ्रमरों, किंशुक जाल, केशर कुसुम का विकास, पाटल पटल की छटा, माधवी का परिमल, नवमल्लिका सुगंधि, लता परिरंभण से मुकुलित एवं पुलकित आम्र मंजरी, कोकिल काकली आदि कामोद्दीपक पदार्थों एवं घटनाओं का वर्णन प्राप्त होता है।

प्रथम सर्ग तृतीय प्रबंध

लज्जा त्याग कर उस यमुना-पुलिन पर पहुँचती हैं जहाँ अर्द्धरात्रि की चाँदनी की फिसलन पर बड़े बड़े योगियों का मन भी फिसल जाने को आकुल हो उठता है। कृष्ण के चतुर्दिक् ब्रज सुंदरियों का व्यूह बनाकर कामदेव एक कोने में खड़ा मुस्कराने लगता है। ज्यों ज्यों गोपियों की सेना कृष्ण के समीप पहुँचती है काम का उल्लास बढ़ता जाता है। उसे गर्व होने लगा, और अपने विश्वविजय का संकल्प पूर्ण होता दिखाई पड़ने लगा। अंतर्यामी भगवान् मन्मथ का अहंभाव ताड़ गए। उन्होंने उसे आमंत्रित किया और अपने मनोराज के किसी स्थान पर आसीन होने का संकेत किया। भगवान् ने उसे स्थान देकर उन गोपियों की ओर दृष्टि फेरी जिनको अपने घर से निकलने का या तो साहस न हुआ अथवा कोई मार्ग न मिला। ऐसी गोपियों ने अपने नेत्र मूँद लिए और बड़ी तन्मयता से वे श्रीकृष्ण के सौंदर्य, माधुर्य और लीलाओं का ध्यान करने लगीं। शुकदेवजी परीक्षित से कह रहे हैं कि अपने परम प्रियतम श्री कृष्ण के असह्य विरह की तीव्र वेदना से उनके हृदय में इतनी ज्वाला उत्पन्न हुई कि हृद्गत अशुभ संस्कारों का अवशिष्ट अंश भी भस्म हो गया।

इसके बाद तुरंत ही ध्यान लग गया! ध्यान में उनके सामने भगवान् श्री कृष्ण प्रगट हुये। उन्होंने मन ही मन बड़े प्रेम एवं आवेग से उनका आलिंगन किया। इस समय उन्हें इतना सुख, इतनी शांति मिली कि उनके पूर्व संस्कार भस्मसात् हो गये और उन्होंने पाप और पुण्य कर्मों के परिणाम से बने हुये गुणमय शरीर का परित्याग कर दिया। अब उन्होंने भगवान् की लीला में अप्राकृत देह द्वारा भाग लेने की सामर्थ्य प्राप्त कर ली।

गृह-निवासिनी गोपियों की मनोकामना पूर्ण करके भगवान् ने यमुना की श्वेत सिकता के रंगमंच पर पदार्पण करनेवाली गोपियों को सन्निकट आते देखा। उन्होंने उनका कुशल समाचार पूछकर तुरंत गृह लौटने का परामर्श दिया और साथ ही साथ कुलीन स्त्रियों का धर्म समझाते हुये पतिसेवा और मातृपितृसेवा का मर्म समझाया। उन्होंने यह भी कहा 'गोपियो, मेरी लीला और गुणों के श्रवण से, रूप के दर्शन से, उन सबके कीर्तन और ध्यान से मेरे प्रति जैसे अनन्य प्रेम की प्राप्ति होती है, वैसे प्रेम की प्राप्ति पास रहने से नहीं होती इसलिये तुम लोग अभी अपने-अपने घर लौट जाओ[1]।'

१—श्री मद्भागवत—दशम स्कंध उन्नीसवाँ अध्याय श्लोक २७ .

यहाँ स्त्री-धर्म की एक बड़ी समस्या उठाई गई है। गोपियों ने कृष्ण से कहा—

'नाथ, स्त्री धर्म क्या पतिपुत्र या भाई-बंधुओं की सेवा तक ही परिसीमित है? क्या यही नारी जीवन का लक्ष्य है? क्या नश्वर की उपासना से अनश्वरता की प्राप्ति संभव है? क्या हमारे पति देवता, माता-पिता या भाई-बंधुओं के आराध्य तुम नहीं हो? हमारा पूरा विश्वास है कि तुम्हीं समस्त शरीरधारियों के सुहृद् हो, आत्मा हो और परमप्रियतम हो; तुम नित्य प्रिय एवं साक्षात् आत्मा हो। मनमोहन! अब तक हमारा चित्त घर के काम-धंधों में लगता था। इसीसे हमारे हाथ भी उनमें रमे हुए थे। परंतु तुमने देखते देखते हमारा वह चित्त लूट लिया। हमारे पैर तुम्हारे चरण-कमलों को छोड़कर एक पग भी हटने के लिए तैयार नहीं है, नहीं हट रहे हैं। प्राणवल्लभ! तुम्हारी मुसकान और प्रेम भरी चितवन ने मिलन की आग धधका दी है। उसे तुम अपने अधरों की रसधारा से बुझा दो। भक्तों ने जिस चरण-रज का सेवन किया है उन्हीं की शरण में हम गोपियाँ भी आई हैं। हमने इसी की शरण ग्रहण करने को घर, गाँव, कुटुंब सबका त्याग किया है।

जिस मोहनी मूर्ति का अवलोकन करने पर जड़ चेतन [गौ, पक्षी, वृक्ष तथा हरिणादि भी] पुलकित हो उठाते हैं उसे अपने नेत्रों से निहार कर कौन आर्यमर्यादा से विचलित न हो उठेगा। प्रियतम, तुम्हारे मिलन की आकांक्षा की आग से हमारा वक्षस्थल जल रहा है। तुम हमारे वक्षःस्थल और सिर पर कर-कमल रखकर हमें जीवन दान दो।'

भगवान् ने भक्तों को ठोंक बजाकर देख लिया। गोपियाँ अंत तक अपनी प्रतिज्ञा पर डटी रहीं। अब तो भगवान् गोपियों के अनन्य प्रेम और अलौकिक सौंदर्य का गुणगान करने लगे। उन्होंने शृंगारसूचक भावभंगिमा से गोपियों को रमण के लिये संकेत किया। कामदेव यह देखकर पुलकित हो गया। अपनी विजय को समीप समझ उसने गोपियों के सौंदर्य को अप्रतिम एवं मिलन-उत्कंठा को अत्यधिक वेगवती बना डाला। अंतर्यामी भगवान् कृष्ण काम का अभिप्राय समझ रहे थे। उन्होंने काम-कला को भी आमंत्रित किया। शत्रु-शिविर में घुस कर उसी के अस्त्रों से सम्मुख समर में यदि स्मर को परास्त न किया तो कामविजय नामक युद्ध की महत्ता क्या! भगवान् ने अपनी भावभंगिमा तथा अन्य सभी चेष्टाएँ गोपियों के मनोनुकूल कर डाली

थीं। अब तो कामदेव को अपनी कामनाएँ पूर्ण होती दिखाई देने लगीं। उसने पवनदेवता को और भी शक्ति संकलित करने का आदेश दिया। कपूर के समान चमकीली बालुका-राशि पर फिसलती हुई चाँदनी में यमुना-तरंगों से सिक्त एवं कुमुदिनी मकरंद से सुवासित वायु इस मंडली के मन को आलोडित करने चली। कामदेव पूर्ण शक्ति के साथ मन का मंथन करने के उद्देश्य से भगवान् के अंतःकरण का कोना कोना झाँकने लगा। उसने देखा कि योगमाया ने साराप्रदेश इस प्रकार आवृत कर रखा है कि उसमें कहीं अणु रखने का स्थान नहीं। निराश होकर उसने गोपियों के हृद्प्रदेश को मथने का विचार किया, पर वहाँ तो उसे उज्ज्वल रस की निर्मल धारा के प्रबल प्रवाह में अपने सभी सेनापति बहते हुए दिखाई पड़े। वे स्वतः त्राहि-त्राहि मचा रहे थे, मन्मथ की सहायता क्या करते।

मनसिज ने नैराश्य पूर्णनेत्रों से अपनी राजधानी मनःप्रदेश पर शत्रु का अधिकार देखा। इतना ही नहीं उसके सम्मुख एक और विचित्र घटना घटित हुई। योगिराज कृष्ण ने अनेक रूप धारण करके प्रत्येक गोपी के साथ क्रीड़ा प्रारंभ की। उन्होंने गोपियों के कोमलकरों को स्पर्श किया। वस्त्रावरण को निरावृत कर वक्षस्थल का मर्दन एवं अन्य क्रीड़ाएँ करते समय कामकलाएँ परिचारिका के रूप में उनकी सेवा करने लगीं। अपनी कला-सेना को कृष्ण के सहायक रूप में देखकर कामदेव विस्मय विभोर हो उठा। अपने ही स्कंधावार के सैनिक एवं सेनापति शत्रु के सहायक बन जायँ तो विजय की आशा दुराशा मात्र नहीं तो और क्या हो! उसे अब अपनी यथार्थ स्थिति का स्फुरण हुआ।

अपनी कामना को विफली कृत देख वह खिसकने लगा। इसका एक ही अर्द्धं मित्र बचा था विरह। उभयपक्षी होने के कारण उस पर काम का पूर्ण विश्वास न था, पर और कोई मार्ग न देखकर उसने विरह से अपनी व्यथा सुनाई। उसने कामदेव को आश्वासन दिया। इधर कृष्ण की संमानित गोपियाँ नारीसमाज में अपने को ही सर्वश्रेष्ठ समझने लगीं। अंतर्यामी भगवान् ने गोपियों की मनोगति को पहचान लिया और भक्त की इस अंतिम दुर्बलता का परिहार करने के लिये वे अंतर्धान हो गए।

भगवान् के अदृश्य होने पर गोपियों की विरहव्यथा उत्तरोत्तर बढ़ती गई। विरहाग्नि में उनकी अवशिष्ट दुर्बलता भस्मीभूत होने लगी। प्रत्येक गोपी अपने को सर्वथा भूलकर भगवान् के लीलाविलास का अनुकरण करती

हुई कृष्ण बन गई और कहने लगी 'श्रीकृष्ण मैं ही हूँ'। किंतु यह स्थिति अधिक काल तक न रह सकी। गोपियों को पुनः कृष्ण विरह की अनुभूति होने लगी और वे तरु वल्लरियों, कीट पतंगों, पशुपक्षियों से अपने प्रियतम का पता पूछने लगीं। इसी विरहावस्था में वे कृष्ण की अनेक लीलाओं का अनुकरण करने लगीं। गोवर्धन धारण की लीला करते हुए एक ने अपना उत्तरीय ऊपर तान दिया। एक कालीनाग बन गई और दूसरी उसके सिरपर पैर रखकर नाचते हुए बोली—'मैं दुष्टों का दमन करने के लिए ही उत्पन्न हुआ हूँ।' इस प्रकार विविध लीलाओं का अनुकरण करते हुए एक स्थान पर भगवान् के चरणचिह्न दिखाई पड़े।

एक गोपी के मन में अभी अहंकार भाव बच गया था। भगवान् उसे ही एकांत में ले गये थे। अपना यह मान देखकर उसने सभी गोपियों में अपने को श्रेष्ठ समझा था। भगवान् अवसर देखकर वनप्रदेश में तिरोहित हो गए। भगवान् को न देखकर वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। गोपियाँ भगवान् को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उस गोपी के पास पहुँची जो अचेतन पड़ी थी। उसे चेतना में लाया गया। अब सभी गोपियों का मन कृष्णमय हो गया था। वे भगवान् के गुणगान में इतनी तन्मय थीं कि उन्हें अपने शरीर की भी सुधि न रही। सुधि आने पर वे रमण रेती (जहाँ भगवान् ने रास किया था) पर एकत्रित होकर भगवान् को उपालंभ देने लगीं। जब विरह-वेदना असह्य हो उठी तो वे फूट-फूट कर रोने एवं विलाप करने लगीं। यही रोदन और विलाप रास-काव्यों का मूल स्रोत है। इसीको केंद्र बनाकर कथासूत्र ग्रथित होते हैं। रास काव्य का व्यावर्तक धर्म विरह के द्वारा आत्मशुद्धि मानना अनुचित न होगा।

भगवान् करुणासागर हैं। अश्रुजल में जब गोपियों का विविध विकार बह गया तो वे सहसा आविर्भूत हो गये। मिलन-विरह का मनोवैज्ञानिक कारण बताते हुए उन्होंने गोपियों को समझाया कि "जैसे निर्धन पुरुष को कभी बहुत सा धन मिल जाय और फिर खो जाय तो उसका हृदय खोये हुए धन की चिंता से भर जाता है, वैसे ही मैं भी मिल-मिलकर छिप-छिप जाता हूँ।"

इसके उपरांत महारास की अपूर्व छटा दिखाई पड़ती है। महारास का वर्णन करते हुए शुकदेव जी कहते हैं—'हे परीक्षित! जैसे नन्हा सा शिशु निर्विकार भाव से अपनी परछाईं के साथ खेलता है, वैसे ही रमारमण भगवान् श्री कृष्ण कभी उन्हें (गोपियों को) अपने हृदय से लगा लेते, कभी

हाथ से उनका अंग स्पर्श करते, कभी प्रेमभरी तिरछी चितवन से उनकी ओर देखते तो कभी लीला से उन्मुक्त हँसी हँसने लगते ।'

श्रीमद्भागवत की टीका करते हुए श्रीधर स्वामी कंदर्प-विजय का महत्व इस प्रकार वर्णन करते हैं—

ब्रह्मादिजयसंरूढदर्पकन्दर्पदर्पहा ।
जयति श्रीपतिर्गोपीरासमण्डलमण्डनः ॥

अर्थात् ब्रह्मादि लोकपालों को जीत लेने के कारण जो अत्यंत अभिमानी हो गया था, उस कामदेव के दर्प को दलित करनेवाले, गोपियों के रासमंडल के भूषण स्वरूप श्री लक्ष्मीपति की जय हो ।

रास का प्रयोजन

दार्शनिकों का एक वर्ग तो प्रस्थान-त्रयी को ही मोक्ष प्राप्ति के लिये सर्वोत्तम साहित्य समझता है किंतु दूसरा वर्ग—दार्शनिकता को विकासोन्मुख मानकर—श्रीमद्भागवत् को उपनिषदों से भी उच्चतर घोषित करता है। वैष्णवों का मत है कि निराकार ब्रह्म की उपासना से योगियों को आनंदानुभूति केवल सूक्ष्म शरीर से होती है किंतु हमारे देश में ऐसा भी साहित्य है जो इसी स्थूल शरीर एवं इंद्रियों के द्वारा उस अध्यात्म-तत्व का बोध कराने में समर्थ है ।

कहा जाता है कि एक बार योगियों ने ब्रह्मानंद के समय यह आकांक्षा प्रगट की कि निराकार ब्रह्म के उपासना-काल में सूक्ष्म शरीर से जिस आनंद का अनुभव होता है उसी की अनुभूति यदि स्थूल शरीर के माध्यम से हो जाती तो भविष्य के साधकों को इतना क्लेश सहन न करना पड़ता । अतः भगवान् ने योगियों की अभिलाषा पूर्ण करने के लिये कृष्णावतार धारण किया । इस पूर्णावतार में उन्होंने श्रुति-सूत्रों का मर्म लीला के द्वारा दिखा दिया । इसका विवेचन आगे चलकर किया जायगा ।

कतिपय आचार्यों का मत है कि योगियों ने स्थूल शरीर की सर्वथा उपेक्षा करके तुरीयावस्था में ब्रह्मानंद की प्राप्ति की । किंतु उन्होंने एक बार यह सोचा कि स्थूल शरीर के ही बल पर यह सूक्ष्म शरीर बना जिससे हमने ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया । अतः यदि इस स्थूल शरीर को ब्रह्म-संस्पर्श न कराया गया तो इसके साथ बड़ी कृतघ्नता होगी । इसी उद्देश्य से मुनिगणों ने

परमेश्वर की उपासना की कि किसी प्रकार स्थूल शरीर को ब्रह्म-स्पर्श का सुख प्राप्त कराया जा सके। परमेश्वर ने कृष्णावतार में योगियों के भी मनोरथ को पूर्ण करने के लिये रासमंडल की रचना की।

रास का रहस्यमय प्रयोजन समझने के लिए विविध आचार्यों ने विविध रीति से प्रयत्न किया है। श्रीमद्भागवत् के अनुसार भक्तों पर अनुग्रह[१] करके भगवान् अनेक लीलायें करते हैं जिनको सुनकर जीव भगवद् परायण हो जाए। किंतु उन सभी लीलाओं में रास-लीला का सर्वाधिक महत्व है। भगवान् कृष्ण को स्वतः इस लीला पर सबसे अधिक अनुरक्ति है। वे कहते हैं कि यद्यपि ब्रज में अनेक लीलायें हुई किंतु रासलीला को स्मरण करके मेरा मन कैसा हो जाता है[२]।

किसी न किसी महद् प्रयोजन से ही अदृश्य, अग्राह्य, अचिंत्य एवं अव्यपदेश्य ब्रह्म को दिव्य रूप धारण कर गोपीगण के साथ विहार करने को वाध्य होना पड़ा होगा। इस गोपी-विहार का प्रयोजन था—सनकादिक एवं शुकादिक ब्रह्मनिष्ठ महामुनींद्रों को ब्रह्म-सुख से भी बढ़ कर अलौकिक आनंद प्रदान करना। जिन परमहंसों ने संसार के संपूर्ण रसों को त्यागकर समस्त नामरूप क्रियात्मक प्रपंचों को मिथ्या घोषित किया था उनको उज्ज्वल रस में सिक्त करना सामान्य कार्य नहीं था।

वेदांत सिद्धांत के चिंतकों को परमात्मा प्रथम तो विश्व-प्रपंच-सहित दिखाई पड़ता है और वे प्रयास के द्वारा त्याग-भाग लक्षणा से परमात्मा का यथार्थ स्वरूप देख पाते हैं। किंतु इसके प्रतिकूल रास में गोपियों को कृष्ण भगवान् का प्रपंच रहित शुद्ध परमात्मा के रूप में सद्यः प्रत्यक्षीकरण हुआ। अतः साधना की इस नई पद्धति का प्रयोजन हुआ—अपठित ग्रामीण स्त्रियों को भी ब्रह्म साक्षात्कार का सरल मार्ग दिखाना।

दार्शनिकों की बुद्धि ने जिस 'सर्वोपाधि-विनिर्मुक्त-निरतिशय प्रेमास्पद और परमानंद रूप ब्रह्म का निरूपण किया भक्तों के अंतःकरण ने उसी ब्रह्म

१—अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमाश्रितः।
भजते तादृशीः क्रीडा या श्रुत्वा तत्परो भवेत् ॥ १०।३३।३६ ॥
श्रीमद्भागवत

२—सन्ति यद्यपि मे प्राज्या लीलास्तास्तामनोहराः।
नहि जाने स्मृते रासे मनो मे कीदृशं भवेत् ॥
श्रीमद्भागवत

को इतने स्पष्ट रूप से देखा जैसे नेत्र से सूर्य देखा जाता है। उसी दिव्य भगवत्तत्व रूपी सूर्य को माधुर्य उपासना रूपी दूरवीक्षण यंत्र की सहायता से दिखाने के प्रयोजन से रासलीला का अनाविल उपस्थापन हुआ, ऐसा मत भी किसी किसी महात्मा का है[1]।

श्रीमद्भागवत् ने एक सिद्धांत निरूपित किया कि काम, क्रोध, भय, स्नेह, ईर्ष्या आदि मनोविकारों के साथ भी यदि कोई भगवान् का एकांत चिंतन करे तो उसे तन्मयता की स्थिति प्राप्त हो जाती है, और करुणाकर भगवान् उसकी अभिलाषा पूर्ण करते हैं। गोपियों को रासलीला में उसी तन्मयता की स्थिति में पहुँचाकर भक्तों के हृदय में इसकी पुष्टि कराना रासक्रीड़ा का प्रयोजन प्रतीत होता है।

कामविकार से व्याकुल अधोगति में पड़े सांसारिक प्राणी को अति शीघ्र ही हृद्रोग-काम-विकार से मुक्ति दिलाना रासलीला का प्रमुख प्रयोजन है। भक्त इस हृद्रोग से ऐसी मुक्ति पा जाता है कि पुनः उसे वह रोग कभी सन्तप्त नहीं कर पाता। यही रासलीला का सबसे महत्त्वमय प्रयोजन है। श्रीमद्भागवत् रासलीला दर्शन का लाभ दर्शाते हुए कहता है—

'जो पुरुष श्रद्धासम्पन्न होकर व्रजबालाओं के साथ की हुई भगवान् विष्णु की इस क्रीड़ा का श्रवण या कीर्त्तन करेगा, वह परम धीर भगवान् में परा-भक्ति प्राप्त करके शीघ्र ही मानसिक रोगरूप काम से मुक्त हो जायगा।'[2]

सारांश यह है कि उपनिषदों से भी उच्चतर एक दार्शनिक सिद्धांत की स्थापना रासलीला का उद्देश्य है। हम कह आए हैं कि उपनिषद् में प्रत्येक दृश्यपदार्थ की नश्वरता प्रमाणित की गई है किंतु रासलीला में ऐसे कृष्ण की स्थापना की गई है जो दृश्य होते हुए भी अनश्वर है। इतना ही नहीं काम-क्रोधादि किसी भी विकार की प्रेरणा से उसके संपर्क में आनेवाला

१—कल्याणी—श्री भगवत्तत्व, पृष्ठ ६४

२— विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेच्च।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥

प्राणी अनश्वर बन जाता है। बृहदारण्यक उपनिषद् के एक मंत्र की प्रत्यक्ष सार्थकता रासलीला का प्रयोजन प्रतीत होता है। बृहदारण्यक में ऋषि कहते हैं—

'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति'—

'पति के काम के लिए पति प्रिय नहीं होता, वह आत्मा के लिये प्रिय होता है।'

पतिव्रता गोपियाँ कृष्ण से भी यही कहती हैं कि हमें पति प्रिय हैं किंतु आप तो साक्षात् आत्मा हैं। आपके लिए ही हमें पति प्रिय हैं। रासलीला में इसी सिद्धांत का प्रयोग दिखाया गया है।

आत्मा को उपनिषदों में जहाँ अरूप, अदृश्य, अगम्य बताया गया है वहीं उसे द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य एवं निदिध्यासितव्य भी कहा गया[1] है। रासलीला में उस परम आत्मा को जीवात्मा से अभिन्न सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। उसे आलिंग्य एवं विक्रीड्य भी दिखाना रास का प्रयोजन जान पड़ता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में ब्रह्मसुख की अनुभूति बताते हुए यह संकेत किया गया है कि 'जिस प्रकार अपनी प्यारी स्त्री के आलिंगन में हम बाह्य एवं आंतरिक संज्ञा से शून्य हो जाते हैं। केवल एक प्रकार के सुख की ही अनुभूति करते हैं। उसी प्रकार सर्वज्ञ आत्मा के आलिंगन से पुरुष आंतरिक एवं बाह्य चेतना शून्य हो जाता है। जब उसकी संपूर्ण कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं जब केवल आत्मप्राप्ति की कामना रह जाती है तो उसके सभी दुख निर्मूल हो जाते हैं'—

'यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरं तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामं रूपं शोकान्तरम्[2]।'

१—आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो
मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्।
बृहदारण्यकउपनिषद्–चतुर्थ अध्याय–पंचम ब्राह्मण ६ वां मंत्र

२—बृहदारण्यकउपनिषद्–चतुर्थ अध्याय—तृतीय ब्राह्मण–२१ वां मंत्र

रासलीला में उसी सर्वज्ञानमय आत्मा रूपी कृष्ण के परिष्वंग से गोपियाँ आंतरिक एवं वाह्यचेतना शून्य होकर विलक्षण प्रकार की आनंदानुभूति प्राप्त करती हैं। इसी को चरितार्थ करना रासलीला का प्रयोजन प्रतीत होता है।

वैष्णव महात्माओं का सिद्धांत है कि रासलीला का प्रयोजन प्रेमरस का विकास है। यहाँ एक ही तत्व को भगवान् श्रीकृष्ण और राधा रूप में आविर्भूत कराना उद्देश्य रहा है इसीलिए उन्हें नायक एवं नायिका रूप में रखने की आवश्यकता पड़ी। उज्ज्वल रस के अमृत सागर में सभी प्रकार की जनता को अवगाहन कराना इस रासलीला का मूल प्रयोजन प्रतीत होता है। इसीका संकेत गीता में भगवान् करते हैं—

मच्चित्ता मद्गत प्राणा वोधयन्तः परस्परं।
वोधयन्तश्च प्रण मां नित्यं तुष्यंति च रमन्तिच।

अर्थात् निरंतर मेरे अंदर मन लगानेवाले मुझे ही प्राणों को अर्पण करनेवाले भक्तजन सदा ही मेरी भक्ति की चर्चा के द्वारा आपस में मेरे प्रभाव को जानते हुए तथा गुण और प्रभाव सहित मेरा कथन करते हुए ही संतुष्ट होते हैं और मुझमें निरंतर रमण करते हैं।

इसी रमण क्रिया की स्थिति में पहुँचाना रासलीला का मुख्य प्रयोजन है। इसी रमण स्थल को सूचित करनेवाली रमण रेती आज भी वृंदावन में विद्यमान हैं। इस रमणलीला का रहस्योद्घाटन समय-समय पर आचार्य करते आए हैं।

राधावल्लभीय दृष्टि से रासलीला का प्रयोजन भोगविलास को ही जीवन का सार समझने वाले विलासी व्यक्तियों के मन में कामविजय की लालसा जाग्रत कर मुक्तिपथ की ओर अग्रसर करना है। इस संप्रदाय के आचार्यों का कथन है कि "श्रीकृष्ण सदा राधिका को प्रसन्न करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। राधा को प्रमुदित रखना ही उनका परमध्येय है। राधिका की अंशभूता अन्यान्य गोपिकाओं को रास में एकत्र कर प्रकारांतर से इष्ट देवी राधा को प्रमुदित करने का यह एक क्रीड़ा कौतुक है। इस लीला में 'तत्सुख सुखित्व' भाव की रक्षा करते हुए श्रीकृष्ण अपने आमोद का विस्तार करते हैं। इस 'तत्सुख सुखित्व' का पर्यवसान भी लोक कल्याण में ही होता है। अतः इस लीला की भावना करना ही पर्याप्त नहीं अपितु इसका भौतिक रूप

में अनुकरण करना भी अभीष्ट है। अनुकरण द्वारा राधा के प्रति कृष्णानुराग का स्वरूप सांसारिक जीवों को भी व्यक्त हो जाता है।"[1]

वल्लभ संप्रदाय रास के तीन रूप मानता है—(१) नित्यरास (२) नैमित्तिक रास (३) अनुकरणात्मक रास। भगवान् गोलोक अथवा वृंदावन में अपने आनंद विग्रह से अपनी आनंद प्रसारिणी शक्तियों के साथ नित्यरास-मग्न रहते हैं। उनकी यह क्रीड़ा अनादि एवं अनंत हैं। कृष्ण और गोपियाँ संसार से निवृत्त एवं लौकिक काम से विनिर्मुक्त हैं। इस लीला के श्रवण एवं दर्शन से भक्त अपनी कामनाओं की आहुति बनाकर भगवान् के भक्ति-यज्ञ को समर्पित कर देता है। इससे मन कल्मष-रहित बन जाता है।

माधुर्य उपासना का स्वरूप

वेदांत के अनुसार साधक जब ब्रह्म के साथ अभेद स्थापित कर लेता है तो ब्रह्ममय हो जाता है। ब्रह्म आनंद स्वरूप है अतः ज्ञानी भी आनंद रूप हो जाता है। भक्त का कथन है कि यदि साधक आनंदमय हो गया तो उसे क्या मिला। भक्त की अभिलाषा रहती है कि मैं आनंद का रसास्वादन करता रहूँ। वह भगवान् के प्रेम में मस्त होकर भक्तिरस का आनंद लेना चाहता है; स्वतः आनंदमय बनना नहीं चाहता। जीवगोस्वामी और बलदेव विद्याभूषण ने रागानुगा भक्ति की व्याख्या करते हुए स्पष्ट कहा है कि यद्यपि जीव और ब्रह्म में अंतर नहीं है तथापि जीव की जन्म-जन्मांतर की वासनाएँ आशा और आकांक्षाएँ उसे पूर्णकाम भगवान् से पृथक् कर देती हैं। जब भगवान् की भक्त पर कृपा होती है तो उसका (भक्त) मन भगवान् के लीलागान में रम जाता है। इस प्रकार निरंतर नाम-जपन और लीलागान-श्रवण से उसमें भगवान् के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है। उसे प्रेम से आनंद की अनुभूति होती है। इस आनंदानुभूति के दो प्रकार हैं—

(१) भगवद्विषयानुकूल्यात्मकस्तदनुगतस्पृहादिमयो ज्ञानविशेषस्तत्प्रीतिः।

अर्थात् भगवद्विषयक अनुकूलता होने से स्पृहा के द्वारा उनका ज्ञान प्राप्त होता है। भगवद्-विषयक ज्ञान ही आनंद का हेतु है क्योंकि ज्ञान आनंद का स्वरूप है। यह भगवद् प्रीति कहलाती है। दूसरे प्रकार की आनंदानुभूति भगवान् में रति के द्वारा होती है। इसे प्रेमा भक्ति कहते हैं। जिस प्रकार संसार में हम किसी वस्तु को सुंदर देखकर स्वभावतः उसकी उपयोगिता का

१—डा० विजयेंद्र स्नातक—राधावल्लभ सम्प्रदाय: सिद्धांत और साहित्य पृ० २७१

बिना विचार किए ही आकर्षित हो जाते हैं उसी प्रकार भगवान् के अलौकिक सौंदर्य पर हम सहज ही मुग्ध हो जाते हैं। भगवान् आनंद स्वरूप हैं और वह आनंद दो प्रकार का है—(१) स्वरूपानंद (२) स्वरूप शक्त्यानंद। स्वरूपशक्त्यानंद दो प्रकार का होता है—(१) मानसानंद (२) ऐश्वर्यानंद। जब तक भक्त का मन भगवान् के ऐश्वर्य के कारण उनकी ओर आकर्षित होता रहता है तब तक उसे केवल ऐश्वर्यानंद ही प्राप्त हो सकता है। किंतु जब भक्त का मन भगवान् में ऐसा आसक्त हो जाता है जैसा प्रेमिका का मन अपने प्रेमी में, पुत्र का पिता में या पिता का पुत्र में, मित्र का मित्र में तो उस भक्ति को प्रीति की संज्ञा दी जाती है।

प्रीति की यह विशेषता है कि यदि प्रेमपात्र का बाह्य सौंदर्य भी आकर्षक हो तो प्रेमी की सारी मनोवृत्तियाँ प्रेमसागर में निमज्जित हो जाती है। ईश्वर से इतर के साथ प्रेम में भौतिक तत्त्वों से निर्मित पदार्थों का आभास बना रहता है, पर परमेश्वर का विग्रह तो पंचभूतों से परे है। अन्य पदार्थ भौतिक नेत्र के विषय हैं पर परमात्मा को अध्यात्म नेत्रों से देखना होता है। भक्त की ऐसी स्वाभाविक स्थिति एकमात्र भगवत्कृपा से बनती है। यह श्रम-साध्य नहीं। यह तो एकमात्र भगवान् के अनुग्रह पर निर्भर है। भक्त इस स्थिति को जीवन्मुक्त से उच्चतर समझता है।[१] वह भगवान् के प्रेम में इतना विभोर हो जाता है कि वह अपनी भौतिक सत्ता को विस्मृत करके अपने को ईश्वर के साथ एकाकार समझने लगता है।

प्रेमी की इस स्थिति और ज्ञानी की शांत स्थिति में अंतर है। जहाँ भक्त ईश्वर को अपना समझता है वहाँ ज्ञानी अपने को ईश्वर का मानता है।

गीता में भक्तों की चार कोटियाँ मानी गई हैं—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। कृष्ण भगवान् ज्ञानी भक्त को सर्वश्रेष्ठ स्वीकार करते हैं किंतु श्री मद्भागवत् के आधार पर विरचित 'भक्ति रसामृत सिंधु' में उत्तम भक्त का लक्षण भिन्न है—

---

१. बौद्धधर्म के महायान संप्रदाय में भी निर्वाण से ऊपर बुद्ध की कृपा से प्राप्त स्थिति मानी जाती है। 'निर्माण के ऊपर बोधिका स्थान महायान ने रखा है।' निर्वाण अंतिम नहीं है उसके बाद तथागतज्ञान के द्वारा सम्यक् संबोधि की खोज करनी चाहिए।'

सद्धर्मपुंडरीक ३१०।१-४

अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्[1] ।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥

अर्थात् उत्तमा भक्ति में अभिलाषाओं एवं ज्ञान कर्म से अनावृत एक मात्र कृष्णानुशीलन ही ध्येय रहता है। इसकी सिद्धि भगवत्कृपा से ही हो सकती है। अतः भगवत्कृपा के लिए ही भक्त प्रयत्नशील रहता है।

उत्तम भक्त उस मनस्थिति वाले साधक को कहते हैं जो कृष्ण की अनुकूलता के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता। वह मुक्ति और भुक्ति दोनों से निस्पृह हो जाता है—

'भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्त्तते ।'

भक्त के लिए तो भुक्ति और मुक्ति दोनों पिशाची के समान हैं। इन्हें हृदय से निकाल देने पर ही भक्ति-भावना बन सकती है।

प्रेमाभक्ति की दूसरी विशेषता है कि भक्त का मन मैत्री की पावन भावना से इतना ओतप्रोत हो जाता है कि वह किसी प्राणी को दुखी देख ही नहीं सकता। बुद्ध[2] के समान जिसके मन में करुणा भर जाती है वह निर्वाण को तुच्छ समझकर दीन-दुखी के दुख निवारण में अनिर्वचनीय आनंद की अनुभूति करता है। वहाँ आत्मकल्याण और परकल्याण में कोई विभाजक रेखा खींचना संभव नहीं होता। प्रेमपूर्ण हृदय में किसी के प्रति कटुता कहाँ। प्रेमाभक्ति की यह दूसरी विशेषता है।

तीसरी विशेषता है मुक्तित्याग की। भक्त अपने आराध्य देव कृष्ण के सुख के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता। उसकी अहैतुकी भक्ति में किसी प्रकार के स्वार्थ के लिए अवकाश ही नहीं। इस कारण इसकी बड़ी महत्ता है। चौथी विशेषता है कि पुरुषार्थ से यह प्राप्य है ही नहीं। भगवत्कृपा के बिना प्रेमाभक्ति का उदय हो नहीं सकता। अर्चन-पूजन-वंदन आदि साधन अन्य भक्ति प्रकार में भले ही लाभप्रद हों पर प्रेमाभक्ति में इनकी शक्ति सीमित होने से वे पूर्ण सहायक सिद्ध नहीं होते।

१—रूपगोस्वामी—भक्तिरसामृत सिन्धु १, १, ६

२. मार ने तथागत से कहा—'अब तो आपने निर्वाण प्राप्त कर लिया। आपके जीवन की साध पूरी हुई। अब आप परिनिर्वाण में प्रवेश करें।'

तथागत बोले—'लोक दुखी है। हे समन्तचक्षु! दुखी जनता को देखो। जब तक एक भी प्राणी दुखी है, तबतक मैं कार्य करता रहूँगा॥'

भक्त को प्रेमा भक्ति से उस आनंद की उपलब्धि होती है जिसके संमुख मुक्तिसुख तुच्छ है। इसी कारण भक्ति साहित्य में ज्ञान और प्रेमा भक्ति का विवाद उद्धव गोपी संवाद के द्वारा प्रगट किया गया है। प्रेमाभक्ति की छठी विशेषता कृष्ण भगवान् को सर्वथा वशीभूत करके भक्तों के लिए उन्हें विविध लीलायें करने को बाध्य करना।

रूप गोस्वामी ने साधन भक्ति के दो भेद—(१) वैधी (२) रागानुगा का विवेचन किया है। वैधी भक्ति उन व्यक्तियों को उपयुक्त है जिनकी मनोवृत्ति तार्किक है और जो शास्त्रज्ञान से अभिज्ञ हैं। ऐसे भक्त को वैदिक क्रियाओं को अनिवार्य रूप से करने की आवश्यकता नहीं। भक्ति-सिद्धांत के अनुसार भक्त पर आचार नीति और यज्ञक्रियाओं का कोई अंकुश नहीं रहता। वैधीपद्धति के पालन करनेवाले भक्त को शास्त्रीय विवाद में उलझने की आवश्यकता नहीं। वह तो भगवान् के सौंदर्य का ध्यान पर्याप्त समझता है। वह भगवान् को स्वामी और अपने को दास समझता है। वह अपने सभी कर्म कृष्ण को समर्पण कर देता है।

इस स्थिति पर पहुँचने के उपरांत रागानुगा वैधी भक्ति के योग्य साधक बनता है। रागात्मिका भक्ति में प्रेमी के प्रति स्वाभाविक आसक्ति अपेक्षित है। अतः रागानुगा भक्ति का अर्थ है रागात्मिका भक्ति का कुछ अनुकरण।

रागात्मिका भक्ति में स्वाभाविक कामभाव के लिए स्थान है। पर रागानुगा भक्ति इससे भिन्न है। वहाँ कामासक्ति के लिए कोई अवकाश नहीं। उस दशा में तो स्वाभाविक कामवृत्ति की स्थिति की अनुकृति का प्रयास पाया जाता है स्वाभाविक कामवृत्ति वहाँ फटकने भी नहीं पाती।

रागात्मिका भक्ति की भाँति रागानुगाभक्ति भी दो प्रकार की होती है—(१) कामानुगा (२) संबंधानुगा। साधन भक्ति की रागानुगादशा के उपरांत भक्त भावभक्ति के क्षेत्र में पदार्पण करता है। भाव का अर्थ है भगवान् कृष्ण के प्रति स्वाभाविक आसक्ति। इस दशा में रोमांच और अश्रु के द्वारा शारीरिक स्थिति प्रेमभाव को अभिव्यक्त करती है। भक्त का स्वभाव प्रेमानंद के कारण इतना मधुर बन जाता है कि जो भी संपर्क में आता है वह एक प्रकार के आनंद का अनुभव करने लगता है। यह प्रेमभाव आनंद (रति) का मूल बन जाता है, अतः रतिभाव की इसे संज्ञा दी गई है। यद्यपि वैधी और रागानुगा में भी भाव की सृष्टि हो जाती है पर वह भाव इस

भाव से निम्नकोटि का माना जाता है। कभी कभी साधनभक्ति के बिना भी उच्च रतिभाव की अनुभूति भक्त को होती है पर वह तो ईश्वर का प्रसाद ही समझना चाहिए।

इस उच्च प्रेमभाव के उदय होने पर भक्त दुखसुख से कभी विचलित नहीं होता। वह भावावेश के साथ भगवान् का नामोच्चारण करने लगता है। वह इंद्रियजन्य प्रभावों से मुक्त, विनम्र होकर भगवत्प्राप्ति के लिए सदा उत्कंठित रहता है[1]। वह इस स्थिति पर पहुँचने के उपरांत मुक्ति को भी हेय समझता है। हृदय में कोई आशा-आकांक्षा नहीं रहती। उसका हृत्प्रदेश शांत महासागर के समान निस्तब्ध बन जाता है। यदि किसी भी प्रकार की हलचल बनी रहे ता समझना चाहिए कि उसमें रति नहीं रत्याभास का उदय हुआ है।

रतिभाव की प्रगाढ़ता प्रेम कहलाती है। इसमें भक्त भगवान् पर एक प्रकार का अपना अधिकार समझने लगता है। इसकी प्राप्ति भाव के सतत दृढ़ होने अथवा भगवान् की अनायास कृपा के द्वारा होती है। आचार्यों का मत है कि कभी तो पूर्व जन्म के पवित्र कर्मों के परिणाम-स्वरूप अनायास मनःस्थिति इस योग्य बन जाती है और कभी यह प्रयत्नसाध्य दिखाई पड़ती है। सनातन गोस्वामी ने अपने ग्रंथ 'बृहद् भागवतामृत' में ऐसे अनेक भक्तों की कथाएँ उद्धृत की हैं।

जो भक्त रतिभाव द्वारा ईश्वर प्राप्ति का इच्छुक है उसे राधा भाव या सखि भाव में से एक का अनुसरण करना पड़ता है।

"But it is governed by no mechanical Sastric rules whatever, even if they are not necessarily discarded; it follows the natural inclination of the heart, and depends entirely upon one's own emotional capacity of devotion.

The devotee by his ardent meditaton not only seeks to visualise and make the whole vrindavan-Lila of krishna live before him, but he enters into it imaginatively, and by playing the part of a bel-

---

१—भक्ति रसामृत सिंधु—१. ३. ११-१६

oved of Krishna, he experiences vocariously the passionate feelings which are so vividly pictured in the literature."

अर्थात् रतिभाव की उपासना किसी शास्त्रीय विधि-विधान से संभव नहीं। यद्यपि विधि-विधानों का बहिष्कार जानबूझकर नहीं किया जाता तथापि यह साधना साधक की अभिरुचि पर ही पूर्णतया निर्भर है। वह चाहे तो शास्त्रीय नियमों का बंधन स्वीकार करे चाहे उनको तोड़ डाले। इस साधना-पद्धति का अवलंबन लेनेवाला साधक कृष्ण की वृंदावन लीला के साक्षात्कार से ही संतुष्ट नहीं होता, वह तो अपने भावलोक में होनेवाली वृंदावन लीला में अपना प्रवेश भी चाहता है। वह कृष्ण की प्रिया बनना चाहता है। उस अभिलाषा में वह एक विशेष प्रकार की प्रेम भावना का अनुभव करता है जिससे रास साहित्य ओतप्रोत है।

भाव और महाभाव

रासलीला की दार्शनिकता का विवेचन करते हुए आचार्यों ने उपासकों के तीन वर्ग किए हैं—एक सखी भाव से उपासना करता है और दूसरा गोपी भाव से और तीसरा राधाभाव से। सखी भाव का उपासक, राधाकृष्ण की रासक्रीड़ा की संपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करके किसी ओट से विहार की छटा देखना चाहता है, दूसरे उपासक गोपी भाव से उपासना करते हैं। गोपियाँ रासेश्वरी राधा का श्रृंगार कर उन्हें रास-मंडल में ले जाती हैं। राधा कृष्ण के साथ विहार करती हैं और राधिका जी का संकेत पाकर वे गोपियों को भी रासमंडल में संमिलित कर लेते हैं। इसी प्रकार ऐसे भी उपासक हैं जो राधाकृष्ण मूर्त्तियों का श्रृंगार करके रास की कल्पना करते हैं और उस कल्पना में यह अभिलाषा करते हैं कि हम भी गोपी रूप होकर भगवान् के साथ रास रचा सकें।

ऐसी अभिलाषा करनेवाले भक्तों के वर्ग गोपीगीत के अनुसार इस प्रकार किए जा सकते है। एक वर्ग के भक्तों की अभिलाषा है कि जिस प्रकार एक गोपी ने बड़े प्रेम और आनंद से श्रीकृष्ण के कर-कमल को अपने दोनों हाथों में ले लिया उसी प्रकार वे भक्त भगवान् की कृपारूपी कर का स्पर्श पाने के अभिलाषी होते हैं। उनकी तृप्ति इसी की प्राप्ति से हो जाती है। दूसरे वर्ग के वे भक्त हैं जिनकी अभिलाषा उन गोपियों के समान है जो

भगवान् के चन्दन-चर्चित-भुजदंड को अपने कंधे पर रखना चाहती है अर्थात् जो भगवान् के अधिक आत्मीय बनकर उनके सखा के रूप में कृपा रूपी हाथों को प्रेम पूर्वक अपने स्कंध पर रखने की अभिलाषिणी हैं।

तीसरे प्रकार के भक्त भगवान् के और भी सन्निकट आना चाहते हैं। वे उन गोपियों के समान भगवान् के कृपा-प्रसाद के अभिलाषी हैं जो भगवान् का चबाया हुआ पान अपने हाथों में पाकर मुग्ध हो जाती है। आज भी कई संप्रदायों में इस प्रकार की गुरुभक्ति पाई जाती है। चौथे प्रकार के भक्त वे हैं जिनके हृदय में उस गोपी के समान विरह की तीव्र व्यथा समाई हुई है जो भगवान् के चरण-कमलों को स्कंध पर ही नहीं वक्षस्थल पर रखकर संतुष्ट होने की अभिलाषिणी है। पाँचवी कोटि में वे भक्त आते हैं जिनका अहंभाव बना हुआ है। वे भगवान् की उपासना करते हुए मनः सिद्धि न होने पर उस गोपी के समान जो भौंहें चढ़ाकर दाँतों से होंठ दबाकर प्रणय कोप करती है—क्रोधावेश में आ जाते हैं।

छटें प्रकार के भक्त उस गोपी के समान हैं जो निर्निमेष नेत्रों से भगवान् के मुख कमल का मकरंद पीते रहने पर भी तृप्त नहीं होती। श्रीमद्भागवत् में उस भक्त का वर्णन करते हुए शुकदेव जी लिखते हैं—संत-पुरुष भगवान् के चरणों के दर्शन से कभी तृप्त नहीं होते, वैसे ही वह उसकी मुख माधुरी का निरंतर पान करते रहने पर भी तृप्त नहीं होती थी।'

सातवें प्रकार के भक्त उस गोपी के समान हैं जो नेत्रों के मार्ग से भगवान् को हृदय में ले गई और फिर उसने आँखें बंद कर लीं[१]। अब वह मन ही मन भगवान् का आलिंगन करने से पुलकित हो उठी। उसका रोम रोम खिल उठा। वह सिद्ध योगियों के समान परमानंद में मग्न हो गई। शुकदेव जी यहाँ भक्ति के इस प्रगाढ़ भाव की महत्ता गाते हुए कहते हैं कि 'जैसे मुमुक्षुजन परमज्ञानी संत पुरुष को प्राप्त करके संसार की पीड़ा से मुक्त हो जाते हैं, वैसे ही सभी गोपियां को भगवान् श्री कृष्ण के दर्शन से परम आनंद और परम उल्लास प्राप्त हुआ।'

भावभक्ति की प्राप्ति दो मार्गों से होती है—(१) साधन परिपाक द्वारा

१—गोस्वामीजी ने भी इसी प्रकार का वर्णन किया—

नयनन्ह मग रामहि उर आनी।
दीन्ही पलक कपाट सयानी॥

(२) कृष्ण प्रसाद से। अतः इनका नाम रखा गया है साधनाभिनिवेशज और कृष्ण-प्रसादज। कृष्ण-प्रसादज तीन प्रकार का होता है—(१) वाचिक कृष्ण की कृपा वाणी द्वारा (२) आलोक दान द्वारा (३) कृष्णभक्त प्रसाद द्वारा।

भावभक्ति

भावभक्ति का संबंध हृद्‌गत राग से तब तक माना जाता है जब तक भाव का प्रेम रस में परिपाक नहीं हो जाता। इस भक्ति में बाह्य साधनों का बहुत महत्त्व नहीं है। यह तो व्यक्ति के हृदय-बल पर अवलंबित है। जिसके हृदय में भगवान् का रूप देखकर जितना अधिक द्रवित होने की शक्ति है वह उतना ही श्रेष्ठ भक्त बन सकता है। माधवेंद्रपुरी कृष्ण मेघाडंबर देखकर भगवान् के रूप की स्मृति आते ही समाधिस्थ हो जाते थे। चैतन्य महाप्रभु भगवान् की मूर्त्ति के सामने नृत्य करते करते मूर्छित हो उठते थे। रूप-गोस्वामी इस प्रेमाभक्ति को सर्वोत्तम भक्ति मानते हैं। यह प्रेमाभक्ति वास्तव में भावभक्ति के परिपाक से प्राप्त होती है। जब राग सांद्र बनकर आत्मा को सम्यक् मसृण बना देता है तब प्रेमाभक्ति का उदय होता है।

भगवान् का निरंतर नाम जपने से कुछ काल के उपरांत साधक पर करुणासागर भगवान् दयार्द्र होकर गुरु रूप में मंत्रोपदेश करते हैं। उसके निरंतर जाप से साधक की पूर्वसंचित मलिन कामवासना भस्म हो जाती है और उसे मनोभाव के अनुसार शुद्ध सात्विक शरीर प्राप्त हो जाता है। इसी सात्विक शरीर को भावदेह कहते हैं। भौतिक शरीर के प्राकृत धर्म इस सात्विक शरीर में संभव नहीं होते। इस भावदेह की प्राप्ति होने पर सच्ची साधना का श्री गणेश होता है। जब साधक इस भावदेह के द्वारा भगवान् की लीलाओं का गुणगान गाते गाते गलदश्रु हो जाता है तो साधन भक्ति भावभक्ति का रूप धारण करती है। कभी कभी यह भावभक्ति प्रयास बिना भी भगवान् के परम अनुग्रह से प्राप्त हो जाती है। पर वह स्थिति विरलों को ही जन्मजन्मांतर के पुण्यबल से प्राप्त हो सकती है।

स्थूलदेह और भाव देह

इस भावदेह की प्राप्ति के लिए मन की एक ऐसी दृढ़ भावना बनानी पड़ती है जो कभी विचलित न हो। आज भी कभी कभी ऐसे भक्त मिल जाते

हैं जो मातृभाव के साधक हैं। वे सभी मानव में माता की भावना कर लेते हैं और अपने को शिशु मानकर जीवन विता देते हैं। उनका शरीर जीर्ण-शीर्ण होकर अत्यंत वृद्ध एवं जर्जरित हो जाता है पर उनका भावशरीर सदा शिशु बना रहता है। वे अपने उपास्यदेव को प्रत्येक पुरुष अथवा नारी में मातृरूप से देखकर उल्लसित हो उठते हैं। जब ऐसी स्थिति में कभी व्यवधान न आये तो उसे भावदेह की सिद्धि समझना चाहिए। इस भाव-सिद्धि का विकसित रूप प्रेम कहलाता है। जिस प्रकार भाव का विकसित रूप प्रेम कहलाता है उसी प्रकार प्रेम की परिपक्वावस्था रस कहलाती है। इसी रस को उज्ज्वलरस की संज्ञा दी गई है जिसका विवेचन आगे किया जायगा।

राधा की आठ सखियाँ—ललिता, विशाखा, सुमित्रा, चंपकलता, रंगदेवी, सुंदरी, तुंगदेवी और इंदुरेखा हैं। भगवान् इन गोपियों के मध्य विराजमान राधा के साथ रासलीला किया करते हैं। ये गोपियाँ राधा-कृष्ण की केलि देख कर प्रसन्न होती हैं। दार्शनिक इन्हीं सखियों को अष्टदल मानते हैं।

रासलीला के दार्शनिक विवेचन के प्रसंग में महाभाव का माहात्म्य सबसे अधिक माना जाता है। यह स्थिति एक मात्र रसिकेश्वरी राधा में पाई जाती है।

महाभाव

भाव-सिद्धि होने पर भक्त की प्रवृत्ति अंतर्मुखी हो जाती है। वह अपने अंतःकरण में अष्टदल कमल का साक्षात्कार करता है। एक एक दल (कमलदल) को एक एक भाव का प्रतीक मानकर वह कर्णिका में महाभाव की स्थिति प्राप्त करता है। 'साधक का चरम लक्ष्य है महाभाव की प्राप्ति और इसके लिए आठों भावों में प्रत्येक भाव को क्रमशः एक एक करके उसे जगाना पड़ता है, नहीं तो कोई भी भाव अपने चरमविकास की अवस्था तक प्रस्फुटित नहीं किया जा सकता। विभिन्न अष्टभावों का समष्टि रूप ही 'महाभाव' होता है[1]।'

कविराज गोपीनाथ जी का कथन है—'अष्टदल की कर्णिका के रूप में जो बिंदु है, वही अष्टदल का सार है। इसी का दूसरा नाम 'महाभाव' है। वस्तुतः अष्टदल महाभाव का ही अष्टविध विभक्त स्वरूप मात्र है...महाभाव का स्वरूप ही इन अष्टभावों की समष्टि है[2]।'

१—पं० बलदेव उपाध्याय—भागवत संप्रदाय पृ० ६४५

२—भक्ति रहस्य पृ० ४४६

राधिका की आठ सखियों में से एक एक सखी एक एक दल पर स्थित भाव का प्रतीक बनकर आती है। कर्णिका में स्थित विंदु महाभाव का प्रतीक होकर राधा का प्रतिनिधित्व करता है। भगवान् तो आनंद के प्रतीक हैं और राधा प्रेम की मूर्त्ति। प्रेम और आनंद का अन्योन्याश्रय संबंध होने से एक दूसरे के बिना व्याकुल और अपूर्ण हैं। पुरुष रूपी कृष्ण आराध्य हैं, प्रकृति रूपी राधा आराधिका। कहा जाता है—

> भावेर परमकाष्ठा नाम महाभाव।
> महाभावस्वरूपा श्री राधा ठकुरानी।
> सर्वगुण खानि कृष्ण कान्ता शिरोमनी।

भगवान् बुद्ध ने हृदय की करुणा के विकास द्वारा प्राणी मात्र से मैत्री का संदेश सुनाया था किंतु प्रेमाभक्ति के उपासकों और श्रीमद्भागवत् ने क्रमशः साधु संग, भजनक्रिया, अनर्थ निवृत्ति, निष्ठा, रुचि, आसक्ति भाव की सहायता से हृद्गत् श्रद्धा को कृष्ण प्रेम की परिपूर्णता तक पहुँचाने का मार्ग बताया है। भक्त कवियों और आचार्यों ने भक्तिभाव को भाव तक ही सीमित न रखकर रसदशा तक पहुँचाने का प्रयत्न किया है[1]। उस स्थिति में भजन का उसका ऐसा स्वभाव बन जाता है जिससे सर्वभूतहित का भाव उसमें अनायास आ जाता है[2]।

आचार्यों ने महाभाव का अधिकारी एक मात्र राधा को माना है। उस महामाया की अचिंत्य शक्ति है। उसका विवेचन कौन कर सकता है? भगवान् कृष्ण जिसकी प्रसन्नता के लिए रासलीला करें उसके मनोभाव (महाभाव) का क्या वर्णन किया जाय। योगमाया का उल्लेख करते हुए एक आचार्य कहते हैं—

'युज्यते इति योगा सदा संश्लिष्टरूपा या वृषभानुनंदिनी तस्यां या माया कृपा तामाश्रित्य रन्तुं मनश्चक्रे'—

स्वस्वरूपभूता वृषभानुनंदिनी (योगमाया) की प्रसन्नता के लिए रमण करने को मन किया। अतः इस महामाया का महाभाव अचिन्त्य और अवर्णनीय है। उसका अधिकारी और कोई नहीं।

१—माधुर्य रस का विवेचक काव्य सौष्ठव के प्रसंग में किया जायगा।
२—मधुसूदन सरस्वती।

काम और प्रेम

भगवान् को सच्चिदानंद कहा जाता है। वास्तव में सत् और चित् में कोई अंतर नहीं है। जिसकी सत्ता होती है उसीका भान होता है और जिसका भान होता है उसकी सत्ता अवश्य होती है। सच्चित् के समान ही आनंद भी प्रपंच का कारण है। आनंद से ही सारे भूत उत्पन्न होते हैं, और उसी में विलीन भी हो जाते हैं।'[1]

आनंद दो प्रकार का माना जा सकता है—(१) जो आनंद किसी उत्तम वस्तु को आलंबन मानकर अभिव्यक्त होता है उसे प्रेम कहते हैं और जो बंधनकारी निकृष्ट पदार्थों के आलंबन से होता है उसे काम या मोह कहा जाता है।' मधुसूदन स्वामी इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

> भगवान् परमानन्द स्वरूपः स्वयमेव हि।
> मनोगतस्तदाकारो रसतामति पुष्कलाम् ॥

भगवान् स्वयं रसस्वरूप हैं। जिनका चित्त उस रस रूप में तन्मय हो जाता है वह रसमय बन जाता है। करपात्री जी ने रासलीला रहस्य में इसका विवेचन करते हुए शास्त्रीय पद्धति में लिखा है—

'प्रेमी के द्रुतचित्त पर अभिव्यक्त जो प्रेमास्पदावच्छिन्न चैतन्य है वही प्रेम कहलाता है। स्नेहादि एक अग्नि है। जिस प्रकार अग्नि का ताप पहुँचने पर लाक्षा पिघल जाता है उसी प्रकार स्नेहादि रूप अग्नि से भी प्रेमी का अंतःकरण द्रवीभूत हो जाता है। विष्णु आदि आलंबन सात्विक हैं, इसलिए जिस समय तदवच्छिन्न चैतन्य की द्रुतचित्त पर अभिव्यक्ति होती है तब उसे प्रेम कहा जाता है और जब नायिकावच्छिन्न चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है तो उसे 'काम' कहते हैं। प्रेम सुख और पुण्य स्वरूप है तथा काम दुःख और अपुण्य स्वरूप है।'

श्रीमद्भागवत् तथा उसके अनुवादों में गोपियों के कामाभिभूत होने का बारबार वर्णन आता है। इससे पाठक के मन में स्वभावतः भ्रम उत्पन्न हो जाता है कि काम से प्रेरित गोपियों का एकांत में अर्द्धरात्रि को कृष्ण से रमण किस प्रकार उचित सिद्ध किया जा सकता है। इसका उत्तर विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न शैलों में देने का प्रयास किया था। एकमत तो यह है कि 'रसो

१—'आनन्दाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।'

वै सः' के अनुसार ब्रह्मरस आनंद है जो सर्व विशेषण शून्य है। साक्षात्मन्मथ का भी मन्मथ है। वही श्री कृष्ण है। काम भी उसीका अंश है 'कामस्तु वासुदेवांशः।' अतः श्रीमद्भागवत् में काम वर्णन भगवान् कृष्ण की ही लीला का वर्णन है। उनके भक्तों में काम और रमण स्पृहा, भृति आदि शब्दों का प्रयोग उनके प्रेम के प्रबल वेग को बोधगम्य कराने के लिए किया गया है। वास्तव में गोपियों के निष्कपट प्रेम को काम और कृष्ण के आत्मरमण को रति कहा गया है।

"वस्तुतः श्रीकृष्णचंद्र के पदारविंद की नखमणि-चंद्रिका की एक रश्मि के माधुर्य का अनुभव करके कंदर्प का दर्प प्रशांत हो गया और उसे ऐसी दृढ़ भावना हुई कि मैं लक्ष - लक्ष जन्म कठिन तपस्या करके श्री व्रजांगना-भाव को प्राप्त कर श्री कृष्ण के पदारविंद की नखमणि-चंद्रिका का यथेष्ट सेवन करूँगा, फिर साक्षात् कृष्ण रस में निमग्न व्रजांगनाओं के सन्निधान में काम का क्या प्रभाव रह सकता था। यह भी एक आदर्श है। जिस प्रकार साधकों के लिए चित्रलिखित स्त्री को भी न देखना आदर्श है, उसी प्रकार जो बहुत उच्चकोटि के सिद्ध महात्मा हैं उनके लिए मानो यह चेतावनी है कि भाई, तुम अभिमान मत करना; जब तक तुम ऐसी परिस्थिति में भी अवि-चलित न रह सको तब तक अपने को सिद्ध मान कर मत बैठना।"[1]

पर स्मरण रखना होगा कि यह आदर्श कामुकों के योग्य नहीं। जिस प्रकार ऋषभ के समान सर्वकर्म-संन्यास का अधिकार प्रत्येक साधक को नहीं उसी प्रकार रासलीला का आदर्श कामुक के लिए नहीं। भगवान् श्री कृष्ण का आचरण अनुकरणीय तो हो नहीं सकता क्योंकि कोई भी व्यक्ति साधना के द्वारा उस स्थिति पर पहुँच नहीं सकता। श्री मद्भागवत् में इसकी अनुकृति को भी वर्जित किया गया है। यहाँ तक कि इसे सुनने का भी अधिकार उस व्यक्ति को नहीं दिया गया है जिसे 'छुटी भावना रास की' न प्राप्त हो गई हो। जिस व्यक्ति में कामविजय की तीव्र अभिलाषा उत्पन्न हो गई हो और भगवान् कृष्ण की अलौकिक बाललीलाओं के कारण जिनके मन में श्रद्धा-भक्ति का उदय हो गया हो उन्हें भगवान् की इस काम-विजय लीला से काम विजय में सहायता मिल सकती है। जिस प्रकार भगवान् की माया का वर्णन सुनने से मन माया-प्रपंच से विरक्त बनता है उसी प्रकार भगवान्

१—करपात्रीजी—श्री रासलीला रहस्य—पृ० २३०

पतंजलि के सूत्र 'वीतरागविषय[1] वा चित्तम्' के अनुसार कृष्ण की कामविजय लीला से मन काम पर विजय प्राप्त कर लेता है।

स्वकीया परकीया

रासलीला के विवेचन में स्वकीया और परकीया प्रेम की समस्या बार बार उठती रहती है। विभिन्न विद्वानों ने गोपी प्रेम को उक्त दोनों प्रकार के प्रेम के अंतर्गत रखने का प्रयास किया है। स्वकीया और परकीया शब्द लौकिक नायक के आलंबन के प्रयोग में जिस अर्थ की अभिव्यक्ति करता है वह कामजन्य प्रेम का परिचायक होता है। वास्तव में वैष्णव कवियों और आचार्यों ने लौकिक और पारलौकिक प्रेम का भेद करने के लिए काम और प्रेम शब्द को अलग अलग अर्थों में लिया है। जब लौकिक नायक को आलंबन मानकर स्वकीया और परकीया नायिका का वर्णन किया जाता है तो लोकमर्यादा और शास्त्राज्ञा के नियमों के अनुसार—परकीया में कामवेग का आधिक्य होते हुए भी—स्वकीया को विहित और परकीया को अवैध स्वीकार किया जाता है। वैष्णव कवियों ने अलौकिक पुरुष अर्थात् कृष्ण के आलंबन में इस क्रम का विपर्यय कर दिया है।

वहाँ परकीया और स्वकीया किसी में कामवासना नहीं होती। क्योंकि कामवासना की विद्यमानता में कृष्ण जैसे अलौकिक नायक के प्रति प्राणी का मन उन्मुख होना संभव नहीं। वैष्णवों में परकीया गोपांगना को अन्य पूर्विका अर्थात् अपने विहित कर्म (अर्थ) को त्याग कर अन्य में रुचि रखनेवाली ऋचा माना गया है। जो ऋचा अपने इष्टदेवता की अर्थ सीमा को त्यागकर ब्रह्म का आलिंगन करे वह अन्यपूर्विका कहलाती है। इसी प्रकार जो व्रजांगनाएँ अपने पति के अतिरिक्त कृष्ण (ब्रह्म) का आलिंगन करने में समर्थ होती हैं वे परकीया अर्थात् अन्य पूर्विका कहलाती हैं। जो व्रजांगनाएँ अपने पतिप्रेम तक ही संतुष्ट हैं लोकमर्यादा के भीतर रहकर कृष्ण की उपासना करती हैं वे भी मान्य हैं पर उनसे भी अधिक (आध्यात्मिक जगत में) वे गोपांगनाएँ पूज्य हैं जो सारी लोकमर्यादा का अतिक्रमण कर कृष्ण (ब्रह्म) प्रेम में रम जाती हैं।

पारलौकिक प्रेम के आस्वाद का अनुमान कराने के लिये लौकिक प्रेम का

१—अर्थात् विरक्त पुरुषों के विरक्त चित्त का चिंतन करनेवाला चित्त भी स्थिरता प्राप्त करता है।

उदाहरण संमुख रखना उचित समझा गया। जिस प्रकार समाधि सुख का अनुभव कराने के लिए उपनिषदों में कामरस की उपमा दी गई।

पारलौकिक प्रेम की प्रगाढ़ता स्पष्ट करने के लिए भी परकीया नायिका का उदाहरण उपयुक्त प्रतीत होता है। 'स्वकीया नायिका को नायक का सहवास सुलभ होता है, किंतु परकीया में स्नेह की अधिकता रहती है। कई प्रकार की लौकिक-वैदिक अड़चनों के कारण वह स्वतंत्रता पूर्वक अपने प्रियतम से नहीं मिल सकती, इसलिए उस व्यवधान के समय उसके हृदय में जो विरहाग्नि सुलगती रहती है उससे उसके प्रेम की निरंतर अभिवृद्धि होती रहती है। इसीलिए कुछ महानुभावों ने स्वकीया नायिकाओं में भी परकीयाभाव माना है, अर्थात् स्वकीया होने पर भी उसका प्रेम परकीया नायिकाओं का-सा था। वस्तुतः तो सभी व्रजांगनाएँ स्वकीया ही थीं, क्योंकि उनके परमपति भगवान् श्रीकृष्ण ही थे, परंतु उनमें से कई अन्य पुरुषों के साथ विवाहिता थीं और कई अविवाहिता।...इस प्रकार प्रेमोत्कर्ष के लिए ही भगवान् ने यह विलक्षण लीला की थी।'[1]

परकीया नायिका का प्रेम जारबुद्धि से उद्भूत माना जाता है। रास में जारभाव से भगवान् कृष्ण को प्राप्त करने का वर्णन मिलता है। यहाँ कवि को केवल प्रेम की अतिशयता दिखाना अभिप्रेत है। जिस प्रकार जार के प्रति स्वकीया नायिका की अपेक्षा परकीया में प्रेम का अधिक वेग होता है उसी प्रकार गोपांगनाओं के हृदय में पतिप्रेम की अपेक्षा कृष्ण प्रेम अधिक वेगवान् था। श्री मद्भागवत् में इसको स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

'जारबुद्ध्यापिसंगताः' अपि शब्द यह सूचित करता है कि सारे अनौचित्य के होते हुए भी कृष्ण भगवान् के दिव्य आलंबन से गोपांगनाओं का परम मंगल ही हुआ।

कामं क्रोधं भयं स्नेहं सौख्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो तन्मयतांलभते नरः॥

—श्रीमद्भागवत

काम, क्रोध, भय, स्नेह, सौख्य अथवा सुहृद भाव से जो नित्य भगवान् का स्मरण करता है उसे तन्मयता की स्थिति प्राप्त हो जाती है।

१—करपात्री—रासलीला रहस्य पृ० २९२

प्रश्न उठता है कि भगवान् कृष्ण में गोपाङ्गनाओं ने जार-बुद्धि क्यों की ? यदि उन्होंने भगवान् को सबका अंतर्यामी परमेश्वर माना तो पति-बुद्धि से उनसे प्रेम क्यों नहीं किया ? जारबुद्धि से किया हुआ सोपाधिक प्रेम तो कामवासनापूर्ति तक ही रहता है अतः गोपाङ्गनाओं को उचित था कि वे भगवान् को सर्वभूतांतरात्मा मानकर उनसे निरुपाधिक प्रेम करती। उन्होंने जारबुद्धि क्यों की ? इन प्रश्नों का उत्तर करपात्रीजी ने श्रीमद्भागवत् के 'जारबुद्ध्यापिसंगताः'[1] के अपि शब्द के द्वारा दिया है। उनका कथन है कि आलंबन कृष्ण के माहात्म्य का प्रभाव है कि गोपाङ्गनाओं के सभी अनौचित्य गुण बन गए। 'उस जार बुद्धि से यह गुण हो गया कि जिस प्रकार जार के प्रति परकीया नायिका का स्वकीया की अपेक्षा अधिक प्रेम होता है वैसे ही इन्हें भी भगवान् के प्रति अतिशय प्रेम हुआ। अतः इससे उपासकों को बड़ा आश्वासन मिलता है। इससे बहुत त्रुटि-पूर्ण होने पर भी उन्हें भगवत्कृपा की आशा बनी रहती है। और प्रेममार्ग में आशा बहुत बड़ा अवलंबन है, क्योंकि जीव आशा होने पर ही प्रयत्नशील हो सकता है। उस प्रकार भगवान् ने अन्यपूर्विका और अनन्य पूर्विका दोनों की प्रवृत्ति अपनी ओर ही दिखलाकर प्रेम-मार्ग को सबके लिए सुलभ कर दिया है।"

आचार्यों का मत है कि भगवान् ने यह रासलीला श्री राधिकाजी को प्रसन्न करने के लिए की। भगवान् के कार्य राधिकाजी के लिए और राधिका जी के कार्य भगवान् को प्रसन्न करने के लिए होते हैं। अन्य गोपांगनाएँ तो एक मात्र राधिकाजी की अंशांशभूता हैं। राधिकाजी के प्रसन्न होने से वे स्वतः प्रसन्न हो जाती हैं। इसी से गोपांगनाओं का भाव 'तत्सुख सुखित्व' भाव कहलाता है। ये गोपांगनाएँ स्वसुख की अभिलाषा नहीं करतीं। राधिका जी के सुख से इन्हें अंशांशी भाव के कारण स्वतः सुख प्राप्त हो जाता है।

रासलीला की उपासना पद्धति से यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि भक्त को भगवान् की कृपा प्राप्त करने के लिए श्री राधिकाजी को प्रसन्न करना होता है। क्योंकि भगवान् के सभी कार्य राधिकाजी की प्रसन्नता के लिए होते हैं। जिस कार्य से राधिकाजी को आनन्द मिलता है कृष्ण वही कार्य करते हैं। और राधिका जी को प्रसन्न करने के लिए गोपाङ्गनाओं की कृपा

१—करपात्रीजी—श्री भगवत्तत्त्व

वांछनीय हैं। क्योंकि राधिका जी सभी कार्य गोपाङ्गनाओं के आह्लाद के लिए करती हैं। गोपाङ्गनाओं की कृपाप्राप्ति गुरु कृपा से होती है। अतः मधुर भाव की उपासना में सर्वप्रथम गुरुकृपा अपेक्षणीय है। गुरु ही इस उपासना-पद्धति का रहस्य समझा सकता है। उसी के द्वारा गोपाङ्गना का परकीया भाव भक्त में उत्पन्न हो सकता है और नारी पति पुत्र, धन सम्पत्ति सब कुछ गुरु को अर्पित कर सकती है। गोपाङ्गना भाव की दृढ़ता होने से वे गोपाङ्गनाएँ प्रसन्न होती हैं और वे राधिका जी तक भक्त को पहुँचा देती हैं। अर्थात् राधिका के सदृश सत्यनिष्ठा भक्त में उत्पन्न हो जाती है। उस अवस्था में राधिका प्रसन्न हो जाती हैं और भगवान् कृष्ण भक्त को स्वीकार कर लेते हैं।

तात्पर्य यह है कि भगवान् में सत्यनिष्ठा सहज में नहीं बनती। तुलसी ने अपनी 'विनयपत्रिका' हनुमान के द्वारा लक्ष्मण के पास भेजी। लक्ष्मण ने सीताजी को दी और सीता ने राम को प्रसन्न मुद्रा की स्थिति में तुलसी की सुधि दिला दी। यह तो वैधी उपासना है। पर रागात्मिका में राधाभाव अथवा सखीभाव प्राप्त करने के लिए प्रथम लोक - मर्यादा त्याग कर सब कुछ आचार्य को अर्पण करना पड़ता है। विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं—

व्रजलीला परिकर्पत श्रृंगारादिभाव माधुर्यं श्रुते इदंममापि भूयादिति लोभोत्पत्तिकाले शास्त्रयुक्त्यपेक्षा न स्यात्।

राधा स्वकीया हैं या परकीया? यह प्रश्न सदा उठता रहता है। हिंदी के भक्त कवियों ने राधा को स्वकीया ही स्वीकार किया है, किंतु गौड़ीय वैष्णवों में राधा परकीया मानी जाती है। सूरदास प्रभृति हिंदी के भक्त कवि रास प्रारंभ होने के पूर्व राधा कृष्ण का गांधर्व[1] विवाह संपन्न करा देते हैं। हिंदी के भक्त कवि भी परकीया प्रेम की प्रगाढ़ता भक्ति क्षेत्र में लाने के लिए गोपांगनाओं में कतिपय को स्वकीया और शेष को परकीया[2] रूप से वर्णन करते हैं।

१—जाकों ब्यास बरनत रास।
है गधर्व विवाह चित्त दै सुनौ विविध बिलास॥
सू० सा० १०।१०७१ पृ० ६२६

२—कृष्ण तुष्टि करि कर्म करै जो आन प्रकारा।
फल बिभिचार न होइ, होइ सुख परम अपारा॥
नंददास (सिद्धांत पंचाध्यायी) पृ० १८६

कृष्ण कवियों के मन में भी वारवार परकीया प्रेम की स्वीकृति के विषय में प्रश्न उठा करता था। कृष्णदास, नंददास, सूरदास प्रभृति भक्तों ने वारवार इस तथ्य पर बल दिया है कि गोपांगनाओं का प्रेम कामजन्य नहीं। वह तो अध्यात्म प्रेरित होने से शुद्ध प्रेम की कोटि में आता है। प्राकृत जन अर्थात् भक्तिभाव से रहित व्यक्ति उसे नहीं जान सकते—

गरबादिक जे कहे काम के अंग आहिं ते।
सुद्ध प्रेम के अंग नाहिं जानहिं प्राकृत जे।

[नंददास]

नंददास ने एक मध्यम मार्ग पकड़ कर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि यद्यपि कृष्ण के रूपलावण्य पर मुग्ध हो गोपांगनाएँ काम से वशीभूत बनकर भगवान् के सान्निध्य में आई थीं किंतु आलंबन के माहात्म्य से कामरस शुद्ध प्रेमरस में परिवर्त्तित हो गया। सौराष्ट्र के भक्तों में मीरा और नरसी मेहता का भी यही मत जान पड़ता है[1]।

श्री कृष्ण की दृष्टि से तो सभी गोपियाँ अथवा गोपांगनाएँ स्वरूपभूता अंतरंगा शक्ति हैं। ऐसी स्थिति में जारभाव कहाँ! जहाँ काम को स्थान नहीं, किसी प्रकार का अंगसंग या भोगलालसा नहीं, वहाँ औपपत्य (जार) की कल्पना कैसे की जा सकती है! कुछ विचारकों का मत है कि 'गोपियाँ परकीया नहीं स्वकीया थीं; परंतु उनमें परकीया भाव था। परकीया होने में और परकीया भाव होने में आकाश-पाताल का अंतर है। परकीया भाव में तीन बातें बड़े महत्त्व की हैं—अपने प्रियतम का निरंतर चिंतन, मिलन की उत्कट उत्कंठा और दोष दृष्टि का सर्वथा अभाव। स्वकीयाभाव में निरंतर एक साथ रहने के कारण ये तीनों बातें गौण हो जाती हैं, परन्तु परकीयाभाव में ये तीनों भाव बने रहते हैं।'

स्वकीया की अपेक्षा चौथी विशेषता परकीया में यह है कि स्वकीया अपने पति से सकाम प्रेम करती है। वह पुत्र, कन्या और अपने भरण-पोषण की पति से आकांक्षा रखती है परंतु परकीया अपने प्रियतम से निःस्वार्थ प्रेम करती है। वह आत्म-समर्पण करके संतुष्ट हो जाती है। गोपियों में उक्त

---

१. It is only the married women who surrendered their all to him, who loved him for love's sake. Thoothi, V. G. Page 80

चारो भावों की उत्कृष्टता थी और वासना का कहीं लेश भी न था। ऐसी भक्ति को सर्वोत्तम माना गया। किंतु उत्तम से उत्तम सिद्धांत निकृष्ट व्यक्तियों के हाथों में सारी महत्ता खो बैठता है। गांधी जी के सत्याग्रह और अनशन सिद्धांत का आज कितना दुरुपयोग देखा जाता है। ठीक यही दशा मधुर भावना की हुई और अंत में स्वामी दयानंद को इसका विरोध करना पड़ा।

इस परकीया भाव की मधुर उपासना का परिणाम कालांतर में वही हुआ जिसकी भक्त कवियों को आशंका थी। गोस्वामी गुरुओं में जब वल्लभाचार्य या विट्ठलदास के सदृश तपोबल न रहा तो उन्होंने भक्तों की अंध श्रद्धा से अनुचित लाभ उठाया। जहाँ बुद्धि रूपी नायिका कृष्ण रूपी ब्रह्म को समर्पित की जाती थी वहाँ स्थिति और ही हो गई। एक विद्वान् लिखते हैं[1]—

"Instead of Krishna, the Maharajas are worshipped as living Krishna, to whom the devotee offers his body, mind and wealth as an indication of the complete self surrender to which he is prepared to render for the sake of his love for Krishna. In practice, therefore, such extreme theories did great harm to the moralitdy of some folks during the seventeenth and the eighteenth centuries. And in the middle of the nineteenth century a case in the High conrt of Bombay gave us a clue to the extent to which demoralization came about owing to such beliefs."

रास का अधिकारी पात्र

रास साहित्य का रहस्य समझने के लिए भगवान् के साथ क्रीड़ा में भाग लेनेवाली गोपियों की मनोदशा का मर्म समझना आवश्यक है। भगवान् को गोपियाँ अधिक प्रिय हैं अतः उन्होंने रास का अधिकारी और किसी को न समझ कर गोपियों के मन में वीणा से प्रेरणा उत्पन्न की। भगवान् को

1. Thoothi—The Vaishnavas of gujrat Page 86

मथुरा से अधिक गोकुल निवासी अंतरंग प्रतीत होते हैं। उनमें श्रीदामा आदि सखा अन्य मित्रों से अधिक प्रिय हैं। नित्यसखा श्रीदामा आदि से गोप गोपांगनाएँ अधिक अंतरंग हैं। गोपांगनाओं में भी ललिता-विशाखा आदि विशेष प्रिय हैं। उन सब में रासरसेश्वरी राधा का स्थान सर्वोच्च है। भगवान् ने रासलीला में भाग लेने का अधिकार केवल गोपांगनाओं को दिया और उनमें भी नायिका पद की अधिकारिणी तो श्री राधा ही बनाई गईं। गोपगण तो एक मात्र दर्शक रूप में रहे होंगे। वे दर्शक भी उस स्थिति में बने जब छठी भावना प्राप्त कर चुके।

'भगवान् कृष्ण ने तृणावर्त, वत्सासुर, बकासुर, अघासुर, प्रलंबासुर, आदि के वध, कालियनाग, दावानल आदि से व्रज की रक्षा, गोवर्धन-धारण आदि अनेक अतिमानवीय लीलाओं के द्वारा गोप-गोपियों के मन में यह विश्वास बिठा दिया था कि कृष्ण कोई पार्थिव पुरुष नहीं। वरुण-लोक से नंद की मुक्ति के द्वारा कृष्ण ने अपने भगवदैश्वर्य की पूर्ण स्थापना कर दी। अंत में भगवान् ने अपने योगबल से उन्हें अपने निर्विशेष स्वरूप का साक्षात्कार कराया और फिर वैकुंठ में ले जाकर अपने सगुण स्वरूप का भी दर्शन कराया।' इस प्रकार उन्होंने गोपों को रास-दर्शन का अधिकारी बनाया। यह अधिकार स्वरूप-साक्षात्कार के बिना संभव नहीं। आज कल व्रज में इसे छठी भावना कहते हैं—'छठी भावना रास की'। पाँचवीं भावना तक पहुँचते पहुँचते देह-सुधि भूल जाती है—'पाँचे भूले देह सुधि'। अर्थात् 'इस भावना में ब्रह्मस्थिति हो ही जाती है। ऐसी स्थिति हुए बिना पुरुष रास दर्शन का अधिकारी नहीं होता।' यह रास दर्शन केवल कृष्णावतार में ही उपलब्ध हुआ।

महारानी कुंती के शब्दों से भी यही ध्वनि निकलती है कि परमहंस, अमलात्मा मुनियों के लिए भक्तियोग का विधान करने को कृष्णावतार हुआ है—

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येमहि स्त्रियः॥

भगवान् की कृपा से गोप - गोपियों का मन प्राकृत पदार्थों से सर्वथा परांमुख होकर 'प्रकृति प्राकृति प्रपंचातीत परमतत्व में परिनिष्ठित' हो गया

था। परमहंस का यही लक्षण है कि उसकी दृष्टि में संपूर्ण दृश्य का बाध हो जाता है और केवल शुद्ध चेतन ही अवशिष्ट रह जाता है।

प्रश्न उठाया जा सकता है कि रासलीला के पूर्व जब गोप-गोपियाँ एवं गोपांगनाएँ परमहंस की स्थिति पर पहुँच गईं तो रासलीला का प्रयोजन क्या रहा? हंस के समान जो व्यक्ति आत्मा-अनात्मा, दृक्-दृश्य अथवा पुरुष-प्रकृति का विवेक कर सकता है वह परमहंस कहलाता है। जब व्रजवासियों को यह स्थिति प्राप्त हो गई थी तो रासलीला की आवश्यकता ही क्या थी? इसका उत्तर दुर्गासप्तशती के आधार पर इस प्रकार मिलता है—

तत्त्वज्ञानी हो जाने पर भी भगवती महामाया मोह की ओर ज्ञानी को बलात् आकृष्ट कर लेती है।[1] आचार्यों ने इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहा है कि "तत्त्वज्ञ लोग यद्यपि सजातीय, विजातीय एवं स्वगतभेद शून्य शुद्ध परब्रह्म का अनुभव करते हैं परंतु प्रारब्धशेष पर्यंत निरुपाधिक नहीं होते। यद्यपि उन्होंने देहेंद्रियादि का मिथ्यात्व निश्चय कर लिया है तथापि व्यवहार काल में इनकी सत्ता बनी ही रहती है।" इसी कारण तत्त्व-ज्ञान होने पर भी निरुपाधिक ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं होता, उसका अनुभव तो प्रारब्धक्षय के उपरांत उपाधि का नाश होने पर ही संभव है, किंतु भगवान् परमहंसों को प्रारब्ध क्षय से पूर्व ही निरुपाधिक ब्रह्म तक पहुँचाने के लिए "कोटिकाम कमनीय महामनोहर श्री कृष्ण मूर्ति में प्रादुर्भूत' हुए और निर्विशेष ब्रह्म-दर्शन की अपेक्षा अधिक आनंद देने और योगमाया के प्रहार से बचने के लिए अपना दिव्य रूप दिखाने लगे। जनक जैसे महात्मा को ऐसे ही परमानंद की स्थिति में पहुँचाने के लिए ये लीलाएँ हैं—राम को देखकर जनक कहते हैं—

इनहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा॥
सहज बिराग रूप मन मोरा। थकित होत जिमि चन्द्र चकोरा॥

रासलीला के योग्य अधिकारी सिद्ध परमहंसों को पूर्ण प्रशांति प्रदान कराने के लिये भगवान ने इस लीला की रचना की। उसका कारण यह है

१—ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति।

कि ब्रह्मतत्त्वज्ञों की भी उतनी प्रगाढ़ स्वारसिकी प्रवृत्ति नहीं होती जैसी विषयी पुरुषों की विषयों में होती है। 'इस स्वारसिकी प्रवृत्ति के तारतम्य से ही तत्त्वज्ञों की भूमिका का तारतम्य होता है। चतुर्थ, पंचम, षष्ठ और सप्तम भूमिकावाले तत्त्वज्ञों में केवल बाह्य विषयों से उपरत रहते हुए तत्त्वोन्मुख रहने में ही तारतम्य है। ज्ञान तो सबमें समान है। जितनी ही प्रयत्नशून्य स्वारसिकी भगवदुन्मुखता है उतनी ही उत्कृष्ट भूमिका होती है। जिनकी मनोवृत्ति अत्यंत कामुक की कामिनी-विषयक लालसा के समान ब्रह्म के प्रति अत्यंत स्वारसिकी होती है वे ही नारायण - परायण है।[1] वे उसकी अपेक्षा भिन्न भूमिकावाले जीवन्मुक्तों से उत्कृष्टतम हैं।

रास के नायक और नायिका

रासलीला के नायक हैं श्रीकृष्ण और रासेश्वरी हैं राधा। इन दोनों की लीलाओं ने रास - साहित्य के माध्यम से कोटि-कोटि भारतीय जनता को तत्त्वज्ञान सिखाने में अन्य किसी साहित्य से अधिक सफलता पाई है। मध्यकाल के भक्त कवियों ने समस्त भारत में उत्तर से दक्षिण तक श्री कृष्ण और राधा की प्रेमलीलाओं से भक्ति साहित्य को अनुप्राणित किया। अतः भक्ति विधायक उक्त दोनों तत्त्वों पर विचार करना आवश्यक है।

कृष्ण की ऐतिहासिकता का अनुसंधान हमारे विवेच्य विषय की सीमा से परे है अतः हम यहाँ उनके तात्त्विक विवेचन को ही लक्ष्य बनाकर विविध आचार्यों की व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे। भक्तिकाल के प्रायः सभी आचार्यों एवं कवियों ने श्री कृष्ण की आराधना सगुण ब्रह्म मानकर की। किंतु शंकर ब्रह्म को उस अर्थ में सगुण स्वीकार नहीं करते, जिस अर्थ में रामानुजादि परवर्ती आचार्यों ने निरूपित किया है। उनका तो कथन है कि श्रुतियों में जहाँ जहाँ सगुण ब्रह्म का वर्णन आया है, वह केवल व्यावहारिक दृष्टि से उपासना की सिद्धि के लिये है। अतः ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप निर्गुण ही है।

सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार के वर्णन मिलने पर भी समस्त विशेषण और विकल्पों से रहित निर्गुण स्वरूप ही स्वीकार करना चाहिए, सगुण नहीं।

---

१. मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥

क्योंकि उपनिषदों में जहाँ कहीं ब्रह्म का स्वरूप बतलाया गया है वहाँ अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय आदि निर्विशेष ही बतलाया गया है।'

अतश्चान्यतरलिङ्गपरिग्रहेऽपि समस्त विशेषरहितं निर्विकल्पकमेव ब्रह्म प्रतिपत्तव्यं न तद्विपरीतम्। सर्वत्र हि ब्रह्मस्वरूप प्रतिपादनपरेषुवाक्येषु 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' इत्येवमादिषु अपास्त समस्त विशेषमेव ब्रह्म उपदिश्यते।

(भाष्य ३।२।११)

रामानुजाचार्य ने शंकर के उक्त सिद्धांत से असहमति प्रकट की। उन्होंने ब्रह्म के निर्गुण रूप की अपेक्षा सगुण स्वरूप को अधिक श्रेयस्कर घोषित किया। उनका ब्रह्म सर्वेश्वर, सर्वाधार, सर्वशक्तिमान्, निखिल कारण कारण, अंतर्यामी, चिदचिद्विशिष्ट, निराकार, साकार, विभवव्यूह-अर्चा आदि के रूप में अवतार ग्रहण करनेवाले हैं। जहाँ भगवान् को 'निर्गुण' कहा गया है, वहाँ उनको दिव्य अप्राकृत गुणों से युक्त समझना चाहिए। जीव और जगत् उनके शरीर हैं, और उन दोनों से विशिष्ट ब्रह्म है।

'इस विषय में तत्त्व इस प्रकार है। ब्रह्म ही सदा 'सर्व' शब्द का वाच्य है, क्योंकि चित् और जड़ उसीके शरीर या प्रकारमात्र हैं। उसकी कभी कारणावस्था होती है और कभी कार्यावस्था। कारण अवस्था में वह सूक्ष्म दशापन्न होता है, नामरूपरहित जीव और जड़ उसका शरीर होता है। और कार्यावस्था में वह (ब्रह्म) स्थूलदशापन्न होता है, नामरूप के भेद के साथ विभिन्न जीव और जड़ उसके शरीर होते हैं। क्योंकि परब्रह्म से उसका कार्य जगत् भिन्न नहीं है।'

अत्रेदं तत्त्वं चिदचिद् वस्तुशरीरतया तत्प्रकारं ब्रह्मैव सर्वदा सर्वशब्दा-भिधेयम्। तत् कदाचित् स्वस्मात् स्वशरीरतयापि पृथग् व्यपदेशानर्हसूक्ष्म-दशापन्न चिदचिद् वस्तुशरीरं तत्कारणावस्थं ब्रह्म। कदाचिच्च विभक्त नाम-रूप व्यवहारार्ह स्थूल दशापन्न चिदचिद् वस्तु शरीरं तच्च कार्यावस्थमिति कारणात् परस्माद् ब्रह्मणः कार्यरूपं जगदनन्यत्।

(श्रीभाष्य २।१।१५)

इस प्रकार रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत की स्थापना की। इसी संप्रदाय में कालांतर में रामभक्त कवियों की अमरवाणी से कृष्ण की लीलाओं का भी

ज्ञान हुआ। तुलसी जैसे मर्यादावादी ने भी रासरमण करनेवाली गोपियों की प्रशंसा करते हुए कहा—

'बलि गुरु तज्यो कंत ब्रज बनितनि भये सब मंगलकारी।'

रासरमण में भाग लेनेवाली गोपियों ने अपने भौतिक पतियों को त्यागकर अनुचित नहीं किया अपितु अपने जीवन को मंगलकारी बना लिया।

द्वैत संप्रदाय के प्रवर्तक मध्वाचार्य रामानुज के इस मत का विरोध करते हैं कि ईश्वर ही जगत् रूप में परिणत हो जाता है। उनका कथन है कि जगत् और भगवान् में सतत पार्थक्य विद्यमान रहता है। 'भगवान् नियामक हैं और जगत नियम्य। भला नियामक और नियम्य एक किस प्रकार हो सकते हैं। रामानुज से मध्व का भेद जीव और जगत् के संबंध में भी दिखाई पड़ता है। रामानुज जीव और जगत् में ब्रह्म से विजातीय और स्वजातीय भेद नहीं केवल स्वगतभेद मानते हैं। मध्व जीव और ब्रह्म को एक दूसरे से सर्वथा पृथक् मानते हैं। वे दोनों का एक ही संबंध मानते हैं, वह है सेव्य सेवक भाव का। मध्व ने श्रीकृष्ण को ब्रह्म का साक्षात् स्वरूप और गोपियों को सेविका मानकर लीलाओं का रहस्योद्घाटन किया है।

निंबार्क ने मध्व का मत स्वीकार नहीं किया। उन्होंने ब्रह्म और जीव में भिन्नाभिन्न संबंध स्थापित किया। वे ब्रह्म को ही जगत् का उपादान एवं निमित्त कारण मानकर जीव और जगत् दोनों को ब्रह्म का परिणाम बताते हैं।

जगत् गुण है और ब्रह्म गुणी। गुणी और गुण में कोई भेद नहीं होता, और गुणी गुण से परे होता है। ब्रह्म सगुण और निर्गुण दोनों ही है। इन दोनों का विरोध केवल शाब्दिक है, वास्तविक नहीं। गुणी कहने पर भी गुणातीत का बोध हो जाता है। ब्रह्म का स्वरूप अचिंत्य, अनंत, निरतिशय, आश्रय, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, सर्वेश्वर है। श्रीकृष्ण कोई अन्य तत्त्व नहीं वह ब्रह्म के ही नामांतर है।

राससाहित्य की प्रचुर रचना जिस संप्रदाय में हुई उसके प्रवर्त्तक श्री वल्लभाचार्य हैं जो कृष्ण को समस्त विरुद्ध धर्मों का अधिष्ठान मानते हैं।

वे (ब्रह्म) निर्गुण होने पर भी सगुण हैं, कारण होने पर भी कारण नहीं हैं, अगम्य होने पर भी सुगम हैं, सधर्मक होने पर भी निधर्मक हैं, निराकार होने पर भी साकार हैं, आत्माराम होने पर भी रमण हैं, उनमें माया भी नहीं है और सब कुछ है भी। उनमें कभी परिणाम नहीं होता और होता भी है।

वे अविकृत हैं, उनका परिणाम भी अविकृत है। वे शुद्ध सच्चिदानंद स्वरूप हैं। वे नित्य साकार हैं।

नित्य विहार-दर्शन में विश्वास करने वाले राधावल्लभ संप्रदाय के आचार्य हितहरिवंश के अनुयायियों ने सिद्धाद्वैत मत की स्थापना करने का प्रयास किया है। इस संप्रदाय की सैद्धांतिक व्याख्या करते हुए डा० स्नातक ने तर्क और प्रमाणों के बल पर यह सिद्ध किया है कि "जो अर्थ सिद्धाद्वैत शब्द से गृहीत होता है वह है : सिद्ध है अद्वैत जिसमें या जहाँ वह सिद्धद्वैव। अर्थात् राधावल्लभ संप्रदाय में राधा और कृष्ण का अद्वैत स्वतःसिद्ध है, उसे सिद्ध करने के लिये माया आदि कारणों के निराकरण की प्रक्रिया की आवश्यकता नहीं होती। यहाँ न तो शंकराचार्य के अभ्यास की प्रतीति है और न किसी मिथ्या आवरण से अज्ञान होता है। अतः सिद्धाद्वैत शब्द से नित्य सिद्ध अद्वैत स्थिति समझनी चाहिए। किंतु यह शब्द यदि इस अर्थ का द्योतक माना जाय तो राधाकृष्ण का अद्वैत स्वीकार किया जायगा या जीव और ब्रह्म का? साथ ही यदि अद्वैत है तो लीला में द्वित्व प्रतीति के लिये क्या समाधान प्रस्तुत किया जायगा? अतः इस शब्द को हम केवल अनुकरणात्मक ही समझते हैं।"

किंतु आज दिन वृंदावन में इस संप्रदाय के अनुयायियों की प्रगाढ़ श्रद्धा रासलीला में दिखाई पड़ती है और इस संप्रदाय के साधुओं ने रासलीला के उत्तम पदों की रचना भी की है। इसी कारण सिद्धाद्वैत के श्रीकृष्ण तत्व पर प्रकाश डालना उचित समझा गया।

विभिन्न आचार्यों के मत की समीक्षा करने पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि कृष्ण के विग्रह के विषय में सब में मतैक्य है। वास्तव में भगवान् में शरीर और शरीरी का भेद नहीं होता। जीव अपने शरीर से पृथक् होता है; शरीर उसका ग्रहण किया हुआ है और वह उसे छोड़ सकता है। परंतु भगवान् का शरीर जड़ नहीं; चिन्मय होता है। उसमें हेय-उपादेय का भेद नहीं होता, वह संपूर्णतः आत्मा ही है। शरीर की ही भाँति भगवान् के गुण भी आत्मस्वरूप ही होते हैं। इसका कारण यह है कि जीवों के गुण प्राकृत होते हैं; वे उनका त्याग कर सकते हैं। भगवान् के गुण निज स्वरूपभूत और अप्राकृत हैं, इसलिये वे उनका त्याग नहीं कर सकते। एक बात बड़ी विलक्षण है कि भगवान के शरीर और गुण जीवों की ही दृष्टि में

होते हैं, भगवान् की दृष्टि में नहीं। भगवान् तो निज स्वरूप में, समत्व में ही स्थित रहते हैं, क्योंकि वहाँ तो गुणगुणी का भेद है ही नहीं।

कृष्ण की रासलीला के संबंध में उनके वय का प्रश्न उठाया जाता है। कहा जाता है कि कृष्ण की उस समय दस वर्ष की अवस्था थी किंतु गोपियों के सामने पूर्ण युवा रूपमें वे दिखाई पड़ते थे। एक ही शरीर दो रूप कैसे धारण कर सकता है? इसका उत्तर कई प्रकार से दिया जा सकता है। तथ्य तो यह है कि ईसाई धर्म में भी इस प्रकार का प्रसङ्ग पाया जाता है। भक्त की अपनी भावना के अनुसार भगवान् का स्वरूप दिखाई पड़ता है। तुलसीदास भी कहते हैं—'जाकी रही भावना जैसी। हरि मूरति देखी तिन जैसी।"

चौदहवीं शती में जर्मनी में सुसो नामक एक भक्त ईसा मसीह को एक काल में दो स्थितियों में पाता था—

Suso, the German mystic, who flourished in the 14th Century, kissed the baby christ of his vision and uttered a cry of amazment that He who bears up the Heaven is so great and yet so small, so beautiful in Heaven and so child like in earth[1]

रहस्यवादियों का कथन है कि केवल बुद्धि बल से कृष्ण या ईसा की इस स्थिति की अनुभूति नहीं हो सकती। उसे सामान्य चैतन्य शक्ति की सीमाओं का उत्क्रमण कर ऐसे रहस्यमय लोक में पहुँचना होता है जहाँ का सौंदर्य सहसा उसे विस्मय विभोर कर देता है। वहाँ तो आत्मतत्त्व साक्षात् सामने आ जाता है। "It is the sublime which has manifested itself"—Lacordaire

रासेश्वरी राधा

मध्यकालीन राससाहित्य को सबसे अधिक जयदेव की राधा ने प्रभावित किया। जयदेव के राधातत्त्व का मूल स्रोत प्राचीन ब्रह्मवैवर्त्तपुराण को माना जाता है। गीतगोविंद का मंगलाचरण ब्रह्मवैवर्त्त की कथा से पूर्ण संगति रखता जान पड़ता है। कथा इस प्रकार है—

1—W. R. Inge (1913) Christian Mysticism P. 176

एक दिन शिशु कृष्ण को साथ लेकर नंद वृंदावन के भांडीरवन में गोचारण-हित गए। सहसा आकाश मेघाच्छन्न हो गया और वज्रपात की आशंका होने लगी। कृष्ण को अत्यंत भयभीत जानकर नन्द उन्हें किसी प्रकार भेजने को आकुल हो रहे थे कि किशोरी राधिका जी दिखाई पड़ीं। राधिका की अलौकिक मुख श्री देखकर विस्मय - विभोर नन्द कहने लगे— 'गर्ग ऋषि के मुख से हमने सुना है कि तुम पराप्रकृति हो। हे भद्रे, हमारे प्राणप्रिय पुत्र कृष्ण को गृह तक पहुँचा दो। राधा प्रसन्न मुद्रा से कृष्ण को अंक में लेकर गृह की ओर चलीं। मार्ग में क्या देखती हैं कि शिशु कृष्ण किशोर वय होकर कोटि कंदर्प कमनीय बन गए। राधा विस्मित होकर उन्हें निहार ही रही थी कि किशोर कृष्ण पूर्ण युवा[1] बन गए। अब राधिका का मन मदनातुर हो उठा। राधा की चित्त शांति के उपरांत कृष्ण पूर्ववत् शिशु बन गए। वर्षा से आर्द्र - वसना राधा रोरुद्यमान कृष्ण को क्रोड़ में लेकर यशोदा के पास पहुँची और बोली—

'गृहाण बालकं भद्रे ! स्तनं दत्वा प्रबोधय ?'

हे भद्रे, बालक को ग्रहण करो और अपना दूध पिला कर शांत करो। ब्रह्म-वैवर्त्त के इसी प्रसंग को लेकर जयदेव मंगलाचरण करते हुए कहते हैं[2]—

मेघ भरित अंबर अति श्यामल तरु तमाल की छाया,
कान्ह भीरु ले जा राधे ! गृह, व्याप्त रात की माया।
पा निर्देश यह नंद महर का हरि-राधा मदमाते,
यमुना-पुलिन के कुंज-कुंज से क्रीड़ा करते जाते।

वंकिमचंद ने ठीक ही कहा था कि 'वर्त्तमान आकारेर ब्रह्मपुरान जयदेवेर पूर्ववर्त्ती अर्थात् खृष्टीय एकादश शतकेर पूर्वगामी।' नवीन ब्रह्मवैवर्त्त से बहुत ही भिन्न है।

१—क्रोडं बालकशून्यञ्च दृष्ट्वा तं नवयौवनं।
सर्वस्मृति स्वरूपा सा तथापि विस्मयं ययौ॥

२—मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमै-
र्नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिमं राधे ! गृहं प्रापय।
इत्थं नन्दनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्वकुञ्जद्रुमं
राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहः केलयः॥ १॥
गीतगोविन्द

वंकिमचंद्र ने यह भी सिद्ध किया है कि वर्त्तमान युग में ब्रह्मवैवर्त्त पुराण जो प्रचलित है—जो पुराण जयदेव का अवलंबन था—वह प्राचीन ब्रह्मपुराण नहीं। वह एक प्रकार का अभिनव ग्रंथ है क्योंकि मत्स्य पुराण में ब्रह्मवैवर्त्त का जो परिचय है उसके साथ प्रचलित ब्रह्मपुराण की कोई संगति नहीं। मत्स्यपुराण में उल्लिखित ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में राधा रासेश्वरी हैं पर आलिंगन, कुचमर्दन आदि का उसमें वर्णन नहीं।[1]

इससे यह प्रमाणित होता है कि पुराणों में उत्तरोत्तर राधा-कृष्ण की रति क्रीड़ा का वर्णन अधिकाधिक श्रृंगारी रूप धारण करता गया। और जयदेव ने उसे और भी विकसित करके परवर्त्ती कवियों के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया।

राधा का उद्भव

साहित्य के अंतर्गत राधा का उद्भव रहस्यमयी घटना है। राधा को यदि जनमानस की सृष्टि कह कर लोक-परिधि के बाहर का तत्व स्वीकार कर लिया जाय तो भी यह प्रश्न बना रहेगा कि किस काल और किस आधार पर लोक मानस में इस तत्त्व के सृजन का संकल्प उठा। कतिपय आचार्यों का मत है कि सांख्य शास्त्र का पुरुषप्रकृतिवाद ही राधा-कृष्ण का मूल रूप है। 'पुरुष और प्रकृति के स्वरूप को विवृत करने के लिए कृष्ण पुरुष और राधा प्रकृति की कल्पना की गई।' इसका आधार ब्रह्मवैवर्त्त पुराण का यह उद्धरण है—'ममार्द्धस्वरूपात्वं मूलप्रकृतिरीश्वरी।'

कतिपय आचार्यों ने राधा का उद्भव तंत्र मत के आधार पर सिद्ध किया है। वे लोग शाक्तों की शक्ति देवी से राधा का उद्भव मानते हैं। शिव तथा शक्ति को कालांतर में राधा कृष्ण का रूप दिया गया[2]। इसी प्रकार सहजिया संप्रदाय से भी राधा-कृष्ण का संबंध जोड़ने का प्रयास किया जाता है। सहजिया संप्रदाय की विशेषता है कि वह लौकिक काम की भूमि पर

१—श्री हीरेन्द्रनाथ दत्त—रासलीला पृ० ८०

२—डा० शशिभूषण गुप्त ने 'श्री राधा का क्रम विकास' में एक स्थान पर लिखा है "राधावाद का बीज भारतीय सामान्य शक्तिवाद में है; वही सामान्य शक्तिवाद वैष्णव धर्म और दर्शन से भिन्न भिन्न प्रकार से युक्त होकर भिन्न भिन्न युगों और भिन्न भिन्न देशों में विचित्र परिणति को प्राप्त हुआ है। उसी क्रम परिणति की एक विशेष अभिव्यक्ति ही राधावाद है।'

श्री राधा का क्रमविकास पृष्ठ २

अलौकिक प्रेम की स्थापना करना चाहता है। इस संप्रदाय की साधन-क्रियायें कामलीला अर्थात् बाह्य शृंगार पर अवलंबित हैं। भोग कामना के प्राधान्य के कारण इसके अनुयायियों ने परकीया प्रेम को सर्व श्रेष्ठ माना।

सहजिया संप्रदाय ने स्त्री के चौरासी अंगुल के शरीर को ही ८४ कोस वाला व्रजमंडल घोषित किया।

राधा भाव के स्रोत का अनुसंधान करते हुए डा० दास गुप्त ने शक्ति तत्व से इसका उद्भव मानकर यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि शक्ति तत्व तो बीच की एक शृंखला है। वास्तव में इसका मूल स्रोत श्री सूक्त है। काश्मीर शैव दर्शन के आधार पर भी यह प्रमाणित किया जाता है कि राधातत्त्व शक्तितत्त्व का ही परवर्ती रूप है जो देश काल की अनुकूल परिस्थिति पाकर विकासोन्मुख बनता गया। शाक्तों में वामापूजा का बड़ा महत्त्व है। त्रिपुर सुंदरी की आराधना का यह सिद्धांत है कि स्त्रियों को ही नहीं अपितु पुरुषों को भी अपने आप को त्रिपुर सुंदरी ही मानकर साधना करनी चाहिए। संभवतः वैष्णवों में सखीभाव की धारणा इसी सिद्धांत का परिणाम हो। कविराज गोपीनाथ का तो यहाँ तक कहना है कि सूफियों के प्रेमदर्शन एवं वैष्णवों की प्रेमलक्षणा भक्ति का बीज इसी त्रिपुरसुंदरी की आराधना में निहित था।

हित हरिवंश, चैतन्य, वल्लभाचार्य और रामानंद के संप्रदायों में सखी भाव तथा राधाभाव की उपासना की पद्धति का मूलस्रोत श्री ए० बार्थ इसी शाक्त मत की सीमा के अंतर्गत मानते हैं। उनका कथन है—

Such moreover are the Radhaballabhis who date from the end of the sixteenth century and worship krishna, so far as he is the lover of Radha and the Sakhi bhavas those who identify themselves with the friend, that is to say with Radha who have adopted the costume, manners and occupations of woman. These last two sects are in reality Vaishnavite Shakts among whom we must also rank a great many individuals and even

entire communities of the Chaitanya, the Vallabha-charya and Ramanandis.[1]

कविराज गोपीनाथ[2] जी ने शाक्त सिद्धांत का स्वरूप और उसका प्रभाव दिखाते हुए कहा है—"तीन मार्ग ही त्रिविध उपास्य स्वरूप हैं। क्रमशः आणवोपाय, संभवोपाय और शक्तोपाय के साथ इनका कुछ अंश में सादृश्य जान पड़ता है। दूसरा सिद्धांत भारत में बहुत दिनों का परिचित मत है। इस मत से भगवान् सौंदर्य स्वरूप और चिर सुंदर हैं। आनंदस्वरूप आनंदमय हैं। सूफी लोग नरस्वरूप में इनकी पराकाष्ठा देख पाते हैं। जिन लोगों ने सूफी लोगों की काव्य ग्रंथमाला का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया है, वे जानते हैं कि सूफी सुंदर नरमूर्ति की उपासना, ध्यान और सेवा करना ही परमानंद प्राप्ति का साधन मानतें हैं। इतना ही नहीं, वे कहते हैं कि मूर्त किशोरावस्था ही तो रस स्फूर्ति में सहायक होती है। किसी के मत में पुरुषमूर्ति श्रेष्ठ है तो किसी के मत में रमणी मूर्ति श्रेष्ठ है। परंतु सूफी लोग कहते हैं कि इस वस्तु में पुरुष प्रकृति भेद नहीं है। वह अभेद तत्त्व है। यहीं क्यों, उनके गजल रूवाइयात, मसनवी आदि में जो वर्णन मिलता है उससे किशोर वयस्क पुरुष किंवा किशोर वयस्क स्त्री के प्रसंग का निर्णय नहीं किया जा सकता +++। आगम भी क्या ठीक बात नहीं कहते? नटनानंद या चिद्वल्ली या काम कला की टीका में कहते हैं कि जिस प्रकार कोई अति सुंदर राजा अपने सामने दर्पण में अपने ही प्रतिबिंब को देखकर उस प्रतिबिंब को 'मैं' समझता है परमेश्वर भी इसी प्रकार अपने ही अधीन आत्मशक्ति को देख 'मैं पूर्ण हूँ' इस प्रकार आत्मस्वरूप को जानते हैं। यही पूर्णअहंता है। इसी प्रकार परम शिव के संग से पराशक्ति का स्वांतस्थ प्रपंच उनसे निर्मित होता है। इसी का नाम विश्व है। सचमुच भगवान् अपने रूप को देखकर आप ही मुग्ध हैं। सौंदर्य का स्वभाव ही यही है। 'श्री चैतन्य चरितामृत' में आया है—

'सब हेरि आपनाए कृष्णे आगे चमत्कार आलिंगिते मने उसे काम।'

यह चमत्कार ही पूर्णअहंता चमत्कार है। काम या प्रेम इसी का प्रकाश

१—A. Barth the Hindu Religions of India, page 236

२—कविराज गोपीनाथ—कल्याण (शिवांक) काश्मीरीय शैव दर्शन के संबंध में कुछ बातें।

है। यही शिवशक्ति संमिलन का प्रयोजक और कार्यस्वरूप है—आदि रस या शृंगाररस है। विश्व सृष्टि के मूल में ही यह रस-तत्व प्रतिष्ठित है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में जो पैंतीस और छत्तीस तत्त्व अथवा शक्ति हैं—त्रिपुरा सिद्धांत में वही कामेश्वर और कामेश्वरी हैं। और गौड़ीय वैष्णव दर्शन में वही श्रीकृष्ण और राधा हैं। शिवशक्ति, कामेश्वर-कामेश्वरी, कृष्ण राधा एक और अभिन्न हैं। यही चरम वस्तु त्रिपुर मत में सुंदरी है। अथवा त्रिपुर सुंदरी है। + + +। 'सौंदर्य लहरी' के पंचक श्लोक और वामकेश्वर महातंत्र की 'चतुःशती' में भी यही बात कही गई है।

इस सुंदरी के उपासक इसकी उपासना चंद्ररूप में करते हैं। चंद्र की सोलह कलाएँ हैं। सभी कलाएँ नित्य हैं, इसलिये संमिलित भाव से इनका नित्य षोडशिका के नाम से वर्णन किया जाता है। पहली पंद्रह कलाओं का उदयअस्त होता रहता है। सोलहवीं का नहीं। वही अमृता नाम की चंद्रकला है। वैयाकरण इसी को पश्यन्ती कहते हैं। दर्शनशास्त्र में इसका पारिभाषिक नाम आस्था है। मंत्रशास्त्र में इसी को मंत्र या देवताओं का स्वरूप कहा गया है। + + +। इसी कारण उपासक के निकट सुंदरी नित्य षोडशवर्षीया रहती है। गौड़ीय संप्रदाय में भी ठीक यही बात कही गई है। वे कहते हैं कि श्रीकृष्ण नित्य षोडशवर्षीय नित किशोर हैं—

'नित्यं किशोर एवासौ भगवानन्तकान्तक।'

इस उद्धरण से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि काश्मीरीय शैवदर्शन की शक्तिपूजा को गौड़ीय संप्रदाय ने ग्रहण कर किया।

राधा को कृष्णवल्लभा निरूपित करनेवाले बृहद्गौतमीय तंत्र से भी उक्तमत प्रमाणित होता है—

'त्रितत्त्व रूपिणी सापि राधिका मम वल्लभा, प्रकृतेः परा इवाहं सापि मच्छक्तिरूपिणी, तयासार्धं त्वया न सार्यं देवता ह्यहाम्'

राधिका का माहात्म्य यहाँ तक स्पृहणीय बना कि उनमें कृष्ण की आह्लादिनी, संधिनी, ज्ञान, इच्छा, क्रिया आदि अनेक शक्तियों का समावेश सिद्ध करने के लिए एक नए ग्रंथ राधिकोपनिषद् की रचना की गई। इस उपनिषद् का मत है कि कृष्ण की विविध शक्तियों में से आह्लादिनी शक्ति राधा को अत्यंत प्रिय है। कृष्ण को यह शक्ति इतनी प्रिय है कि वे राधा की इसी कारण आराधना करते हैं। और राधा इनकी आराधना करती है।

राधाकृष्ण की लीलाओं को शिलाओं पर उत्कीर्ण करने का प्रथम प्रयास चौथी शताब्दी के मंदसौर के मंदिरों में हुआ। इस मंदिर के दो स्तंभों पर गोवर्धन लीला के चित्र उत्कीर्ण है। इसके अतिरिक्त शिला लेखों पर राधा माखनलीला, शकटासुर लीला, धेनुक लीला, कालीय नागलीला के भी दृश्य विद्यमान है। इन लीलाओं में राधिका की कोई विशेष उल्लेखनीय घटना नहीं दिखाई पड़ती। डा० सुनीतिकुमार का मत है कि पहाड़पुर (बंगाल) से प्राप्त एक मूर्त्ति पर राधा का चित्र एक गोपी के रूप में उत्कीर्ण है। यह मूर्त्ति पाँचवीं शताब्दी में निर्मित हुई थी। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पाँचवीं शताब्दी तक राधा साहित्य तक ही नहीं, अन्य ललित कलाओं के लिए भी ग्राह्य बन गई थी।

काव्य-साहित्य के अंतर्गत सर्वप्रथम आर्यासप्तशती में राधा का वृत्तांत पाया गया। यह ग्रंथ ईसा की प्रथम अथवा चतुर्थ शताब्दी में विरचित हुआ। इस ग्रंथ में राधा का स्वरूप अस्पष्ट रूप से कुछ इस प्रकार है—

'तुमने (कृष्ण ने) अपने मुख के श्वास से राधिका के कपोल पर लगे हुए धूलिकणों को दूरकरके अन्य गोपियों के महत्त्व को न्यून कर दिया है।''[1] मूल पाठ इस प्रकार है—

'मुहमारुएण तं कह्ण गोरअं राहिआएँ अवणेन्तो।
एताणं बलवीणं अण्णाणं वि गोरअं हरसि॥'

यदि इसे प्रक्षिप्त न माना जाए और गाहासत्तसई की रचना चौथी शताब्दी की मानी जाए तो न्यूनाधिक दो सहस्र वर्ष से भारतीय साहित्य को प्रभावित करनेवाली राधा का अक्षुण्ण महत्त्व स्वीकार करना पड़ेगा।

गाथा सतसई, दशरूपक, वेणीसंहार, ध्वन्यालोक, नलचंपू (दसवीं शताब्दी) शिशुपालवध की वल्लभदेव कृत टीका, सरस्वती कंठाभरण से होते हुए राधा का रूप गीतगोविंद में आकर निखर उठा। यही परंपरागत राधा

---

१ गाहासत्तसई १।२६

गाय के खुर से उड़ाई हुई धूल राधा के मुखपर छाई हुई है। कृष्ण उसे फूँककर उड़ाने के बहाने मुँह सटाये हुए हैं। (कवि का कलात्मक इंगित चुंबन की ओर है।) जिस सुख का अनुभव दूसरी गोपियाँ न कर सकने के कारण अपने को अधन्य समझ सकती हैं।

हमारे रास साहित्य के केंद्र में विद्यमान है। माधुर्य-भक्ति और उज्ज्वल रस की स्थापना का यही आधार है।

प्रायः रास पंचाध्यायी रास साहित्य का आदि स्रोत माना जाता है। किंतु मूल श्रीमद्भागवत् के रास पंचाध्यायी में राधा का नाम स्पष्ट रूप से नहीं दिखाई पड़ता। मध्यकालीन वैष्णव भक्तों ने

भागवत और राधा

श्री मद्भागवत् की टीका करते हुए राधा का अनुसंधान कर डाला है। श्री सनातन गोस्वामी ने अपनी 'वैष्णव तोषिणी टीका' में 'अनयाराधितो'[1] पद का अर्थ करते हुए विशिष्ट गोपी को राधा की संज्ञा दी है। उस विशिष्ट गोपी को कृष्ण एकांत में अपने साथ ले गए थे। उसने समझा कि 'मैं ही सब गोपियों में श्रेष्ठ हूँ। इसीलिए तो हमारे प्यारे श्रीकृष्ण दूसरी गोपियों को छोड़कर, जो उन्हें इतना चाहती हैं, केवल मेरा ही मान करते हैं। मुझे ही आदर दे रहे हैं।'

विश्वनाथ चक्रवर्ती एवं कृष्णदास कविराज ने भी सनातन गोस्वामी के मत का अनुसरण किया है और भागवत् में राधा की उपस्थिति मानी है। पश्चिम के विद्वान् फर्कुहर ने भागवत् के इस अर्थ की पुष्टि की है किंतु प्रो० विल्सन और मौनियरविलियम्स ने इसका विरोध किया है। फर्कुहर राधा भक्ति का आरंभ भागवत् पुराण से मानते हैं किंतु प्रो० विल्सन इसे अन्तिम ब्रह्म वैवर्त्त की सूझ समझते हैं। मौनियर विलियम्स का मत है—

"Krishna and Radha, as typical of the longing of the human soul for union with the divine."

राधिका के संबंध में विभिन्न मत उपस्थित किए जाते हैं। कुछ लोगों का मत है कि नारद पांचरात्र में जिस राधिका का वर्णन मिलता है वही राधा है। राधिका का अर्थ है साधना करने वाली[2]।

The Indians were always ready to associate new ideas with, or to creat new 'personalizations' of ideas to those forms or concepts with which

---

१—अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतोयामनयद्रहः॥

भागवत पुराण १०, ३०, २८

२—अदिति देवकी, वेदकी साधन् (सफलता, समृद्धि) राधिका, लक्ष्मी सीता हैं।

they were, at a given moment, already familiar. Taking into account their belief in the continuation of life and in ever recurring earthly existence it was only natural that all those defenders of mankind and conquerors of the wicked and evil powers were considered to be essentially identical. And also that their consorts and female complements were reincarnations of the same divine power.

J. Gonda-Aspects of Early Visnuism, Page 162

रास की प्रतीकात्मक व्याख्या

विभिन्न आचार्यों ने रास की प्रतीकात्मक रूप में व्याख्या की है। आधुनिककाल में बंकिमचंद ने इस पर विस्तार के साथ विचार किया है। उन्होंने अपने कृष्ण चरित्र के रास प्रकरण में इस पर आधुनिक ढंग से प्रकाश डाला है। प्राचीन काल में भी आचार्यों ने इसका प्रतीकात्मक अर्थ निकाला है।

अथर्ववेद का एक उनिषत् कृष्णोपनिषत् नाम से उपलब्ध है जिसमें परमात्मा की सर्वांगीण विशेषताओं का उल्लेख करते हुए कृष्ण जीवन की शृंगार मयी घटनाओं का औचित्य प्रमाणित किया गया है। कहा जाता है कि रामावतार में राम के अनुपम सौंदर्य से 'मुनिगण' मोहित हो गए।

राम से मुनि-समुदाय निवेदन करता है—

प्रभु, आपके इस सुंदर रूप का आलिंगन हम अपने नारी शरीर में करना चाहते हैं। हम रासलीला में आप परमेश्वर के साथ उन्मुक्त क्रीड़ा करने के अभिलाषी हैं। आप कृपया ऐसा अवतार धारण करें कि हमारी अभिलाषायें पूर्ण हों। भगवान् राम ने उन्हें आश्वस्त[1] किया और कृष्णावतार में उनकी इच्छा पूर्ति का वचन दिया। कालांतर में भगवान् ने

---

१ रुद्रादीनां वचः श्रुत्वा प्रोवाच भगवान् स्वयम्।
अंग संग करिष्यामि भवद्वाक्यं करोम्यहम्।
यो रामः कृष्णतामेत्य सार्वात्म्यं प्राप्य लीलया।
अतोषयद्देवमौनिपटलं तं नतोऽस्म्यहम्॥

अपनी समस्त सौंदर्य और शक्ति के साथ कृष्ण रूप में अवतरित होने के के लिए परमानंद, ब्रह्मविद्या को यशोदा, विष्णु माया को नंद पुत्री, ब्रह्म पुत्री को देवकी, निगम को वसुदेव, वेद ऋचाओं को गोप गोपियाँ, कमलासन को लकुट, रुद्र को मुरली, इंद्र को शृंग, पाप को अघासुर, वैकुंठ को गोकुल, संत महात्माओं को लताद्रुम, लोभ क्रोधादि को दैत्य, शेषनाग को बलराम बनाकर पृथ्वी पर भेजा। और ब्रजमंडल को कल्मषों से सर्वथा मुक्त कर दिया।

स्वेच्छा से मायाविग्रहधारी साक्षात् हरि गोप रूप में आविर्भूत हुए। उनके साथ ही वेद और उपनिषद् की ऋचाएँ १६१०८ गोपियों के रूप में अवतरित हुईं।

वे गोपियाँ ब्रह्मरूप वेद की ऋचायें ही हैं, इस तथ्य पर इस उपनिषद् में बड़ा बल दिया गया है। द्वेष ने चाणूर का, मत्सर ने मल्ल का, जय ने मुष्टि का, दर्प ने कुवलय पीड का, गर्व ने वक का, दया ने रोहिणी का, धरती माता ने सत्यभामा का, महाव्याधि ने अघासुर का, कलि ने राजा कंस का, राम ने मित्र सुदामा का, सत्य ने अक्रूर का, दम ने उद्धव का, विष्णु ने शंख (पांच जन्य का) का रूप धारण किया। बालकृष्ण ने गोपी गृह में उसी प्रकार क्रीड़ा की जिस प्रकार वे श्वेतद्वीप से सुशोभित क्षीरमहासागर में करते थे।

भगवान् हरि की सेवा के लिए वायु ने चमर का, अग्नि ने तेज का, महेश्वर ने खड्ग का, कश्यप ने उलूख का, अदिति ने रज्जु का, सिद्धि और विंदु (सहस्रारस्थि) ने शंख और चक्र का, कालिका ने गदा का, माया ने शार्ङ्ग धनुष का, शरत्काल ने भोजन का, गरुड़ ने वट भांडीर का, नारद ने सुदामा का, भक्ति ने वृंदा (राधा) का, बुद्धि ने क्रिया का रूप धारण कर लिया। यह नवीन सृष्टि भगवान् से न तो भिन्न थी न अभिन्न, न भिन्नाभिन्न; भगवान् इनमें रहते हुए भी इनसे भिन्न हैं।

इस दृष्टि से कृष्ण और गोपियों का रास जीवात्मा और परमात्मा का मिलन है जिसका उल्लेख पूर्व किया जा चुका है। कुछ लोग सांख्यवादियों की चितिशक्ति को ही भगवान् कृष्ण मानते हैं।[1] यह संपूर्ण प्रकृति

१—क्षणपरिणामिनो हि भावा ऋते चिति शक्तेः।

चिद्रूप श्रीकृष्ण के ही चारो ओर घूम रही है। ब्रह्मांड का गतिशीलभाव प्रकृति देवी का नृत्य अर्थात् राधा कृष्ण का नित्य रास है। "यदि आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करें तो हमारे शरीर में भी भगवान् की यह नित्यलीला हो रही है। हमारा प्रत्येक अंग गतिशील है। हाथ, पाँव, जिह्वा, मन, प्राण सभी नृत्य कर रहे हैं। सब का आश्रय और आराध्य केवल शुद्ध चेतना ही है। यह सारा नृत्य उसी की प्रसन्नता के लिए है, और वही नित्य एकरस रहकर इन सबकी गतिविधि का निरीक्षण करता है। जब तक इनके बीच में वह चैतन्य रूप कृष्ण अभिव्यक्त रहता है तब तक तो यह रास रसमय है, किंतु उसका तिरोभाव होते ही यह विषमय हो जाता है। इसी प्रकार गोपांगनाएँ भी भगवान् के अंतर्हित हो जाने पर व्याकुल हो गईं थी। अतः इस संसार रूप रास क्रीड़ा में भी जिन महाभागों को परमानंद श्री व्रजचंद्र की अनुभूति होती रहती है उनके लिए तो यह आनंदमय है।"[1]

इसी प्रकार का अध्यात्म-परक अर्थ सर्वप्रथम श्रीधर स्वामीने किया और रासलीला का माहात्म्य वेदांतियों को भी स्वीकृत हुआ।

रासलीला की व्याख्या करते हुए विद्वान् आलोचक लिखते हैं[2]—

"The Classical case is of course the symbolism of the sports and dalliances of Radha and Krishna which is probably the greatest spiritual allegary of the world but which in later-times and as handled by erotic writers—even Vidyapati and Krishnadas Kaviraj are not free from this taint becomes a mass of undiluted sexuality.

अर्थात् राधाकृष्ण की रासलीला संसार की आध्यात्मिकता का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। किंतु कालांतर में कवियों के हाथों से इस लीला के आधार पर अनेक कुचेष्टापूर्ण रचनाएँ हुईं।

आधुनिक काल में रासलीला की अध्यात्मपरक व्याख्या करते हुए अनेक ग्रंथ हिंदी, बँगला और गुजराती में लिखे गए हैं। हमने अपने ग्रंथ 'हिंदी नाटकः उद्भव और विकास' में इसका विस्तार के साथ विवेचन किया है।

१—करपात्री—भगवत्तत्व—पृ० ५८८-५८६

२ श्री हीरेन्द्रनाथ दत्त—रासलीला-पृ० ११४

दसवीं शताब्दी में प्रचलित विविध साधना-पद्धति के विवरण से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाला जा सकता है:—

उपसंहार

(१) देश वैदिक और अवैदिक दो धार्मिक परंपराओं में विभक्त था। संस्कृतज्ञ जनता शास्त्रीयता की दोहाई दे रही थी किंतु निम्नवर्ग शास्त्रों का खुल्लमखुल्ला विरोध कर रहा था।

(२) धर्म का सामूहिक जीवन छिन्नभिन्न हो गया था, और साधना समष्टि से हटकर व्यष्टिमुखी हो गई थी।

(३) मूर्तिकला साहित्य और समाज में सर्वत्र काम का साम्राज्य फैल गया था।

(४) दक्षिण भारत में निम्न कहलानेवाले आलवार साधना का नया मार्ग निकाल चुके थे और नाथमुनि जैसे आचार्य ने उनका विधिवत् विवेचन करके वैष्णव धर्म की नवीन व्याख्या उपस्थित कर दी थी। प्रपत्तिवाद का नया सिद्धांत जिसमें भगवान् को सर्वस्व समर्पण करने की तीव्र भावना पाई जाती है, लोगों के सामने आ चुका था। आचार्य नाथमुनि ने भगवान् कृष्ण की जन्मभूमि मथुरा की सपरिवार यात्रा की। और सन् ९१६ में यहीं उनके एक प्रपौत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम यामुन रखा गया। यही यामुन आगे चलकर रामानुज के श्री संप्रदाय के आदि प्रवर्तक हुए। अतः उत्तर भारत और दक्षिण भारत में वैष्णवधर्म के द्वारा ऐक्य स्थापित करने का श्रेय नाथमुनि को ही दिया जाता है। राय चौधरी ने लिखा है—

"He had infused fresh energy into the heart of Vaishnavism, and the sect of Srivaishnavas established by him was destined to have a chequered career in the annals of India."

—Early History of the Vaishnava sect—Page 113

(५) दक्षिण में नाथमुनि और आलवारों के द्वारा वैष्णव धर्म की स्थापना हो रही थी तो पूर्वी भारत में महायान नामक बुद्ध-संप्रदाय वज्रयान और सहजयान का रूप धारण कर सहजिया वैष्णव धर्म के रूप में विख्यात हो रहा था। सहजिया लोगों का विश्वास था कि गुरु युगनद्ध रूप है। उनका रूप मिथुनाकार है। गुरु उपाय और प्रज्ञा का समरस विग्रह है। "शून्यता

सर्वश्रेष्ठ ज्ञान का वाचक है। करुणा का अर्थ जीवों के उद्धार करने के लिए महती दया दिखलाना है। प्रज्ञा और उपाय का सामरस्य (परस्पर मिलन) ही निर्वाण है"।[१] "सच्चा गुरु वही हो सकता है जो रति (आनंद) के प्रभाव से शिष्य के हृदय में महासुख का विस्तार करे।"[२] वज्रयान के सिद्धांत के अनुसार शरीर एक वृक्ष है और चित्त अंकुर। जब चित्त रूपी अंकुर को विशुद्ध विषय रस के द्वारा सिक्त कर दिया जाता है तो वह कल्पवृक्ष बन जाता है। और तभी आकाश के समान निरंजन फल की प्राप्ति होती है।

"तनुतरचित्तांकुरको विषयरसैर्यदि न सिच्यते शुद्धैः।
गगनव्यापी फलदः कल्पतरुत्वं कथं लभते ॥

(६) तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी तक सूफी संप्रदाय सारे उत्तर भारत में फैल चुका था। सूफीफकीर अपने को खुदा का प्रिय मानते थे और खुदा की मैत्री का दावा करते थे। उनलोगों ने ईश्वर के साथ सखी भाव का संबंध स्थापित कर लिया था। हमारे देश के संतों पर उन मुसलमान फकीरों के प्रेम की व्यापकता का बड़ा प्रभाव पड़ा। जहाँ कट्टर शासक मुसलमान-जाति हिंदुओं की धार्मिक भावना का उपहास करती थी वहाँ ये फकीर हिंदुओं के देवताओं का प्रेम के कारण आदर करते। वे फकीर प्रेम के प्रचारक होने से हिंदुओं में संमान्य बने। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का कथन है कि "चैतन्य, रामानंद, कबीर, नानक, जायसी आदि उसी प्रेम प्रेरणा के प्रचारक और साधना के विधायक थे। वैष्णवों में सखी समाज की अनोखी भावना भी उसी का परिणाम थी।"[३]

(७) उत्तर भारत में जयदेव, माधवेंद्र पुरी, ईश्वरपुरी, विद्यापति, चैतन्य देव, षट् गोस्वामियों ने माधुर्य उपासना का शास्त्रीय विवेचन करके उज्ज्वल रस का अनाविल उपस्थापन प्रस्तुत किया। आसाम में शंकरदेव माधवदेव, गोपालअता ने पूर्वी भारत में वैष्णव नाटकों के अभिनय द्वारा राधाकृष्ण के पावन प्रेम की गंगा में जनता को अवगाहन कराया।

१—न प्रज्ञाकेवल मात्रेण बुद्धत्वं भवति, नाप्युपायमात्रेण। किन्तु यदि पुनः प्रज्ञोपायलक्षणौ समता स्वभावौ भवतः, एतौ द्वौ अभिन्न रूपौ भवतः तदा भुक्तिमुक्ति-र्भवति।

२—सद्गुरुः शिष्ये रतिस्वभावेन महासुखं तनोति।

३—हिंदी साहित्य का वृहद् इतिहास पृ० ७२५।

(८) ब्रज में वल्लभाचार्य, हित हरिवंश, अष्टछाप के भक्त कवियों ने इस उपासनापद्धति से विशाल जनसमूह को नवीन जीवन प्रदान किया। सूरदास प्रभृति हिंदी कवियों के रास-साहित्य से हिंदी जनता भली प्रकार परिचित है। अतः उसका विशेष उल्लेख व्यर्थ समझ कर छोड़ दिया गया है।

(९) महाराष्ट्र में ज्ञानेश्वर से पूर्व श्रीमद्भागवत् पुराण में आस्था रखने वाला एक महानुभाव नामक संप्रदाय मिलता है। मराठी भाषा में विरचित 'वत्सहरण' 'रुक्मिणी स्वयंवर' आदि ग्रंथ वैष्णव धर्म के परिचायक हैं। इनके अतिरिक्त महाराष्ट्र में वारकरी नामक वैष्णव धर्म प्रचलित हो रहा था, जिसका केंद्र पंढरपुर था, जहाँ रुक्मिणी की मूर्त्ति का बड़ा ही मान था। दोनों पंथों में श्रीमद्भागवत् को प्रमाण माना जाता था। श्रीचक्रधर को महानुभाव पंथी कृष्ण का अवतार मानते हैं।

(१०) महाराष्ट्र में समर्थरामदास जैसे महात्मा भी मनमोहन कृष्ण के प्रेमरंग में ऐसे रम जाते कि और सब नीरस दिखाई पड़ता।

माई रे मोरे नैन शाम सुरंग ॥
तरु तमाल······
खग मृग कीट पतंग।
गगन सघन धरती सु संग।
लीन दिखत मोहन रंग
रामदास प्रभु रंग लागा।
(और) सब भये विरंग[१] ॥

(११) आंध्र प्रदेश में तंजौर के महाराजा का 'राधावंशी विलास' नामक ऐसा दृश्य काव्य मिला है, जिसकी रचना सत्रहवीं शताब्दी में हुई। और तेलगू लिपि में ब्रजभाषा में भगवान् कृष्ण की शृंगारमय लीलाओं का वर्णन पाया जाता है। इस प्रकार माधुर्य उपासना का प्रभाव आंध्र के नाटकों पर भी दिखाई पड़ता है।

(१२) पंजाब में सिक्ख जैसी युद्धप्रिय जाति और गुरुगोविंद सिंह जैसे योद्धा महात्मा ने कृष्णावतार में रास का विस्तार पूर्वक काव्यमय वर्णन किया। गुरुमुखी लिपि में ब्रजभाषा की यह रचना अभी तक प्रकाश में नहीं

१—नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ६३ अंक १

आई थी। गुरु गोविंदसिंह व्रजभाषा के सफल कवि और देश के अग्रगराय नेता थे। उनकी रचना का गान पंजाब में अवश्य ही व्यापक रूप से होता रहा होगा। उनके रास के दो एक उदाहरण देखिए—

"जब आई है कातक की रुत सीतल कान्ह तबै अति ही रसिया।
सँग गोपिन खेल विचार कर्यो जु हुतो भगवान महा जसिआ॥
अपवित्रन लोगन के जिह के पग लागत पाप सवै नसिआ।
तिह को सुनि तीयन कै सँग खेल निवारहु काम इहै बसिआ॥
मुख जाहि निसापति कै सम है बन मै तिन गीत रिझ्यो अरु गायो।
तासुर को धुन स्त्रवनन मै ब्रिज हूँ की त्रिया सभ ही सुन पायो॥
धाइ चली हरि के मिलवे कहु तौ सभ के मन मै जब भायो।
कान्ह मनो म्रिगनी जुवती छलवे कहु घंटक हेर बनायो[1]॥"

(१३) हम पूर्व कह आए हैं कि उड़ीसा ने प्रेमाभक्ति के प्रचार में बड़ी सहायता दी। जगन्नाथ पुरी दीर्घकाल तक बौद्धों का केंद्र था किंतु सन् १००० ई० के उपरांत वहाँ पर वैष्णव धर्म का प्रचार बढ़ने गया। किंतु इससे पूर्व उत्कल महायान, वज्रयान और सहजयान आदि का गढ़ माना जाता था। आज मयूरभंज के नाना स्थानों पर बौद्ध देवता वज्रपाणि, आर्यतारा, अवलोकितेश्वर आदि के दर्शन होते हैं। किसी समय उत्कल सहजयान का प्रधान धर्म मानता था। कुछ विद्वान् तो जगन्नाथपुरी को वैष्णव और सहजयान के साथ-साथ शबर संस्कृति का भी केंद्र मानते हैं। ऐसा माना जाता है कि पुरी में भेदभाव बिना महाप्रसाद का ग्रहण शबर सभ्यता का द्योतक है। इतिहास से प्रमाण मिलता है कि सन् १०७८ ई० में गंगवंश का राज्य उत्कल में स्थापित हो जाने पर आलवारों की मधुर भाव की उपासना का यहाँ की साधनापद्धति पर बड़ा प्रभाव पड़ा। सहजिया और आलवार दोनों वैष्णव धर्म की मधुर उपासना के प्रेरक माने जा सकते हैं। उत्कल विशेषकर जगन्नाथपुरी चैतन्य समकालीन राय रामानंद के द्वारा वैष्णव धर्म से परिचित हो चुका था। चैतन्य देव के निवास के कारण यह स्थान माधुर्य उपासना के लिए उत्तरोत्तर प्रसिद्ध होता गया। उनके प्रभाव से उत्कल साहित्य के पाँच प्रसिद्ध वैष्णव कवि (१) बलराम दास (२) अनंतदास (३) यशोवंत दास (४) जगन्नाथ दास (५) अच्युतानंद दास,

---

१—दसम ग्रंथ-गुरु गोविंद सिंह ४४१, ४४६
[डा० अग्रवाल के थीसिस से उद्धृत]

पंद्रहवीं शताब्दी में माधुर्य भक्ति के प्रचारक प्रमाणित हुए। इस प्रकार कहा जा सकता है कि उत्कल और विशेषकर जगन्नाथपुरी शबर संस्कृति, बौद्ध धर्म, आलवार और प्राचीन वैष्णव धर्म के संमिलन से नवीन वैष्णव धर्म का प्रवर्त्तक सिद्ध हुआ।

(१४) गुजरात स्थित द्वारका नगरी वैष्णव धर्म की पोषक रही है। सन् १२६२ ई० का एक शिलालेख इस तथ्य का प्रमाण है कि यहाँ मंदिर में निरंतर कृष्णपूजा होती थी। वल्लभाचार्य के समकालीन नरसी मेहता ने माधुर्य भक्ति का यहाँ प्रचार किया था। द्वारका जी के मंदिर में मीराबाई के पदों का गान उस युग की माधुर्य उपासना के प्रचार में बड़ा सहायक सिद्ध हुआ। विट्ठलदास के द्वारा भी माधुर्य उपासना गुजरात में घर घर फैल गई। यहाँ वैष्णव रास के अनेक ग्रंथ मिलते हैं जिनमें वैकुंठदास की रासलीला काव्य और दर्शन की दृष्टि से उच्चकोटि की रचना मानी जाती है। स्थानाभाव से इस संकलन में उसे संमिलित नहीं किया जा सका।

(१४) ऐसी स्थिति में जहाँ काम और रति को साधना के क्षेत्र में भी आवश्यक माना जा रहा हो, विचारकों को ऐसे लोक-नायक का चरित्र जनता के सामने रखने की आवश्यकता प्रतीत हुई जो मानव की कामवासना का उदात्तीकरण कर सके और जिसकी लीलाएँ हृदय को आकर्षित कर सकें। ऐसी दशा में श्रीमद्भागवत् की रासक्रीड़ा की ओर मनीषियों का ध्यान गया और उसी के आधार पर प्रेम-दर्शन की नई व्याख्या उपस्थित की गई। साधना की इस पद्धति में भारत में प्रचलित सभी मतों, संप्रदायों को आत्मसात् करने की क्षमता थी। इसी के द्वारा जीवात्मा का विश्वात्मा के साथ एकीकरण किया जा सकता था। इसमें व्यक्ति के पूर्ण विकास के साथ सामूहिक चेतना को जाग्रत करने की शक्ति थी।

श्रीमद्भागवत् के आधार पर प्रेम की नई व्याख्या तत्कालीन जन जीवन के अनुकूल प्रतीत हुई। प्रेम और सेवा के द्वारा कृष्ण ने वृंदावन में गोलोक को अवतरित किया। जहाँ अन्य साधनाएँ मृत्यु के उपरांत मुक्ति और स्वर्ग प्राप्ति का पथ बताती हैं वहाँ कृष्ण ने मुक्ति और स्वर्ग को पृथ्वी पर सुलभ कर दिया। प्रेम के बिना जीवन निस्सार माना गया। इस धर्म की बड़ी विशेषता यह रही कि इसमें शुद्ध प्रेम की अवस्था को सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया गया।

वैष्णव धर्म में प्रत्येक मनुष्य को उसकी रुचि योग्यता और शक्ति के अनुसार पूर्ण विकास की स्वतंत्रता दी गई। सबको अपनी रुचि के अनुसार

जीवन बिताने का पूरा अधिकार मिला। भगवान् के नाम स्मरण को जीवन का लक्ष्य समझा गया। प्रेम की नई परिभाषा की गई। मानव प्रेम में जिस प्रकार दो प्रेमी मिलने को उत्सुक रहते हैं उसी प्रकार भगवान् में भी भक्त से मिलने की उत्कंठा सिद्ध की गई। पापी से पापी के उद्धार की भी आशा घोषित की गई।

प्रेमपूर्ण सेवा की भावना वैष्णवधर्म का प्राण है। कृष्ण ने अनेक विपत्तियों से जनता की रक्षा की। जिसमें ये दोनों गुण सेवा और प्रेम पूर्णता को प्राप्त कर जाएँ वही जीवात्मा को विश्वात्मा के साथ मिला देने में सफल होता है। यही मानव के व्यक्तित्व की पूर्णता है आज का मनोवैज्ञानिक भी यही मानता है।

कृष्णप्रेम श्रीमद्भागवत् का सार है। इस प्रेम के द्वारा श्रीमद्भागवत् मानव जीवन को परिपूर्ण बनाना चाहता है। लौकिक व्यक्तियों का भी परस्पर स्वार्थरहित प्रेम धन्य माना जाता है। गोपियों का प्रेम कृष्ण के प्रति आत्मसमर्पण की भावना से प्रेरित तो है ही उसमें कुछ और भी विशेषता है जो मानवीय कोटि से ऊपर है। वह विशेषता क्या है? वह विशेषता है गोपियों की ऐसी स्वाभाविकी ऋजुता जिसके कारण वे कृष्ण को ब्रह्माविष्णु शिव आदि का साक्षात् स्वामी मानती है। और उनके साथ तदाकार स्थापित करना चाहती हैं। उनके नेत्रों में कृष्ण के अतिरिक्त कोई पुरुष है ही नहीं। कृष्णप्रेम-रहित ज्ञान और कर्म उनके लिए निस्सार है। वह ऐकांतिक होते-हुए भी एकांगी नहीं। उसमें मानव जीवन को परिपूर्ण बनाने की क्षमता है। प्रश्न उठता है कि मानव की परिपूर्णता क्या है? किस मनुष्य को परिपूर्ण कहा जाय? आधुनिक युग का मनोवैज्ञानिक जीवन की परिपूर्णता का क्या लक्षण बताता है? एक मनोविज्ञानवेत्ता[१] का कथन है कि 'किसी के

१—The final stage in the development of one's personality is reached in that organisation of activities by which an individual adjusts his own life, and so far as he can, the life of society, to the ultimate goal or purpose of the universe. The achievement of this end is what is meant by the realisation of one's universal self. Since human beings are conscious of the universe just as much as they are concious of thier fellow-men, it is possible for them to select as the supreme object of

व्यक्तित्व का चरम विकास उस अवस्था को कहते हैं जब वह अपने विचारों का समाज और विश्व के उद्देश्यों के साथ सामंजस्य कर लेता है। इस स्थिति में जीवात्मा को विश्वात्मा के साथ एक कर देना पड़ता है। मानव अपनी अभिलाषाओं की अंतिम परिधि उस भंडार का साक्षात्कार मानता है जो 'सत्य, सौंदर्य और शिवता का स्रोत है। इस स्थिति की उपलब्धि जगत् से ऊपर आध्यात्मिक जगत् में ही संभव होती है। उसी जगत् में वैयक्तिक जीवन के सभी अवयव संवलित होकर मनुष्य को पूर्णता का भान करा ही सकते हैं। जब तक हम भौतिक जगत में रह कर यहाँ की ही कल्पना करते रहेंगे तब तक मानव जीवन अपूर्ण ही बना रहेगा। अध्यात्मलोक के पदार्थ सत्य और सौंदर्य को जब भौतिक जगत के पदार्थों, भौतिक सत्यों एवं सुषमा से अधिक महत्त्व देंगे तभी मानव जीवन की परिपूर्णता संभव होगी।'

गोपीप्रेम की महत्ता का आभास श्रीमद्भागवत् में स्थान-स्थान पर मिलता है। मानव जीवन की परिपूर्णता का यह ऐसा प्रत्यक्ष प्रमाण है कि देवता भी इस स्थिति के लिए लालायित रहते हैं। वे अपने देवत्व को गोपियों के व्यक्तित्व के संमुख तुच्छ समझते हैं। देवत्व में तमोगुण और रजोगुण किसी न किसी अंश में अवशिष्ट रह जाता है, पर प्रेममयी गोपियों में सात्त्विकता की परिपूर्णता दिखाई पड़ती है। इसीलिए उद्धव जैसा ज्ञानी, नारद जैसा मुनि एवं विविध देव समुदाय इनके दर्शन से अपने को कृतार्थ मानता है। यही प्रेम श्रीमद्भागवत् का सार है, यही जीवन का नया दर्शन

---

their desire a life that is in harmony with the ultimate source of all truth, beauty, and goodness. The attainment of this object carries one into the field of religion, which provides that type of experience that can give unity to all the various phases of an individual's life.

The development of personality takes place through the continuous selection of larger and more inclusive goals which serve as the object of one's desire.

Spiritual goods, truth, beauty in preference to material possession.

—Charls H. Patterson, Prof of Philosophy, The University of Nebraska Moral Standard—Page 270

है जो व्यक्तित्व की परिपूर्णता का परिचायक है। गोपियों की साधना देखकर ही धर्म और दर्शन चकित रह जाते हैं। वैदिक एवं अवैदिक सभी साधना पद्धतियाँ भिन्न भिन्न दिशाओं से आकर इस साधना पद्धति में एकाकार हो जाती हैं। कहा जाता है—

The practical philosophy of the Bhagavata aims at the development of an all-round personality through a synthesis of various spiritual practices, approved by scriptures, which have to be cultivated with effort by aspirants, but which are found in saints as the natural external expression of their perfection. Due recognition is given to each man's tastes, capacities, and qualifications; and each is allowed to begin practice with whatever he feels to be the most congenial.

The Cultural Heritage of India, Page 289

मानव जीवन की परिपूर्णता का उल्लेख पातंजल योगदर्शन में भी मनोवैज्ञानिक शैली में किया गया है। उसके अनुसार भी जब मानव भुक्ति और मुक्ति से ऊपर उठ कर अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है तो वह सभी प्राकृतिक गुणों से परे दिखाई पड़ता है। महर्षि पतंजलि उस स्थिति का आभास देते हुए कहते हैं—

पुरुपार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः-
कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति।

अर्थात्—गुणों की प्रवृत्ति पुरुप की भुक्ति और मुक्ति के संपादन के लिए है। प्रयोजन से वह इंद्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार मन और तन्मात्राओं के द्वारा कार्य में लगा रहता है। जो पुरुप भुक्ति और मुक्ति की उपलब्धि कर लेता है उसके लिए कोई कर्त्तव्य शेप नहीं रहता। प्रयोजन को सिद्ध करने वाले गुणों के साथ पुरुप का जो अनादि सिद्ध अविद्याकृत संयोग होता है उसके अभाव होने पर पुरुप अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।

गोपीकृष्ण प्रेम में हम भक्त और भगवान् को इसी स्थिति में पाते हैं। इसी कारण हम गोपियों का व्यक्तित्व विकास की पूर्णता का द्योतक मानते हैं।

इस स्थान पर हम श्री मद्भागवत् का रचनाकाल जानने और उसकी महत्ता का आभास पाने के लिए उक्त ग्रंथ के विषय में संकेत देनेवाले पुराणों एवं शिलालेखों का किंचित उल्लेख कर देना आवश्यक समझते हैं। इन उल्लेखों से स्पष्ट हो जायगा कि मध्ययुग में इसी नवीन जीवन दर्शन के प्रयोग की क्या आवश्यकता आ पड़ी थी।

[श्रीमद्भागवत् का माहात्म्य और रचनाकाल]

गरुड़पुराण में श्रीमद्भागवत की महिमा का उल्लेख इस प्रकार मिलता है—

अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थ विनिर्णयः।
गायत्री-भाष्यरूपोऽसौ वेदार्थ परिबृंहितः॥
पुराणानां साररूपः साक्षाद् भागवतोदितः।
ग्रंथोऽष्टादशसाहस्रः श्रीमद्भागवताभिधः॥

अर्थात् यह ब्रह्मसूत्रों का अर्थ है, महाभारत का तात्पर्य निर्णय है, गायत्री का भाष्य है और समस्त वेदों के अर्थ को धारण करनेवाला है। समस्त पुराणों का सार रूप है, साक्षात् श्री शुकदेवजी के द्वारा कहा हुआ है, अठारह सहस्र श्लोकों का यह श्रीमद्भागवत् नामक ग्रंथ है।

इसी प्रकार पद्मपुराण भी श्रीमद्भागवत् की प्रशंसा में कहता है—
'पुराणेषु च सर्वेषु श्रीमद्भागवतं परम्।' अर्थात् सभी पुराणों में श्रीमद्भागवत् श्रेष्ठ है।

इस ग्रंथ का इतना महत्त्व बढ़ गया कि जो दाता श्रीमद्भागवत् ग्रंथ की लिखी प्रति को हेमसिंहासन सहित पूर्णिमा या अमावस्या को दान देता है वह परम गति को प्राप्त करता माना जाता था।

उक्त पुराणों का मत इतना स्पष्ट है और ब्रह्मसूत्र और भागवत् की भाषा में इतना साम्य है कि कई स्थान पर तो सूत्र के सूत्र तद्वत् भागवत् में मिलते हैं। कहा जाता है कि एक बार चैतन्य महाप्रभु से किसी ने ब्रह्मसूत्र का भाष्य लिखने का आग्रह किया तो महाप्रभु ने कहा—"ब्रह्मसूत्र का भाष्य श्रीमद्भागवत् तो है ही। अब दूसरा भाष्य क्या लिखा जाय।" तात्पर्य यह है कि मध्ययुग में श्रीमद्भागवत् का माहात्म्य ब्रह्मसूत्र के समान हो गया था। मध्वाचार्य ने 'भागवत् तात्पर्य निर्णय' नामक ग्रंथ भागवत् की टीका के रूप

में लिखा और उन्होंने गीता की टीका में श्रीमद्भागवत् को पंचमवेद घोषित किया।

श्री रामानुजाचार्य ने अपने वेदांतसार में श्रीमद्भागवत् का आदर पूर्वक उल्लेख किया है। इससे पूर्व प्रत्यभिज्ञा नामक संप्रदाय के प्रधान आचार्य अभिनव गुप्त ने गीता पर टीका लिखते समय चौदहवें अध्याय के आठवें श्लोक की व्याख्या करते हुए श्री मद्भागवत् का नाम लेकर कई श्लोक उद्धृत किया है। अभिनवगुप्त का समय दसवीं शताब्दी है अतः श्रीमद्भागवत् की प्रतिष्ठा दसवीं शताब्दी से पूर्व अवश्य स्थापित हो गई होगी।

इससे भी प्राचीन प्रमाण श्रीगौड़पादाचार्य—शंकर के गुरु गोविंदपाद थे और उनके भी गुरु थे श्रीगौड़पादाचार्य—के ग्रंथ उत्तरगीता की टीका में मिलता है। उन्होंने 'तदुक्त भागवते' लिखकर श्री मद्भागवत् का निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—

श्रेयः स्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवल बोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥

इससे भी प्राचीन प्रमाण चीनी भाषा में अनूदित ईश्वरकृष्ण विरचित सांख्य कारिका पर माठराचार्य की टीका से प्राप्त होता है। उक्त ग्रंथ का अनुवाद सन् ५५७ ई० के आसपास हुआ माना जाता है। इस ग्रंथ में श्रीमद्भागवत् के दो श्लोक मिलते हैं।[१]

यदि पहाड़पुर ग्राम के भूमिगर्भ में दबी श्रीराधाकृष्ण की युगल मूर्त्ति पाँचवीं शताब्दी की मान ली जाय तो श्रीमद्भागवत् की रचना उससे भी पूर्व की माननी होगी क्योंकि उस समय तक राधा तत्त्व श्रीमद्भागवत् में स्वीकृत नहीं हुआ था।

श्रीमद्भागवत् की रचना चाहे जिस काल में भी हुई हो उसके जीवन दर्शन तथा साधना पद्धति का प्रचारकाल जयदेव के आसपास ही मानना होगा। इससे पूर्व साहित्य के अंतर्गत कहीं उल्लेख भले ही आया हो पर

१—प्रथम स्कन्ध के छठें अध्याय का पैंतीसवाँ श्लोक और आठवें अध्याय का बावनवाँ श्लोक।

अक्षुण्ण रूप से इसकी धारा जयदेव के उपरांत ही प्रवाहित होती दिखाई पड़ती है। संभव है कि गुप्त-साम्राज्य के विध्वंस के बाद शताब्दियों तक देश के विक्षुब्ध वातावरण, हिंदू राजाओं के नित्य के पारस्परिक विरोध में इस बीज को पल्लवित होने का अवसर न मिला हो। मध्ययुग की विविध साधनाओं को अंतर्भूत करनेवाले इस धार्मिक ग्रंथ का प्रचार देशकाल के वातावरण के अनुकूल होने से बढ़ गया होगा। इस उपस्थापन को हम यहाँ स्पष्ट कर देना चाहते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार महाभारत-काल में श्रीकृष्ण ने पूर्ववर्ती सभी सिद्धांतों का समन्वय गीता में किया था उसी प्रकार मध्ययुग के सभी धार्मिक मतों का सामंजस्य करनेवाला श्रीमद्भागवत् ग्रंथ समाज का प्रिय बन गया और घर घर में उसका प्रचार होने लगा। ब्रह्मसूत्र के ब्रह्म और गीता के पुरुषोत्तम को श्रीमद्भागवत् में श्रीकृष्ण रूप से स्वीकार किया गया है। श्रीमद्भागवत में कहा गया है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदः तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

मध्यकाल में एक समय ऐसा आया कि उपनिषद्, भगवद्गीता तथा ब्रह्मसूत्र जैसे प्रस्थानत्रयी के समान ही श्रीमद्भागवत भी विभिन्न संप्रदायों का उपजीव्य प्रमाण ग्रंथ बन गया। वल्लभाचार्य ने प्रस्थानत्रयी के स्थान पर प्रमाण चतुष्टय का उल्लेख करते हुए लिखा—

वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि[1]।
समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तत् चतुष्टयम्॥ ७९॥

प्रश्न है कि आचार्य वल्लभ का अभिप्राय समाधिभाषा से क्या हो सकता है? इसका एकमात्र उत्तर यह है कि व्यास देव को समाधि दशा में जिस जीवनदर्शन की अनुभूति हुई थी उसी का सरस वर्णन श्रीमद्भागवत्में पाया जाता है। इस प्रकार इस नए जीवन दर्शन का अनाविल उपस्थापन श्रीमद्भागवत् के आधार पर हुआ यही इसका माहात्म्य है।

जिस प्रकार मध्ययुग में कृष्णगोपीप्रेम को प्रधान मानकर हिंदू समाज ने विश्व को एक नया जीवन दर्शन दिया था उसी प्रकार आधुनिक काल में बालगंगाधर तिलक ने कृष्ण के कर्म योग और महात्मा गांधी ने उनके

१—वल्लभाचार्य—शुद्धाद्वैतमार्तंड, पृ० ४६

अनासक्ति योगपर बल देकर इस युग के अनुसार कृष्ण जीवन की नई व्याख्या उपस्थित की। उक्त दोनों राजनैतिक पुरुषों की कृष्ण जीवन की व्याख्या के साथ कृष्णगोपीप्रेम को संयुक्त किया जा सकता है। स्वामी विवेकानंद ने उस पावन प्रेम का दिग्गदर्शन कराते हुए लिखा है—

"Krishna is the first great teacher in the history of the world to discover and proclaim the grand truth of love for love's sake and duty for duty's sake. Born in a prison, brought-up by cow-herds, subjected to all kinds of tyranny by the most despotic monarchy of the day, and derided by the orthodox, 'Krishna still rose to be the greatest saints, philosopher, and reformer of his age. ... In him we find the ideal householder, and the ideal sanyasin, the hero of a thousand battles who knew no defeat. He was a friend of the poor, the weak, and the distressed, the champion of the rights of women and of the Social and spiritual enfranchisement of the Sudra and even of the untouchables, and the perfect ideal of detachment.

And the Bhagwata which records and illustrates his teachings is, in the words of Sri Ramkrishna, 'sweet as cake fried in the butter of wisdom and Soaked in the honey of love.'"

Philosophy of the Bhagwat

———

जैन रास का जीवन दर्शन

हम पूर्व कह आए हैं कि ब्राह्मणों के आडंबरमय यज्ञों के विरुद्ध दो रूप में आंदोलन उठ खड़े हुए थे। एक ओर वैदिक आचार्यों ने बृहदारण्यक में यज्ञों का अध्यात्मपरक अर्थ किया और दूसरी ओर महावीर और बुद्ध ने सच्चरित्र को श्रेष्ठ यज्ञ घोषित किया। जैनागम में उद्धरण मिलता है कि श्री महावीर स्वामी एक बार विहार करते हुए पावापुरी पहुँचे। वहाँ धमिल नामक ब्राह्मण विशालयज्ञ कर रहा था। उसकाल के धुरंधर विद्वान् इंद्रभूति और अग्निभूत उस यज्ञशाला में उपस्थित थे। विद्वान् ब्राह्मणों और याज्ञिकों से यज्ञशाला जनाकीर्ण बनी थी।

भगवान् महावीर उसी यज्ञशाला के समीप होकर विहार करने निकले। उनके तपोमय जीवन और तेजोपुञ्ज आकृति से प्रभावित होकर यज्ञ की दर्शक-मंडली यज्ञशाला त्यागकर मुनिवर का अनुसरण करने लगी।

अपने पांडित्य से उन्मत्त इन्द्रभूति ईर्ष्या और कुतूहल से प्रेरित होकर महावीर जी से शास्त्रार्थ करने चला। उसने आत्मा के अस्तित्व के विषय में अनेक आशंकाएँ उठाई जिनका समुचित उत्तर देकर भगवान् ने उसका समाधान किया। भगवान् महावीर के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर इंद्रभूति और उसके साथी ब्राह्मण भगवान् के शिष्य बन गए।

इंद्रभूति आदि विद्वान् ब्राह्मणों की आत्मा-परमात्मा, देवता, यज्ञ-विषयक शंकाओं से यह प्रतीत होता है कि यज्ञ संचालकों के हृदय में भी यज्ञ की उपादेयता के प्रति संदेह उठने लगा था। आज भी गंगा स्नान, ग्रहणस्नान, गोदान आदि संस्कार करने वाले ब्राह्मणों के मन में क्रियाकांड की उपादेयता के विषय में संदेह उठता है पर वे आजीवका के साधन के रूप में उसे चलाते जाते हैं। संभवतः इसी प्रकार स्थिति उस समय यज्ञकर्ता ब्राह्मणों की रही होगी और यज्ञ के नवीन अर्थ से प्रभावित होकर ईमानदार व्यक्तियों ने महावीर के नवीन सिद्धांत को स्वीकार किया होगा। भगवान् महावीर कहते हैं कि अहिंसा आदि पाँच यमों से संवृत्त, वैषयिक जीवन की आकांक्षा एवं शरीरगत मोह-ममता से रहित तथा कल्याणरूप

सत्कर्मों में शरीर का समर्पण करनेवाले चरित्रवान् व्यक्ति सच्चरितरूप विजय कारक श्रेष्ठ यज्ञ करते हैं।[१]

तपोमय जीवन की यज्ञ से उपमा देते हुए श्री महावीर जी कहते हैं— "तप ज्योति (अग्नि) है, जीवात्मा अग्निकुंड है, मन वचन, कार्य की प्रवृत्ति कलछुल (दर्वी) है; जो पवित्र संयम रूप होने से शक्तिदायक तथा सुखकारक है और जिसकी ऋषियों ने प्रशंसा की है।[२]"

जैन रासों में इस नवीन जीवन दर्शन की व्याख्या, स्थान स्थान पर मिलती है। बृहदारण्यक उपनिषद् में यज्ञ की नई परिभाषा प्रतीक के रूप में संस्कृत के माध्यम से की गई थी अतः उसका प्रचार केवल संस्कृतज्ञ विद्वानों तक ही सीमित रहा किंतु जैन रास जन भाषा में विरचित एवं गेय होने के कारण सर्वसाधारण तक पहुँच सके।

भगवान् महावीर ने संयमश्री पर बड़ा बल दिया। इसका विवेचन हमें गौतमरास में उस स्थल पर मिलता है जहाँ भगवान् पावापुरी पधार कर इंद्रभूतिको उपदेश देते हैं—

> चरण जिणेसर केवल नाणी, चउविह संघ पइट्ठा जाणी;
> पावापुर सामी संपत्तो, चउविह देव निकायहि जत्तो॥
> उपसम रसभर भरि वरसंता, योजनावाणि बखाण करंता;
> जाणिअ वर्धमान जिन पाया, सुरनर किंनर आवे राया॥
> कांति समूहे झलझलकंता, गयण विमाण रणरणकंता;
> पेखवि इंद्र भूई मन चिंते, सुर आवे अम्ह यज्ञ होवंते॥
> तीर तरंडक जिमते वहता, समवसरण पहुता गहगहता;
> तो अभिमाने गोयम जंपे, तिणे अवसरे कोपे तणु कंपे॥
> मूढा लोक अजाण्यो बोले, सुर जाणंता इम कांइ डोले;
> मू आगल को जाण भणीजे, मेरू अवर किम ओपम दीजे॥

अर्थात् भगवान् महावीर से वेद के पदों द्वारा उसका संशय मिटा दिया गया। फिर उसने मान को छोड़कर मद को दूर करके भक्ति से मस्तक नवाया

१—सुसंवुडा पंचहिं संचरेहिं इह जीविअं अणवकंखमाणा।
वो सट्ठकाया सुइचत्तदेहा महाजयं जयइ जण्णसिट्ठ॥

२—तवो जोई जीवो जोइठाणं जोगा सुआ सरीरं कारिसंगं।
कम्मे इहा संजमजोगसंती होमं हुणामि इसिणं पसत्थं॥

और पाँच सौ छात्रों सहित प्रभु के पास व्रत (चरित्र) स्वीकार किया। गौतम (सब में) पहला शिष्य था।

मेरे बांधव इंद्रभूति ने संयम की बात स्वीकार की यह जानकर अग्निभूति, महावीर के पास आया। प्रभु ने नाम लेकर बुलाया। उसके मन में जो संशय था उसका अभ्यास कराया अर्थात् वेदपद का खरा अर्थ समझाकर संशय दूर किया, इस प्रमाण से अनुक्रम से ग्यारह गणधर रूपी रत्नों की प्रभु ने स्थापना की और इस प्रसंग से भुवन-गुरू ने संयम (पांच महाव्रत रूप) सहित श्रावकों के बारह व्रत का उपदेश किया। गौतम स्वामी निरंतर ही दो-दो उपवास पर पारण करते हुए विचरण करते रहे। गौतम स्वामी के संयम का सारे संसार में जयजयकार होने लगा।'

इसी प्रकार भगवान् महावीर ने स्नान, दान, विजय आदि की नई व्याख्या साधारण जनता के संमुख उपस्थित की जिसका विश्लेपण हम रास ग्रंथों में स्थान स्थान पर पाते हैं। स्नान, दान युद्ध के विषय में वे कहते हैं—

धर्म जलाशय है और ब्रह्मचर्य निर्मल एवं प्रसन्न शांतितीर्थ है। उसमें स्नान करने से आत्मा शांत निर्मल और शुद्ध होता है[1]।

प्रतिमास दस लाख गायों के दान से भी, किसी (बाह्य) वस्तु का दान करने वाले संयमी मनुष्य का संयम श्रेष्ठ है[2]।

हजारों दुर्जय संग्रामों को जीतने वाले की अपेक्षा एक अपने आत्मा को जीतने वाला बड़ा है। सब प्रकार के बाह्य विजयों की अपेक्षा आत्मजय श्रेष्ठ है[3]।

इन जैन सिद्धांतों का स्पष्टीकरण हमें रास ग्रंथों में स्थान स्थान पर मिलता है। 'भरतेश्वर बाहुबली रास' में भरत और बाहुबली के घोर युद्ध के उपरांत रासकार ने शस्त्रबल और बाहुबल से अधिक शक्ति आत्मजय में दिखलाई है। उदाहरण के लिए देखिए—

१—धम्मे हरए बंभे संतितित्थे अणाइले अत्तपसन्नले से।
जहिंसि एहाओ विमलो विसुद्धो सुसीति भूओ पजहामि दोसं॥

२—जो सहस्सं सहस्साणं मासे गवं दए।
तस्सावि संजमो सेओ अदितस्सावि किंचन॥

३—जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणिज अप्पाणं एस से परमो जओ॥

बलवंत बाहुबली (भरत से) बोला कि तुम लौह खंड (चक्र) पर गर्वित हो रहे हो। चक्र के सहित तुमको चूर्ण कर डालूँ। तुम्हारे सभी गोत्रवालों का शल्य द्वारा संहार कर दूँ।

भरतेश्वर अपने चित्त में विचार करने लगे। मैंने भाई की रीति का लोप कर दिया। मैं जानता हूँ, चक्र परिवार का हनन नहीं करता। (भ्रातृवध के) मेरे विचार को धिक्कार है। हमने अपने हृदय में क्या सोचा था ! अथवा मेरी ममता किस गिनती में है।

तब बाहुबली राजा बोले—हे भाई, आप अपने मन में विषाद न कीजिए। आप जीत गए और मैं हार गया। मैं ऋषभेश्वर के चरणों की शरण में हूँ।

उस समय भरतेश्वर अपने मन में विचार करने लगे कि बाहुबली के (मन में) ऊपर वैराग्यमुमुक्षता चढ़ गई है। मैं बड़ा भाई दुखी हूँ जो अविवेकवान् होकर अविमर्श में पड़ गया।

भरतेश्वर कहने लगे—इस संसार को धिक्कार है, धिक्कार है। रानी और राजऋद्धि को धिक्कार है। इतनी मात्रा में जीवसंहार विरोध के कारण किसके लिए किया ?

जिससे भाई पुनः विपत्ति में आ जाय ऐसे कार्य को कौन करे ? इस राज्य, घर, पुर, नगर और मंदिर (विशाल महल) से काम नहीं। अथवा कल कौन ऐसा कार्य किया जाय कि भाई बाहुबली पुनः (हमारा) आदर करे। इस प्रकार बाहुबली के आत्मविजय का गौरव युद्धविजय की अपेक्षा अधिक महत्त्वमय सिद्ध हुआ।

जैन धर्म में संयम-श्री की उपलब्धि पर बड़ा बल दिया जाता है। जिसने वासनाओं पर विजय प्राप्त कर ली वही सबसे बड़ा वीर है। जैन रासों में मनोबल को पुष्ट करने के लिए विविध प्रकार के धार्मिक कथानकों का सहारा लेकर रसमय रास और फाग काव्यों की रचना की गई है। स्थूलभद्र नाम के एक मुनि जैन साहित्य में विलक्षण प्रतिभावाले व्यक्ति हुए है। ये वैष्णव के कृष्ण के समान ही आत्मविजयी माने जाते हैं। जैन आगमों में

संयम श्री

१—भरतेश्वर बाहुबली रास-छंद १८७ से १९२ तक।

उनका बड़ा माहात्म्य है। जैन धर्म में मंगला चरण के लिए यह श्लोक प्रसिद्ध है—

मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमः प्रभुः।
मंगलं स्थूल भद्राद्या, जैन धर्मोस्तु मंगलम् ॥

स्थूलभद्र के संयममय जीवन का अवलंब लेकर अनेक रास-फाग निर्मित हुए। प्राचीन कथा है कि पाटलिपुत्र नगर में नंद नाम का राजा था। शकटाल के स्थूलभद्र और श्रीपथ दो पुत्र थे। स्थूलभद्र नगर की प्रसिद्ध वेश्या कोशा में इतना अनुरक्त हो गया कि शकटाल की मृत्यु के उपरांत उसने राजा के प्रधान सचिव पद के आमंत्रण को भी अस्वीकार कर दिया। कालांतर में स्थूलभद्र ने विलासमय जीवन को निस्सार समझकर संभूतिविजय के पास दीक्षा ले ली।

चातुर्मास आने पर मुनियों ने आचार्य संभूतिविजय से वर्षावास के लिए अनुज्ञा मांगी। अन्य मुनियों की भाँति स्थूलभद्र ने कोशा वेश्या की चित्रशाला में चातुर्मास विताने की अनुमति मांगी। अनुमति मिलने पर स्थूलभद्र कोशा के यहाँ जाकर संयमपूर्वक रहने लगा। धीरे धीरे कोशा को विश्वास हो गया कि अब उन्हें कोई शक्ति विचलित नहीं कर सकती। अनुराग का स्थान भक्ति ने ले लिया और वह अपने पतित जीवन पर अनुताप करने लगी।

चातुर्मास के पूरा होने पर सब मुनि वापस आए। गुरु ने प्रत्येक का अभिवादन किया। जब स्थूलभद्र आए तो वे खड़े हो गए और 'दुष्कर से भी दुष्कर तप करनेवाले महात्मा' कहकर उनका सत्कार किया। इससे दूसरे शिष्य ईर्ष्या करने लगे।

दूसरे वर्ष जब चातुर्मास का समय आया तो सिंह की गुफा में चातुर्मास वितानेवाले एक मुनि ने कोशा की चित्रशाला में रहने की अनुमति माँगी। और गुरु के मना करने पर भी वह कोशा की चित्रशाला में चला गया और पहले दिन ही विचलित हो गया। उसे व्रतभंग से बचाने के लिए कोशा ने कहा, 'मुझे रत्नकंबल की आवश्यकता है। नेपाल के राजा के पास जाकर उसे ला दो तो मैं तुम्हारी इच्छा पूरी कर दूँगी', साधु कामवश चातुर्मास की परवाह किए बिना नेपाल पहुँचा और वहाँ से रत्नकंबल लाया। मार्ग में अनेक संकटों का सामना करता हुआ वह किसी प्रकार कोशा के पास पहुँचा। कोशा ने

रत्नकंबल लेकर गंदे पानी में डाल दिया। साधु उसे देखकर कहने लगा, 'इतने परिश्रम से मैं इस रत्न कंबल को लाया और तुमने नाली में डाल दिया।'

कोशा ने उत्तर दिया—'इतने वर्ष कठोर तपस्या करके तुमने इस संयम रूपी रस को प्राप्त किया है। अब वासना से प्रेरित होकर क्षणिक तृप्ति के लिए इसे नष्ट करने जा रहे हो, यह क्या नाली में डालना नहीं है? इसपर साधु के ज्ञानचक्षु खुल गए और वह प्रायश्चित करने लगा।

कुछ दिनों उपरांत राजा की आज्ञा से कोशा का विवाह एक रथकार के साथ हो गया। परंतु वह सर्वथा जीवन से विरक्त हो चुकी थी और उसने दीक्षा ले ली।

इस आख्यायिका ने अनेक कवियों को रास एवं फाग रचना की प्रेरणा दी। प्रस्तुत संग्रह के 'स्थूलभद्र फाग' में संयम श्री का आनंद लेनेवाले स्थूलभद्र कोशा[1] के आग्रह पर कहते हैं—

+ + +

चिंतामणि परिहरवि कवणु पत्थरु गिह्र गेह्र
तिम संजम-सिरि परिवएवि बहु-धम्म समुज्जल
आंलिगइ तुह कोस ! कवणु पसरत महावल ॥

अर्थात् चिंतामणि को त्यागकर कौन प्रस्तर खंड (सीकटी) ग्रहण करना चाहेगा। उसी प्रकार धर्मसमुज्ज्वल संयम श्री को त्यागकर कौन तेरा आलिंगन करेगा", तात्पर्य यह है कि 'उत्तराध्ययन' में कोशा गौतमसंवाद को रासग्रंथों में अत्यन्त सरस बनाकर सामान्य जनता के उपयुक्त प्रदर्शित किया गया है।

हम पूर्व कह आये हैं कि जैन रास एवं फाग ग्रंथ जैनागमों की व्याख्या उपस्थित करके सामान्य जनता को धर्मपालन की ओर प्रेरित करते हैं।

१—कोशा के रूपलावण्य और शृंगार का वर्णन कवि रसमय शैली में करता हुआ स्थिति की गंभीरता इस प्रकार दिखाता है—

जिनके नखपल्लव कामदेव के अंकुश की तरह विराजमान हैं। जिनके पादकमल में घूंघरी रुनझुन-रुनझुन बोलती है। नवयौवन से विलसित देहवाली अभिनव से (पागल) गही हुई, परिमल लहरी से मगमगती (महकती), पहली रतिकेलि के समान प्रवाल-खंड-सम अधर बिंबवाली, उत्तम चंपक के वर्णवाली, हावभाव और बहुत रस से पूर्ण नैनसलोनी शोभा देती है।

सिरिथूलिभद्द फागु पृ० १४१-४२

जैनागमों में स्थान स्थान पर धर्म की व्याख्या के रूप में भगवान् महावीर के साथ इन्द्रभूति और गौतम का संवाद मिलता है। उववाई रायपसेणइस, जंबूदीप पश्नात्ति, सूरपल्लत्ति आदि ग्रंथ इसके प्रमाण हैं। प्रसिद्ध आकर ग्रंथ 'भगवती' के अधिकांश भाग में गौतम एवं महावीर के प्रश्नोत्तर मिलते हैं। 'परायवसासूत्र' एवं 'गौतम प्रपृच्छा' नामक ग्रंथ इसी शैली के परिचायक हैं।

जैन परंपरा में आध्यात्मिक विभूतियों के लिए गौतम स्वामी, बुद्धिप्रकर्ष के लिए अभयकुमार और धनवैभव के लिए शालिभद्र अत्यंत प्रसिद्ध माने जाते हैं। इन व्यक्तियों के चरित्र के आधार पर विविध रासों की रचना हुई जिनमें जैनदर्शन के सिद्धांत स्पष्ट किए गए। जैन परंपरा में चित्तशुद्धि का सिद्धांत अत्यंत महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। यह कठिन-तपस्या-साध्य है। जब तक चित्त में किसी प्रकार का राग विद्यमान है तब तक चित्त पूर्णतया शुद्ध नहीं होता और जब तक चित्त में अशुद्धि है तब तक केवल-ज्ञान संभव नहीं।

चित्तशुद्धि

राग को परम[1] शत्रु मानकर उसके त्याग की बारबार घोषणा की गई है। इस राग परित्याग का यहाँ तक विधान है कि अपने पूज्य गुरु एवं आचार्य में भी राग बुद्धि का लेश अक्षम्य है। इस सिद्धांत को हम 'गौतमस्वामी रास' में स्पष्ट देख पाते हैं। गौतम ने अपने माता पिता गृह-परिवार आदि को त्यागकर मन में विराग धारण कर लिया। विरागी बनकर उसने घोर तपस्या की। भगवान् महावीर की कृपा से उन्हें शास्त्रों का विधिवत् ज्ञान हो गया, किंतु उनके मन में गुरु के प्रति राग बना रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि वे, जिनको दीक्षा देते थे उन्हें तो 'केवल ज्ञान' हो जाता था किंतु वे स्वयं 'केवल ज्ञान' से वञ्चित रहे।

वलता गोयम सामि, सवि तापस प्रतिबोध करे;
लेइ आपणे साथ चाले, जिम जुथाधिपति।

१— भावयेच्छुद्धचिद्रूप स्वात्मान नित्यमुद्यतः।
रागाद्युदग्र शत्रूणामनुत्पत्त्यै क्षयाय च॥

अध्यात्म रहस्य श्लोक २६।

अर्थात्—रागादि अति उग्र शत्रुओं की अनुत्पत्ति और विनाश के लिए नित्य ही उद्यमी होकर शुद्ध-चिद्रूप स्वात्मा की भावना करनी चाहिए।

खीर खांड घृत आण, अमिअवूठ अंगुठं ठवि,
गोयम एकण पात्र, करावे पारणो सवि ॥
पंचसयां शुभ भावि, उज्जल भरिओ खीरमसि;
साचा गुरु संयोगे, कवल ते केवल रूप हुआ ॥[1]

अर्थात्—गौतम स्वामी अपने ५०० शिष्यों को दीक्षा देकर अपने साथ लेकर यूथाधिपति की भाँति चल पड़े। दूध, चीनी और घी एक ही पात्र में मिलाकर उसमें अमृतवर्षीय अंगूठा रखकर गौतम स्वामी ने सभी तापसों को क्षीरान्न का पान कराया। सच्चे गुरु के संयोग से वे सभी क्षीर चखकर केवल ज्ञानरूप हो गए। किंतु गौतम स्वामी स्वयं केवल ज्ञानी नहीं बन सके। इसका कारण यह था कि श्री महावीर जी में उनका राग बना हुआ था। जिस समय वे गुरु के आदेशानुसार देवशर्मा ब्राह्मण को दीक्षा देकर लौटे उस समय श्री महावीर जी का निर्वाण हो चुका था। गौतम स्वामी सोचने लगे कि "स्वामी जी ने जानबूझकर कैसे समय में मुझे अपने से दूर किया। लोक व्यवहार को जानते हुए भी उस त्रिलोकीनाथ ने उसे पाला नहीं। स्वामिन्! आपने बहुत अच्छा किया। आपने सोचा कि वह मेरे पास 'केवल ज्ञान' माँगेगा।"[2]

"इस प्रकार सोच विचार कर गौतम ने अपना रागासक्तचित्त विराग में लगा दिया। राग के कारण जो केवल ज्ञान दूर रहता था वह राग के दूर होते ही सहज में ही प्राप्त हो गया।"[3]

यहाँ जैन और वैष्णव रास सिद्धांतों में स्पष्ट अंतर दिखाई पड़ता है। कृष्ण रास में भगवान् के प्रति राग और संसार से विराग अपेक्षित है किंतु जैन रास में भगवान् महावीर के प्रति भी राग वर्जित है। विरागिता की चरम सीमा जैन रासों का मूलमंत्र है।

कृष्णरास और जैनरास में राग का दृष्टिकोण

जैन रासकार जगत् को प्रपंचमय जानकर गुरु के प्रति भी विरागिता का उपदेश देता है। इंद्रियरस से दूर रहकर एकमात्र आत्मशुद्धि करना ही जैन रास का उद्देश्य रहता है किंतु वैष्णव रास में मन को कृष्ण प्रेम रस से आप्लावित करना अनिवार्य माना जाता है। केवल ज्ञान के द्वारा जहाँ मुक्तिप्राप्ति जैनरासकारों ने अपने जीवन का ध्येय

१—गौतम स्वामी रास—पृ० १८९—छंद ३९-४१
२— ,, ,,
३— ,, पृ० १९० छंद ४९

वनाया वहाँ मुक्ति को भी त्याग कर रासरस का आस्वादन कृष्णरास-कर्ताओं का लक्ष्य रहा है। किंतु इस रास की प्राप्ति एकमात्र हरिकृपा से ही संभव है। सूरदास रास का वर्णन करते हुए कहते है—

रास रसरीति नहिं वरनि आवै।
कहाँ वैसी बुद्धि, कहाँ वह मन लहौं, इहै चित जिय भ्रम भुलावै॥
जो कहौं कौन माने, निगम अगम, हरिकृपा विनु नहिं या रसहिं पावै।
भाव सों भजै, विन भाव में ए नहीं, भाव ही माँहिं भाव यह बसावै॥
यहै निज मंत्र, यह ज्ञान, यह ध्यान हैं दास दंपति भजन सार गावै।
यहै माँगौ वार वार प्रभु सूर के नयन दोऊ रहैं नर देह पावै॥

तात्पर्य यह कि जैन रास का जीवन दर्शन विरागिता के द्वारा जन्म मरण से मुक्ति दिलाना है और वैष्णव रास का लक्ष्य राधा कृष्ण के दांपत्य रस का आस्वादन करने के लिए बारबार नरदेह धारण करना है।

जहाँ जैन रासों में वैराग्य आवश्यक माना जाता है वहाँ वैष्णवों के प्रेमदर्शन में भगवान् के प्रतिराग अनिवार्य समझा जाता है। देवर्षि नारद भक्तिसूत्र में कहते हैं—

तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव श्रृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति।[1]

अर्थात्—"इस प्रेम को पाकर प्रेमी इस प्रेम को ही देखता है, प्रेम को ही सुनता है, प्रेम का ही वर्णन करता है और और प्रेम का ही चिंतन करता है।"

वैष्णवरास रचयिता कवियों ने भगवान् के प्रति राग का इतना अधिक वर्णन किया है कि उनका एक क्षण का वियोग गोपियों को असह्य हो जाता है। उनको तो "भगवान् के चरणों में इतना आनंद प्राप्त होता है कि उन्हें अपने चरणों में मोक्ष साम्राज्य श्री लोटती दिखाई पड़ती है।"[2] संपूर्ण वैष्णव रास कृष्णराग एवं राम राग से परिपूर्ण है। गोपियाँ कृष्णराग में इतनी विह्वल हैं कि नृत्य के समय उनके चंद्रमुख को निहारने की अभिलाषा सदा उनके मन को गुदगुदाती रहती है।

१—नारदभक्तिसूत्र—५५

२—यदि भवति मुकुंदे भक्तिरानन्द सान्द्रा
विलुठति चरणाग्रे मोक्षसाम्राज्यलक्ष्मीः॥

नाच श्याम सुखमय।
देखि, ताले माने केमन ज्ञानोदय ॥
ए तो घाटे माठे दान साधनाय।
एखाने गाइते वाजाते जाने गोपी समुदाय ॥
एकवार नाच हे श्याम फिरि फिरि।
संगे संगे नाचब मोरा चाँद वदन हेरि ॥[1]

वैष्णव और जैन रास पदों के उक्त उद्धरणों से राग विराग की महत्ता स्पष्ट हो जाती है।

जैन रासो में विरागिता के साथ विद्यादान पर भी बल दिया गया है। एक स्थान पर विद्यादान की महिमा वर्णन करते हुए रासकार लिखते हैं कि विद्यादान के पुण्य का अपार फल है—

विद्यादानु जउ दीजइं सारु जिणु भणइ तेह पुन्य नहीं पारु

साध्वियों का भी संमान साधुओं के समान करना आवश्यक बतलाया गया है। इससे सिद्ध होता है कि १३ वीं १४ वीं शताब्दी में साधु और साध्वियों का समान संमान होता था।[2]

इस रास में एक स्थान पर श्रावक के शरीर के सप्तधातु के समान महत्त्व रखनेवाले अध्यात्म शरीर के सात तत्त्व सदाचार, सुविचार, कुशलता निरहंकार भाव, शील, निष्कलंकता, और दीनजनसहाय बतलाये गये हैं।[3]

वह श्रावक शिवपुर में निवास करता है जो तीन प्रकार की शुद्धि और अंतःकरणमें वैराग्य को धारण करता है। उसके लिए जिन-वचनों का पढ़ना, श्रवण करना, गुनना आवश्यक माना गया है। जिसने शील रूपी कवच धारण कर रखा है उसके लिए संसार में कुछ भी दुर्लभ नहीं।[4]

जैन और वैष्णव रास सिद्धांत में दूसरा बड़ा अंतर ईश्वर-संबंधी धारणा में पाया जाता है। जैन शास्त्र के अनुसार जिसके संपूर्ण कर्मों का आमूल क्षय हो गया हो वह ईश्वर है। 'परिक्षीण सकल कर्मा ईश्वरः' जैन धर्म के अनुसार ईश्वरत्व और मुक्ति का एक ही लक्षण है। 'मुक्ति प्राप्त करना ही

१—रास और रसान्वयी काव्य पृ० ३६४
२—सप्तक्षेत्रिय रास छंद सं० ६०
३—वही „ ८६
४—वही „ १०१

ईश्वरत्व की प्राप्ति है।' ईश्वर शब्द का अर्थ है समर्थ। अतः अपने ज्ञानादि पूर्ण शुद्ध स्वरूप में पूर्ण समर्थ होने वाले के लिए 'ईश्वर' शब्द बराबर लागू हो सकता है[1]।

जैन शास्त्र का मत है कि मोक्ष प्राप्ति के साधन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र का अभ्यास जब पूर्ण स्थिति पर पहुँच जाता है तब संपूर्ण आवरण का बंधन दूर हट जाता है और आत्मा का ज्ञान पूर्ण रूप से प्रकाशित होता है। इसी स्थिति का नाम ईश्वरत्व है।

ईश्वर एक ही व्यक्ति नहीं। पूर्ण आत्म-स्थिति पर पहुँचने वाले सभी सिद्ध भगवान् या ईश्वर बनने के अधिकारी हैं। कहा जाता कि 'जिस प्रकार भिन्न-भिन्न नदियों अथवा कूपों का एकत्रित किया हुआ जल एक में मिल जाता है तो उनमें किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रहता उसी प्रकार प्रकृति में भी भिन्न भिन्न जलों की भाँति एक दूसरे में मिले हुए सिद्धों के विषय में एक ईश्वर या एक भगवान का व्यवहार होना भी असंगत अथवा अघटित नहीं है[2]।'

हमें इसी सिद्धांत का प्रतिपादन जैन रासों में मिलता है। गौतम स्वामी से दीक्षित ५०० शिष्य जब केवली बन गए तो उन्होंने भगवान् महावीर के सामने मस्तक झुकाने की आवश्यकता नहीं समझी क्योंकि वे स्वतः ईश्वर बन गए थे। इसी कारण जैन परंपरा में भगवान् महावीर और उनसे पूर्व होने वाले २३ तीर्थंकर[3] भगवान् पद के अधिकारी माने जाते हैं। जैन धर्म के अनुसार कलियुग में भगवान् बनने का अधिकार अब किसी को नहीं है।

किंतु वैष्णव रास में एकमात्र कृष्ण अथवा राम ही ईश्वर अथवा भगवान पद के अधिकारी हैं। गोपियों को कृष्ण के अतिरिक्त और कोई भगवान् सूझता ही नहीं। उद्धव-गोपी-संवाद में श्रीमद्भागवद्कार ने इस तथ्य को

१—मुनि श्री न्यायविजय जी, जैनदर्शन, पृ० ४७।

२—मुनि श्री न्यायविजय जी, जैनदर्शन, पृ० ४८।

३—२४ तीर्थंकर—१. ऋषभ, २. अजित, ३. संभव, ४. अभिनंदन, ५. सुमति, ६. परम, ७. सुपार्श्व, ८. चद्र, ९. सुविधि, १०. शीतल, ११. श्रेयांस, १२. वासुपूज्य, १३. विमल, १४, अनंत, १५. धर्म, १६. शांति, १७. कुंथु, १८. अर, १९. मल्लि, २०. मुनि सुव्रत, २१. नमि, २२. अरिष्टनेमि, २३. पार्श्व, २४. भगवान् महावीर।

और भी स्पष्ट कर दिया है। इस प्रकार जैन रास (गौतम स्वामी रास) में गौतम की रागवृत्ति और गोपियों की रागवृत्ति में अंतर पाया जाना स्वाभाविक है। जैन रास पुत्र-कलत्र आदि के राग-त्याग के साथ साथ गुरु में भी राग निषिद्ध मानता है किंतु वैष्णव रास में भगवान् कृष्ण के प्रति राग अनिवार्य माना जाता है। उस राग के बिना भगवद्-भक्ति की पूर्णता संभव नहीं।

भोग कामना तृप्ति

'उत्तराध्ययन सूत्र' में स्थान स्थान पर यह प्रश्न उठाया गया है कि युवावस्था में काम भोगों का आनंद लेकर वृद्धावस्था में विराग धारण करना श्रेयस्कर है अथवा भोगों से दूर रहकर प्रारंभ से ही वैराग्य अपेक्षित है। यशा ने अपने पति भृगु पुरोहित से कहा था—'आपके कामभोग अच्छे संस्कार युक्त, इकट्ठे मिले हुए, प्रधान रसवाले और पर्याप्त हैं। इसलिए हम लोग इन काम भोगों का आनंद लेकर तत्पश्चात् दीक्षारूप प्रधान मार्ग का अनुसरण करेंगे[1]।' भृगुपुरोहित प्रारंभ से वैराग्य के पक्ष में था।

ठीक इसी प्रकार का प्रश्न सती राजमती के भी जीवन में उठ खड़ा होता है। रथनेमि नामक राजपुत्र उस सती से कहता[2] है—'तुम इधर आओ। प्रथम हम दोनों भोगों को भोगें क्योंकि यह मनुष्य जन्म निश्चय ही मिलना अति कठिन है। अतः भुक्त भोगी होकर पीछे से हम दोनों जिन मार्ग को ग्रहण कर लेंगे। किंतु राजमती ने इस समस्या का उत्तर दिया है। वह सती रथनेमि को फटकारते हुए कहती है—

'हे अयश की कामना करने वाले! तुझे धिक्कार हो जो कि तू असंयत जीवन के कारण से वमन किये हुए को पीने की इच्छा करता है। इससे तो तुम्हारा मर जाना ही अच्छा है[3]।'

१—सुसंभिया काम गुणा इमे ते,
संपिण्डिआ अग्गरसप्पभूया।
भुंजामु ता कामगुणो पगामं,
पच्छा गमिस्सामु पहाणमग्गं॥ उत्तराध्ययन—१४।३१

२—एहि ता भुंजिमो भोए, माणुस्सं खु सुदुल्लहं।
भुक्त भोगा तओ पच्छा, जिणमग्गं चरिस्समो॥उत्तराध्ययन—२२।३८

३—उत्तराध्ययन।

इस फटकार का बड़ा ही सुखद परिणाम हुआ। राजनेमि ने क्रोध, मान, माया और लोभ को जीतकर पाँचों इंद्रियों को वश में करके प्रमाद की ओर बढ़े हुए आत्मा को पीछे हटाकर धर्म में स्थित किया। इस प्रकार राजमती और रथनेमि ने उग्रतप के द्वारा कर्मों का क्षय करके मोक्षगति प्राप्त की। नेमिनाथ जैन मुनियों में प्रमुख स्थान रखते हैं। कदाचित् सबसे अधिक रास काव्य और स्तोत्र इन्हीं के जीवन का अवलंब लेकर लिखे गए हैं। नेमिनाथ और श्रीकृष्ण का संबंध जैन रास (नेमिनाथ रास) में स्पष्ट किया गया है। नेमिनाथ को श्रीकृष्ण का चचेरा भाई कहा गया है। नेमिनाथ बाल्यकाल से ही विरक्त थे। संसार के सुखविलास में इनकी तनिक भी स्पृहा न थी। वे कहा करते थे।

"विषय सुक्खु कहि नरयदुवारू कहि अनंत सुहुसंजमारू।
भलउ बुरउ जाणंतु विचारइ, कागिणि कारणि कोडि कु हारइ॥
पुरण भणइ हरिगाह करवी, नेमिकुमारह पय लग्गेवी।
सामिय इक्कु पसाउ करिज्जउ, वालिय काविसरूव परणिज्जउ॥"

अर्थात् विषय सुख नरक का द्वार है और संयम अनंत सुख का मार्ग है।

नेमकुमार के विरोध करने पर भी उनका विवाह उग्रसेन की लावण्यमयी कन्या राजमती के साथ निश्चित किया गया। जब बरात उग्रसेन के द्वार पर पहुँची तो नेमिनाथ को पशु-पक्षियों का क्रंदन सुनाई पड़ा। उनका हृदय दयार्द्र हो आया और वे विवाह-मंडप में जाने के स्थान पर गिरनार पर्वत पर पहुँच गए।

अह अवसोयणि देवी देविहि देविंदु।
मेरु गिरम्मि रम्मी गउ गहिय जिणंदु॥ १७॥

इससे सिद्ध होता है कि युवावस्था में ही विराग की प्रवृत्ति जैन धर्म में महत्त्वमय मानी जाती है। नेमिकुमार के वैराग्य लेने पर उनकी वाग्दत्ता पत्नी राजमती भी संयमश्री धारण करके आजन्म अविवाहित रह जाती है। इससे सिद्ध होता है कि जैन रास सांसारिक भोगों को तुच्छ समझकर युवावस्था में ही पूर्ण संयम का परिपालन आवश्यक मानता है।

१—रास और रासान्वयी काव्य पृष्ठ १०२।

अहिंसा का सिद्धांत भी इस रास के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। उत्सवों में भी जीव हिंसा के द्वारा आतिथ्य को घृणित माना गया है। इस प्रकार रास ग्रंथ अहिंसा और ब्रह्मचर्य के सिद्धांतों का स्पष्टीकरण करने में समर्थ हुए हैं।

मुक्ति मार्ग

अन्य भारतीय दर्शनों के समान ही जैन जीवन-दर्शन में भी मुक्ति प्राप्ति ही मानव का परम लक्ष्य है। इस लक्ष्य तक पहुँचने के भिन्न २ मार्गों का निर्देश विभिन्न दर्शन शास्त्रों का प्रयोजन रहा है। जैन धर्म में एक स्थान पर कहा गया है—

"श्रद्धा को नगर बनाकर, तप संवर रूप अर्गला, क्षमा रूप कोट, मन वचन तथा काया के क्रमशः बुर्ज, खाई तथा शतघ्नियों की सुरक्षापंक्ति से अजेय दुर्ग बनाओ और पराक्रम के धनुष पर, इर्या समिति रूपी प्रत्यंचा चढ़ाकर; धृति रूपी मूठ से पकड़, सत्य रूपी चाप द्वारा खींचकर, तप रूपी बाण से, कर्म रूपी कंचुक कवच को भेदन कर दो, जिससे संग्राम में पूर्ण विजय प्राप्त कर, मुक्ति के परमधाम को प्राप्त करो।"[1]

न केवल पुरुषों अपितु स्त्रियों को भी नायिका बनाकर रासकारों ने मानव जीवन की सर्वोच्च स्थिति मोक्ष-प्राप्ति को प्रदर्शित करने का प्रयास किया है। विषयासक्ति के पंक में फँसे हुए व्यक्ति को किस प्रकार अध्यात्म-रत्न की प्राप्ति कराई जा सकती है? यही इन रासकारों का उद्देश्य रहा है।

रास की नायिका

चंदनबाला, शीलवती, अंजना सुंदरी, कमलावती, चंद्रलेखा, द्रौपदी, मलय सुंदरी, लीलावती, सुरसुंदरी आदि स्त्रियों के नाम पर अनेक रास ग्रंथों की रचना हुई। इस स्थान पर केवल चंदनबाला और शीलवती रास के आधार पर जीवन दर्शन का विश्लेषण करने का प्रयास किया जायगा।

चंदनबाला रास

चंदनबाला रास की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ जैनपुस्तक भंडारों में मिलती हैं। कदाचित् यह रास मध्ययुग का अतिप्रसिद्ध रास रहा होगा।

१—जैन धर्म पृष्ठ ४६

इसकी कथा भी मर्मस्पर्शिनी और त्रिकाल सत्य है। कथानक इस प्रकार है।

राजकुमारी चंदनबाला ने युवावस्था में जैसे ही प्रवेश किया और विवाह के लिये योग्य वर की चिंता ज्योंही राजा को होने लगी कि सहसा शत्रु ने राज्य पर आक्रमण कर दिया और सैन्यशक्ति में निर्बल होने के कारण राजा पराजित हो गया। विजेता शत्रु ने राजप्रासाद को रौंद डाला और राजपरिवार भयभीत होकर इतस्ततः पलायन करते हुए शत्रुओं के हाथ आ गया। चंदनबाला एक गुल्म नायक के अधिकार में आ गई और उसके रनिवास में रहने को बाध्य हुई। गुल्मनायक की विवाहिता पत्नी ने उस राजकुमारी का रनिवास में रहना अपने हित में बाधक समझा और उसे खुले बाजार में विक्रय करने की योजना बनाई। राजकुमारी पशु के समान शृंखला में आबद्ध चौहट्टे में विक्रयार्थ लाई गई और विक्रेता उसका मूल्यांकन करने लगे। अंत में एक वेश्या ने उसे खरीद लिया और अपने घर में उसका विधिवत् शृंगार करके वेश्यावृत्ति के लिये बाध्य करने का प्रयत्न करने लगी।

राजकुमारी चंदनबाला उसकी घोर प्रतारणा पर भी शीलधर्म का त्याग करने को प्रस्तुत न हुई और सत्याग्रह के द्वारा प्राणार्पण को सन्नद्ध हो गई। अंत में वेश्या ने भी उसे अपने घर से वहिष्कृत कर दिया और एक सेठ के हाथ उसे बेंच दिया। सेठ संतानरहित था और उसकी अवस्था भी अधेड़ हो चुकी थी। उसने चंदनबाला को अपनी कन्या मानकर अपने घर में रखा किंतु उसकी पत्नी को इससे संतोष न हुआ वह पति के आचरण के प्रति सशंक रहने लगी।

एक दिन सेठ की माल से लदी गाड़ी कीचड़ में फँस गई। सेठ के कर्मचारियों के विविध प्रयास के उपरांत भी गाड़ी कीचड़ से बाहर न निकल सकी। सेठ ने धनहानि की आशंका और कर्मचारियों को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से कीचड़ में घुसकर गाड़ी को बाहर निकाल लिया और उन्हीं पैरों से सारी घटना सुनाने के लिए अपने भवन में प्रवेश किया। पितृस्नेह से उमड़कर चंदनबाला पिता का पाद प्रक्षालन करने लगी। उसी समय उसकी केश राशि मुख के संमुख आ गई और सेठ ने वात्सल्यवश उसको सिर के ऊपर टाल दिया। सेठानी यह कृत्य देखकर क्षुभित हो उठी और वह अपने पति को उसे निकाल देने के लिए विवश करने लगी।

यह रास शताब्दियों से भारतीय समाज-विशेषकर जैन वर्ग का अति प्रिय अभिनेय काव्य रहा है। पवित्र पर्वों पर इसका अभिनय अब भी होता है। गत वर्ष इसी दिल्ली नगरी के नये बाजार मुहल्ले में कई दिन तक इसके अभिनय से जनता का मनोरंजन होता रहा। इसके इतिवृत्त में ऐसा आकर्षण है और करुण रस के परिपाक की इतनी प्रचुर सामग्री है कि सामाजिक सहज ही करुणार्द्र हो उठता है। नारी की निर्बलता से अनुचित लाभ उठानेवाले वेश्यावृत्ति के संचालकों के हृदयकालुष्य और शील प्रतिपालकों की घोर यंत्रणा का दृश्य देखकर किस सहृदय का कलेजा न काँप उठेगा।

विजेता की बर्बरता, समाज की क्रूरता, वेश्या की विवशता, कामुक की रूपलिप्सा मानव की शाश्वत समस्या है। धर्मनिष्ठा का माहात्म्य दिखाकर आपत्ति में धैर्य की क्षमता उत्पन्न करना और शीलरक्षा के यज्ञ में सर्वस्व होम देने की भावना को बलवती बनाना इस रास का उद्देश्य है। नृत्यसंगीत के आधार पर इसका अभिनय शताब्दियों से स्पृहणीय रहा है और किसी न किसी रूप में भविष्य में भी इसका अस्तित्व अक्षुण्ण बना ही रहेगा। इस रास के आधार पर जैन आगमों के कई सिद्धांत प्रतिपादित किए जा सकते हैं—प्रथम सिद्धांत तो यह है कि राज्यशक्ति परिमित है अतः इसका गर्व मिथ्या है। जिनमें केवल पार्थिव बल है और जो अध्यात्म बल की उपेक्षा करते हैं उन्हें सहसा आपत्ति आ पड़ने पर पश्चात्ताप करना पड़ता है और धैर्य के अभाव में धर्म तो क्या जीवन से भी हाथ धोना पड़ता है।

दूसरा सिद्धांत सत्याग्रह का है। सत्याग्रह में पराजय कभी है ही नहीं। सत्य-पालन के लिए प्राण विसर्जन को प्रस्तुत रहनेवाले अध्यात्मचिंतक की कभी पराजय हो ही नहीं सकती। पर इस स्थिति में पहुँचना हँसी खेल नहीं। साधक को वहाँ तक पहुँचने के लिए १४ मानसिक भूमियों को पार करना पड़ता है। दार्शनिकों ने इसे आत्मा की उत्क्रांति की पथरेखा माना है। मोक्षरूपी प्रासाद तक पहुँचने के लिए इन्हें १४ सोपान भी कहा गया है। उन १४ सोपानों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) मिथ्यादृष्टि (२) सासादन (३) मिश्र (४) अविरतिसम्यग-दृष्टि, (५) देशविरति, (६) प्रमत्त, (७) अप्रमत्त (८) अपूर्वकरण (९) अनिवृत्तिकरण (१०) सूक्ष्मसम्पराय (११) उपशांतमोह, (१२) क्षीण-मोह, (१३) संयोग केवली और (१४) अयोगिकेवली। इनका विवेचन हम पूर्व कर आए हैं।

शीलवतीनो रास

पातिव्रत धर्म की अपार महिमा का ज्ञान कराने के लिए कतिपय नायिका-प्रधान रासग्रंथों की रचना हुई जिनमें 'शीलवती रास' जनता में विशेष रूप से प्रचलित बना। इस रास में पतिव्रता शीलवती को निरपराध ही अनेक कष्टों का सामना करना पड़ा। किंतु अंत में शील-पालन के कारण उसे पति सुख की प्राप्ति हुई। इस रास में देवदानवों का रोमांचकारी वर्णन और अनेक नारियों की विपदामय कथा का उल्लेख मिलता है। इस रास के अंत में जीवन दर्शन की व्याख्या इस प्रकार संक्षिप्त रूप से की हुई है—'जो व्यक्ति शमदमशील रूपी कवच धारण करता है, साधुसंग में विचरण करता है, जिन वचनों का पालन करता है, क्रोधादिक मान को त्याग कर कामाग्नि से बचा रहता है, सम्यक्त्वरूपी जल में अवगाहन करता है, धर्मध्यान रूपी लता के मूल में आबद्ध रहता है, मन, वचन और शरीर से योग साधन करता है, कवि विरचित ग्रंथों का अनुशीलन करता है वह चरित्र बल से अवश्य ही मुक्ति प्राप्ति कर लेता है। कवि कहता है।[1]

चरित्र पाली मुक्तिए पो त्या, हुवा द्रव गुणयुक्ता हे;
धन्य धन्य नारी जे गुण युक्ता, पवित्र थई नाम कवता हे।

इस रास में विभिन्न स्वभाव वाली स्त्रियों की प्रवृत्ति का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण मिलता है। राजकुमारी से वेश्या तक, पट्टमहिषी से दासी तक अनेक स्तर में जीवन व्यतीत करनेवाली स्त्रियों की उत्कृष्ट एवं निकृष्ट प्रवृत्तियों का व्यष्टि जीवन एवं समष्टि जीवन पर प्रभाव दिखाकर सदाचरण की ओर मन को प्रेरित करने का प्रयास किया गया है।

जैन रासकारों ने सांसारिक व्यक्तियों के उद्धार के लिए तीर्थंकरों एवं प्रमुख साधकों के संपूर्ण जीवन की प्रमुख घटनाओं को गेय पदों के रूप में अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है। तीर्थंकरों के जीवन में शास्त्रोक्त १४ सोपानों को किसी न किसी रूप में देखा जा सकता है। किंतु अन्य साधकों में प्रायः सात ही सोपान देखने को मिलते हैं।

प्रथम सोपान मिथ्यात्वगुण स्थान कहलाता है। इस गुणस्थान में कल्याणकारक सद्गुणों का प्रारंभिक प्रकटीकरण होता है। इस भूमिका में यथार्थ सम्यक् दर्शन प्रकट नहीं होता, केवल सम्यक् दर्शन की भूमि पर

१—नेमविजय—शीलवतीनो रास—पृ० २७२

पहुँचानेवाले सद्‌गुणों की कुछ कुछ प्राप्ति होने लगती है। इस स्थिति में मिथ्यात्व भी विद्यमान रहता है किंतु मोक्षमार्ग के प्रदर्शन करनेवाले कतिपय गुणों का आभास मिलने लगता है इसलिए इसे मिथ्यात्वगुणस्थान कहा गया है। 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' में युद्ध से वितृष्णा और नेमिनाथ रास में विवाह के समय भोज्य पशुओं का करुणक्रंदन सुनकर वैराग्य इसका प्रमाण है।

सासादनगुणस्थान दूसरा सोपान माना जाता है। इस स्थान पर पहुँचने पर क्रोधादि कषायों के वेग के कारण सम्यक् दर्शन से गिरने की संभावना बनी रहती है। प्रमाण के लिए कोशा वेश्या के यहाँ चातुर्मास बितानेवाले आचार हीन जैनमुनि का जीवन देखा जा सकता है।

मिश्रगुणस्थान यह तीसरा सोपान है। इस स्थिति में सम्यक्त्व एवं मिथ्यात्व का मिश्रण पाया जाता है। इस स्थिति में पहुँचानेवाला साधक डोलायमान स्थिति में पड़ा रहता है। कभी तो वह मिथ्यात्व की ओर झुकता है और कभी सम्यक्त्व की ओर. साधक की यह स्थिति साधना के क्षेत्र में सबसे अधिक महत्वमय मानी जाती है। इस स्थिति में उसकी चित्तवृत्ति कभी विकासोन्मुखी कभी कभी पतनोन्मुखी बनी रहती है। इस गुणस्थान में डोलायमान अवस्था अल्पकाल तक ही बनी रहती है। इस स्थिति में अनंतानुबंधी कषाय न होने के कारण यह उपर्युक्त दोनों गुणस्थानों की अपेक्षा श्रेष्ठ माना जाता है।

चौथे सोपान का नाम अविरतिसम्यक् दृष्टि है। यह गुणस्थान आत्मविकास की मूल आधारभूमि माना जाता है। यहाँ मिथ्या दृष्टि और सम्यक् दृष्टि का अंतर समझना आवश्यक है। मिथ्यादृष्टि में स्वार्थ एवं प्रतिशोध की भावना प्रबल रहती है किंतु सम्यक्‌दृष्टि में साधक सबकी आत्मा को समान समझता है। मिथ्या दृष्टिवाला व्यक्ति पाप मार्ग को अपावन न समझकर "इसमें क्या है?" ऐसी स्वाभाविकता से ग्रहण करता है किंतु सम्यक् दृष्टिवाला व्यक्ति परहित साधन में अपना समस्त समर्पण करने को तैयार रहता है।

पाँचवाँ सोपान देशविरति नाम से प्रख्यात है। सम्यक् दृष्टि पूर्वक गृहस्थ धर्म के नियमों के यथोचित पालन की स्थिति देशविरति कहलाती है। इसमें सम्यक् विराग नहीं अपितु अंशतः विराग अपेक्षणीय है। अर्थात् गार्हस्थ्य

जीवन के विधि विधानों का नियमित पालन देशविरति अथवा मर्यादित विरति कहलाता है।

प्रमत्तगुण स्थान नामक छठा सोपान साधु जीवन की भूमिका है। यहाँ सर्व विरति होने पर भी प्रमाद की संभावना बनी रहती है। विरक्त व्यक्ति में भी कभी कभी कर्तव्य कार्य की उपेक्षा देखी जाती है। इसका कारण प्रमाद माना जाता है। प्रमाद नामक कषाय दसवें सोपान तक किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता है किंतु सातवें गुणस्थान के उपरांत उसकी शक्ति इतनी क्षीण हो जाती है कि वह साधक पर आक्रमण करने में असमर्थ हो जाता है। किंतु छठे स्थान में कर्त्तव्य कर्म के प्रति आलस्य के कारण अनादर बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। इसी कारण प्रमत्त गुणस्थान कहा जाता है।

सातवाँ सोपान अप्रमत्त गुणस्थान है। कर्त्तव्य के प्रति सदा उत्साह रखनेवाले जागरूक व्यक्ति की यह अवस्था मानी जाती है।

आठवाँ सोपान अपूर्वकरण कहलाता है। इस स्थिति में पहुँचनेवाला साधक या तो चारित्रमोहनीय कर्म का उपशम करता है अथवा क्षय। उपशम का अर्थ है दमन कर देना और क्षय का अर्थ है क्रमशः क्षीण करते हुए विलुप्त कर देना।

अनिवृत्ति करण नवाँ सोपान है। आत्मिक भाव की निर्मलता का यह स्थल आठवें स्थल से उच्चतर है। यहाँ पहुँचा हुआ साधक आगामी सोपानों पर चढ़ने में प्रायः समर्थ होता है।

सूक्ष्मसंपराय नामक दसवाँ सोपान साधक के अन्य कषायों को मिटा देता है किंतु एक मात्र लोभ का सूक्ष्म अंश अवशिष्ट रहता है। संपराय का अर्थ है कषाय। यहाँ कषाय का अभिप्राय केवल लोभ समझना चाहिए। इस स्थिति में लोभ के अतिरिक्त सभी कषाय, सपरिवार या तो उपशांत हो जाते हैं, अथवा क्षीण।

उपशांत मोह नामक एकादश सोपान है। इस स्थिति में साधक कषाय रूप चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय नहीं कर पाता केवल उपशम ही कर सकता है। संपूर्ण मोह का उपशमन होने से इसे उपशांत मोह गुणस्थान कहा जाता है।

इसके उपरांत क्षीण मोह की स्थिति आती है। यह बारहवाँ सोपान साधक को केवल ज्ञान प्राप्त कराने में समर्थ होता है। इस गुणस्थान में

आत्मा संपूर्ण मोहावरण, ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अंतराय चक्र का विध्वंस कर देती है।

एकादश और द्वादश सोपान के अंतर को स्पष्ट कर देना आवश्यक है। पानी के द्वारा अग्नि शांत कर देने का नाम क्षय है और राख से उसे ढक देने का नाम उपशम है। उपशमन की हुई अग्नि के पुनः उद्दीप्त होने की संभावना बनी रहती है किंतु जल-निमग्न अग्नि सर्वथा शांत हो जाती है। इसी प्रकार उपशांत मोह का साधक पुनः कषाय का शिकार बन सकता है। किंतु क्षीण मोह की स्थिति में साधक कषाय से सर्वथा विमुक्त हो जाता है।

संयोग-केवली नामक तेरहवाँ सोपान है। देहादि की क्रिया की विद्यमानता में साधक संयोगकेवली कहलाता है। केवल ज्ञान होने के उपरांत भी शरीर के अवयव अपने स्वाभाविक व्यापार से विरत नहीं होते। इसी कारण केवल ज्ञान प्राप्त करनेवाले ऐसे साधक को संयोगकेवली कहते हैं।

अयोगिकेवली साधना की सर्वोच्च अवस्था है। इस अवस्था में देह के समस्त व्यापार शिथिल ही नहीं समाप्त हो जाते हैं। साधक परमात्म-ज्योतिः स्वरूप परम कैवल्य धाम को प्राप्त कर लेता है।

कतिपय रासों में साधु-साध्वी श्रावकादि सभी प्रकार के व्यक्तियों के उपयुक्त आचार-विचार की व्याख्या मिलती है पर कई ऐसे भी रास हैं जिनमें केवल श्रावक धर्म या केवल मुनि-आचरण का विवरण मिलता है।

गुणाकर सूरि कृत 'श्रावकविधिरास' संवत् १३७१ वि० की रचना में श्रावक धर्म का विधिवत् विवेचन मिलता है। इस रास में प्रातःकाल उठने का आदेश देते हुए रासकार कहते हैं—

'तिहिं नर आइ न ओह जिहिं सूता रवि ऊगाइ ए'[1]। 'जिस श्रावक की शयनावस्था में सूर्योदय हो गया उसे न इस जीवन में सुख है और न उस जीवन में!' इसी प्रकार प्रातःकाल के जागरण से लेकर रात्रि शयन तक के श्रावक धर्म का ५० पदों में विवेचन मिलता है। सभी जातियों के सामान्य धर्म का व्याख्यान रासकार का उद्देश्य है। वह लिखते हैं—

१—गुणाकर सूरि श्रावक विधि रास, छंद ४

लोहकार सानार ठंठार, भाडभुंज ग्रनइ कुंभार।

× × ×

खंडण पीसण दलण जु कीजइ, वणजीविया कंमजु कहीजइ।

× × ×

कूव सरोवर वावि खणंते ग्रन्नुवि डड्ढइ कम्म करंते।
सिला कुट्ट कम्म हल पुडण फमेडि बक्कलि भूमिह फोडण।
दंत केस नह रोमइ चम्मइ, संख कवड्डह पोसय कुम्मइ।
सोनर सावय धम्म विसाहइ[1] ॥

तात्पर्य यह है कि जीविका के लिए किसी भी व्यवसाय में तल्लीन श्रावक यदि पर-पीड़ा-निवारण के लिए सन्नद्ध रहता है तो वह पापकर्म से मुक्त है वही सुजन है—

जेव पीडा परिहरइ सुजाण।

इसी प्रकार व्यवहार में सरलता प्रत्येक श्रावक का धर्म है—

जाणवि सूधउ करिव ववहारु।

कुत्ता, बिल्ली, मोर, तोता-मैना आदि पशु-पक्षियों को बंधन में रखना भी श्रावक धर्म के विरुद्ध बताया गया है। इस प्रकार न्यायपूर्वक अर्जित धन का चतुर्थांश धर्म में, शेष अपने व्यवहार में व्यय करने की शिक्षा रासकार ने मधुर शब्दों में दी है। संपूर्ण दिन अपने व्यवसाय में बिताकर रात्रि का प्रथम प्रहर धर्म चर्चा में व्यतीत करना श्रावक का कर्त्तव्य है—

रयणिहि बीतइ पढम पहरि नवकार भणेविण।
अरिहंत सिद्ध सुसाध धम्म सरणाइ पइसेविण[2] ॥

यदि कुगुरु से कोसों दूर रहने की शिक्षा दी जाती है तो सद्गुरु की नित्य वंदना का भी उपदेश है—

'नितु नितु सहगुरु पाय वंदिजए, संभलउ साविया सील तुम दिजए।' कुम्हार, लोहार, सोनार आदि अशिक्षित वर्ग के वे श्रावकजन जिन्हें

१—गुणाकर सूरि-श्रावक विधि रास, छंद २६।
२— ,, ,, छंद २२-४२

धर्म के गूढ़ सिद्धांतों के अध्ययन का कभी अवसर नहीं मिलता श्रावक धर्म के सामान्य विचारों को रासगायकों के मुख से श्रवण कर जीवन को सफल बनाने की प्रेरणा पाते रहे हैं। रासकार कवियों और रास के अभिनेता एवं गायक समाज को सुव्यवस्थित एवं धर्मपरायण बनाने में इस प्रकार महत् योगदान देते चले आ रहे हैं। इन्हीं के प्रयास से भारतीय जनता आपत्तिकाल में भी अपने कर्त्तव्य से विचलित न होने पायी। रास काव्य की यह बड़ी महिमा है।

पौराणिक आख्यान पर आद्धृत रासों में जैन दर्शन

रासकर्त्ता जैन कवियों ने कतिपय हिंदू पौराणिक गाथाओं का अवलंबन लेकर रासों की रचना की है। उदाहरण के लिए नल-दवदंती रास, पंच पांडव चरित रास, हरिश्चंद्रराजानुरास आदि।

उक्त रासों में पौराणिक गाथाएँ कहीं कहीं परवर्तित रूप में पाई जातीं हैं। यद्यपि मूलभित्ति पुराणों में प्रचलित आख्यान ही होते हैं किंतु घटना-क्रम के विकास में जहाँ भी जैन दर्शन के विवेचन एवं विश्लेपण का कवि को अवकाश मिला है वहीं वह दार्शनिकता का पुट देने के लिए घटना को नया मोड़ देकर उसमें स्वरचित लघु (प्रकरी) घटनाएँ सम्मिश्रित करता हुआ पुनः मूल घटना की ओर आ जाता है। इस प्रकार अति प्रचलित पौराणिक घटनाओं के माध्यम से रासकार अपने पाठकों और प्रेक्षकों के हृदय पर अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह आदि सद्गुणों का प्रभाव डालने का प्रयास करता है। उदाहरण के लिए 'नल दवदंती' रास लीजिए। इस रास में कवि ने मूल कथा के स्वरूप को तो अविकृत ही रखा है किंतु उसमें एक नई घटना इस प्रकार सम्मिश्रित कर दी है—

एक बार सागरपुर के मम्मण राजा अपनी राजमहिपी वीरमती के साथ आखेट करते हुए नगर से दूर एक निर्जन स्थान में पहुँच गया। वहाँ उसे एक ऋषि तीर्थाटन करते हुए दिखाई पड़े। राजा ने अकारण ही उस ऋषि की भर्त्सना की, किंतु उदारचेता ऋषि ने अपने मन में किसी भी प्रकार का मनोमालिन्य न आने दिया। इसका राजा पर बड़ा प्रभाव पड़ा और राजा ने ऋषि से क्षमा याचना के साथ साथ उपदेश की याचना की।

रासकार को जैन दर्शन के विश्लेपण का यहाँ सुंदर अवसर मिल गया और उस मुनि के माध्यम से उन्होंने राजा को इस प्रकार उपदेश दिलाया—?

सुपात्रिइ दान दीजीइ, गृही तणु धरम ।
यती व्रती नवि साचवइ, ये जाणेवु अधम ॥
सुमासूं मुनि रायीया, श्राद्धधर्म कहिउ तेह ।
समकित शुद्ध प्रतिपालइ, बार व्रत छइ जेह ॥

इसी प्रकार 'पंचपांडवचरितरास' में पांडवों की मूल कथा का अवलंब लेकर रासकर्ता ने जैन धर्म के अनुरूप यत्र तत्र प्रकरी के रूप में लघु कथाओं को समन्वित कर दिया है। इस रास की प्रथम ठवनि में जह्नु कन्या गंगा का शांतनु के साथ विवाह दिखलाया गया है। शांतनु को इसमें जीव-हिंसक ऐसे आखेटक के रूप में प्रदर्शित किया गया है कि उसकी हिंसक प्रवृत्ति से वितृष्णा होने के कारण गंगा को अपने गांगेय के साथ पितृगृह में २४ वर्ष बिताना पड़ा। इस स्थल पर रासकार को अहिंसा के दोपप्रदर्शन का सुंदर अवसर प्राप्त हो गया है। इसी प्रकार ठवनि आठ में जैन सिद्धांत के अनुसार भाग्यवाद का विवेचन किया गया है। वारणावत नगर में लाक्षागृह के भस्म होने और विदुर के संकेत द्वारा कुंती एवं द्रौपदी सहित पांडवों के सुरंग से निकल जाने के उपरांत रासकार को जैन दर्शन के भाग्य-वाद सिद्धांत के विश्लेषण का सुअवसर प्राप्त हो गया है। ठवनि १५ में नेममुनि के उपदेश से पांडवों के जैन धर्म स्वीकार की कथा रासकार की कल्पना है जो हिंदू पुराणों में अनुपलब्ध है। इस रास के अनुसार पांडव जैन धर्म में दीक्षित हो मुनि बन जाते हैं और जैनाचार्य धर्मघोप उन्हें पूर्व जन्म की कथा सुनाते हुए कहते हैं कि वे पूर्व जन्म में सुरति, शंतनु, देव, सुमति और सुभद्र नाम से विद्यमान थे।

राजा हरिश्चंद्र का कथानक काव्य और नाटक के अति उपयुक्त माना जाता है। इसी पुण्यश्लोक महाराज के पुराण-प्रचलित कथानक को लेकर जैन कवि कनक सुंदर ने श्री 'हरिश्चंद्र राजानु रास' विरचित किया। इसमें राजा हरिश्चंद्र का सत्य की रक्षा के लिए चांडाल के घर विकना, महारानी शैव्या का अपने मृतक पुत्र का शव लेकर श्मशान पर आना, पुत्र का नाम ले लेकर माता का विलाप करना, राजा का रानी से कर के रूप में कफन माँगना आदि बड़े ही मार्मिक शब्दों में दिखलाया गया है। अंत में एक जैन मुनिवर उपस्थित होकर हरिश्चंद्र और शैव्या को उनके पूर्व जन्म की घटना सुनाकर दुख का कारण समझाते हैं। उद्धरण के लिए देखिए—

१—महीराज कृत—नल दवदंती रास ५९ ६

साधु कहे निज जीवने साँभल मन वीर।
भोगव पूर्व भमे किया ए दुख जंजीर॥
करम कमाई आपनी छूटे नहिं कोय।
सुर नरकर में विडंविवा चीत वीचरी जोय॥
करम कमाई प्रमाण ते केहनो नहिं दोष।

मुनिवर के इस आश्वस्त वचन को सुनकर—

'पाय लगी प्रणिपत्य करे हूँ पापी दुष्ट'
× + ×
'समकीत व्रत वेहु आदरे भागो मिथ्यात्व'

राजा हरिश्चंद्र के ऊपर मुनि के उपदेश का इतना प्रभाव पड़ा कि उन्होंने अपने पुत्र को राज्य समर्पित कर धन का दान देकर चारित्रव्रत ले लिया। कवि अंत में कहता है—

'वड़ो रे वैरागी हरिश्चंद्र वन्दिए धन धन करणी रे तास
सत्यवन्त संजमधारी निर्मलु चारित्र पवित्र प्रकाश
पंचमहाव्रत सुध आदरे थयो साधु निर्ग्रंथ'

इस प्रकार पौराणिक कथानकों के आधार पर जैनधर्म के सिद्धांतोंकी ओर पाठक का मन प्रेरित करना रासकारों का उद्देश्य रहा है।

हम पूर्व कह आए हैं कि राम और कृष्ण की पौराणिक आख्यायिकाओं, रामायण और महाभारत की कथाओं का अवलंबन लेकर जैन रासकारों ने अनेक काव्यों की रचना की है। ऐसे रास ग्रंथों में 'रामयशोरसायन रास' प्रसिद्ध माना जाता है, जिसका गान आज तक धार्मिक जनता में पाया जाता है। जैन और वैष्णव दोनों धर्मों को एकता के सूत्र में ग्रथित करने वाला यह रास साहित्य का शृंगार है। इसमें 'राम' नाम की महिमा के विषय में एक स्थान पर मिलता है कि जब 'रा' का उच्चारण करने के लिए मुख खुलता है तो पाप का भंडार शरीर के बाहर मुख के मार्ग से निकल जाता है और 'म' का उच्चारण करते ही जब मुख बंद होता है तो पाप को पुनः शरीर में प्रवेश करने का अवसर नहीं मिलता। इस रास की १२ वीं ढाल में अयोध्या के राजाओं का नामोल्लेख किया गया है किंतु यह

केशराज मुनि—आनंद काव्य महोदधि, पृ० ५६

वर्णन संभवतः किसी जैन पुराण से लिया गया है। इसमें आदीश्वर स्वामी, भरतेश्वर बाहुबलि आदि का वर्णन मिलता है। इस 'ढाल' में राजाओं के संयमव्रत का वर्णन इस प्रकार मिलता है—

समता रस साथे चित्तधरी, राय वरी तवसंजम श्री ॥
ऐ बारस भी ढाल अनूप, संयम व्रत पाले भल भूप।
केशराज ऋपिराज वखाण, कर्ता थाए जनम प्रमाण ॥

काव्य के मध्य में स्थान स्थान पर चरित्र - निर्माण के लिए उपदेश मिलता है। २८ वीं ढाल में कथा के अंत में कवि पतिव्रता नारी का वर्णन करते हुए कहता है—

पतिव्रता व्रत सा चवी पतिसुं प्रेम अपार।
ते सुंदरी संसार में दीसे छै दो चार ॥
खावे पीवे पहिरवे करिवे भोग विलास।
सुन्दर नो मन साध वो जव लग पूरे आस ॥
सुख में आवे आसनी दुःख में अलगी, जाय।
स्वारथणी सा सुन्दरी सखरियाँ में नगिणाय ॥

ढाल के प्रारंभ में टेक भी प्रायः उपदेशप्रद है। जैसे ३० वीं ढाल के आरंभ में है—

धन धन शीलवन्त नर-नारी।
रे भाई सेवो साधु सयाणा हेतु जुगति भला भाव बतावे
तारे जीव अयाणा रे भाई, सेवो साधु...

रामकथा के मध्य में तुलसी के समान ही स्थान स्थान पर इस रास में सूक्तियाँ और उपदेश मिलते हैं। एक स्थान पर देखिए—

पर उपदेशी जग घणो आप न समझे कोय।
राम मढ़े मोहि रहा ताम कहे सुर सोय ॥
डूँगर बल तो देखिये पग तलि नवि पेखन्त।
छिद्र पराया पेखिये पोते नवि देखन्त ॥[1]

अंत में राम की स्तुति नितांत वैष्णव स्तुति के समान प्रतीत होती है। उदाहरण के लिए देखिए—

१—केशराज मुनि—आनंद काव्य महोदधि, ढाल ६० पृ० ३६०

धन प्रभु रामजु धन परिणाम जु
पृथ्वीमाहि प्रशंसवे धन तुझ मातु जो
धन तुझ तात जो धन तेरा कुल वंश वे ॥
मुनि सुव्रत ने तीरथ वरते सुव्रत जु गण धार वे ।
अरह दास वताविये सतगुरु भव जल तारण हार वे॥[१]

प्रशस्ति से पूर्व इस रास का अंत इस प्रकार है कि राम को केवली ज्ञान हो जाता है और वे भक्तों का कल्याण करने में समर्थ होते हैं। अंत में ऋषीश्वर बनकर जरा-मृत्यु से मुक्त हो मोक्ष प्राप्त करते हैं।[२]

पौराणिक कथानक को लेकर एक प्रसिद्ध रास 'देवकी जीना षट्पुत्रनो' मिलता है। इसमें देवकी के छः पुत्रों की पूर्वकथा का वर्णन किया गया है।

हनुमान की माता अंजना का कथानक लेकर 'अंजना सतीनुरास' की रचना की गई है। यह कुल १० लघु ढालों में विरचित है और संभवतः अभिनय की दृष्टि से लिखा गया है। इसमें हनुमान जन्म की कथा इस प्रकार है—

प्राक्रम पूर्ण प्रकटियो कपि के लाक्षण साम।
दुति शशि सम दीपतो थयो बजरंगी नाम ॥[३]

हनुमान के प्रति जैनमुनि की इतनी श्रद्धा वैष्णव और जैन धर्म को समीप लाने में बड़ी ही सहायक हुई होगी।

नायिका प्रधान अनेक रासों की उपलब्धि भी खोज करने पर हो सकती है। मुनिराज श्री चतुर्विजय द्वारा संपादित 'लींबड़ी जैन ज्ञान भंडारनी हस्त-लिखित प्रतिओनुं सूचीपत्र' में निम्नांकित रास ग्रंथों का उल्लेख मिलता है—

१— ,, ,, ,,

२— पचीसहि वरसां लगि पालो प्रभु केवल पर्याय।
भविक जनाना काज समन्या मिथ्या मति मेटाय ॥
पन्द्रह हजार वरसनों आयो पूरोंहि प्रतिपाल।
राम ऋषिश्वर मोक्ष सिधाया जन्म जरा भयटार ॥
नमों नमों श्रीराम ऋषीश्वर अचर अमर कहिवाय।
तीनं लोक ने माथे बैठा सासता सुख लहाय ॥

३—पृ० ३१ ढाल ११ अंजनासतीनु रास

अंजना सुंदरी रास, कमलावती रास, चन्द्रलेखा रास, द्रौपदीरास, मलय-सुंदरीरास, शील वतीनो रास, लीलावती रास, सुरसुंदरी चतुष्पदी रास। इन रासों में द्रौपदी रास पौराणिक कथानक के आधार पर विरचित है जिसके माध्यम से जैनधर्म के सिद्धांतों का निरुपण करना कवि को अभीष्ट प्रतीत होता है। इससे प्रमाणित होता है कि जैन मुनियों ने अपनी दृष्टि व्यापक रखी और उन्होंने वैष्णव और जैनधर्म को समीप लाने का प्रयास किया।

कतिपय जैन रास ऐसे भी उपलब्ध है जिनमें कथा-वस्तु का सर्वथा अभाव पाया जाता है। ये रास केवल धार्मिक सिद्धांतों के विवेचन के निमित्त विरचित हुए जिनमें रासकार का उद्देश्य जैन-मत की मूल मान्यताओं को गेयपदों के द्वारा जनसामान्य को हृदयंगम कराना प्रतीत होता है। ऐसे रासों में 'उपदेश रसायन रास', ('सप्तक्षेत्रिय रास' 'द्रव्य गुण पर्यायनु रास') 'कर्म विपाकनो रास' 'कर्म रेख अनेभावनी रास' 'गुणावली रास' 'मोह विवेकनो रास' 'हित शिक्षारास' आदि प्रसिद्ध हैं। उपदेश रसायन रास का उद्देश्य बताते हुए वृत्तकार लिखते हैं—"कुगुरु-सुपथ-कुपथ-विवेचकं लोक प्रवाह-चैत्य-विधि-निरोधकं विधि चैत्य-विधि धर्म स्वरूपाव बोधकं श्रावक श्राविकाऽऽदिशिक्षाप्रदं धर्मोपदेशपरं द्वादशशताब्द्या उत्तरार्धं प्रणीतं संभाव्यते।"

इससे प्रमाणित होता है कि जिनिदत्त सूरि का उद्देश्य गेयपदों में जैन धर्मतत्त्व विवेचन है। इस रास में भगवान् महावीर के आचार - विचार संबंधी वचनों को जानना आवश्यक बतलाया गया है। साधक के लिए द्रव्य, क्षेत्र और काल का ज्ञान अनिवार्य माना गया है। और उस ज्ञान के अनुकूल आचरण भी धर्म का अंग बतलाया गया है। जिनिदत्त सूरि एक स्थान पर कहते हैं जो ऋचाओं के वास्तविक अर्थ को जानता है वह ईर्ष्या नहीं करता। इसके विपरीत प्रतिनिविष्ठ चित्तवाला व्यक्ति जब तक जीवित रहता है ईर्ष्या नहीं छोड़ता।

परस्पर स्नेह भाव की शिक्षा देते हुए रासकार कहते हैं—"जो धार्मिक धन सहित अपने बंधु बांधवों का ही भक्त रहकर अन्य सद्दृष्टि प्रधान श्रावकों से विरक्त रहता है वह उपयुक्त कार्य नहीं करता क्योंकि जैन शासन में प्रतिपन्न व्यक्ति को परस्पर स्नेह भाव से रहना उचित है।" धार्मिक सहिष्णुता का उपदेश देते हुए मुनि जिनिदत्त सूरि कहते हैं कि भिन्न धर्मावलंबियों को भी

१—जिनिदत्त सूरि—उपदेश रसायन रास, छंद २१

प्रयत्न पूर्वक भोजन वस्त्र आदि देकर संतुष्ट करना चाहिए। दुष्ट वचन बोलने वालों पर भी रोष करना अनुचित है और उनके साथ विवाद में न पड़कर क्षमाशील होना ही उचित है।[1]

इसी प्रकार 'सप्त क्षेत्रिय रास' में जिनवर कथित ९ तत्वों पर सम्यक्त्व के लिए बड़ा बल दिया गया है। वे नौ तत्त्व हैं १—अहिंसा २, सत्य ३, अस्तेय, ४, शील, ५, अपरिग्रह, ६, दिक्प्रमाण, ७, भोगउपभोगव्रत ८, अनर्थदंड का त्याग, ९, सामयक व्रत।

प्राणातिपातव्रतु पहिलउँ होई बीजउ सत्यवचनु जीव जोई।
त्रीजइ व्रति परधनपरिहारो चउथइ शीलतणउ सचारो॥
परिग्रहतणउँ प्रमाणु व्रतु पाचमइ कीजइ।
इणपरि भवह समुद्दो जीव निश्चय तरीजई॥
छट्ठउँ व्रतु दिसितणउ प्रमाणु भोगुवभोगव्रत सातमइ जाणु।
अनरथ व्रत दंड आठमउँ होइ नवमउँ व्रत सामायकु तोइ॥

द्रव्यगुण पर्यायनो रास

उत्तराध्ययन नामक दार्शनिक ग्रंथ में जैन धर्म संबंधी प्रायः सभी तथ्यों का विवरण पाया जाता है। 'द्रव्य गुण पर्यायनो रास' में उक्त दर्शन ग्रंथ के सूक्ष्म विवेचन को रास के गेय पदों के माध्यम से समझाने का प्रयास पाया जाता है। यह संसार जड़ और चेतन का समवाय है। जैन दर्शनों में ये दोनों जीव और अजीव के नाम से प्रख्यात हैं। जीव की व्याख्या आगे चलकर पृथक् रूप से विस्तार के साथ की जायगी। अजीव के ५ भेद किये जाते हैं। धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल का शास्त्रीय नाम देने के लिए इनमें प्रत्येक के साथ अस्तिकाय जोड़ दिया जाता है जैसे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल।[1] रासकार इनका उल्लेख 'द्रव्यगुण पर्यायनो रास' में इस प्रकार करता है।

धर्म अधर्म ह गगन समय वली,
पुद्गल जीव ज एह।
षट् द्रव्य कहियाँ रे श्री जिनशासनी,
जास न आदि न छेह॥[2]

१—जिनदत्त सूरि—उपदेश रसायन रास, छंद सं० ७९।
२—यशोविजय गणि विरचित 'द्रव्य गुण पर्यायनो रास' पृ० २०४ छंद १६२

धर्म वह पदार्थ कहलाता है जो गमन करनेवाले प्राणियों को तथा गति करनेवाली जड़ वस्तुओं को उनकी गति में सहायता पहुँचाये। जिस प्रकार पानी मछलियों को तैरने में सहायता पहुँचाता है, जिस प्रकार अवकाश प्राप्त करने में आकाश सहायक माना जाता है उसी प्रकार गति में सहायक धर्म तत्त्व माना जाता है। शास्त्रकार कहते हैं—"स्थले झषक्रिया व्याकुलतया चेष्टाहेत्विच्छाभावादेव न भवति, न तु जलाभावादिति गत्यपेक्षाकारणे माना-भावः।" इति चेत्-रासकार इसी सिद्धांत को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

गति परिणामे रे पुद्गल जीवनइं
झष नइं जल जिम होइ।
तास अपेक्षा रे कारण लोकमां,
धरम द्रव्य गइ रे सोय॥[2]

जैन शास्त्रों में इस बात को स्पष्ट किया गया है कि जब मनुष्य के संपूर्ण कर्म क्षीण हो जाते हैं तो वह मुक्त बनकर ऊर्ध्व गमन करता है। जिस प्रकार मिट्टी से आच्छादित तूँबा जल के वेग से मिट्टी धुल जाने पर नीचे से ऊपर स्वतः आ जाता है, उसी प्रकार कर्म रूपी मल से आच्छादित यह आत्मा मैल निवारण होते ही स्वभावतः मुक्त होकर ऊर्ध्वगामी होता है।

धर्मास्तिकाय के द्वारा वह मुक्त आत्मा गतिशील जगत् के अग्र भाग तक पहुँच जाता है। अधर्मास्तिकाय अब उसको लोक से ऊपर ले जा सकता है। अधर्मास्तिकाय की गति भी एक सीमा तक होती है। उस सीमा के ऊपर पुद्गल माना जाता है। पुद्गल का अर्थ है पुद् और गल। पुद् का अर्थ है संश्लेष (मिलन) और गल का अर्थ है विश्लेष (बिछुड़न)। प्रत्येक शरीर में इसका प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है। अणुसंघातरूप प्रत्येक छोटे बड़े पदार्थ में परमाणुओं का ह्रास विकास हुआ करता है। एक परमाणु दूसरे से संयुक्त अथवा वियुक्त होता रहता है। इसी कारण पुद्गल का मूल तत्त्व परमाणु माना जाता है। शब्द, प्रकाश, धूप, छाया, अंधकार पुद्गल के अंतर्गत हैं। मुक्त जीव पुद्गल

१—काल अस्तिकाय नहीं कहलाता क्योंकि अतीत विनष्ट हो गया भविष्य असत् है केवल वर्तमान क्षण ही सद्भूत काल है। अतः काल क्षणमात्रा का होने से अस्तिकाय नहीं है।

२—यशोविजयगणि-द्रव्यगुण पर्यायनो रास, छंद संख्या १६४

की सीमा को भी पार करता है। अब वह काल के क्षेत्र में प्रवेश करता है। बालक का युवा होना, युवक का वृद्ध होना और वृद्ध का मृत्यु को प्राप्त करना काल की महिमा से होता है। रूपांतर, वर्तन परिवर्तन और नाना प्रकार के परिणाम काल पर ही अवलंबित रहते हैं। मुक्त प्राणी पुद्गल के उपरांत इस काल क्षेत्र को भी उत्तीर्ण कर उच्चप्रदेश में प्रविष्ट होता है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय अजीव पदार्थ माने जाते हैं। मुक्त जीव इन चारों के बंधन से छूटकर परम सूक्ष्म अविभाज्य सबसे अंतिम प्रदेश में प्रविष्ट होता है। 'द्रव्यगुणपर्यायनोरास' में इसका सम्यक् विवेचन मिलता है।

आत्मा

जैन शास्त्रों के अनुसार आत्मा में राग-द्वेष का परिणाम अनादि काल से चला आ रहा है। जिस प्रकार मलीन दर्पण मलविहीन होने पर निर्मल एवं उज्ज्वल होकर चमकने लगता है उसी प्रकार कर्म मल से आच्छादित आत्मा निर्विकार एवं विशुद्ध होने पर प्रकाशमान हो उठती है। आत्मा और कर्म का संबंध कराने वाला कारण आस्रव कहलाता है। जिन प्रवृत्तियों से कर्म के पुद्गल आत्मा की ओर आकृष्ट होते हैं वे प्रवृत्तियाँ आस्रव कहलाती हैं अर्थात् ऐसा कार्य जिससे आत्मा कर्मों से आबद्ध हो जाय आस्रव कहलाता है। कार्य के तीन साधन-मन, वचन और शरीर हैं। मन दुष्ट चिंतन अथवा शुभ चिंतन करता रहता है। वाणी दुष्ट भाषण अथवा शुभ भाषण में तल्लीन रहती है और शरीर असत्य, हिंसा, स्तेय आदि दुष्कर्मों तथा जीव रक्षा, ईश्वर-पूजन, दान आदि सत्कार्यों में व्यस्त रहता है। इस प्रकार कर्म और आत्मा का नीर-क्षीर के समान संबंध हो गया है। इसी संबंध का नाम बंध भी है। इन दोनों को पृथक् करने के लिए हंस के समान विवेक बुद्धि की आवश्यकता होती है। आत्मा रूपी शुद्ध जल से जब राग द्वेप रूपी कल्मप पृथक् कर लिया जाता है तो शुद्ध स्वरूप आत्मा प्रोद्भासित हो उठता है। उस पर आवरण डालने वाले कर्म आठ प्रकार के माने जाते हैं। ज्ञानावरण कर्म आत्मा की ज्ञान-शक्ति को आवृत करता है और दर्शनावरण दर्शन शक्ति को। सुख दुख का अनुभव कराने वाले वेदनीय कर्म कहलाते हैं और स्त्री-पुत्र आदि में मोह उत्पन्न कराने वाले मोहनीय कर्म कहलाते हैं। आयुष्य कर्म चार प्रकार के हैं—देवता का आयुष्य, मनुष्य का आयुष्य; तिर्यंच का आयुष्य और नारकीय जीवों का आयुष्य।

नामकर्म के अनेक प्रकार हैं। जिस प्रकार चित्रकार विविध चित्रों की रचना करता है उसी प्रकार नाम-कर्म नाना प्रकार के देहाकार और रूपाकार की रचना करते हैं। शुभ नामकर्म से बलिष्ठ और मनोरम कलेवर मिलता है और अशुभ कर्म से दुर्बल और विकृत।

गोत्र कर्म के द्वारा यह जीव उत्कृष्ट और निकृष्ट स्थान में जन्म ग्रहण करता है। अंतराय कर्म सत्कर्मों में विघ्न उपस्थित करते हैं। विविध प्रकार से प्रयास करने पर और बुद्धि का पूरा उपयोग करने पर भी कार्य में असफलता दिलाने वाले ये ही अंतराय कर्म होते हैं। जैन शास्त्र का कहना है कि जिस प्रकार बीज वपन करने पर उसका फल सद्यः नहीं मिलता; समय आने पर ही प्राप्त होता है उसी प्रकार ये आठो प्रकार के कर्म नियत समय आने पर फलदायी होते हैं। यही जैन-धर्म का कर्म सिद्धांत कहलाता है।

संवर

संवर (सम्+वृ) शब्द का अर्थ है रोकना, अटकाना। 'जिस उज्ज्वल आत्म परिणाम से कर्म बँधना रुक जाय, वह उज्ज्वल परिणाम संवर है।' जैसे जैसे आत्म-दशा उन्नत होती जाती है वैसे वैसे कर्म बंध कम होते जाते हैं। आस्रव का निरोध जैसे जैसे बढ़ता जाता है वैसे वैसे गुणस्थान की भूमिका भी उन्नत से उन्नततर होती जाती है। जिस समय साधक की आत्मा उक्त आठ प्रकार के कर्मों के मलदोष से शुद्ध हो जाती है उस समय वह शुद्धात्मा बन जाती है।

रास के द्वारा अध्यात्म जीवन की शिक्षा जनसामान्य को हृदयंगम कराना रासकार कवियों एवं महात्माओं का लक्ष्य रहा है। अध्यात्म जीवन का तात्पर्य है आत्मा के शुद्ध स्वरूप को लक्ष्य में रखकर तदनुसार जीवन यापन करना। और उस पावन जीवन के द्वारा अंत में केवल ज्ञान तथा मोक्ष की उपलब्धि करना। इस प्रकार अध्यात्म तत्त्व के परिचय एवं उपयोग से संसार के बंधन से मुक्त होकर जीव मोक्ष प्राप्ति कर लेता है। रासकारों ने काव्य की सरस शैली में जीवन के इसी अंतिम लक्ष्य तक पहुँचने का सुगम मार्ग बताया है।

आत्मा परमात्मा

वैदिक साहित्य में आत्मा को सर्वगत, शुद्ध, अशरीरी, अक्षत, स्नायु से रहित, निर्मल, अपापहत, सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ, सर्वोत्कृष्ट, स्वयंभू माना गया है।

उसी ने नित्यसिद्ध संवत्सर नामक प्रजापतियों के लिए यथायोग्य रीति से अर्थों (कर्तव्यों अथवा पदार्थों) का विभाग किया है।

'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् । कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥'

ईशावास्योपनिषद्—मंत्र ८

उपनिषदों ने आत्मा का स्वरूप समझाने का अनेक प्रकार से प्रयत्न किया है। कहीं कहीं सिद्धांत-निरूपण की तर्क शैली का अनुसरण किया गया है और कहीं कही संवाद - शैली का। बृहदारण्यक में याज्ञवल्क्य ऋषि आरुणि उद्दालक को आत्मा का स्वरूप समझाते हुए कहते हैं—जो पृथ्वी, जल, अग्नि, अंतरिक्ष, वायु, दिशा, चंद्रमा, सूर्य, अंधकार, तेज, सर्वभूत, प्राण, वाणी, चक्षु, श्रोत, मन, वाणी, ज्ञान, बीज सब में विद्यमान है, पर उसे कोई नहीं जानता। जो सबका अंतर्यामी एवं अमृत तत्त्व है वही आत्मा है। वह आत्मा अदृष्ट का द्रष्टा, अश्रुत का श्रोता, अमत का मंता, अविज्ञात का विज्ञाता है। उसके अतिरिक्त देखने सुनने मनन करने वाला अन्य कोई नहीं।

जैन दर्शन और आत्मा

जैन दर्शन आत्मा का उक्त स्वरूप नहीं मानते। उनके अनुसार प्रत्येक शरीर की भिन्न भिन्न आत्मा उसी शरीर में व्याप्त रहती है। शरीर से बाहर आत्मा का अस्तित्व कहाँ। उनका तर्क है कि जिस वस्तु के गुण जहाँ दृश्यमान हों वहीं उस वस्तु का अस्तित्व है। हेमचंद्राचार्य का कथन है कि 'यत्रैव यो दृष्ट गुणः स तत्र कुंभादिवन्निष्प्रतिपक्षमेतत्' अर्थात् जिस स्थान पर घट का रूप दिखाई पड़ रहा हो उस स्थान से भिन्न स्थान पर उस रूप वाला घट कैसे हो सकता है? आचार्य का मत है कि 'ज्ञान, इच्छा आदि गुणों का अनुभव केवल शरीर में ही होने कारण उन गुणों का अधिष्ठाता आत्मा भी केवल शरीर में ही होना चाहिए।'

१—अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञातैष त आत्मान्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्तं ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम—बृहदारण्यक उपनिषद्, तृतीय अध्याय, सप्तम ब्राह्मण।

जहाँ उपनिषद् आत्मा को केवल साक्षी मानते है उसे कर्त्ता और भोक्ता नहीं मानते वहाँ जैन दार्शनिक का कथन है—

'चैतन्यस्वरूपः, परिणामी, कर्ता साक्षाद्भोक्ता, स्वदेह परिमाणः, प्रतिक्षेत्रं भिन्नः, पौद्‌गलिकादृष्टवांश्चाऽयम्[२] ।'

सांख्य जहाँ आत्मा को कमलपत्र की भाँति निर्लेप—परिणाम रहित, क्रिया रहित, बताता है वहाँ जैन दर्शन उसे कर्ता, भोक्ता और परिणामी मानता है। सांख्य, वैशेषिक और न्याय आत्मा को सर्वव्यापी इंगित करते हैं वहाँ जैन दर्शन उसे 'स्वदेह परिमाण' सिद्ध करता है। जैन रासकारों ने जैन दार्शनिक सिद्धांतों का अनुसरण तो किया है पर इन पर बहुत बल नहीं दिया है। जैन रासकारों को 'द्रव्यानुयोग' पर बल न देकर 'चरणकरणानुयोग' को महत्व देना अभीष्ट रहा है। वे लोग श्रावकों, साधु साध्वियों के उत्तम चरित्र का रसमय वर्णन करते हुए श्रोताओं, दर्शकों एवं पाठकों का चरित्र-निर्माण करना चाहते हैं। अतएव धार्मिक विभिन्नता की उपेक्षा करते हुए एकता को ही स्पष्ट किया गया है।

आत्मा सुख दुख का कारण

भगवान् महावीर ने मानव जीवन के सुख-दुख का कारण आत्मा को बताया है। उनका कथन है कि जब आत्मा पवित्र कर्तव्य कार्यों के साथ सहयोग करती है तो मनुष्य सुखी होता है और जब दुष्कर्मों के साथ सहयोग देती है तो मनुष्य दुखी बनता है। उनका कथन है कि आत्मा के नियंत्रण से मनुष्य का विकास होता है।

जैन दार्शनिकों की यह विशेषता है कि वे एक ही पदार्थ का अनेक दृष्टियों से परीक्षण आवश्यक समझते हैं। जहाँ एक स्थल पर आत्मा को देह तक सीमित एवं विनाशी मानते हैं वहाँ दूसरे स्थल 'भगवती सूत्र' में उसे शाश्वत, अमृत, अविकृत एवं सदा स्थायी माना गया है[२]। तीसरे स्थल पर भगवान् महावीर ने आत्मा को नश्वर और अनश्वर दोनों बताया है। एक बार गौतम ने महावीर स्वामी से पूछा—'भगवन्, आत्मा अमर है या मरणशील ?

महावीर बोले—गौतम, आत्मा मर्त्य और अमर्त्य दोनों है।[१] इन दोनों

१—प्रमाणनयतत्वालोक-७, ५६।

२—भागवत शतक ७-४

विरोधी मतों की संगति विठानेवाले आचार्यों का मत है कि चेतना की दृष्टि से आत्मा स्थायी एवं अमर्त्य है क्योंकि अतीत में चेतना थी, वर्तमान में है और भविष्य में भी इसकी स्थिति है। किंतु शरीर की दृष्टि से वह परिवर्तनशील एवं मर्त्य है। बाल्यकाल से युवावस्था और युवावस्था से वृद्धावस्था को प्राप्त होनेवाले शरीर के साथ आत्मा भी परिवर्तित होने के कारण वह परिवर्तनशील एवं मर्त्य है। जैनाचार्यों के अनुसार आत्मा का लक्ष्य है जन्ममरण के आवर्त से पार अमरत्व को प्राप्त करना। 'आत्मा को मुक्ति तभी प्राप्त होती है जब वह पूर्णरीति से शुद्ध हो जाती है।'[1]

आधुनिक जैन दार्शनिकों ने विभिन्न आचार्यों के मत की अन्विति करते हुए आत्मा का जो स्वरूप स्थिर किया है वह विभिन्न धर्मों को समीप लाने वाला सिद्ध होता है। उदाहरण के लिए देखिए—

The form of soul according to jain philosophy can be summed up as 'The soul is an independent, eternal Substance. In the absence of a material and imminent causes it cannot be said to have been originated, One which is not originated cannot bc destroyed. Its main characteristic is knowledge'[2]

जैनधर्म की अनेक विशेषताओं में एक विशेषता यह भी है कि वह सामयिक भाषा के साथ समय के अनुसार नवीन दार्शनिक सिद्धांतों का प्राचीन सिद्धांतों के साथ समन्वय करता चलता है। जब जब समाज में नवीन वातावरण के अनुसार नवीन विचारों की आवश्यकता प्रतीत हुई है तब तब जैन मुनियों ने जीवन के उस नवीन प्रवाह को प्राचीन विचार धारा के साथ संयुक्त कर दिया है। इस संग्रह में १७ वीं शताब्दी तक के रास संमिलित किए गए हैं किंतु रास की धारा आज भी अक्षुण्ण है। जैनधर्म में साधुओं के आचार विचार पर बड़ा बल दिया जाता है। १७ वीं शताब्दी के उपरांत जैन मुनियों के आचार विचार में शैथिल्य आने लगा। स्थानक वासी जैन मुनि परंपरागत आचार विचारों की उपेक्षा करते हुए एक आसन

1—दशवैकालिक ४, १६

२ Muni shri Nagrag ji Jain philosophy and Modern Science. Page 135

पर स्त्री के साथ बैठने लगे। स्त्रियों के निवास स्थान पर रात्रि व्यतीत करने लगे। सरस भोजनों में रस लेने लगे। रात्रि में कक्ष का द्वार बंद करके शयन करने लगे। आवश्यकता से अधिक वस्त्रों का उपयोग होने लगा। नारी रूप को काम दृष्टि से देखने को जैनमुनि लालायित रहने लगे। इन कारणों से मुनिसमाज का चरित्र शैथिल्य देखकर जनता को क्षोभ हो रहा था। श्रावकों ने जैनमुनियों की वंदना भी त्याग दी थी।

ऐसी स्थिति में जैनाचार्यों और जनता के बीच मनोमालिन्य की खाई बढ़ती जा रही थी। जैन मुनि अपनी त्रुटि स्वीकार करने को प्रस्तुत न थे। उधर जनता ने भी स्थानक वासी मुनियों की उपेक्षा ही नहीं अवमानना आरंभ कर दी थी। किसी भी धार्मिक समाज में जब ऐसी अराजकता चरम-सीमा को पहुँचने लगती है तो कोई न कोई तपस्वी सुधारक उत्पन्न होकर अव्यवस्था निवारण के लिए कटिबद्ध हो जाता है। श्वेतांबरों में एक वर्ग का विश्वास है कि इस सुधार का श्रेय भीषण स्वामी को है जिन्होंने जनता की पुकार पर ध्यान देकर स्थानक वासी जैन मुनियों की ओर सबका ध्यान आकर्षित किया और संघ से पृथक् होकर केवल अपने तपोबल से उन्होंने १३ मुनियों को साथ लेकर गाँव गाँव भ्रमण करते हुए चारित्र शैथिल्य के निवारण का प्राणपण से प्रयत्न किया। उन्होंने प्रवचनों और रचनाओं से एक नवीन धार्मिक आंदोलन का संचालन किया जिसका परिणाम मंगलकारी हुआ और जैन समाज में एक नई शक्ति का संचार हो गया।

भीखण स्वामी जन्मजात कवि थे ही उन्होंने संस्कृत प्राकृत और भाषा का अध्ययन भी जमकर किया। परिणाम स्वरूप उनकी काव्य प्रतिभा प्रखर हो उठी और उन्होंने ६१ ग्रंथों की रचना की। उन ग्रंथों में काव्यमय उपदेश की दृष्टि से 'शील की नौ वाड़' 'सुदर्शण सेठ का वाखांण' 'उदाई राजा को वखाण' और 'व्यावलो' प्रमुख रासान्वयी काव्य हैं। उनके जीवन को आधार मान कर आगे चलकर श्रीजयाचार्य ने 'भिक्षु जस रसायन' की रचना उन्नीसवीं शताब्दी में की जिनसे सिद्ध होता है कि भीखण स्वामी ने ३८ सहस्त्र गाथाओं की रचना की थी।[1]

१—बत्तीस अक्षरों के संकलन को एक गाथा गिना जाता है।
आचार्य संत भीखण जी—श्रीचंद्र रामपुरिया प्रकाशक—हमीरमल पुनमचंद, सुजानगढ़

इस ग्रंथ में ब्रह्मचारी को अपने व्रत की रक्षा के लिए शील की नौ वाड़ बनाने का आदेश है। जिस प्रकार गाँव में गो-समूह से खेत की रक्षा के लिए वाड़ बनाने की आवश्यकता होती है उसी प्रकार ब्रह्मचर्य रूपी क्षेत्र को गो (इंद्रिय) प्रहार से सुरक्षित रखने के लिए शील की ९ वाड़ बनानी पड़ती है। उदाहरण के लिए देखिए—

शील की नौ वाड़

खेत गाँव ने गोरवें, न रहे न कीधां वाड़।
रहसी तो खेत इण विधे, दोली कीधां वाड़।
पहली वाड़ में इम कह्या, नारि रहे तिहाँ रात।
तिम ठामे रहणो नहीं, रह्याँ व्रत तणी हुवे घात॥

इसी प्रकार शील दुर्ग की रक्षा के लिए रूप-रस, गंध-स्पर्श आदि इंद्रिय सुख से विरत रहना आवश्यक बताया गया है। स्वामीजी कवित्व शैली में तीसरी वाड़ का वर्णन करते हुए कहते हैं—

अगन कुंड पासे रहे, तो पिघलै घृतनो कुंभ।
ज्युं नारी संगत पुरुष नो, रहे किसी पर ब्रह्म॥
पावक गालै लोह ने, जो रहे पावक संग।
ज्युं एकण सिज्या वैसतां, न रहे व्रत स्युं रंग॥

अति आहार की निंदा करते हुए स्वामी कहते हैं—"जैसे हांडी में शक्ति उपरांत अन्न डालने से अन्न के उबाल आने पर हांडी फूट जाती है उसी तरह अधिक आहार से पेट फटने लगता है और विकार, प्रमाद, रोग, निद्रा, आलस और विषय विकार की वृद्धि होकर ब्रह्मचर्य का नाश हो जाता है।[1]" शील की महिमा संत भीखण जी ने मुक्त कंठ से गाई है। उन्होंने षट्दर्शन का सार शील को माना है—

ऐसो शील निधान रे, भवजीवाँ हितकर आदरो।
ते निश्चै जासी निर्वाण रे, देवलोक में सांसो नहीं॥
षट् दर्शण रे मांह रे, शील अधिको वखाणियो।
तप जप ए सहु जाय रे, शील विना एक पलक में॥[2]

१—संत भीखण जी—शील की नौ वाड़—आठवीं वाड़।
२—आधुनिक कवि ने शील का वर्णन करते हुए कहा है—
'सब धर्मों का एक शील है छिपा खजाना।'
भाषा भाव की दृष्टि से, दोनों की तुलना की जा सकती है।

जब समाज में जैन साधुओं की अवमानना होने लगी और सामान्य जनता धर्म से परांगमुख होने लगी तो इस संत भीखण को सुगुरु और कुगुरु का लक्षण बताकर सुगुरु की सेवा और कुगुरु की उपेक्षा का रहस्य समझाना आवश्यक हो गया। अतः उन्होंने श्रावकों को सावधान करते हुए कहा कि रुपये की परीक्षा आवाज से होती है और साधु की परीक्षा चाल से। जिसकी बुद्धि निर्मल होती है वह रुपये की आवाज से उनकी परख करता है। आगे चलकर एक स्थान पर वे कहते हैं—"खोटा और खरा सिक्का एक झोली में डालकर मूर्ख के हाथ में देने से वह उन्हें पृथक् पृथक् कैसे कर सकता है। ऐसे ही एक देश में रहनेवाले साधु-असाधु की परीक्षा अज्ञानी से नहीं हो सकती।

खोटो नाणो न सांतरो, एकण नोली मांय
ते भोलां रे हाथे दियाँ जुदो कियो किम जाय

कुगुरु की संगति त्याग का उपदेश देते हुए भीखण जी कहते हैं—सोने की छुरी सुंदर होने पर भी उसे कोई अपने पेट में नहीं खोंपता। इसी प्रकार दुर्गति प्राप्त करानेवाले वेशधारी गुरु का आदर किस प्रकार किया जा सकता है! गुरु भवसागर से पार होने के लिये किया जाता है। पर कुगुरु तो दुर्गति में ले जाता है। जो भ्रष्ट गुरु होते हैं उन्हें तुरंत दूर कर देना चाहिए—

सोना री छुरी चोखी घणी जी पिण पेट न मारे कोय।
ए लौकिक दृष्टांत सां भलोजी तूं हृदय विमासी जोय॥
चतुर नर छोड़ो कुगुरु संग।
ज्यूं गुरु किया तिरवा भणी जी ते ले जासी दुर्गति मांय।
जे भागल टूटल गुरु हुवे त्यां ने ऊभा दीजे छिटकाय॥
चतुर नर छोड़ो कुगुरु संग।

भीखण जी ने गुणरहित कुसाधु के त्याग का उपदेश देते हुए कहा है—लाखों कुंड जल से भरे रहते हैं और सब में चंद्रमा का प्रतिबिंब रहता है। मूर्ख सोचता है कि मैं चंद्रमा को पकड़ लूं परंतु वह तो आकाश में रहता है। जो प्रतिबिंब को चंद्रमा मानता है वह पागल नहीं तो क्या है।

इसी प्रकार गुण रहित केवल वेश मात्र से व्यक्ति को साधु समझने वाला अज्ञानी नहीं तो और, क्या है ?[1]

धार्मिक जीवन में श्रद्धा की आवश्यकता का उल्लेख करते हुए भीखण जी कहते हैं—

सिद्धान्त भणायो अनन्ता जीवने रे,
अनन्ता आगे भणीयो सिधंत रे ।
गुरु ने चेलो हुवो सर्व जीवनो रे,
साची सरधा विण न मिटी भ्रांत रे ॥

इसी प्रकार क्रियाहीन जैनसूत्रवाचक साधु की निंदा करते हुए भीखणजी कहते हैं—जैसे गधे पर बावना चंदन लाद देने पर भी वह केवल भार को ढोने वाला ही रहता है उसी प्रकार क्रिया हीन सूत्र पाठक सम्यक्त्व के बिना मूढ़ और अज्ञानी ही रहता है ।

साधु और श्रावक प्रत्येक में श्रद्धा का होना आवश्यक माना गया है । साधु को यदि अपने आचार में श्रद्धा नहीं है और श्रावक में सच्चे साधु के प्रति श्रद्धा नहीं है तो भ्रांति नहीं मिट सकती । बार बार भीखणजी इसकी पुनरावृत्ति करते हुए कहते हैं—[2]

'साचो सरधा विण न मिटी भ्रांत रे ।'

उन्होंने 'सुदर्शन सेठ का बखाण' नामक ग्रंथ में श्रद्धा और शील की विधिवत् महिमा गाई है । इस रास का कथानक संक्षेप में इस प्रकार है—सुदर्शन सेठ अपने मित्र मंत्री कपिल के घर जाता है । कपिल की स्त्री कुलटा कपिला सुदर्शन के सौंदर्य पर मोहित हो जाती है और वह अपनी दासी के द्वारा सेठ सुदर्शन को अपने प्रासाद में आमंत्रित करती है । सुदर्शन के सौंदर्य से काम के वशीभूत हो वह बार बार सेठ को धर्मच्युत करने का प्रयास करती रही । पर सेठ मेरु पर्वत के समान सुदृढ़ बना रहा । कवि ने दोनों का वार्तालाप बड़े ही मार्मिक शब्दों में इस प्रकार वर्णन किया है[3]—

कपिला—म्हांरो मिनपज सारो रे तै मुझ आप सुधारो रे
म्हांरै आसानै बंधा लागी घणां दिनां तणी रे ।

१—आचार्य संत भिक्खु जी—श्री चंद्र रामपुरिया पृ० २२१
२—सुदर्शन सेठ का बखाण—ढाल ४, २७-२८
३— „ „ ढाल ५, ६ और १२

मोस्युं लाजमुकोरे ए अवसर मत चुकोरे
मिनपज मारा रोला हो लीजियरे ।

सेठ—सेठ कहै किपला भणि तुं तो मूढ़ गिंवार ।
पुरष पणों नहिं मोभणि ते नहिं तोनैं खवर लिगार ।
इंद्रादिक सुर नर घड़ा नार तंणा हुवा दास ।
तीणा में पुरुप प्राक्रम हुवै ते उलटी करै अरदास ।

कवि ने कुनारी चरित्र का मनोवैज्ञानिक विश्लेपण बड़ी ही स्पष्ट रीति से इस प्रकार किया है—

भवियंण चरित्र सुणों नारी तणा,
छोड़ो संसार नों फन्द ।
कुसती में ओगण घणां, भाष्या श्री जिनराय ।
नारि कुड़ कपट नि कोथली ओगणं नों भंडार ।
कलह करवा नैं सांतरि भेद पडावंण हार ।
देहली चढतो ढिगपडै चढ़ ज्यावै डुंगर असमान ।
घर में वैठीं डर करै राते जाय मसाण ।
देख विलाइ ओदकै सिंव नैं सन्मुख जाय ।
साप उसींसे दे सोवै उन्दर स्युं भिडकाय ।

कुनारी की विशेपताओं का उल्लेख करते हुए भीखणजी कहते हैं कि वह ऊपर से कोयल और मोर की तरह मीठी बोली बोलती है पर भीतर कुटक के समान विपाक्त रहती है। बंदर के समान अपने पति को गुलाम बना कर नचाती है। वह नाम को तो अवला है पर इस संसार में वह सबसे सबल है—

नाम छै अबला नार नों पण सवलि छै ईण संसार ।
सुर नर किनर देवता स्यानैं पिण वस कीया नार ॥

नारी को प्रवल शक्ति देने वाले उसके अस्त्रों का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

नैंण वैंण नारी तणां बचनज तीखा सैल ।
अंग तीखो तरवार ज्युं ईण मारूयो सकल संकेल ॥

सुदर्शन किसी प्रकार कपिला से पिंड छुड़ा कर उसकी अट्टालिका से बाहर आया। पर कुछ काल के उपरांत ही उसे चंपा नगरी के महाराजा दधिवाहन की महारानी अभया से उलझना पड़ा। वह भी सुदर्शन के रूप-लावण्य पर

मोहित हो गई पर वह अपनी राजसत्ता से भी सुदर्शन को पथच्युत न कर सकी। अंत में विवश होकर रानी अभया ने उस पर बलात्कार का दोषारोपण कर राजा से उसे प्राण-दंड दिलवा दिया। सूली पर चढ़ाने के लिए सुदर्शन जब नगर के मध्य से निकला तो सारा नगर हाहाकार करने लगा। रानी के अत्याचार की कहानी सर्वत्र फैल गई। सेठ सुदर्शन को अंतिम बार उसकी स्त्री से मिलने की अनुमति दी गई। सुदर्शन का अपनी स्त्री से अंतिम विदा लेने का दृश्य बड़ा ही मार्मिक है।

तात्पर्य यह है कि सुदर्शन की धर्मनिष्ठा और चरित्र-दृढ़ता का दिग्दर्शन कराते हुए भीखणजी ने इंद्रिय निग्रह का महत्त्व दिखाने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार रास के द्वारा चरित्र निर्माण की प्रक्रिया १८ वीं शताब्दी तक पाई जाती है। सरहपा, गोरखनाथ, कबीरदास, तुलसी, रहीम, वृंद आदि कवियों की नीति धर्म पदावली की शैली पर चरित्र निर्माण के उपयुक्त काव्य रचना १८ वीं शताब्दी तक होती रही है।

उन्नीसवीं शताब्दी में भीखणजी के चरित्र का अवलंब लेकर 'भिक्षु यश रसायण' की रचना हुई जिसका भी वही उद्देश्य है जो भीखणजी का था।

रास, फाग और व्याहुला का अध्यात्मपरक अर्थ करने का भी विविध कवि मुनियों ने प्रयास किया है। अठारहवीं शताब्दी में श्री लक्ष्मीवल्लभ ने

अध्यात्म परक अर्थ

'अध्यात्म फाग' और श्री भीखण ने 'व्याहुला' की रचना की। दोनों ने क्रमशः फाग और व्याह-कृत्यों का अध्यात्म-परक अर्थ किया है। 'अध्यात्म फाग' में दिखाया गया है कि सुखरूपी कल्पवृक्ष की मंजरी को मनरूपी राजाराम (बलराम) ने हाथ में लेकर कृष्ण के साथ अध्यात्म प्रेम का फाग खेलने की तैयारी की। कृष्ण की शशिकला से मोह का तुषार फट गया। और सोलह पद्मदल विकसित हो गए। सत्य रूपी समीर त्रिगुण संपन्न होकर बहने लगा। समता रूपी सूर्य का प्रकाश बढ़ने से ममता रूपी रात की पीड़ा जाती रही। शील का पीतांबर रचा गया और उर पर संवेग की माला धारण की गई। विविध तप का मोरमुकुट धारण किया गया। इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना की त्रिवेणी प्रवाहित होने लगी। मुनियों का उदार मन रूपी उज्ज्वल हंस उसमें विचरण करने लगा। सुरत की मुरली ने अनाहत की ध्वनि उठी जिससे तीनों लोक विमोहित हो उठे और द्वंद्व-विषाद दूर हो

गया। प्रेम की झोली में भक्ति रूपी गुलाल लेकर होली खेली गई। पुण्य रूपी अबीर के सौरभ से पाप विनष्ट हो गए। सुमति रूपी नारी अत्यंत उल्लसित होकर पति के शरीर का आलिंगन करने लगी। त्रिकुटी रूपी त्रिवेणी के तट पर गुप्त ब्रह्मरंध्र रूपी कुंज में दंपति आनंद-विभोर होकर फाग खेलने लगे। कृष्ण-राधा के वश में इस प्रकार विभोर हो उठे कि उन्होंने अन्य रसरीति त्याग दी। इस अध्यात्म फाग को जो उत्तम रागों में गाता है वह जिनवर का पद प्राप्त करता है[1]।

विवाह संबंधी परंपरागत विश्वासों, अंधविश्वासों, मनोरंजनों, वाद्य संगीतों का भी अध्यात्म परक अर्थ करने का प्रयास आचार्य कवि श्री भीखण जी में पाया जाता है। तत्कालीन लोक-जीवन की मान्यताओं के अध्ययन की दृष्टि से तो इस रासान्वयी काव्य 'ब्याहुला' का महत्त्व है हीं, आध्यात्मिक चिंतन की दृष्टि से भी इसका प्रभाव विगत दो शताब्दियों से अक्षुण्ण माना जाता है। इस अभिनेय काव्य ने अनेक अध्यात्म प्रेमियों को विरक्ति की ओर प्रेरित किया। इसी कारण जैनसमाज में यह काव्य अत्यंत समादृत हुआ। इस काव्य में विवाह के छोटे मोटे समूचे कृत्यों का अध्यात्म परक अर्थ समझाया गया है। कन्या पक्ष के द्वार पर गले में माला पड़ना मानो मायाजाल का फंदा स्वीकार करना है। घर के अंदर प्रवेश करने पर उसके सामने गाड़ी का जुआ रखना इस तथ्य का द्योतक है कि वर महाराज, घर गृहस्थी की गाड़ी में तुम्हें बैल की तरह जुत कर पारिवारिक भार वहन करना होगा। यदि कभी प्रमाद करोगे तो मार्मिक वचनों का प्रहार सहना पड़ेगा। गठबंधन क्या है मानो विवाह के बंधन में आबद्ध हो जाना। हाथ में मेंहदी उस चिह्न का द्योतक है जिसके द्वारा अपनी स्त्री के भरणपोषण के दायित्व में शैथिल्य के कारण तुम गिरफ्तार कर लिए जाओगे। चौक के कोने में तीन बाँस के सहारे मिट्टी के नवघड़े स्थापित किए जाते हैं—उनका अर्थ यह है कि कुदेव, कुगुरु और कुधर्म ये तीनों थोथे बाँस हैं; पांच स्थावर और चार त्रस रूपी नव मिट्टी के घड़े हैं—इनसे सावधान रहो। वर के संमुख हवन का अर्थ है कि तुम भी इसी तरह सांसारिक ज्वाला में भुने जाओगे। फेरे के समय तीन प्रदक्षिणा में स्त्री आगे और पुरुष पीछे रहता है चौथे फेरे से वर को आगे कर दिया जाता है और सातवें फेरे तक वह आगे आगे चलता है जिसका अर्थ है कि अरे पुरुष! सातवें नरक

१—प्राचीन फाग संग्रह—संपादक भोगीलाल ज. सांडेसरा-पृष्ठ २१८-१९।

में तुझे ही जाना पड़ेगा। अंत में कंकण और दोरड़े के खेल के समय वर को एक हाथ द्वारा कंकण खोलना पड़ता है और वधू दोनों हाथों से खोल सकती है। इसका तात्पर्य यह है कि अरे पुरुष! तुझे अकेले ही द्रव्यादि का अर्जन करना होगा। यह विवाह बूरे का लड्डू है; जो खाएगा वह भी पछताएगा और न खाएगा वह भी पश्चाताप करेगा। कारण यह है कि वैवाहिक कृत्यों में धन-संपत्ति का अपव्यय कर मनुष्य चोरी, हिंसा, असत्य आदि दुष्कर्मों के द्वारा मानव जीवन को नष्ट कर देता है। स्त्रीप्रेम के कारण उसे अनंतकाल तक यह यातना सहनी पड़ती है। इसी कारण श्री नेमिनाथ भगवान् विवाह से भागकर तप करने में संलग्न हो गए। भरत चक्रवर्ती ने ६४ हजार रानियां और २४ करोड़ सेना कोएक क्षण में छोड़ दिया। स्त्री के कारण ही महाभारत का युद्ध हुआ। सीता के कारण लंका जैसी नगरी नष्ट हुई। सती पद्मिनी के कारण चित्तौड़ पर आक्रमण हुआ। इन सब प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि पाश का फंदा तो मनुष्य को शीघ्र ही मार देता है परंतु वैवाहिक पाश उसे तुला तुलाकर मारता है।

विवाह के उपरांत स्त्री घर आते ही जन्म देनेवाली माता, पोषण करनेवाले पिता, चिर सहचर भाई और बहिन से संबंध विच्छेद करा देती है। पुत्र-पौत्रादिको के मोह में पड़कर मनुष्य ऋण लेता है; न्यायालय में भागता है; अहर्निश अर्थ की चिंता में चिंतित होकर अपना जीवन विनष्ट कर देता है। यदि दुर्भाग्य से कहीं कर्कशा नारी मिली तो मृत्यु के उपरांत तो क्या, इसी संसार में उसे घोर नरक की यंत्रणा सहनी पड़ती है। इस प्रकार वैवाहिक बंधन के दोषों को इंगित करते हुए श्री भीखण जी ने ब्रह्मचर्यमय तपस्वी जीवन व्यतीत करते हुए मोक्षप्राप्ति के लिए मार्ग प्रशस्त करने का प्रयास किया है।

उपसंहार

वैष्णव और जैन दोनों रास रचनाओं का उद्देश्य है पाठक, श्रोता एवं प्रेक्षक को मानव जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य की ओर प्रेरित करना। मानव मन बड़ा चंचल है। वह सांसारिक भोगविलासों की ओर अनायास दौड़ता है किंतु तपमय पावन जीवन की ओर उसे बलपूर्वक प्रेरित करना पड़ता है। जब तक इसे कोई बलवती प्रेरणा खींच कर ले जानेवाली नहीं मिलती तबतक यह अध्यात्म के पथ पर जाने से भागता है। रासकार का उद्देश्य मन को प्रेरित करनेवाली दृढ़ प्रेरणाओं का निर्माण है। रासकार उन बलवती प्रेरणा

का निर्माण सदाचरण के मूलतत्त्वों के आधार पर कर पाता है। जो मूलतत्त्व जैन और वैष्णव दोनों रासों में समान रूप से पाए जाते हैं, उन्हें अहिंसा, सत्य, शौच, दया और आस्तिक्य नाम से पुकारा जा सकता है। अध्यात्म रथ के यही चार पहिये हैं। दोनों की साधना पद्धति में मन को सांसारिक भोगविलासों से विरक्त बनाना आवश्यक माना जाता है। रोगी - मन का उपचार करनेवाले ये दोनों चिकित्सक दो भिन्न भिन्न पद्धतियों से चिकित्सा करते हैं। वैष्णव वियासक्त मन के विष को राधा-कृष्ण की पावन कामकेलि की सूई लगाकर निर्मल और नीरोग बनाता है किंतु जैन रासकार विषय सुख की असारता सिद्ध करते हुए मन को वैराग्य की ओर प्रेरित करना चाहता है। वैष्णव रास का आलंबन और आश्रय केवल राधाकृष्ण हैं, उन्हीं की रासलीलाओं का वर्णन संपूर्ण उत्तर भारत के वैष्णव कवियों ने किया किंतु जैन रास के आलंबन तीर्थंकर एवं विरत संत महात्मा हैं, उन्हीं के माध्यम से विलासी जीवन की निस्सारता सिद्ध करते हुए जैन रासकार केवल ज्ञान की प्राप्ति के लिए मन में प्रेरणा भरना चाहते हैं।

इससे सिद्ध होता है कि दोनों का उद्देश्य एक है; दोनों रुग्ण मानव-मन को स्वस्थ करने की दो विभिन्न चिकित्सा - प्रणाली का अनुसरण करते हैं। यही रास का जोवन दर्शन है।

———

रास का काव्य-सौंदर्य

रास-साहित्य का विशाल भंडार है। इसमें लौकिक प्रेम से लेकर उज्ज्वल पारलौकिक प्रेम तक का वर्णन मिलता है। केवल लौकिक प्रेम पर आधृत रासों का प्रतिनिधि 'संदेश रासक' को माना जा सकता है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस ग्रंथ की भूमिका में काव्य-सौंदर्य के संबंध में विस्तार के साथ विवेचन किया है। सच पूछिए तो इस रासक में इतना रस भरा है कि पाठक बारबार इसका अनुशीलन करते हुए नया-नया चमत्कार अनायास प्राप्त करके आनंदित हो उठता है। अलंकार, गुण, रस, ध्वनि, शब्द शक्ति आदि किसी भी दृष्टि से इसकी समीक्षा कीजिए इसे उत्तम काव्य की कोटि में रखना पड़ेगा। डा० भायाणी और डा० हजारीप्रसाद ने अपनी भूमिकाओं में इस पर भली प्रकार प्रकाश डाला है अतः इसके संबंध में अधिक कहना पिष्टपेषण होगा।

ऐतिहासिक रासो के काव्य सौंदर्य के विषय में पूर्व विवेचन किया जा चुका है। अतः यहाँ केवल वैष्णव एवं जैन रासों की काव्यगत विशेषताओं पर विचार किया जायगा।

वैष्णव, जैन एवं ऐतिहासिक रासों में क्रमशः प्रेम, वैराग्य और राज-महिमा की प्रधानता दिखाई पड़ती है। वैष्णवों ने राग तत्त्व की शास्त्रीय व्याख्या उपस्थित की है तो जैन कवियों ने वैराग्य का विश्लेषण किया है। जैन कृत ऐतिहासिक रासों में ऐतिहासिक व्यक्तियों के चारित्र्य की महानता दिखाते हुए विरागिता पर बल दिया गया है तो जैनेतर रासों में चरितनायक के शौर्य एवं ऐहिक प्रेम की प्रशंसा की गई है। इस प्रकार उक्त तीनों प्रकार के रासों के प्रतिपाद्य विषय में विभिन्नता होने के कारण उनकी गृहीत काव्य शैली में भी अंतर आ गया है। इस प्रसंग में उन तीनों काव्य शैलियों का संक्षेप में विवेचन कर लेना चाहिए।

सर्वप्रथम हम वैष्णव रासों की काव्य शैली पर विचार करेंगे। हम पूर्व कह आए हैं कि १२वीं शताब्दी के महामेधावी राजकवि जयदेव के गीत-

गोविंद की रचना के द्वारा सभी भारतीय साहित्य संगीतोन्मुख हो उठा। शब्द संगीत का राग रागिनियों से इस प्रकार गठबंधन होते देख कविसमाज में नवचेतना जगी। वैष्णव भक्त कवियों को मानो एक वरदान मिला। नृत्य-संगीत के आधार पर सुसंस्कृत सरल भक्तिकाव्य के रसास्वादन से जनता की प्यास और भी उद्दीप्त हो उठी। देशी भाषाओं में राशि-राशि वैष्णव साहित्य उसी गीतगोविंद की शैली पर विरचित होने लगे। समस्त उत्तर भारत के भक्त कवि उस रसधारा में निमज्जित हो उठे। इस प्रचुर साहित्य का एक और परिणाम हुआ। कतिपय कवि काव्यशास्त्रियों ने वैष्णव साहित्य का पर्यवेक्षण कर एक नए रस का आविष्कार किया जो आगे चलकर उज्ज्वल रस के नाम से विख्यात हुआ।

उज्ज्वल रस का अधिकारी

ध्रुवदास जी कहते हैं कि उज्ज्वल रस की अधिकारिणी एक मात्र सखियाँ हैं अथवा जिन भक्तों में सखी भाव है[1]। जिस भक्त के मन में भगवान् के प्रति वैसी ही आसक्ति हो जाती है जैसी गोपियों की कृष्ण के प्रेम में हो गई थी तो वह उज्ज्वल रस का अधिकारी बनता है। उज्ज्वलरस प्रतिपादित करनेवाले आचार्यों का मत है कि जब तक भक्त का मन भगवान् के ऐश्वर्य का चिंतन करता है तब तक वह उज्ज्वल रस का अधिकारी नहीं बनता। ध्रुवदास कहते हैं—

'ईश्वर्जता ज्ञान महातम विषै या रस माधुरी कौ आवर्न है'। जब भक्त अपने चित्त से इस आवरण को उतार फेंकता है तब वह माधुर्य रसास्वादन का अधिकारी बनता है। माधुर्य रस के लिए चित्त में आसक्ति की स्थिति लाना अनिवार्य है। आसक्ति का लक्षण देते हुए ध्रुवदास कहते हैं—

'तन मन की वृत्ति जब प्रेम रस में थकै तब आसक्त कहिये।' उस आसक्ति की स्थिति का वर्णन करते हुए ध्रुवदास कहते हैं—

'नित्य छिन छिन प्रीति रस सिंधु तें तरंग रुचि के उठत रहत है नये नये।'

हम पूर्व कह आए हैं कि वैष्णवरास में भक्तिरस, जैन रास में शांतरस

१—या रस की अधिकारिन सखी है कि जिन भक्तन के सखियन कौ भाव है। धन्य तेई भक्तरसिक...तामें प्रेम ही कौ नेम नित्य है एक रस है कबहू न छूटै इहा प्रेम में कछू भेद नाहीं। —बयालीस लीला, हस्तलिखित प्रति, पन्ना ३५

और जैनेतर ऐतिहासिक रासों में वीर रस की प्रधानता रही है। स्वभावतः प्रश्न उठता है कि क्या भक्ति को रसकोटि में परिगणित किया जा सकता है। विभिन्न आचार्यों ने इस पर विभिन्न मत दिया है। संस्कृत के अंतिम काव्यशास्त्री कविराज जगन्नाथ भक्ति को देवविषयक रति के कारण रस की कोटि में नहीं रखना चाहते। इसके विपरीत रूपगोस्वामी एवं जीव-गोस्वामी ने भक्तिरस को ही रस मानकर अन्य रसों को इसका अनुवर्त्ती सिद्ध किया है। जीव गोस्वामी ने प्रीतिसंदर्भ में रस विवेचन करते हुए लिखा है कि पूर्व आचार्यों ने जिस देवादि विषयक रति को भाव के अंतर्गत परिगणित किया है वह सामान्य देवताओं की रति का प्रसंग था। देवाधिदेव रासरसिक कृष्ण की रति भाव के अंतर्गत कैसे आ सकती है। वे लिखते हैं—

भक्तिरस या भाव

यत्तु प्राकृतरसिकैः रससामग्रीविरहाद् भक्तौ रसत्वं नेष्टम् तत् खलु प्राकृतदेवादि विषयमेव सम्भवेत्''तथा तत्र कारणादयः स्वत एवालौकिकाद्भुत रूपत्वेन दर्शिता दर्शनीयश्च।

अर्थात् प्राकृत रसिकों के लिए भक्ति में रससामग्री के अभाव के कारण रसत्व इष्ट नहीं। वह तो प्राकृत देव में ही संभव है।

मधुसूदन सरस्वती ने अपने 'भगवद्भक्ति रसायन' ग्रंथ में इस समस्या को सुलझाने का प्रयास करते हुए कहा है कि भक्तिरस एकमात्र स्वानुभव-सिद्ध है। इसे प्रत्यक्ष प्रमाणों द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता।

इसके विपरीत,भक्त कवि एवं काव्यशास्त्री रूपगोस्वामी ने स्वरचित काव्यों, नाटकों एवं अन्य कवि-विरचित कृष्णलीला पदों के संग्रहों से यह प्रमाणित करने का सफल प्रयास किया कि भक्ति रस ही रस है। डा० सुशील कुमार डे इस प्रयास की विवेचना करते हुए लिखते हैं

"But the attitude is a curious mixture of the literary, the erotic and the religious and the entire scheme as such is an extremely complicated one. There is an enthusiasm, natural to the analytic scholastic mind, for elaborate and subtle psychologising, as well as for developing and refining the inherited rhetorical traditions; but the attempt is also inspired very largely by an antecedent and

still living poetic experience (Jayadeva and Lelasuka), which found expression also in vernacular poetry (Vidyapati and Chandidasa), as well as by the simple piety of popular religions which reflected itself in the conceptions of such Puranas as the श्रीमद्भागवत्, the fountain source of mediaeval Vaishnava Bhakti. But it goes further and rests ultimately on the transcendental in personal religious experience of an emotional character, which does not indeed deny the senses but goes beyond their pale.

नामकरण

भक्ति रस का सार उज्ज्वलरस कहलाता है। इस रस से अभिप्राय है[1] कृष्ण भक्ति का शृंगार रस। आचार्य ने भरत मुनि के उज्ज्वल शब्द से इस रस का नामकरण किया होगा और भक्ति के क्षेत्र में शृंगार को स्थान देकर एक नवीन भक्तिपद्धति का आविष्कार हुआ होगा।

भक्ति के भेद

'भक्तिरसामृत सिंधु' में भक्ति के ४ प्रकार किए गए हैं—(१) सामान्य भक्ति (२) साधन भक्ति (३) भावभक्ति (४) प्रेमा भक्ति। रूप गोस्वामी ने साधनभक्ति, भाव भक्ति और प्रेमाभक्ति को उत्तम कोटि में परिगणित किया है। कारण यह है कि इन तीनों में भक्त भोग वासना और मोक्ष वासना से विनिर्मुक्त होकर एकमात्र कृष्णानुशीलन में तत्पर रहता है। वह अन्याभिलाषाशून्य हो जाता है। इस भक्ति में भक्त को शुचिता, यम-नियम आदि सभी बंधनों से मुक्त होकर निम्नलिखित केवल ६ विशिष्टताओं को अपनाना पड़ता है—(१) क्लेशघ्नत्व (२) शुभदत्व (३) मोक्षलघुताकारित्व (४) सुदुर्लभत्व (५) सान्द्रानन्दविशेषात्मता (६) वशीकरण (कृष्ण को स्ववश करना)।

उपर्युक्त ६ विशिष्टताओं में प्रथम दो को साधना भक्ति के लिए तृतीय

१—नाट्यशास्त्र में शृंगाररस का उल्लेख करते हुए भरत मुनि कहते हैं—
यत्किंचिल्लोके शुचि मेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तत् शृंगारेणोपमीयते।

चतुर्थ की भावभक्ति के लिए पंचम और षष्ठ की प्रेमाभक्ति के लिए आवश्यकता पड़ती है।

सामान्यतया साधन भक्ति की उपलब्धि के उपरांत भाव भक्ति की प्राप्ति होती है किंतु कभी कभी अधिकारी विशेष को पूर्व संचित पुण्य अथवा गुरु-कृपा अथवा दोनों के योग से साधना भक्ति बिना ही भाव भक्ति की स्थिति प्राप्त हो जाती है।

भाव भक्ति आंतरिक भाव-भावना पर निर्भर है और प्रेम या शृंगार-रसस्थिति तक नहीं पहुँच पाती। इसका लक्षण देते हुए रूप गोस्वामी कहते हैं कि जब जन्मजात भावना पावन बनकर शुद्धसत्त्व विशेष का रूप धारण कर लेती है और उसे प्रेमसूर्य की प्रथम किरण का दर्शन होने लगता है तो उसे

भावभक्ति

एक प्रकार का समबुद्धि भाव प्राप्त हो जाता है। यही स्थिति कुछ दिन तक बनी रहती है। तदुपरांत उसमें भगवद्प्राप्ति की अभिलाषा जाग्रत होती है। इस अभिलाषा के जाग्रत होने पर वह भगवान् कृष्ण का सौहार्दाभिलाषी बन जाता है। ऐसे भक्त के अनुभवों का विवेचन करते हुए रूपगोस्वामी लिखते हैं कि उसमें शांति, अव्यर्थकालता, विरक्ति, मानशून्यता, आशाबंध, समुत्कंठा, नामगानरुचि, तद्गुण व्याख्यान आसक्ति, 'तद्वस्तिस्थले प्रीतिः' आने लगती है। ऐसी स्थिति में भक्त को रत्याभास हो जाता है। कृष्णरति की स्थिति इसके उपरांत आती है।

प्रत्येक मनुष्य की मनःस्थिति समान नहीं होती। शास्त्रों ने मनस्तत्त्व का विधिवत् विवेचन किया है। उनका मत है कि मन के विकास-क्रम की मुख्यतया ४ सीढ़ियाँ होती हैं—(१) इन्द्रियमन (२) सर्वेंद्रिय मन (३) सत्त्वमन (४) श्वोवसीयस् मन। ज्ञानशक्तिमय तत्त्व को मन कहते हैं।

भक्त की मन-स्थिति

इन चारों का संबंध चिदंश से है। उसी के कारण ये प्रज्ञात्मक बनते हैं। जबतक मन इंद्रियों का अनुगामी बना रहता है, तब तक वह इंद्रियमन कहलाता है। जब यह विकासोन्मुख होकर स्वयं इंद्रियप्रवर्त्तक बन जाता है तब अशनाया रूप सर्वेंद्रिय मन कहलाता है। जब उससे भी अधिक इसका विकास होने लगता है और पाँचों

१—प्रेम्णः प्रथमच्छविरूप :—

इंद्रियों का अनुकूल-प्रतिकूल वेदनात्मक व्यापार जब सब इंद्रियों में समान रूप से होने लगे तो मन सर्वेंद्रिय मन कहलाता है। इसे ही अनिंद्रिय मन भी कहते हैं। जब चलते हुए किसी एक इंद्रिय विषय का अनुभव नहीं होता, तब भी सर्वेंद्रिय मन अपना कार्य करता ही रहता है। भोग-प्रसक्ति के बिना भी विषयों का चिंतन यही मन करता है।

तीसरी अवस्था है सत्त्वगुणसंपन्न सत्त्वैकघन महान् मन की। यह मन की सुषुप्ति दशा है। उस सत्त्व मन से भी उच्चतर चौथी अवस्था है जिसे अव्यय मन, श्वोवसीयसमन अथवा चिदंश पुरुष मन कहा जाता है। इस मन का "संबंध परात्पर पुरुष की सृष्ट्युन्मुखी कामना से है। वही अणु से अणु और महतो महीयान् है। केंद्रस्थ भाव मन है। वही उक्थ है। जब उसी से अर्क या रश्मियाँ चारों ओर उत्थित होती हैं तो वही परिधि या महिमा के रूप में मनु कहलाता है। यही मन और मनु का संबंध है। यद्यपि अंततोगत्वा दोनों अभिन्न है।"[1] वास्तव में मन की इसी चतुर्थ अवस्था में उज्ज्वल रस का भाव संभव है।

उज्ज्वल रस

रूप गोस्वामी ने उज्ज्वल रस का प्रतिपादन संस्कृत काव्यशास्त्रियों की ही रस शैली पर किया है, पर ध्रुवदास आदि हिंदी कवियों ने काव्य शास्त्र का अवलंब न लेकर स्वानुभूति को ही प्रमाण माना है। ध्रुवदास[2] 'सिद्धांतविचार' नामक ग्रंथ में लिखते हैं—

"प्रेम की बात कछुइक लाडिलीलालजी जैसी उर में उपजाई तैसी कही।"

ध्रुवदासजी कहते हैं कि मेरे मन में अनुभूति का सागर उमड़ रहा है पर मेरी वाणी तो "जैसे सिंधुतें सीप भरि लीजै।"

रूप गोस्वामी उज्ज्वल रस का स्थायी[3] भाव मधुरा रति मानते हैं। कृष्ण-रति का नाम मधुरा रति है। यह रति कृष्ण विग्रह अथवा कृष्ण के

१—वासुदेवशरण अग्रवाल—'भारतीय हिंदू मानव और उसकी भावुकता'
—भूमिका पृ० १३

२—बयालीस लीला—(हस्तलिखित प्रति) का० ना० प्र० सभा पत्रा २९–३०

३—स्थायिभावोऽत्र शृंगारे कथ्यते मधुरा रतिः।
—उज्ज्वल नील मणि पृ० ३८८

अनुकर्त्ता के प्रति भी हो सकती है। ध्रुवदास इसी रति का नाम प्रेम देकर इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—कि प्रेम में "उज्ज्वलता, कोमलता स्निग्धता, सरसता, नौतनता। सदा एक रस रुचत सहज स्वच्छंद मधुरिता मादिकता जाकौ आदि अंत नहीं। छिन छिन नौतन स्वाद।"

ऐसी कृष्ण रति स्थायी भाव है जो अनुभाव विभाव एवं संचारी के योग से उज्ज्वल रस बनकर भक्तों को[1] रसमय कर देता है। काव्यशास्त्र कहता है कि काव्य रस का आनंद रसिक को होता है। कृष्ण भक्त में रसिकता का लक्षण देते हुए ध्रुवदास कहते हैं—

"रसिकता कौ कहियै जो रस कौ सार ग्रहै और जहाँ ताईं भक्त उद्धव जनक सनकादिक अरु लीला द्वारिका मथुरा आदि तिन सबनि पर अति गरिष्ठ सर्वोपर व्रजदेवीन को प्रेम है। ब्रह्मादिक जिनकी पदरज वांछित है। तिनके रस पर महारस अति दुर्लभ श्रीवृंदावन चंद आनंदघन उन्नत नित्य किशोर सबके चूडामनि तिन प्रेम मई निकुंज माधुरी विलास ललिता विशाषा आदि इन सपियन कौ सुष सर्वोपर जानहु।"

उस प्रेम की विशेषता बताते हुए ध्रुवदास कहते हैं कि वह प्रेम 'सदा नौतन तें नौतन एक रस रहै। इनकौ प्रेम समुझनौं अति कठिन है।'

किंतु यह कृष्ण रति भगवान की कृपा से अति सुगम भी है। "जिनपर उनकी कृपा होइ तबही उर में आवै।'

जब भक्त के मन में लाडिली (राधिका) और लाल (कृष्ण) का प्रेमभाव भर जाता है तभी इस रस की उपलब्धि होती है। उस भाव के कथन में वाणी असमर्थ हो जाती है। ध्रुवदास कहते हैं—'इनकौ भाव धरिया ही रस की उपासना में कपट छाड़ि भ्रम छाड़ि निस दिन मन में रहै। अनन्य होइ ताकौ भाग कहिवे कौं कोई समर्थ नाहीं।'

इस कृष्ण प्रेम की विलक्षणता यह है कि भक्त निजदेह सुख को भूल जाता है। प्रेमी के ही रंग में रँगा रहता है। "और ताके अंग संग की जितनी बात है ते सब प्यारी लागै ताके नाते।"

प्रेम का स्थान नेम से ऊँचा बताते हुए ध्रुवदास कहते हैं 'जाकौ आदि

१—स्वाधतां हृदि भक्तानाम्

अंत होइ सो नेम जानिवौ जाकौ अंत नहीं सो प्रेम सर्वदा एक रस रहै सो अद्भुत प्रेम है। प्रेम में नेम वहीं तक मान्य है

प्रेम और नेम

जहाँ तक वह प्रेम से नियंत्रित है। जब नेम प्रेम पर नियंत्रण करने का अभिलाषी बनता है तो वह त्याज्य समझा जाता है। ध्रुवदास कहते हैं कि वस्त्र को उज्ज्वल, श्वेत करने के लिये अन्य उपादान की आवश्यकता है पर लाल रंग में रँगे वस्त्र को उन्हीं उपादानों से फिर सफेद बनाने की आवश्यकता नहीं रहती। यह दशा नेम की है। "जा प्रेम के एक निमेष पर सुख कोटिकलपन के वारि डारियै। स्वाद विशेष के लिये भयौ सुद्ध प्रेम है। जैसें षांड और जल एकत्र कियौ तब षांड न जल सरबत भयौ षांड जल वा वाही में है। ऐसें महामधुर रस स्वाद कौ सुद्ध प्रेम है प्रगट कियौ।"

ध्रुवदास जी ने इस कृष्ण रति (प्रेम) का सांसारिक प्रेम से पार्थक्य दिखाते हुए स्पष्ट कहा है कि भौतिक प्रेम में नायक और नायिका को स्वार्थ की भावना बनी रहती है। एक दूसरे का सुख चाहते हुए भी स्वसुख का सर्वथा समर्पण नहीं देखा जाता। अंतर्मन में स्वसुख की भावना अवश्य विद्यमान रहती है, पर कृष्ण रति की यही महानता है कि गोपियों ने कृष्ण के प्रेम में पति पुत्र सबकी तिलांजलि दे दी थी। 'ध्रुवदास' गोपीप्रेम का वर्णन करते हुए कहते हैं—

"नायक अपनौं सुष चाहे नायका अपनौं सुष चाहे सो यह प्रेम न होय साधारन सुख भोग है। जबताई अपनौं अपनौं सुष चहियै तब ताई प्रेम कहा पाइयै। दोइ सुष दोइ मन दोइ रुचि जबताई एक न होय तबताई प्रेम कहाँ! कामादिक सुख जहाँ स्वारथ भए हैं तौ और सुषन की कौन चलावै। निमित्त रहत नित्य प्रेम सहज एक रस श्री किशोरी किशोर जू कें है और कहूँ नाही।"

इस प्रकार भक्त कवियों ने ऐसे नायिका-नायक का प्रेम वर्णन किया है जिसमें काम वासना का लेश नहीं—

"यह अप्राकृत प्रेम है श्री कृष्ण काम के वस नाही।"

ऐसे अद्भुत प्रेम से उत्पन्न उज्ज्वल रस की व्याख्या करते हुए ध्रुवदास कहते हैं कि नायिका नायक के रूप में इस प्रेम के वर्णन का उद्देश्य यह है कि 'पहलै स्थूल प्रेम समुझै तब मन आगैं चलै। जैसें श्री भागवत की बानी

पहलै नवधा भक्ति करै तब प्रेम लछना आवै। और महापुरुषन अनेक भाँति के रस कहे। ऐ पर इतनी समुझ नीकै उनकौ हियौ कहाँ ठहरानौं सोई गहनी।"[१]

इन उद्धरणों का एकमात्र आशय यह है कि प्रेमभक्ति के अनेक कवियों एवं आठ प्रमुख[२] आचार्यों ने केवल स्वानुभूति के बल पर एक नए रस का आविष्कार किया, जिसका उल्लेख पूर्वाचार्यों के ग्रंथों में कहीं नहीं मिलता। उज्ज्वलरस का शास्त्रीय विवेचन रूपगोस्वामी, जीवगोस्वामी, विश्वनाथ चक्रवर्ती प्रभृति भक्त आचार्यों ने जिस शास्त्रीय पद्धति से किया है उसका परिचय रास साहित्य के माध्यम से इस प्रकार दिया जा सकता है—

उज्ज्वल रस का आलंबन—विभाव कृष्ण हैं। उन्हें पति एवं उपपति दो रूपों में दिखाया गया है। प्राकृत जीवन में उपपति हेय एवं त्याज्य है पर

नायक नायिका

पारमार्थिक जीवन में उपपति कृष्ण उज्ज्वलरस को सद्यः प्रदान करने से सर्वश्रेष्ठ नायक स्वीकार किये गये हैं। 'उज्ज्वल नीलमणि' ने काव्यशास्त्र के आधार पर कृष्ण को धीरोदात्त, धीर ललित आदि रूपों में प्रदर्शित किया है और ब्रह्म ही को रसास्वाद के लिए कृष्ण रूप में अवतरित माना है—

'रसनिर्यास स्वादार्थमवतारिणी'

अतः कृष्ण का उपपतित्व परमार्थ दृष्टि से सर्वोत्तम माना गया है।

कृष्ण के तीन स्वरूप-पूर्णतम, पूर्णतर एवं पूर्ण क्रमशः व्रज, मथुरा एवं द्वारका में प्रदर्शित किए गए हैं। कहीं उन्हें धृष्ट, कहीं शठ और कहीं दक्षिण

१—ध्रुवदास—बयालीस लीला (हस्तलिखित प्रति) पृ० ३१

२—क-रूप गोस्वामी, उज्ज्वलनीलमणि
ख-शिवचरण मित्र, उज्ज्वल चंद्रिका
ग-रूपगोस्वामी, भक्ति रसामृत सिंधु
घ-विकर्णपूर, अलंकार कौस्तुभ
च-गोपालदास, श्री राधा कृष्ण रसकल्पवल्लरी
छ-पीतांबरदास, रसमञ्जरी
ज-नरहरि चंद्र, भक्ति रत्नाकर
झ—नित्यानंददास, प्रेमविलास

नायक के रूप में सिद्ध किया गया है। पर इस विलक्षण नायक की विशेषता बताते हुए कहा गया है—

> सत्यंज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्मज्योतिः सनातनम्।
> यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहित॥
> ते तु ब्रह्मपदं नीता मग्नाः कृष्णेन चोद्धृताः।
> ददृशुर्ब्रह्मणो लोकं यात्राक्रूरोऽध्यगात्पुरा॥

इस नायक की दूसरी विशेषता यह है कि उसने अपने प्रियजनों को निरामय स्वपद प्रदान किया। प्राकृत नायक में यह शक्ति कहाँ संभव है। अतः इस नायक का पतित्व एवं उपपतित्व अध्यात्म दृष्टि से एक है। उसने अपने भक्तों की रुचि के अनुरूप अपना स्वरूप बनाया था। वह स्वतः पाप-पुण्य, सुख-दुख से परे ब्रह्मतत्व है।

नायिका के रूप में राधा और गोपियों को दिखाया गया है। राधा तो कृष्ण से अभिन्न है—

> राधा कृष्ण एक आत्मा दुइ देह धरि।
> अन्योन्य विलसे रस - आस्वादन करि॥

राधा कृष्ण एक ही परमतत्त्व आत्मा हैं जो रसास्वादन के लिए दो शरीर धारण किए हुए हैं। कृष्ण ने ही रासमंडल में अनेक रूप धारण किया है—

"श्री रास मंडले तेमनई आपनाकेउ बहू रूपे प्रकाशित करियाछेन"[1]

भक्त आचार्यों ने काव्यशास्त्रीय-पद्धति पर ही नायिका भेद का विवेचन किया है। किंतु उनके विवेचन में भक्ति का पुट होने से वह पूर्वाचार्यों की मान्य पद्धति से कुछ भिन्न दिखाई पड़ता है। कृष्ण पति और उपपति दोनों रूपों में विवेच्य हैं अतः नायिकाओं के स्वभावतः दो भेद—(१) स्वकीया (२) परकीया—किए गए हैं। हम पूर्व कह आए हैं कि कृष्ण की सोलह सहस्र नायिकाएँ व्रज में थीं और १०८ द्वारका में। कहीं-कहीं ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि उनकी प्रेयसियों की संख्या अनंत थी।

नायिकाभेद

यद्यपि कृष्ण के साथ सभी नायिकाओं का गंधर्व विवाह हो गया था किंतु उसे गुप्त रखने के कारण वे परकीया रूप में ही सामने आती हैं। विश्वनाथ

---

(१) श्री सुधीरचन्द्रराय—कीर्तन पदावली—पदावलीर द्वादशतत्त्व

चक्रवर्त्ती ने इस प्रसंग को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है—'कियन्तः गोकुले स्वीयाऽपि पित्रादिशंकया परकीया एव' अर्थात् कितनी स्वीया नायिकाएँ अभिभावकों के भय से परकीया भाव धारण किए हुए थीं। जीवगोस्वामी ने इस रहस्य को और भी स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"वस्तुतः परम स्वीयाऽपि प्रकट लीलायाम् परकीयमानाः श्रीव्रजदेव्यः"

अर्थात् गोपियों का स्वकीया होते हुए भी परकीया भाव लीलामात्र के लिए है, वास्तविक नहीं।

इसका सबसे बड़ा प्रमाण है कि गोपियों के पति देव के साथ उनका शारीरिक संसर्ग कभी न होने पर गोपों को कभी कृष्ण के प्रति ईर्ष्यादि की भावना नहीं होती। श्रीमद्भागवत् का तो कथन है कि एक ही काल में गोपियाँ अपने पति एवं आराध्यदेव कृष्ण दोनों के साथ विराजमान हैं। इसके अर्थ की इस प्रकार संगति बिठाई जा सकती है कि जो नारी अपने पति की सेवा करते हुए विषय वासना से मुक्त हो निरंतर भगवच्चिंतन करती है वह दोनों के साथ एक रूप में विद्यमान है और उस पर भगवान् का परम अनुग्रह होता है।

स्वकीया और परकीया के भी मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा भेद किए गए हैं। मध्या और प्रगल्भा के भी धीरा, अधीरा, धीराधीरा भेद माने गए हैं। रूप गोस्वामी ने काव्यशास्त्रियों की पद्धति पर इनके अभिसारिका, वासकसज्जा, उत्कंठिता, विप्रलंभा, खंडिता, कलहांतरिता, प्रोषितपतिका, स्वाधीनभर्तृका आठ भेद किये हैं। प्रत्येक वर्ग की गोपी के पुनः तीन भेद—उत्तमा, मध्यमा और कनिष्ठा—किए गए हैं।

रूप गोस्वामी ने कृष्ण वल्लभाओं का एक नवीन वर्गीकरण भी उपस्थित किया है। वे साधन सिद्धा, नित्यसिद्धा अथवा देवी के रूप में संमुख आती है। जिन्हें प्रयत्न द्वारा भगवत्प्रेम मिला है वे साधन सिद्धा है। किंतु राधा-चंद्रावली ऐसी हैं जिन्हें अनायास कृष्णप्रेम प्राप्त है। वे नित्यसिद्धा कहलाती हैं। तीसरी श्रेणी उन गोपियों की है जो कृष्ण अवतार के साथ देव योनि से मानव रूप में अवतरित हुई हैं।

इन गोपियों में कृष्ण की प्रधान नायिका राधा है जिसे तंत्र की ह्लादिनी महाशक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। यही रासेश्वरी सबसे अधिक सौभाग्यवती है। शेष गोपियों के तीन वर्ग हैं—अधिका, समा और

लव्वी। गोपियों का एक और वर्गीकरण उनके स्वभाव के अनुसार किया गया है। वे प्रखरा, मध्या और मृद्वी भी हैं। गोपियों की प्रवृत्ति के अनुसार वे स्वपक्षा, सुहृद्पक्षा, तटस्था एवं विपक्षा भी होती है। इनमें सुहृद्पक्षा एवं तटस्था उज्ज्वल रस की अधिकारिणी नहीं बन सकतीं। केवल राधा के ही भाग्य में रस की साक्षात् उपभोगात्मकता है किंतु अन्य गोपियों में तदनु-मोदनात्मकता की ही उपलब्धि होती है।

अन्य काव्य-शास्त्रियों की शैली पर उद्दीपन विभाव, संचारी और सात्त्विक भावों का भी विवेचन उज्ज्वल रस के प्रसंग में विधिवत् मिलता है। नायक के सहायक रूप में व्रज में भंगुर और भृंगार को, विट रूप में कदार और भारतीबंधु को, पीठमर्द के रूप में श्रीदामन को, और विदूपक के लिए मधुमंगल को चुना गया है। नायिका पक्ष में दूतियों एवं अन्य गोपियों का बड़ा महत्त्व माना गया है। उन्हीं की सहायता से राधिका को उज्ज्वल रस की उप-लब्धि होती है।

स्थायी भाव

प्रत्येक व्यक्ति की कृष्ण-रति एक समान नहीं हो सकती, अतः तारतम्य के अनुसार रूप गोस्वामी ने इसके ६ विभाग किए हैं—(१) अभियोग (२) विपय (३) संबंध (४) अभिमान (५) उपमा (६) स्वभाव।

अभियोग[1]—जब कृष्णरति की अभिव्यक्ति स्वतः अथवा किसी अन्य की प्रेरणा से हो।

विपय[2]—शब्द, स्पर्श, गंधादि के द्वारा रतिभाव की अभिव्यक्ति हो।

संबंध[3]—कुल और रूप आदि में गौरव-भावना के द्वारा कृष्ण रति की अभिव्यक्ति।

अभिमान[4]—किसी विशेप पदार्थ में अभिरुचि के द्वारा।

उपमा[5]—किसी प्रकार के सादृश्य द्वारा कृष्ण रति की अभिव्यक्ति।

१—अभियोगो भवेद्भावव्यक्तिः स्वेन परेण च।

२—शब्दस्पर्शादयः पञ्च विषयाः किल विश्रुताः।

३—सम्बन्धः कुलरूपादिसामग्रीगौरवं भवेत्।

४—सन्तु भूरीणि रम्याणि प्रार्थ्यं स्यादिदमेव मे।
इति यो निर्णयो धीरैरभिमानः स उच्यते।

५—यथा कथंचिदप्यस्य सादृश्यमुपमोदिता।

स्वभाव[1]—बाह्य वस्तु की सहायता बिना ही अकारण जिसमें कृष्ण रति प्रगट होती है।

रूप गोस्वामी का कथन है कि उक्त प्रकार की कृष्ण रति को उत्तरोत्तर उत्तम श्रेणी में परिगणित करना चाहिए।

स्वभाव रति के दो भेद हैं—(१) निसर्ग (२) स्वरूप।

निसर्गरति सुदृढ़ अभ्यासजन्य संस्कार वश उत्पन्न होती है और स्वरूप रति भी अकारण ही होती है पर यह कृष्ण-निष्ठा अथवा ललना-निष्ठा जन्य होती है। स्वभावजा रति केवल गोकुल की ललनाओं में ही संभव है।

"रतिः स्वभावजैव स्यात्प्रायो गोकुलसुभ्रुवाम्"[1]

मधुरारति नायिका के अनुसार तीन प्रकार की होती है—(१) साधारणी (२) समंजसा (३) समर्था।

कुब्जादि में साधारणी मधुरा रति पाई जाती है और रुक्मिणी आदि कृष्ण महिषियों में समंजसा। समर्थामधुरारति की अधिकारिणी एकमात्र गोकुल की देवियाँ हैं। रूप गोस्वामी ने साधारणी मधुरारति की मणि से, समंजसा की चिंतामणि से किंतु समर्था की कौस्तुभ मणि से उपमा दी है। यही समर्था मधुरारति, जिसका उद्देश्य एक मात्र कृष्ण की प्रसन्नता है, उज्ज्वल रस में परिणत हो जाती है। क्योंकि महाभाव[2] की दशा तक पहुँचने की सामर्थ्य इसी मधुरारति में पाई जाती है। उद्धव इसी महाभाव दशा में पहुँची हुई गोपियों का स्तवन करते हैं।

समर्थामधुरारति प्रगाढ़ता की दृष्टि से ६ स्तरों से पार होती हुई उज्ज्वल रस तक पहुँचती है। रूप गोस्वामी ने उनको प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग तथा अनुराग नाम से अभिहित किया है। जिस प्रकार इक्षु से रस, गुड़, खंड, शर्करा, सिता, और सितोपला उत्तरोत्तर श्रेष्ठतर होता जाता है

१—रूप गोस्वामी—उज्ज्वल नीलमणि, पृ० ४०६
(निर्णयसागर प्रेस)

२—इयमेव रतिः प्रौढा महाभाव दशां व्रजेत।
या मृग्या स्याद्विमुक्तानां भक्तानां च वरीयसाम्।
उज्ज्वलनीलमणि, पृ० ४१५

इसी प्रकार मधुरारति प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग और अनुराग का रूप धारण कर उज्ज्वल रस में परिणत हो जाती है। रूप गोस्वामी ने उक्त स्थितियों का बड़ा सूक्ष्म विवेचन करके उनके भेद-प्रभेद की व्याख्या की है। राग की स्थिति तक पहुँचते-पहुँचते कृष्णप्राप्ति में मिलने वाली दुःखद बाधाएँ सुखद बन जाती हैं। राग के दो प्रकार हैं—(१) नीलिमा राग (२) रक्तिमा राग। नीलिमा राग दो प्रकार का है—नीली राग और श्यामा राग। नीली राग अपरिवर्त्तनीय और बाहर से अदृश्य पर श्यामा राग क्रमशः सान्द्र होता हुआ कुछ कुछ दृश्य बन जाता है। रक्तिमा राग भी दो प्रकार का है—(१) कुसुम्भ (२) मंजिष्ठ। कुसुम्भ राग तो कुसुम्भी रंग के समान कालांतर में हल्का पड़ जाता है पर मंजिष्ठ राग अपरिवर्त्तनीय रहता है। उस पर दूसरा रंग नहीं चढ़ सकता है। मंजिष्ठ राग की मधुरा रति का विवेचन करते हुए जीवगोस्वामी कहते हैं कि जिस प्रकार मंजिष्ठ रंग जल के कारण अथवा कालक्रम से अपरिवर्त्तनीय बना रहता है उसी प्रकार मांजिष्ठ राग की मधुरारति संचारि आदि भावों के विचलित होने पर भी कभी न्यून नहीं होती। यह स्वतः सिद्ध रति अपने प्रियतम के प्रति उत्तरोत्तर उत्कर्ष की ओर जाती है

जब भक्त की मांजिष्ठराग की स्थिति परिपक्व बन जाती है तो अनुराग उत्पन्न होता है। अनुराग का लक्षण देते हुए रूप गोस्वामी कहते हैं—

सदानुभूतमपि यः कुर्यान्नवनवं प्रियम्।
रागो भवन्नवनवः सोऽनुराग इतीर्यते॥

जब प्रियतम के प्रति सर्वदा आस्वादित होता हुआ राग नित्य नया बनता जाता है तो अनुराग की स्थिति आती है। अनुराग की परिपक्वावस्था भाव अथवा महाभाव कहलाती है। इसके भी दो सोपान है—(१) रूढ़ (२) अधिरूढ़। अधिरूढ़ में प्रियतम का एक क्षण का वियोग भी असह्य हो जाता है और वह एक क्षण कल्प के सदृश दीर्घकालीन प्रतीत होता है। इस स्थिति में असह्य वेदना भी सुख का कारण जान पड़ती है। रासलीला की नायिकाओं की यही स्थिति है।[1]

१—रूप गोस्वामी—उज्ज्वलनीलमणि, पृ० ४५४

रास साहित्य और सदाचार

वैष्णव राससाहित्य में कृष्ण और गोपियों का स्वच्छन्द विहार देखकर कतिपय आलोचक नाक भौं सिकोड़ने लगते हैं। इसका मूल कारण है स्थापत्य कला और साहित्य में भारतीय दर्शन के उपस्थापन पद्धति से अनभिज्ञता। जो लोग जगन्नाथ और कोणार्क के देवालयों पर मिथुन मूर्त्तियों को देखकर मन्दिरों को घृणित मानते हैं उनका दोष नहीं, क्योंकि वे भारतीय संस्कृति और भारतीय मंदिर - निर्माण - प्रणाली से अनभिज्ञ होने के कारण ही ऐसा कहते हैं।

तथ्य तो यह है कि हमारे देश की मूर्ति कला, चित्रकला और साहित्य में प्रतीक योजना का बड़ा हाथ रहा है। जो हमारी प्रतीक योजना से अनभिज्ञ रहेंगे वे हमारी संस्कृति के मर्म समझ नहीं सकेंगे। हमारी सभ्यता एवं संस्कृति के अनेक उपकरणों पर मिथुन विद्या का प्रभाव परिलक्षित होता है। जिस प्रकार मंदिरों पर उत्कीर्ण मिथुन मूर्त्तियाँ गंभीर दार्शनिक तत्त्व की परिचायक हैं उसी प्रकार रासलीला में कृष्ण के साथ राधा और गोपियों का रमण भी गंभीर दार्शनिकता का सूचक है। इस मर्म को समझे बिना वास्तविक काव्य रस (उज्ज्वल रस) की उपलब्धि संभव नहीं।

जगन्नाथ के मंदिर के दर्शक चार प्रकार के होते हैं। कुछ दर्शन वाह्य प्रदेश में स्थित मिथुन मूर्त्तियों को अश्लीलता एवं असभ्यता का चिह्न मान कर उसे देखना असभ्यता का लक्षण समझते हैं। दूसरे कलाविद् कलाकार की कला पर मुग्ध होकर उसकी सराहना करते हैं? तीसरे सामान्य भक्त दर्शक उसकी ओर विना ध्यान दिए ही मंदिर में भगवान् का वास समझ कर दूर से दंडवत करते हुए आनंदित होते हैं किंतु चैतन्य महाप्रभु सदृश दर्शक मंदिर का वास्तविक रहस्य समझ कर आनंद - विभोर हो उठते हैं और समाधिस्थ बन जाते हैं। उसी प्रकार राससाहित्य के पाठक एवं रासलीला के प्रेक्षकों की चार कोटियाँ होती है। कतिपय अश्रद्धालु इसमें अश्लीलता आरोपित कर पढ़ना अथवा देखना नहीं चाहते। काव्य-रसिक कवि की काव्य कला

१—एक युग के मंदिरों पर अष्ठ मिथुन युग्म का विधान आवश्यक माना जाता था। इनके अभाव में "मन्दिर प्रतीक से संवद्ध सृष्टि के सभी संकेत पूर्ण न होगे और प्रासाद-प्रतीक का निर्माण अपूर्ण रह जायगा। इसलिए मंदिरों पर अष्ट मिथुन का बनाना अनिवार्य सा है।" मिथुन मूर्त्तियों की संख्या एक, आठ अथवा पचास रखी जाती है।

की सराहना करते हुए इसके अलंकार, गुण, रीति एवं शृंगार रस की प्रशंसा करते हैं। श्रद्धालु जनता गूढ़ार्थ समझने की सामर्थ्य न होने से राधा-कृष्ण प्रेम के पठन और दर्शन से आत्म - कल्याण मानकर उससे आनंदित होती है, पर मूल रहस्य को समझने वाले पहुँचे हुए प्रभु - भक्तसाहित्यिक को इसमें शंकरदेव, चैतन्य, वल्लभ, हरिवंश, रूप गोस्वामी, जीव गोस्वामी, पोताना, विट्ठलदास, तुरंज की मनः स्थिति का अनुभव होने से एक विलक्षण प्रकार के रस की अनुभूति होती है, जिसे आचार्यों ने उज्ज्वलरस के नाम से अभिहित किया है।

जिस प्रकार लोल्लट, शंकु, भट्टनायक एवं अभिनवगुप्त ने रसानुभूति तक पहुँचने की मनःस्थिति की व्याख्यायें की हैं उसी प्रकार रूप गोस्वामी, जीव-गोस्वामी, शिवचरण मित्र, कवि कर्णपूर, गोपालदास, पीतांबरदास, नित्यानंद प्रभृति भक्त आचार्यों ने उज्ज्वल रस के अनुभूति-क्रम की व्याख्या प्रस्तुत की है। रास साहित्य की यह बड़ी विशेषता है कि इसने काव्य के क्षेत्र में एक नए रस का अनाविल उपस्थापन किया, ९ काव्य रसों के समान इसके भी अनुभाव, विभाव एवं संचारी भावों की व्याख्या प्रस्तुत हुई।

रासलीला का मुख्य स्थल देवालय होते हैं। हमारे देवालयों के प्रांगण और नाट्यगृह विशाल होते हैं। इन्हीं स्थलों पर भारत के कोने कोने से समवेत यात्री भगवान् की लीला देखने को उत्सुक रहते हैं। हमारे देवालयों की रचना में कलाकार का शास्त्रीय उद्देश्य होता है। देवालय में एक अमृत कलश होता है जिसके ऊपर "कमल कलिका का ऊर्ध्व भाग विंदुस्थान है, जो नाद विंदु के रूप में साकार सृष्टि का आरंभ है। बंद कमल अविकसित सृष्टि का संकेत है। यहाँ से आनंद स्वरूप परमात्मा आकार ग्रहण करने लगता है। इस भावना को आनंदामृत के घट में स्वर्णमयी पुरुष प्रतिमा की स्थापना कर व्यक्त किया जाता है। यह वेदांतियों का आनंदघट, वैदिकों का सोमघट, शाक्तों और वैष्णवों की कामकला वा समरसघट, जैनों का केवलत्व, और बौद्धों की शून्यता और करुणा है। विंदु आनंद को लेकर आत्मविस्तार करने लगता है, और आमलक वृत्त अर्थात् त्रिगुणात्मिका प्रकृति का रूप ग्रहण करता है। इस प्रकार आमलक की संख्या तीन भी हो सकती है। प्रकृति का आमलक-वृत्त फैलता हुआ सृष्टि का विस्तार करता चलता है। इसमें देवलोक, मर्त्यलोक, पाताल, देव, दानव, किन्नर, यक्ष, पशु-पक्षी,

मानव, मिथुनादि की सृष्टि करता हुआ यह वृक्ष भूचक्र के चतुष्कोण में रुक कर स्थिरता प्राप्त करता है और आकार ग्रहण करता है।"

"ऊपर अमृत कलश से नीचे प्रासाद के चतुष्कोण तक अष्ट - भिन्ना प्रकृति का विकास लतागुल्म, पशु-पक्षी, मिथुन, देव-दानव आदि के रूप में दिखाया जाता है। यही अष्ट प्रकृति (पञ्च तत्त्व, मन, बुद्धि, अहंकार) अष्टकोण के रूप में दिखाई जाती है। यही अष्ट-प्रकृति अष्ट दल कमल के रूप में अंकित की जाती है।"

"भित्तियों पर हंस की प्रतिकृति दिखाई जाती है। हंस प्राचीन काल से जीव का प्रतीक माना जाता है। मुख्यप्रासाद के समीप खचित मंजरियों और शृंग के ऊपर धातु विनिर्मित कँगूरों और कलशों पर पड़ कर चमकते हुए सूर्य, चंद्र और ग्रह नक्षत्रों के प्रकाश अनंत आकाश में चमकने वाले तारों के रूप में लोकों के प्रतीक हैं और ऊपर उठता हुआ प्रासाद अनंत व्योम में वर्त्तमान परम पुरुष का प्रत्यक्ष रूप है।"

देवालयों पर खचित देव, गंधर्व, अप्सरा, यक्षादि मूर्त्तियों के हाथों में ढाल, तलवार, वाद्य यंत्र दिखाई पड़ते हैं। ये नर्त्तन करते हुए गगनगामी रूप में प्रतीत होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि अन्नमय कोष वाले प्राणी के समान ये केवल धरा पर रहने वाले नहीं। प्राणमय शरीरी होने से इनकी अव्याहत गति अंतरिक्ष में भी है। वाद्य यंत्र बजाते और नाचते गाते हुए ये जगत् स्रष्टा परम पुरुष की आराधना में तल्लीन अमृतत्व की ओर उड़ते जा रहे हैं। यह मानो 'परम पद की प्राप्ति के लिए जीव मात्र के उद्यम का प्रतीक है।"

— इसी प्रकार मिथुन मूर्त्तियाँ वेद के द्यौ और पृथिवी हैं। 'मंदिरों पर अष्ट मिथुन का बनाना अनिवार्य सा है।' इन मिथुन मूर्त्तियों का तात्पर्य अष्ट प्रकृति के साथ चैतन्य का मिलन है। चेतन के बिना अष्ट प्रकृति निष्क्रिय है। उसमें सक्रियता लाने वाला चेतन पुरुष ब्रह्म है। ब्रह्म के इन मिथुन रूपों की पूजा का विधान है। इस मिथुन प्रतीक में परमानंद के उल्लास से सृष्टि के आरंभ की, ब्रह्म-जीव की लीला की और जीव के मोक्ष की क्रिया अंकित की जाती है।

जनता इस सिद्धांत को विस्मृत न कर दे, इस कारण शिलालेखों पर मनीषियों ने मंदिर-दर्शकों को आदेश दिया है कि जिस शुद्ध बुद्धि से ये

मिथुन मूर्त्तियाँ उत्कीर्ण की गई हैं उसी पावन भावना से इनका दर्शन एवं पूजन विहित है।[1]

यद्यपि इन मिथुन मूर्त्तियों के निर्माण का अत्यधिक प्रचार मध्ययुग में हुआ तथापि ईसा से पूर्व निर्मित साँची के देवालयों में भी इन मिथुन मूर्त्तियों का दर्शन होता है।[2]

उपनिषद् में भी ब्रह्म-जीव एवं पुरुष-प्रकृति की मिथुन भावना का वर्णन इस प्रकार मिलता है—'ब्रह्म को जब एकाकीपन खलने लगा तो उसने अपना स्त्री पुरुष मिश्रित रूप निर्मित किया। उससे पति-पत्नी का आविर्भाव हुआ। उस युग्म से मानव सृष्टि हुई—[3]

स वै नैव रेमे। तस्मादेकाकी न रमते। स द्वितीयमैच्छत् स ह एतावान् आस, यथा स्त्री पुमांसौ संपरिष्वक्तौ। स इमम् एव आत्मानं द्वेधा अपातयत्। ततः पतिश्च पत्नी च अभवताम्। तस्मादिदमर्धबृगलमिव स्वः इति ह स्म आह याज्ञवल्क्यः। तस्मादयम् आकाशः स्त्रिया पूर्यत एव 'तां समभवत्' ततो मनुष्या अजायन्त।

ऐसे वातावरण में रासलीला का विधान है। जिस प्रकार मिथुन मूर्त्तियों का निर्माण गृहस्थों के भवनों पर वर्जित है, उसी प्रकार रासलीला का अभिनय केवल देव स्थानों पर विहित है। रासलीला धारियों का वय आज तक आठ वर्ष से अधिक गर्हित माना जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जिस गूढ़ पावन भावना से सिद्ध भक्तों ने रास की रचना की उसी भावना से इस काव्य का पठन-पाठन एवं प्रदर्शन होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि रास का शृंगार रस उज्ज्वलरस के रूप में तभी आस्वाद अथवा आस्वाद्य बनेगा जब रचयिता की मनः स्थिति तक पहुँचने का प्रयास किया जायगा।

1—Sirpar Inscription, Epigraphic Indica. .Vol. XI. Page 190.

2—The earliest Mithuna yet known is carved on one of the earliest monuments Yet Known, ie-of about the Cen; B. C. in Sanchi Stupa II." Marshall foucher.

३—बृहदारण्यक-१. ४. ३

जैन रासों में काव्य-तत्त्व

जैन रासो के रचयिता प्रायः जैनाचार्य ही रहे हैं। यद्यपि उन महात्माओं के दर्शनार्थ राजे महाराजे, श्रेष्ठी एवं सामंत भी आया करते थे तथापि उनका संपर्क विशेषकर ग्रामीण जनता से ही रहता था। अशिक्षित एवं अर्द्ध-शिक्षित ग्रामवासियों के जीवन को धार्मिकता की ओर उन्मुख करके उन्हें सुख-शांति प्रदान करना इन मुनियों का लक्ष्य था। अतएव जैन कवियों ने सर्वदा जनभाषा और प्रचलित मुहावरों के माध्यम से अपनी धार्मिक अनुभूतियों को कलात्मक शैली में जनता तक पहुँचाने का प्रयास किया। उनकी कलात्मक शैली में तीन कलाओं—संगीत कला, नृत्य कला एवं काव्य कला—का योग था। लोकगीतों में व्यवहृत राग-रागिनियों का आश्रय लेकर नृत्य के उपयुक्त काव्यसृजन उनका ध्येय था। उन कवि जैनाचार्यों से जन-सामान्य की दर्शन एवं काव्य-संबंधी योग्यता छिपी नहीं थी। अतएव उन्होंने इस तथ्य को सदा ध्यान में रखा कि दर्शन एवं काव्य का गूढ़ातिगूढ़ भाव भी सहज बोधगम्य बनाकर पाठकों के संमुख रखा जाय ताकि उन्हें दुर्बोध न प्रतीत हो। इसी कारण अलंकार-नियोजन एवं रसध्वनि के प्रयोग में वे सदा सतर्क रहा करते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि सहज बोधगम्य होने से उनके काव्य आज भी ग्रामीण जनता के प्राण और धर्म पथ के प्रदर्शक बने हुए हैं।

अलंकार

यद्यपि जैन रासो में प्रायः सभी मुख्य अलंकारों की छटा दिखाई पड़ती है तथापि उपमा के प्रति इनकी विशेष रुचि प्रतीत होती है। जैनाचार्य प्रायः अपनी अनुभूति को सरल-सुबोध किंतु सरस पदावली में कहने के अभ्यासी होते हैं। सभी प्रकार के अनुप्रास द्वारा इनकी वाणी में मनोरमता आती जाती है। किंतु जहाँ किसी सूक्ष्म विषय का चित्र सामान्य जनता के मस्तिष्क में उतारना पड़ता है वहाँ ग्राम्य जीवन में व्यवहृत स्थूल पदार्थों के माध्यम से एक के पश्चात् दूसरी तत्पश्चात् तीसरी उपमा की झड़ी लगाकर वे अपने विषय को रोचक एवं सहज बोधगम्य बना देने का प्रयास करते हैं। प्रमाण के लिए देखिए। तपस्वी गौतम स्वामी के सौभाग्य गुण आदि का वर्णन करते हुए कवि विनयप्रभ कहते हैं—जैसे आम्रवृक्ष पर कोयल पंचम स्वर में गाती है, जैसे सुमन-वन में सुरभि महक उठती है, जैसे चंदन सुगंध की निधि है, जैसे गंगा के पानी में लहरें लहराती हैं, जैसे कनकांचल सुमेरु पर्वत अपने

तेज से जगमगाता है उसी भाँति गौतम स्वामी का सौभाग्य समूह शोभायमान हो रहा है।—

> जिम सहकारे कोइल टहुके, जिम कुसुमहवने परिमल वहके,
> जिम चंदन सौगंध निधि;
> जिमि गंगाजल लहरें लहके, जिम कणयाचल तेजे झलके,
> तिम गोतम सोभाग निधि ॥[1]

उक्त छंद में आम के लिए सहकार, सुमेर पर्वत के लिए कनकाचल शब्द का प्रयोग कितना सरस और अवसर के अनुकूल है। उसी प्रकार कोकिल काकली के लिए टहुकना (बार बार एक शब्द की पुनरावृत्ति), परिमल की चतुर्दिक् व्याप्ति के लिए वहकना, गंगा की लहरियों के लिए लहरना और स्वर्ण पर्वत का प्रकाश में झलकना कितना उपयुक्त प्रतीत होता है। अनेक उपमाओं के द्वारा गौतम के सौभाग्य भंडार का बोध पाठक के मन में सहज ही हो जाता है और यह पदावली नृत्य की थिरकन के समय नूपुर-झंकार के भी सर्वथा अनुकूल प्रतीत होती है।

दूसरा उदाहरण देखिए—

गौतम स्वामी को उपयुक्त स्थल पाकर विविध सद्गुण इस प्रकार क्रीड़ा करते हुए शोभा देते हैं जिस प्रकार मानसरोवर में हंस, सुरवर के मस्तक पर स्वर्ण मुकुट, राजीव-वन में सुंदर मधुकर, रत्नाकर में रत्न, गगन में तारागण—

> जिन मानस सर निवसे हंसा, जिम सुरवर शिरे कणयवतंसा,
> जिम महुयर राजीव वने;
> जिम रयणायर रयणे विलसे, जिम अंबर तारागण विकसे,
> तिम गोयम गुण केलि रवनि।[2]

कवि की प्रतिभा का परिचय उपयुक्त शब्द-चयन में देखते ही बनता है। निवसे, विलसे, विकसे—में कितना माधुर्य है। मानसरोवर के लिए मानसर, इंद्र के लिए सुरवर, समुद्र के लिए रत्नाकर, आकाश के लिए अंबर को रखकर कवि ने काव्य को कितना सरस और समयानुकूल बना दिया है। इससे

१—रास और रासान्वयी काव्य—पृ० १४३, ढाल छट्ठी
२—रास और रासान्वयी काव्य—पृष्ठ १४३ छंद ५२

मानससर, सुरवर, महुयर, रयणायर, अंबर की अनुप्रास छटा कितनी मनोहारी बन गई है। जिस प्रकार हंस को अपने मानस के अनुकूल सर (जलाशय) प्राप्त हो गया, स्वर्ण मुकुट को साधारण पार्थिव राजा नहीं अपितु सुर वर का शिर स्थान मिल गया, मधुकर को सामान्य वन नहीं कमल वन की उपलब्धि हो गई, तारागण को विकसित होने के लिए मुक्त अंबर मिल गया; उसी प्रकार सद्गुणों को निवास के लिए गौतम स्वामी का चरित्र मिल गया। काव्य की सरसता के साथ चरित्र-चित्रण की कला का सुंदर सामंजस्य देखकर किस सहृदय का मन उल्लसित न हो उठेगा। नृत्य एवं संगीत के अनुकूल ऐसा सरस अभिनेय काव्य हमारे साहित्य का शृंगार होने योग्य है। आगे चलकर कवि कहता है कि गौतम स्वामी का नाम अपनी लब्धियों के कारण चारो ओर इस प्रकार गूँज रहा है जिस प्रकार शाखाओं से कल्पवृक्ष, मधुर वाणी से उत्तम पुरुष का मुख, केतकी पुष्प से वन प्रदेश, भुजबल से प्रतापी सम्राट् और घंटारव से जिन मन्दिर। कवि उपमा देते समय किस प्रकार अदृश्य से स्थूल दृश्य पदार्थों की ओर आता गया है। कल्पवृक्ष की उपमा गौतम के देवसुलभ गुणों की ओर ध्यान दिलाने के लिए आवश्कक थी। मधुर वाणी के द्वारा उत्तम पुरुष की महिमा का गूँजना उसकी अपेक्षा अधिक बोधगम्य बना। इससे एक तथ्य का उद्घाटन भी हो गया कि उत्तम पुरुष को कटुभाषी नहीं होना चाहिए। इसके उपरांत तीसरी उपमा में केतकी पुष्प से वन प्रदेश का सुरभि-परिपूर्ण होना और भी विषय को स्पष्ट कर देता है। प्रत्येक ग्रामीण जन इस स्थिति से पूर्ण परिचित होता है। तदुपरांत चौथी उपमा देशकाल के लिए कितनी उपयुक्त है। यदि राजा प्रतापी बनना चाहता है तो केवल अपने सैन्य बल पर ही निर्भर न रहे। उसमें अपना बाहुबल भी होना चाहिए। जिस राजा में अपना पुरुषार्थ होगा, संकटों से (विदेशी शासकों के अत्याचार से) जूझने की सामर्थ्य होगी वही यशस्वी बन सकता है। उसके यश से देश का कोना कोना गुंजरित हो उठता है। इसका अनुभव काव्य के रचनाकाल चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी में प्रत्येक भारतवासी को हो रहा था।

अंतिम उपमा कितनी स्पष्ट है। जिनवर के मंदिर का घंटारव से गुंजरित होने का अनुभव नित प्रति प्रत्येक व्यक्ति को होता रहता है। इस प्रकार सूक्ष्म से स्थूल की ओर उपमा की गति को बढ़ाते हुए कवि पाठक के

मन में प्रस्तुत विषय को स्पष्ट कराते समय अनेक नए तथ्यों का उद्घाटन भी करता चलता है।

जिम सुर तरुवर सोहे साखा, जिम उत्तम मुखे मधुरी भाषा,
जिम वन केतकी महमहे ए;
जिम भूमिपति भूय बल चमके, जिम जिण-मंदिर घंटा रणके,
गोयम लब्धे गहगहे ए ॥

इस छंद में सोहे, महमहे, गहगहे, चमके, रणके आदि शब्दों की अनुप्रास छटा के साथ साथ अवसर के उपयुक्त शब्दों का चयन कवि की प्रतिभा का द्योतक है। सुरतरुवर और उत्तम पुरुष का मुख सुशोभित होता है, केतकी से वन महमह करता है। भुजबल से भूमिपति चमकता है और घंटा से जिण मंदिर रणक उठता है। इसे काव्य नहीं तो और क्या कहा जा सकता है।

गौतमस्वामी रास में उपलब्ध उपमा की शैली अठारहवीं शताब्दी के कवि भीखन में भी दिखाई पड़ती है। एक स्थान पर कवि कहते हैं—

सर सर कमल न नीपजै, वन वन अगर न होय
घर घर संपत्ति न पामिए, जन जन पंडित न होय,
शिखर गिरिवर गज नहीं, फल फल मधुर न स्वाद
सबही खान हीरा नहीं, चंदन नहीं सब बाग,
रत्नराशि जिहाँ तिहँ नहीं, मणिधर नहीं सब नाग,
सबही पुरुष सूरा नहीं, सब ही नहीं ब्रह्मचार।
सबही सीप मोती नहीं, केशर नहि गामोगाम,
सगला गिरि में स्वर्ण नहीं, नहि कस्तूरी नो ठाम ॥

ब्रह्मचर्य और ब्रह्मचारी की विशेषता और दुर्लभता का ज्ञान कराने के लिए कवि ने कितनी ही उपमायें एकत्रित कर दी हैं।

इसी युग के पंजाब के योद्धा कवि गुरु गोविंद सिंह के वैष्णव रास का काव्य सौंदर्य देखिए—

शारदीय ज्योत्स्ना में यमुना-पुलिन पर रास मंडल की धूम मची है। गोपियाँ उस रासमंडल के अमृत सागर में किस प्रकार कलोल कर रही हैं—

जल में सफरी जिम केलि करै तिम ग्वारनियाँ हरि के सँग डोलै।
ज्यों जन फाग को खेलत हैं तिहि भाँतिहि कान्ह के साथ कलोलैं॥
कोकिलका जिम बोलत है तिम गावत ताकी बराबर बोलैं।
स्याम कहै सभ ग्वारनियाँ इह भाँतन सो रस कान्ह निचोलैं॥

कविवर की दृष्टि में इस रास मंडल का प्रभाव गोपीजन एवं पृथ्वी-मंडल तक ही परिसीमित नहीं, इसके लिए सुरवधुएँ एवं देवमंडल भी लालायित है।[1]

खेलत ग्वारन मद्धि सोऊ कवि स्याम कहै हरि जू छवि वारो।
खेलत है सोउ मैन भरी इनहूँ पर मानहु चेटक डारो॥
तीर नदी ब्रिज भूमि बिखै अति होत है सुंदर भाँत अखारो॥
रीझ रहै प्रिथवी के सभै जन रीझ रह्यो सुर मंडल सारो।

रास मंडल में नर्त्तन करते समय नृत्य और संगीत की ध्वनि से गंधर्वगण और नृत्य सौंदर्य से देववधुएँ भी लज्जित हो जाती हैं—[2]

गावत एक नचै इक ग्वारिन तारिन किंकिन की धुनि बाजै।
ज्यों म्रिग राजत बीच म्रिगी हरि त्यों गन ग्वारिन बीच बिराजै॥
नाचत सोउ मह्राहित सो कवि स्याम प्रभा तिनकी इम छाजै।
गाइव पेखि रिसै गन गंध्रव नाचव देख वधू सुर लाजै॥

पंजाबकेसरी एवं भारतीयता के पुजारी गुरु गोविन्द सिंह की रास रचना में भाषा का माधुर्य और भावों की छटा देखते ही बनती है। किंतु रास रचना का यह क्रम पंजाब में कदाचित् समाप्तप्राय हो गया। किंतु आसाम में शंकर देव से आज तक इसकी धारा निरंतर प्रवाहित होती जा रही है। जैनरास की यह विशेषता है कि इसकी परंपरा एक सहस्र वर्ष से अविच्छिन्न बनी हुई है। जैनाचार्य अद्यापि लोकगीतों में व्यवहृत राग-रागिनियों का आश्रय लेकर रास और रासान्वयी काव्य की रचना करते चले जा रहे हैं।

तेरा पंथी के नवें आचार्य श्री तुलसी ने संवत् २००० वि० के समीप 'उदाई राजा' के जीवन पर उपदेशप्रद रास की रचना की है। जिसका सारांश इस प्रकार है—

१—गुरु गोविंद सिंह-कृष्णावतार-छंद ५३०
२— „ „ „ ५३१

राजा उदाई सिंध देश का सम्राट था। मगध—सम्राट उदयन से यह भिन्न था। जब भगवान् महावीर उसके राज्य में पधारे तो उसने भगवान् की बड़ी भक्ति की और स्वयं दीक्षित होने का विचार करने लगा। दीक्षा से पूर्व, राज्य की व्यवस्था करते समय उसने अपने पुत्र अभीचकुमार को राज्यशासन के कारण होने वाले अनेक पाप कर्मों से बचाने के लिए राज्य भार न देकर, अपने भानजे केशी कुमार को राज्याधिकारी बनाया। पिता का पवित्र उद्देश्य न समझने के कारण अभीचकुमार दुखी होकर अपने ननिहाल चला गया।

कालांतर में उदाई एक दिन साधु-अवस्था में केशी की राजधानी में पहुँचे। केशी सशंक हुआ कि कहीं यह षड्यंत्र करके मुझ से राज्य छीन कर अपने पुत्र को देने तो नहीं आये हैं? उसने नगर में घोषणा कर दी कि कोई नगर-निवासी किसी साधु को आश्रय न दे; किंतु अपने प्राणों को संकट में डालकर भी एक कुम्हार ने साधु उदाई को स्थान दिया। इतना ही नहीं, उस श्रावक ने साधु के रोग का उपचार भी एक वैद्य के द्वारा कराना प्रारंभ किया। राजा केशी ने वैद्य से बलात्कार औषधि में विष दिला दिया और उदाई मुनि का देहावसान हो गया। इस घटना से कुपित होकर एक देव ने अपनी देवशक्ति से सारे शहर को ध्वस्त कर दिया। केवल उस कुम्हार का घर ही अवशिष्ट रहा।

अभीचकुमार भी संयमी बना, पर पिता के प्रति उसका रोष शांत न हो सका। अंत समय में भी उसने अपने पिता उदाई के प्रति द्वेष भाव ही व्यक्त किया। अतः मृत्यु के उपरांत वह निम्न श्रेणी का देव बना।

जैन रासों की दूसरी काव्यगत विशेषता है—लोकसंगीत के साथ इनकी पूर्ण अन्विति। जैनाचार्यों ने लोकगीतों विशेषकर स्त्रियों में प्रचलित राग

जैन रास और लोक संगीत

रागिनियों के माध्यम से अपने काव्य को गेय अथवा अभिनेय बनाने का सदा ध्यान रखा। यह क्रम आज तक निरंतर चला जा रहा है। दिगंबर, श्वेतांबर, स्थानक वासी, मूर्त्तिपूजक, तेरापंथी सभी आचार्य अपने सिद्धांतों के प्रचार के लिए लोक गीतों की सहायता लेते रहे हैं। इसी कारण जिन जैन रासो में काव्य छटा धूमिल पड़ती दिखाई पड़ती है उनमें लोकगीत के द्वारा संगीत की सरसता अनायास ही आ जाती है और काव्य सप्राण हो उठता है। इसी क्रम में आचार्य तुलसी का 'उदाई

राजा' का रास मिलता है। यह रास आज दिन राजस्थान में स्थान स्थान पर निम्नलिखित लोकगीतों के आधार पर गाया जाता है। इस रास के बोल हैं—

ढाल ११—राग—भँवर रो मन ले गई सोनारी।
अंतरा ढाल—राग—म्हाँरी रस सेलड़ियाँ॥
ढाल मूल—राग—भँवर रो मन ले गई सोनारी॥
ढाल ८—राग—म्हाँ रे निबुवा ले दो।
ढाल ७—राग—सुहाग माँगण चाली॥
ढाल ६—राग—बना गहरो रंग रंग लाज्यो॥

कथावस्तु की दृष्टि से इस रास में काव्य-सौंदर्य तो है ही, संगीत की सरसता आ जाने से सामाजिक पर इसका प्रभाव और भी गंभीर बन जाता है। इस रास की भाषा आधुनिक बोलचाल की जनभाषा है। उदाहरण के लिए देखिए। अभीच का हृदय केशी को राज्य देने पर पिता के प्रति आक्रोश के कारण अशांत बना है—

उर बिच करुण कष्ट उमड़ायो।
वज्राहतवत् मूर्छा पायो।
सबय मिली शिर सलिल सिंचायो।
चेतनता लहि दर्द दिखायो।
'तुलसी' धन्य सुगुरु पथ पायो॥

इस रास की रचना-शैली से प्राचीन परंपरा का अनुमान लगाते हुए यह निर्भ्रांत रूप से कहा जा सकता है कि जनभाषा और लोकसंगीत के माध्यम के बल पर जनरुचि को परिमार्जित करने के पावन उद्देश्य से एक सहस्र वर्ष तक जैन रास की अजस्र धारा प्रवाहित होती चली जा रही है।

रास की शैली पर जैन और वैष्णव कवियों ने 'व्याहुलो' की भी रचना की है। जैनाचार्य भीखण स्वामी और प्रायः उनके समकालीन ध्रुवदासजी के 'व्याहुले' का विवेचन करने से यह प्रतीत होता है कि जहाँ जैनाचार्य व्याह को बंधन समझ कर उससे मुक्ति पाने का उपदेश दिया करते थे, वहाँ वैष्णव भक्त राधा-कृष्ण के व्याह का सुअवसर ढूँढ़ा करते थे। भीखण स्वामी

व्याहुलो

समाज में प्रचलित वैवाहिक रीतियों के आधार पर विवाह-बंधन से मुक्त होने की शिक्षा देते हुए कहते हैं—

"अब दूल्हा विचारा मायाजाल में पूर्णतया फँस जाता है। उसे कन्या पक्ष के सामने हाथ जोड़कर चाकर की तरह खड़ा रहना पड़ता है। विषयांध दूल्हे को यह विस्मृत हो जाता है कि इस मायाजाल का दुष्परिणाम उसे कितना भोगना पड़ेगा। उसे परिवार का संचालन करने को चोरी, हत्या, झूठ, दासता और चाटुकारिता के लिए वाध्य होकर अपना जीवन विनष्ट करना होगा[1]।—

घर चिन्ता लागी घणी, दिन झूरता जाय।
अछते छते तिरछतो, तरफे फाँसी मांय।
चोर कसाई ऋण दगो, झूठ गुलामी वेठ।
इतरा बाना आदरे, तोइ नीठ भरीजै पेट॥

विवाह के ऋण से उऋण होने के लिए नाना कष्टों का सामना करते हुए वर की दुर्दशा का चित्र खींचा गया है। व्याह-ऋण समाप्त होता ही नहीं तब तक पुत्र-पुत्रियों की रुग्णावस्था के कारण ऋण-चिंता, उनकी शिक्षा और दीक्षा, उनके विवाह का भार, उत्सव के समय मित्रों एवं कुटुंबियों को भोज देने का व्यय सर पर आ पड़ता है और सारा जीवन दुखदायी बन जाता है। अतएव घर की संपत्ति गँवाकर मायाजाल मोल लेने वाले की मूर्खता को क्या कहा जाय।

परण्यो जब ठनम हुतो, अब गयो तन सोख।
गले बाँधी कलेषणी, अरु रुपिया लीधा खोस॥

इसके विपरीत ध्रुवदास जी का 'व्याहुला' सखियों के विनोद का परिणाम है। वे राधाकृष्ण के सेवारस में ऐसी पगी हुई हैं कि इनके अतिरिक्त उन्हें और कुछ रुचता ही नहीं। राधा और कृष्ण मौर-मौरी पहन कर विवाह-वेदी पर आसीन हैं। उनकी शोभा का वर्णन करते हुए ध्रुवदास कहते हैं—

नवसत सिंगारे अंग अंगनि झलक तन की अति बढ़ी।
मौर मौरी सीस सोहै मैन पानिप मुष चढी॥
जलज सुमननि सेहरे रचि रतन हीरे जगमगै।
देखि अद्भुत रूप मनमथ कोटि रति पाइन लगैं।

१—भीखण स्वामी, व्याहुला, छंद ६८

जहाँ भीखण स्वामी ने मौर-मौरी, मेंहदी आदि को दुख का कारण बताया है वहाँ ध्रुवदास जी ने राधा कृष्ण के संपर्क से इन पदार्थों का आनंद-दायक होना सिद्ध किया है—

सुरँग महदी रंग राचे चरन कर अति राजही।
विविध रागनि किंकिनी अरु मधुर नूपुर बाजही॥

उस शोभा को देखकर—

'तिहिं समै सषि ललितादि हित सों हेर प्रानन वारही।
एक वैस सुभाव एकै सहज जोरी सोहनी।'

भक्त ध्रुवदास प्रभुप्रेम की डोरी को मुक्ति से अधिक श्रेयस्कर मान कर कहते हैं—

'एक डोरी प्रेम की 'ध्रुव' बँधे मोहन मोहनी'[1]

यद्यपि स्थूल दृष्टि से देखने पर वैष्णव और जैन कवियों की साधना-पद्धति और काव्य-शैली में भेद दिखाई पड़ता है किंतु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर दोनों को हम एक ही भूमिका पर पाते हैं।

आत्मानुभूति की अजस्र धारा में देशकाल, जातिधर्म, स्व-पर का भेद-भाव विलीन हो जाता है। जब अनुभूति आत्मिक व्यापार का सहज परिणाम बन जाती है तो उसकी परिधि में प्रवेश पाने को सत्य, शिव और सौंदर्य लालायित हो उठते हैं। अलंकार, छंद, रस आदि काव्यगुण हाथ जोड़े उस दिव्य दृष्टि की प्रतीक्षा करते हैं। भक्त कवि की अनुभूति के अखंड राज्य में उन सबके उपयुक्त स्थान निर्द्धारित रहता है। वे स्वतः अपने अपने स्थान पर विराजमान हो जाते हैं, भक्त कवि उन्हें आमंत्रित करने नहीं जाते। इसी कारण कहा जाता है कि 'समस्त काव्य शैलियों और काव्य स्वरूपों में अनुभूति की अखंड एकरूपता का अनवरत प्रवाह दिखाकर भारतीयों ने काव्य की सार्वजनीनता और सार्व भौमिकता सिद्ध की'।

यह संभव है कि कोई उपासक कवि अपनी अनुभूति और अभिव्यक्ति में पूर्णतः एकरूपता स्थापित न कर पाए, पर यदि उसकी अनुभूति परिपक्व है तो उसकी अभिव्यक्ति में आदर्शमय साधन का अभाव भी उसकी रचना को काव्यक्षेत्र से वहिष्कृत करने में समर्थ नहीं हो सकता। तथ्य तो यह है कि

---

१ ध्रुवदास, व्याहलो, हस्तलिखित प्रति (का० ना० प्र० स०) पृष्ठ २

'जिस अनुभूति में अभिव्यक्ति की क्षमता नहीं होती वह अनुभूति न होकर कोरी इंद्रियता या मानसिक जमुहाई मात्र है।'

जीवन के परमतत्त्व का संदेश विरले ही कवि सुन पाते हैं और उन्हें काव्यरस में संपृक्त करके वितरित करनेवाले तो और भी दुर्लभ हैं। रास के कतिपय मेधावी कवि उन्हीं कवियों में परिगणित होने योग्य हैं जिनकी लेखनी से काव्यकला धन्य बन गई।

रास साहित्य की उपयोगिता

१—समाज के ऐसे वर्ग का स्वाभाविक चरित्रचित्रण जिसने जीवन के भोगों का सामना करते हुए गुरुदीक्षा और तपसाधना के बल पर आमुष्मिकता की ओर अपने मन को उन्मुख किया। उन तपस्वी मनीषियों को जिन-जिन बाधाओं एवं प्रलोभनों से युद्ध करना पड़ा, उनका मनोहारी आख्यान इन ग्रंथों में अंकित मिलता है। सांसारिकता के पंक से पंकिल सूक्ष्म मानस, काया अध्यात्म-गंगा में स्नान करने पर जिस प्रक्रिया द्वारा दिव्य एवं जगमंगलकारी बन सकती है उसकी व्याख्या हमें इन रासकाव्यों में मिलती है। अतः चरित्रविकास का क्रम समझने में ये रासकाव्य सहायक सिद्ध होते हैं।

२—भारतीय इतिहास-निर्माण में राजा महाराजाओं के विजय-विलासों, अस्त्रशस्त्रों एवं सैन्यशक्तियों का ही योग माना जाता था किंतु जब से विद्वानों का ध्यान अपनी सभ्यता और संस्कृति के उथल-पुथल, सामाजिक गतिविधियों, धार्मिक आंदोलनों के उत्थान-पतन की ओर जाने लगा है तब से रास एवं रासान्वयी काव्यों के अनुशीलन की ओर शोध कर्त्ताओं का ध्यान आकर्षित हुआ है। अतः भारतीय चिंता-धारा की सम्यक् ज्ञानोपलब्धि में इन रास काव्यों की उपादेयता मुक्तकंठ से स्वीकार की जाने लगी है।

३—ऐतिहासिकों ने शस्त्र-युद्ध के विजेता और विजित का विवरण तो इतिहास ग्रंथों में सुरक्षित रखा किंतु उन अध्यात्म विजेताओं के जीवन की उपेक्षा की जिन्होंने स्वेच्छा से बड़ी से बड़ी विभूति को ठुकरा दिया और जिन्हें जगत् का भीषण से भीषण शत्रु कभी एक क्षण के लिए पराजित न कर सका। ऐसे योद्धाओं में भरतेश्वर बाहुबली जैसे सामंत, कुमारपाल वस्तुपाल जैसे राजा, अंजनासती जैसी नारी, नेमिकुमार जैसे मुनि, वृद्धिविजय

गणि जैसे पंडित आदि विख्यात है। इन लोगों की जीवनगाथा का सत्य परिचय हमें इन रास ग्रंथों में उपलब्ध है जिन्हें उनकी शिष्य-परंपरा ने सुरक्षित रखा है। कुमारपाल, वस्तुपाल, जगड़ु आदि रास काव्यों में इस प्रकार के इतिहास की प्रचुर सामग्री उपलब्ध है।

४—हमारे देश के इतिहास में जिस प्रकार राजवंशों की कार्यावलियों को अखंड रखने की परिपाटी थी उसी प्रकार रासकाव्यों में जैनाचार्यों की शिष्य परंपरा द्वारा उनके कृत्यों एवं विचारों को सुरक्षित रखने की दीर्घ परंपरा चली आ रही है। इन आचार्यों के विविध गच्छ थे जिनमें आगम गच्छ, उपकेश गच्छ, खरतर गच्छ, तपा गच्छ, रत्नाकर गच्छ, अंचल गच्छ, वृद्धतपो गच्छ, सागर गच्छ प्रभृति प्रमुख गच्छों के अनेक आचार्यों के जीवन का क्रमबद्ध इतिहास प्राप्त होता है। इन आचार्यों ने समाज के सदाचार-रक्षण एवं अध्यात्म-चिंतन में अपना तपोमय जीवन समर्पित कर दिया। अतः उनका जीवन-काव्य समाज के एक उपयोगी अंग का परिचय देने में सहायक सिद्ध होता है।

५—जिस प्रकार डा० फ्लीट आदि विद्वानों ने पौराणिक उपाख्यानों के आधार पर पौराणिक काल की सभ्यता एवं संस्कृति, राजनैतिक एवं सामाजिक स्थितियों का विवरण प्रस्तुत किया है उसी प्रकार कई विद्वानों ने रासमाला के आधार पर पश्चिमी भारत के सांस्कृतिक एवं राजनैतिक इतिहास का निर्माण किया है। पट्टावलियों में जैनाचार्यों के काल का यथातथ्य रूप में वर्णन मिलता है। पट्टाधीश आचार्यों की जन्मतिथि, शिक्षा-दीक्षा आदि का संकेत प्रत्येक रास की प्रशस्ति अथवा कलश में विद्यमान है। अतः इनके द्वारा मध्ययुगीन सांस्कृतिक चेतना का विकास समझने में सहायता मिलती है।

६—जन सामान्य की बोधगम्यभाषा एवं काव्य-शैली में मानवोपयोगी नीति नियमों, धार्मिक सिद्धांतों के उपदेश का स्तुत्य प्रयास रास काव्य में प्रायः सर्वत्र परिलक्षित होता है। इस प्रयास से जन साधारण का मंगलमय इतिहास निर्मित हुआ है। उस इतिहास की झाँकी देखकर जीवन को विकसित करने का सुअवसर प्राप्त होता है। रास काव्य की यह विलक्षणता कि इसमें काव्य, इतिहास एवं धर्म-साधना की त्रिवेणी का एकत्र दर्शन होता है।

७—रास काव्यों में कवियों के बुद्धि वैभव, काव्य चमत्कार, अलंकार-छटा, एवं कल्पनाविलास का जो निखरा सौंदर्य दिखाई पड़ता है वह अति रमणीय एवं हृद्य है। अतः काव्यरस की उपलब्धि के लिए यह साहित्य पठनीय है।

८—आलोचकों का एक वर्ग धार्मिक साहित्य को रस-साहित्य में परिगणित न कर कोरी उपदेशात्मक पद्यरचना मानना चाहता है। किंतु ऐसे आलोचक रास साहित्य के उस प्रबल पक्ष की अवहेलना कर जाते हैं जिसका प्रभाव परवर्ती भारतीय साहित्य पर स्पष्ट झलकता है। रास की छंद-शैली कथावस्तु, प्रकृति-निरूपण, दार्शनिक सिद्धांत आदि विविध उपादानों एवं विधानों का मध्यकालीन साहित्य पर प्रभाव स्पष्ट झलकता है। यदि रास काव्यों में काव्य सौष्ठव नितांत उपेक्षित भी होता तो भी यह साहित्य प्रभाव की दृष्टि से भी अध्येय होता किंतु रास-साहित्य में रस की उपेक्षा कहाँ। उपदेशप्रद सिद्धांतों को हृदयंगम कराने की नवीन पद्धति का अनुसरण करते हुए काव्यरस और अध्यात्मरस का जैसा मिश्रण रास साहित्य में देखने को मिलता है वैसा कबीर, सूर, तुलसी के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं दिखाई पड़ता। इसी कारण डा० हजारीप्रसाद चंदवरदाई, कबीर एवं सूर को हिंदी का सर्वश्रेष्ठ कवि स्वीकार करते हैं। उनका मत है कि "इधर जैन-अपभ्रंश-चरित-काव्यों की जो विपुल सामग्री उपलब्ध हुई है वह सिर्फ धार्मिक संप्रदाय के मुहर लगने मात्र से अलग कर दी जाने योग्य नहीं है।...धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्यिक कोटि से अलग नहीं की जा सकती।...केवल नैतिक और धार्मिक या आध्यात्मिक उपदेशों को देखकर यदि हम ग्रंथों को साहित्य-सीमा से बाहर निकालने लगेंगे तो हमें आदि काव्य से भी हाथ धोना पड़ेगा।"[1]

९—रास काव्य के रचयिता प्रायः विरक्त साधु-महात्मा होते थे। उनके समस्त जीवन का उद्देश्य आत्म-समर्पण एवं परहित-चिंतन हुआ करता था। जन सामान्य के जीवन को विकासोन्मुख बनाने के विविध साधनों का वे निरंतर चिंतन करते थे। रास की गेय एवं अभिनेय पद्धति का आविष्कार उनके इसी चिंतन का परिणाम है। अतः रास काव्यों के अध्ययन से उन

१—हिंदी साहित्य का आदिकाल—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ११

मनीषियों की मौलिक उद्भावना का ज्ञान प्राप्त होता है, जिन्होंने अनिकेतन रहकर गृहस्थों का मंगलमय पथ ढूँढ़ निकाला था।

१०—हिंदी साहित्य के आदिकाल की जिस विच्छिन्न शृंखला की ओर शुक्ल जी बारबार ध्यान दिलाते थे उसकी कड़ी का ज्ञान इन रास काव्यों के द्वारा सरलता से हो जाता है। कबीर, तुलसी, सूर आदि महाकवियों ने पुरानी हिंदी का जो साहित्य पैतृक-संपत्ति के रूप में प्राप्त किया था उसका अनुसंधान इन रास काव्यों के आधार पर किया जा रहा है। अतः इस दृष्टि से भी रास काव्यों का महत्त्व है।

११—रास काव्यों का सबसे अधिक महत्त्व भाषाविज्ञान की दृष्टि से सिद्ध हुआ है। परवर्ती अपभ्रंश एवं मध्यकालीन हिंदी भाषा के मध्य जन सामान्य की व्यावहारिक भाषा क्या थी इसका सबसे अधिक प्रामाणिक रूप रास काव्यों में विद्यमान है। अतः न्यूनाधिक चार शताब्दियों तक समस्त उत्तर भारत के कोटि कोटि कंठों से गुंजरित होने वाली और उनके सुख-दुख, मिलन-विरह के क्षणों को रससिक्त करने वाली भाषा के लावण्य का मूल्यांकन क्या कम महत्त्व का विषय है! तात्पर्य यह है कि भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी रास काव्यों का अनुशीलन साहित्य-शास्त्रियों के लिए अनिवार्य है।

१२—मध्ययुग के सिद्धसंतों और प्राणों की आहुति देनेवाले सामंतों ने मानव में निहित देवत्व को जगाने का जो सामूहिक प्रयास किया उसकी अभिव्यक्ति इस रास साहित्य में विद्यमान है। अतः उस काल की धर्मसाधना की सामूहिक अभिव्यंजना होने के कारण राससाहित्य का अध्ययन साहित्यिक दृष्टि से वांछनीय ही नहीं अपितु अनिवार्य है। अन्यथा साहित्य केवल शिक्षित जनता की मनोवृत्तियों का दर्पण रह जायगा, 'मानवसमाज के सामूहिक चित्त की अभिव्यक्ति' उसमें न हो पाएगी।

कवि परिचय

जिनदत्तसूरि

भारतीय साहित्य-शास्त्रियों में आचार्य हेमचंद्र का विशिष्ठ स्थान है। उनके प्रभाव से अपभ्रंश साहित्य भी प्रभावित हुआ। संस्कृत और प्राकृत भाषा के विद्वान् आचार्य जनभाषा अपभ्रंश में रचना जनहित के लिए आवश्यक समझने लगे थे। ऐसे ही समय सं० ११३२ वि० में वांच्छिग नामक श्रावक की पत्नी वाहड़ (देवी) के गर्भ से धोलका नामक स्थान में एक शिशु उत्पन्न हुआ। जिसका जन्मजात नाम सोमचंद्र था। सं० ११४१ वि० में इसने धर्मदेवोपाध्याय से दीक्षा ग्रहण की और तत्कालीन प्रसिद्ध जैनाचार्य जिनवल्लभ सूरि के देहावसान होने पर चित्रकूट में संवत् ११६६ वैशाख वदी छट्ठ को देवभद्राचार्य से सूरि मंत्र लिया। और जिनदत्त सूरि के नाम से प्रख्यात हुए।

वागड़ देश में भ्रमण करते हुए आपने आचार्य जिनवल्लभ सूरि की स्तुति में २१ मात्रावाले कुंद छंद में ४७ कड़ियों की रचना की। तदुपरांत इन्होंने 'उपदेश रसायन रास' की रचना की जिसका परिचय रास के प्रारंभ में दिया गया है।

इनके जन्मस्थान के विध्वंस के विषय में उल्लेख मिलता है कि सं० १२०० में राजा कुमारपाल के राज्य में एकबार दस्युदल का प्रबल प्रकोप फैला और संभवतः उसी कोपाग्नि में इनकी जन्मभूमि भस्मीभूत हो गई। ऐसा प्रतीत होता है कि तदुपरांत उन्होंने अपने जन्मस्थान से सर्वथा संबंध-विच्छेद कर लिया। सं० ११७० वि० में उनके एक शिष्य जिनरक्षित ने पल्ह कवि विरचित एक संस्तुति की प्रतिलिपि धारा नगरी में प्रस्तुत की जिससे इस आचार्य जिनदत्त सूरि की महत्ता का अनुमान लगाया जा सकता है—

> व्याख्यायते तत् परमतत्त्वं येन पापं प्रणश्यति।
> आराध्यते सः वीरनाथः कविपल्हः प्रकाशयति॥
> धर्मः स दयासंयुक्तः येन वरगतिः प्राप्यते।
> चापः स अखंडितकः यः वन्दित्वा सुलभ्यते।

संवत् १२११ की आषाढ़ सुदी एकादशी को अजयमेरु में आप का देहावसान हो गया।

अब्दुल रहमान

संदेश रासक के रचयिता अद्दहरहमाण (अब्दुल रहमान) की जन्म-तिथि अभी तक अनिर्णीत है। किंतु संदेशरासक के अंतःसाक्ष्य के आधार पर मुनि जिन विजय ने कवि अब्दुल रहमान को अमीर खुसरो से पूर्ववर्त्ती सिद्ध किया है और इनका जन्म १२ वीं शताब्दी में माना है।

एक दूसरे इतिहास लेखक केशवराम काशीराम[1] शास्त्री का अनुमान है कि अब्दुल रहमान का जन्म १५ वीं शताब्दी में हुआ होगा। शास्त्री जी ने अपने मत का कोई प्रमाण नहीं दिया है। 'संदेश रासक' के छंद तीन और चार के आधार पर इतना निर्भ्रांत कहा जा सकता है कि भारत के पश्चिमी भाग में स्थित म्लेच्छ देश के अंतर्गत मीरहुसेन के पुत्र के रूप में अब्दुल रहमान का जन्म हुआ जो प्राकृत काव्य में निपुण था। के० का० शास्त्री का अनुमान है कि पश्चिमी देश में भरुच के समीप चैमूर नामक एक नगर था जहाँ मुसलमानी राज्य स्थापित होने पर अब्दुल रहमान के पूर्वज ने किसी हिंदू कन्या से विवाह कर लिया और उसी वंश में अब्दुल रहमान का जन्म हुआ जिसने प्राकृत एवं अपभ्रंश का अध्ययन किया और अपने ग्रंथ की रचना साहित्यिक अपभ्रंश के स्थान पर ग्राम्य अपभ्रंश में की।

इस कवि की अन्य कोई कृति उपलब्ध नहीं है। 'संदेश रासक' की हस्तलिखित प्रति पाटण के जैन भंडार में मिली है। इससे ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि किन्हीं कारणों से कवि पाटण में आकर बस गया होगा और हिंदुओं तथा जैनों के संपर्क में आने से उसने संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश का अभ्यास कर लिया होगा। इससे अधिक इस कवि का और कोई परिचय संभव नहीं।

सुमतिगणि का परिचय

'नेमिनाथ रास' में रासकार सुमतिगणि ने अपने को जिनपति सूरि का शिष्य बतलाया है। आपके जीवन का विशेष परिचय अज्ञात है। श्री भँवरलाल नाहटा का अनुमान है कि आप राजस्थानी थे और आपकी दीक्षा

१—केशवराम काशीरामशास्त्री—कविचरित, भाग १—पृ० १६-१७

सं० १२६० आषाढ़ शुक्ल ६ को हुई थी। संभवतः आपका दीक्षा-संस्कार लवणखेटक अर्थात् खेड़पुर में हुआ था। गुर्वावलि से यह ज्ञात होता है कि संवत् १२७३ में जिनपति सूरि अपने शिष्य वर्ग के साथ हरिद्वार में पधारे थे और वहाँ नगरकोट के महाराज पृथ्वीचंद के साथ काश्मीरी राजपंडित मनोदानंद भी विद्यमान थे। पंडित मनोदानंद ने सूरिजी को शास्त्रार्थ के लिए आमंत्रित किया। सूरि जी की आज्ञा से श्री जिनपालोपाध्याय और श्री सुमतिगणि शास्त्रार्थ में संमिलित हुए। इन लोगों ने काश्मीरी पंडित को शास्त्रार्थ में पराजित किया।

रचनाएँ—

इनकी कई रचनाएँ उपलब्ध हैं जिनमें प्रमुख रचना 'गणधरसार्धशतक-वृत्ति' सं० १२६५ में विरचित हुई। १२१०५ श्लोक की टीका भी जो १५० गाथा के मूल पर लिखी गई है आपके रचना-कौशल की परिचायक है। नेमिनाथ रास आपकी प्रारंभिक रचना प्रतीत होती है। आपकी विद्वत्ता के संबंध में गुर्वावलि में इस प्रकार उद्धरण मिलता है, "तथा वाचनाचार्य सूरप्रभकीर्तिचन्द्रवीर प्रभगणि—सुमतिगणि नामानश्चत्वारः शिष्याः महा-प्रधानाविष्पन्नावर्तन्ते। येषामेकैकोऽप्याकाशस्य पततो धरणे क्षमः।"

प्रज्ञातिलक

कच्छूली रास के रचयिता प्रज्ञातिलक सूरि का जीवन वृत्तांत विशेष रूप से उपलब्ध नहीं है। इन्होंने कोरंटा नामक स्थान पर सं० १३६३ वि० में कच्छूली रास की रचना की। कच्छूली आबू के समीप एक ग्राम है जिसका वर्णन इस रास में किया गया है। किंतु चौदहवीं शताब्दी में ऐतिहासिकता को दृष्टि में रखकर रास की रचना इसकी विशेषता है। 'धर्मविधिप्रकरण' के कर्त्ता विधि मार्गी श्रीप्रभसूरि के शिष्य माणिक्यप्रभसूरि ने कच्छूली ग्राम में पार्श्वजिन भुवन की प्रतिष्ठा की थी। माणिक्यप्रभ सूरि ने अपने स्थान पर उदयसिंह सूरि को स्थापित किया था। इसी उदयसिंह सूरि ने चड्डावलि (चंद्रावती) के रावल धंधल देव के समक्ष मंत्रवाद से मंत्रवादी को पराजित किया था। उन्होंने 'पिंड विशुद्धि विवरण', 'धर्म विधि' (वृत्ति) और 'चैत्यवंदन की रचना की थी। संवत् १३१३ वि० में उनका स्वर्गवास हो गया था। तदुपरांत उनके शिष्य कमल सूरि, प्रज्ञा सूरि, प्रज्ञातिलक सूरि विख्यात हुए। उसी शिष्य संप्रदाय में प्रज्ञातिलक सूरि ने कच्छूली रास की रचना की।

जिनपद्म सूरि

जिनपद्म सूरि कृत 'स्थूलि भद्र फागु' भाषा-साहित्य में उपलब्ध समस्त फागु काव्यों में द्वितीय रचना है। (समय की दृष्टि से) इस कृति के रचयिता जिनपद्म सूरि जैन श्वेतांबर संप्रदाय के अंतर्गत आये 'खरतरगच्छ' के आचार्य थे। इस खरतर गच्छ की अनुक्रमणिका के अनुसार जिनपद्म सूरि को सं० १३६० में आचार्य पद प्राप्त हुआ था। और सं० १४०० में इनकी मृत्यु हुई थी। इससे ज्ञात होता है कि इस 'फाग' की रचना सं० १३६० से १४०० के बीच में हुई होगी।

इनकी रचना 'स्थूलि भद्र फागु' एक लघुकाय काव्य है जिसमें २७ कड़ियाँ है। इसकी कथावस्तु जैन इतिहास में प्रसिद्ध है।

राजशेखरसूरि

'नेमिनाथ फागु' के रचयिता 'राजशेखर सूरि' हर्षपुरीय गच्छ या मलबार गच्छ के आचार्य और अपने समय के एक प्रसिद्ध विद्वान् थे। इनका संस्कृत 'प्रबंध कोश' एवं 'चतुर्विंशति प्रबंध' गुजरात के मध्यकालीन इतिहास को जानने के लिए प्रमुख साधन ग्रंथ है। 'प्रबंध कोश' की रचना सं० १४०५ में हुई थी। इसके अतिरिक्त कई अन्य संस्कृत ग्रंथों की भी रचनायें इन्होंने की हैं जिनमें 'न्याय कंदली' 'विनोद-कथा-संग्रह' आदि है। विद्वानों के मतानुसार नेमिनाथ फागु की रचना भी 'प्रबंध कोश' की रचना के काल में ही हुई होगी।

नेमिनाथ फागु के नायक नेमिनाथ एक महान् यादव थे जो विवाह नहीं करना चाहते थे।

श्रीधर कवि

'रणमल्ल छंद' के रचयिता श्रीधर कवि अवहट्ट भाषा के प्रमुख कवियों में परिगणित होते हैं। इन्होंने अपने ग्रंथ रणमल्ल छंद के प्रारंभिक ११ छंदों में राजा रणमल्ल का परिचय दिया है किंतु अपने जीवन के विषय में कुछ उल्लेख नहीं किया। इनकी तीन प्रमुख रचनायें 'रणमल्ल छंद' 'भागवत दशम स्कंध' और 'सप्तशती' (श्रीधर छंद) मिलती हैं जिनमें छंद-वैविध्य पाया जाता है। इस ग्रंथ की अवहट्ट भाषा में अरबी-फारसी शब्दों का भी प्रायः प्रयोग दिखाई पड़ता है। शब्दों को द्वित्त करने की प्रवृत्ति इसमें

पृथ्वीराज रासो और कीर्त्तिलता की शैली की स्मृति दिलाती है। रणमल्ल की वीरता का वर्णन कविने जिस ओजपूर्ण शैली में किया है वह वीररस साहित्य में विशेष सम्मान के योग्य है। ऐसे मेधावी कवि के जीवन वृत्तांत का अभाव खटकता है। संभव है कि भविष्य में इनके जीवन के विषय में कुछ सामग्री उपलब्ध हो सके। किंतु अपनी रचनाओं में वे अपने जीवन वृत्तांत के विषय में सर्वथा मौन हैं।

जिनचंद सूरि

'अकबर प्रतिबोध रास' के रचयिता जिनचंद सूरि अकबर कालीन साधु-समाज में प्रमुख माने जाते थे। एक बार अकबर बादशाह को जैन समाज के सर्वश्रेष्ठ मुनि के दर्शन की अभिलाषा हुई। उन्हें खरतर गच्छ के आचार्य जिनचंद सूरि का नाम बताया गया। सम्राट् ने उनको आगरे आमंत्रित किया किंतु उस समय वे स्तंभ तीर्थ (खंभात) में थे। ग्रीष्म ऋतु में संदेश पाकर वे चल पड़े और स्वर्णगिरि (जालौर) में चतुर्मासा व्यतीत किया। दूसरा चतुर्मासा लाहौर में व्यतीत कर वे अकबर के राज-प्रासाद में विराजमान हुए। उन्होंने मुसलमान शासकों द्वारा द्वारका और शत्रुंजय तीर्थ में स्थित जैन मंदिरों के विध्वंस की करुणाभरी घटना सुनाई और सम्राट् ने उक्त तीर्थों की रक्षा के लिए आजमखाँ को नियुक्त किया।

अकबर इनकी साधुता से इतना प्रभावित हुआ कि उसने जिनचंद सूरि को युगप्रधान और इनके शिष्य मानसिंह को आचार्य पद की उपाधि प्रदान की। एकबार जहाँगीर ने संवत् १६६६ में जैनदर्शन साधुओं को देश निर्वासित करने की आज्ञा प्रदान की थी। किंतु युग-प्रधान मुनि जिनचंद सूरि पाटण से आगरे आए और जहाँगीर को समझा कर उक्त आज्ञा रद्द करा दी। इस मुनि ने 'अकबर प्रतिबोध' नामक रास लिखकर तत्कालीन सामाजिक, राज नैतिक एवं धार्मिक स्थितियों पर पर्याप्त प्रकाश डाला।

नरसिंह महेतो

नरसिंह महेतो का जन्म सं० १४६६ या १४७० वि० के आसपास हुआ होगा। उन्होंने अपने जन्मस्थान के विषय में स्वतः लिखा है—

"गाम तलाजा मां जन्म मारोथयो, भाभी अे मूरख कही मेहेणुं दीधुं वचन वाग्युं अेक अपूज शिव लिंगनु, वनमांहे जइ पूजन कीधुं"। नरसिंह

महेतो वड़नगर के नागर ब्राह्मणों के कुल में उत्पन्न हुए। इनके पिता का नाम कृष्णदास और पितामह का पुरुषोत्तम दास था। माता दयाकोर के नाम से विख्यात थीं।

नरसिंह के माता-पिता की मृत्यु उनके शैशव में ही हो गई अतः उनके भाई मंगल जी के० जीवणराम ने इनका पालन-पोषण किया। नरसिंह का मन विद्याध्ययन में नहीं लगता था और वे बाल्यकाल से ही साधुओं की संगति में रहा करते थे। जनश्रुति है कि ११ वें वर्ष में इनका विवाह संबंध होनेवाला था किंतु इनको अकर्मण्य समझकर कन्या के पिता ने इनके साथ विवाह करना उचित नहीं समझा। आगे चलकर संवत् १४८८ वि० में रघुनाथ-राम ने अपनी पुत्री माणेक बाई के साथ इनका विवाह कर दिया। विवाहो-परांत ये भाई के परिवार के साथ रहते थे किंतु धनोपार्जन न करने के कारण इनकी भाभी इन्हें ताने दिया करती थी। एक दिन इनके भाई भी इनपर क्रुद्ध हुए अतः इन्होंने चैतसुदी सप्तमी सोमवार को वन में तपस्या प्रारंभ कर दी। शिवपूजन से महादेव प्रसन्न हुए, जिसका उल्लेख उन्होंनें स्वतः इस प्रकार किया है—

> **भोला चक्रवत्य प्रसन्न हूआ नि आवी मस्तक्य दीजि हाथ;**
> **सोल सहस्र गोपी वृंद रमतां रास देखाड्यो वैकुंठनाथ,**
> **हित जाणी पोताना माटि महादेव बोल्या वचन ते वारि;**
> **नरसिंया; तूं लीला गाजे, ये कीधी कृष्ण अवतार ॥**

भगवान् की कृपा से नरसिंह के जीवन में अपूर्व परिवर्त्तन आया और उनमें कवित्व शक्ति का स्फुरण हुआ। उनका विश्वास था कि—

> **अनाथ हुंने सनाथ कीधो पार्वती ने नाथ;**
> **दिव्यचक्षु आप्यां मुजने, मस्तक मेल्यो हाथ।**

अब प्रभुभक्ति में मस्त रहनेवाले नरसिंह जूनागढ़ में आकर बस गए और साधु-संगति और हरिभजन में तल्लीन रहने लगे। जाति-पाँति का भेदभाव विलीन हो गया और प्रेम के साम्राज्य में उन्होंने सबको स्वीकार किया। इनके जीवन की अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाओं का उल्लेख मिलता है।

काव्यक्षेत्र में इनके ऊपर जयदेव का प्रभाव परिलक्षित होता है। के० का० शास्त्री ने प्रमाणों के द्वारा सिद्ध किया है कि—

"नरसिंहे शृंगाररस पराकोटिए गायो छे। तेना ऊपर तेमां 'जयदेव' नी ऊँडी छाप छे। पोते कृष्णनी क्रीडाओं मां साथे होवानुं कवि प्रतिभा थी चीतरे छे, तेमां ते जयदेव ने पण सामेल राखे छे। एने ए विशिष्टिनो दूत जनावे छे।"

हम पूर्व कह आए हैं कि वल्लभाचार्य के समकालीन होने पर भी इनपर उस आचार्य का प्रभाव नहीं था। उस काल में गुजरात-काठियावाड़ में एक भक्ति संप्रदाय प्रचलित था जिससे इनके काका प्रभावित थे और उनका ही प्रभाव इनके ऊपर बचपन में पड़ा। सं० १३७१ में विरचित 'समरा रासु' में जूनागढ़ में दामोदर मंदिर की चर्चा है। इससे सिद्ध होता है कि उस स्थान पर विष्णुस्वामी के अतिरिक्त अन्य किसी प्रभाव से वैष्णव धर्म प्रचलित था।

संभवतः १५३६ के आस पास इनका गोलोकवास हुआ।

अनंतदास

अनंत नामक दो कवियों का उल्लेख मिलता है—एक हैं अनंत आचार्य और दूसरे अनंतदास। अनंत आचार्य गदाधर पंडित के शिष्य थे और अनंतदास चैतन्य चरितामृत में अद्वैत आचार्य की शिष्य परंपरा में थे। अनंतदास का नाम कानु पंडित और दासनारायण के साथ चैतन्य चरितामृत की आदि लीला में मिलता है। अनंत आचार्य गौरांग देव के समकालीन थे। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इनका जन्म संवत् १५५० से १५८२ वि० के मध्य हुआ होगा।

कवि शेखर

कवि शेखर का जन्मजात नाम देवकी नंदन सिंह था। इन्होंने संस्कृत में 'गोपाल चरित' महाकाव्य और 'गोपीनाथ विजय' नाटक लिखा है। 'गोपाल विजय' नामक पांचाली काव्य भी इनकी प्रमुख कृति है। इनके जीवन के विषय में विशेष सामग्री नहीं उपलब्ध होती।

गोविंद दास

गोविंददास नामक कई कवि हो गए हैं। आचार्य गोविंददास श्री चैतन्यदेव के शिष्य थे और सं० १६६० में विद्यमान थे। दूसरे गोविंददास कर्मकार चैतन्य देव के सेवक के रूप में साथ रहते थे। तीसरे गोविंददास कविराज उत्तम कोटि के कवि हो गए हैं। अनुमानतः इनका जन्म सं० १५८७ वि० और मृत्युकाल सं० १६७० वि० माना जाता है। भक्तमाल के

अनुसार अपने विरक्त भाई रामचंद्र कविराज की प्रेरणा से गोविंद दास भी शाक्त से वैष्णव धर्म में दीक्षित हुए। कतिपय विद्वानों का मत है कि इनका जन्म तेलियाबुधरी ग्राम में हुआ था और इनके पिता का नाम चिरंजीव सेन था।

प्रारंभ में यह विचार था कि 'रास और रासान्वयी काव्य' के सभी कवियों का परिचय दे दिया जाय किंतु ग्रंथ का कलेवर अनुमान से अत्यधिक बढ़ जाने के कारण चारों प्रकार की रास शैलियों के केवल दो-एक प्रमुख कवियों का संक्षिप्त जीवन-परिचय देकर संतोष करना पड़ा। उस काल के साधु कवि प्रायः अपना जीवन - वृत्तांत नहीं लिखा करते थे। अतः सभी कवियों के जन्मकाल और शिक्षा-दीक्षा के संबंध में अनुमान लगाना पड़ता है। इन महात्मा कवियों का उद्देश्य था—आबाल वृद्ध बनिताके हृदय को अपनी रचना की सुगंधि से सुरभित करना तथा काव्य सुधा-प्रवाह से मन को परिपुष्ट बनाना। अतः वे अपने जीवन-चरित्र की अपेक्षा उच्च चरित्ररूपी मलयागिरि के वास्तविक श्रीखंड का सौरभ विकीर्ण करना तथा काव्यामृत से पाठक को अमरत्व प्रदान करना अधिक उपयोगी समझते थे। इसीलिए अभयदेव सूरि ने लिखा है—

जयंति ते सत्कवयो यदुक्त्या बाला अपि स्युः कविताप्रवीणाः।
श्रीखंडवासेन कृताधिवासाः श्रीखंडतां यान्त्यपरेऽपि वृक्षाः॥
जयन्तु सर्वेऽपि कवीश्वरास्ते यदीयसत्काव्य सुधाप्रवाहः।
विकूणिताक्षेण सुहृज्जनेन निपीयमानोऽप्यतितुष्यतीव॥

गंगादशहरा, सं० २०१६ वि०
नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

विनीत—
दशरथ ओझा

उपदेशरसायनरास

परिचय—

अपभ्रंश भाषा में विरचित इस रासग्रंथ का विशेष महत्त्व है। उपलब्ध राससाहित्य में इसकी गणना प्राचीनतम रासों में की जाती है। अपभ्रंशमिश्रित देशी भाषा में जो रासग्रंथ बारहवीं शताब्दी के उपरांत लिखे गए, उनकी काव्य-शैली पर इस ग्रंथ का प्रत्यक्ष प्रभाव परिलक्षित होता है। रास-रचयिता कवियों ने प्रारम्भ में वर्ण्य विषय और छंदयोजना दोनों में इस रास की शैली का अनुसरण किया। बुद्धिरास पर तो इसका प्रभाव स्पष्ट झलकता है।

इस रास के रचयिता जिनदत्त सूरि हैं जो परमपितामह (बड़ा दादा) नाम से श्वेतांबर जैनानुयायियों में (खरतर गच्छीय में विशेषकर) प्रसिद्ध हैं। इनका व्यक्तिगत परिचय हम भूमिका में दे चुके हैं, अतः यहाँ प्रस्तुत रास का ही संक्षिप्त विवरण देना आवश्यक प्रतीत होता है।

इस रास में विशेष रूप से श्रावकों को सदाचरण का उपदेश दिया गया है। त्रिभुवन स्वामी जिनेश्वर और युगप्रवर अनेक शास्त्रवेत्ता निज गुरु जिन-वल्लभ सूरि की वंदना के उपरांत आचार्य जिनदत्त सूरि श्री गुरुवर को कवि माघ[1], कालिदास[2], भारवि आदि संस्कृत के महाकवियों से भी श्रेष्ठ कवि स्वीकार करते हैं।

गुरु-महिमा-वर्णन के उपरान्त अस्थिर एवं कुपथगामी पतित व्यक्तियों की दुर्दशा का विवरण[3] मिलता है। कवि ने जिस प्रकार संस्कारहीन व्यक्तियों की दुर्दशा का काव्यमय विवेचन किया है उसी प्रकार सुपथगामी धर्मपरायण[4] व्यक्तियों का लक्षण और महत्त्व भी सुचारु रूप से प्रदर्शित किया है।

इस स्थल पर जिनदत्त सूरि ने तत्कालीन प्रचलित धार्मिक नाटकों पर अभिनव प्रकाश डाला है। उन्होंने कहा कि धार्मिक पुरुष भरत-सगर बलराजदेव

---

१. उपदेश रसायन रास, छंद ४
२. ,, ,, ,, ५
३. ,, ,, ,, १४ से १६
४. ,, ,, २५ से ३४

दशार्णभद्र आदि के चरित्र के आधार पर गायन, नर्त्तन एवं नाटक[५] का अभिनय वांछनीय ही नहीं आवश्यक है।

अब कवि युगप्रधान गुरु[६] एवं संघ[७] के लक्षणों का विवेचन करता है। विवाह और धनव्यय के संबंध में ज्ञातव्य विषयों का वर्णन करके कवि विधिपथ-अनुगामी साधु[८]-साध्वियों के सत्कार की चर्चा करता है। इसके उपरांत धार्मिक अवसरों पर कृपणता करने वाले कृपणों की सम्यक्त्वहीनता का वर्णन है।

कवि की दृष्टि में लौकिक अशौचनिवारण का भी महत्त्व कम नहीं है। आचार्य का मत है कि जो लोग लौकिक[९] अशौचनिवारण की उपेक्षा करते हैं वे सम्यक्त्व-प्राप्ति नहीं कर सकते।

अब आचार्य जिनदत्त सूरि उन पापप्रसक्त व्यक्तियों के दुराचरण का संक्षेप में विवेचन करते हैं, जिन्हें सद्दृष्टि[१०] (सम्यक्त्व) सदा दुर्लभ रहेगी। उनकी दृढ़ धारणा है कि श्रावक के छिद्रान्वेषण, विकृत वचन एवं असत्य भाषण, परधन या परस्त्री के अपहरण से मानव को कभी सम्यक्त्व प्राप्ति नहीं हो सकती।

इसके उपरांत गृह[११]-कुटुंब-निर्वाह की समुचित पद्धति का अत्यंत संक्षेप में वर्णन है। अंत में इस रास ग्रंथ का उपसंहार करते हुए कवि आशीर्वाद देता है कि जो भी धार्मिक जन कर्ण रूपी अंजलि से इस रास का रसपान करेंगे वे सभी अजर एवं अमर हो जायेंगे।

---

५. उपदेश रसायन रास छंद—३७ से ३९ तक
६. ,, ,,—४१ से ५० तक
७. ,, ,,—५४ से ५७ तक
८. ,, ,,—६३ से ६६ तक
९. ,, ,,—६९ से ७१ तक
१०. ,, ,,—७२ से ७४ तक
११. ,, ,,—७५ से ७९ तक
१२. ,, ,,—८०

उपदेश रसायन रासः

जिनदत्त सूरि

(संवत् ११७१ वि०)

पणमह पास—वीरजिण भाविण
तुम्हि सव्वि जिव मुच्चहु पाविण।
घरववहारि म लग्गा अच्छह
खणि खणि आउ गलंतउ पिच्छह ॥ १ ॥

लद्धउ माणुसजम्मु म हारहु
अप्पा भव-समुद्दि गउतारहु।
अप्पु म अप्पहु रायह रोसह
करहु निहाणु म सव्वह दोसह ॥ २ ॥

दुलहउ मणुयजम्मु जो पत्तउ
सहलउ करहु तुम्हि सुनिरुत्तउ।
सुहगुरु—दंसण विणु सो सहलउ
होइ न कीवइ वहलउ वहलउ ॥ ३ ॥

सुगुरु सु वुच्चइ सच्चउ भासइ
परपरिवायि—नियरु जसु नासइ।
सव्वि जीव जिव अप्पउ रक्खइ
मुक्ख—मग्गु पुच्छियउ जु अक्खइ ॥ ४ ॥

जो जिण-वयणु जहट्ठिउ जाणइ
दव्वु खित्तु कालु वि परियाणइ।
जो उस्सग्गववाय वि कारइ
उम्मग्गिण जणु जंतउ वारइ ॥ ५ ॥

इह विसमी गुरुगिरिहिं समुट्ठिय
लोयपवाह—सरिय कुपइट्ठिय।
जसु गुरुपोउ नत्थि सो निज्जइ
तसु पवाहि पंडियउ परिखिज्जइ ॥ ६ ॥

सा घणजड परिपूरिय दुत्तर
किव तरंति जे हुंति निरुत्तर ?
विरला किवि तरंति जि सदुत्तर
ते लहन्ति सुक्खइ उत्तरुत्तर ॥ ७ ॥

गुरु-पवहणु निप्पुन्नि न लब्भइ
तिणि पवाहि जणु पडियउ वुब्भइ।
सा संसार-समुद्दि पइट्ठी
जहिं सुक्खह वत्ता वि पणट्ठी ॥ ८ ॥

तहिं गय जण कुग्गाहिहिं खज्जहिं
मयर-गरुयदाढग्गिहि भिज्जहिं।
अप्पु न मुणहिं न परु परियाणहिं
सुक्खलच्छि सुमिणे वि न माणहिं ॥ ६ ॥

गुरु-पवहणु जइ किर कु वि याणइ
परउवयाररसिय मट्ठाणइ।
ता गयचेयण ते जण पिच्छइ
किंचि सजीउ सो वि तं निच्छइ ॥ १० ॥

कट्ठिण कु वि जइ आरोविज्जइ
तु वि तिण नीसत्तिण रोविज्जइ।
कच्छ ज दिज्जइ किर रोवंतह
सा असुइहि भरियइ पिच्छंतह ॥ ११ ॥

धम्मु सु धरणु कु सकइ कायरु ?
तहिं गुणु कवणु चडावइ सायरु ?।
तसु सुहत्थु निव्वाणु कि संधइ ?
मुक्ख किं करइ राह किं सु विंधइ ? ॥ १२ ॥

तसु किव होइ सुनिव्वुइ-संगमु ?
अथिरु जु जिव किक्काणु तुरंगमु ।
कुप्पहि पडइ न मग्गि विलग्गइ
वायह भरिउ जहिच्छइ वग्गइ ॥ १३ ॥

खज्जइ सावएहि सुबहुत्तिहिं
भिज्जइ सामएहिं गुरुगत्तिहिं ।
वग्घसंघ-भय पडइ सु खड्डह
पडियउ होइ सु कूडउ हड्डह ॥ १४ ॥

तेण जम्मु इहु नियउ निरत्थउ
नियमत्थइ देविणु पुल्लत्थउ ।
जइ किर तिण कुलि जम्मु वि पाविउ
जाइजुत्तु तु वि गुण न सु दाविउ ॥ १५ ॥

जइ किर वरिससयाउ वि होई
पाउ इक्कु परिसंचइ सोई ।
कह वि सो वि जिणदिक्ख पवज्जइ
तह वि न सावज्जइ परिवज्जइ ॥ १६ ॥

गज्जइ मुद्धह लोअह अग्गइ
लक्खण तक्क वियारण लग्गइ ।
भणइ जिणागमु सहु वक्खाणउं
तं पि वियारभि जं लुक्काणउं ॥ १७ ॥

अद्धमास चउमासह पारइ
मलु अब्भितरु वाहिरि धारइ ।
कहइ उस्सुत्त—उम्मग्गपयाइं
पडिक्कमणाय—वंदणयगयाइं ॥ १८ ॥

पर न मुणइ तयत्थु जो अच्छइ
लोयपवाहि पडिउ सु वि गच्छइ ।
जइ गीयत्थु को वि तं वारइ
ता तं उट्ठिवि लउडइ मारइ ॥ १९ ॥

धम्मिय जणु सत्थेण वियारइ
सु वि ते धम्मिय सत्थि वियारइ।
तव्विहलोइहि सो परियरियउ
तउ गीयत्थिहि सो परिहरियउ॥ २०॥

जो गीयत्थु सु करइ न मच्छरु
सु वि जीवंतु न मिल्लइ मच्छरु।
सुद्धइ धम्मि जु लग्गइ विरलउ
संघि सु वज्झु कहिज्जइ जवलउ॥ २१॥

पइ पइ पाणिउ तसु वाहिज्जइ
उवसमि थक्कु सो वि वाहिज्जइ।
तस्सावय सावय जिव लग्गहिं
धम्मिय लोयह च्छिद्दइ मग्गहिं॥ २२॥

विहिचेईहरि अविहिंकरेवइ
करहि उवाय वहुत्ति ति लेवइ।
जइ विहिजिणहरि अविहि पयट्टइ
ता घिउ सत्तुयमज्झि पलुट्टइ॥ २३॥

जइ किर नरवइ कि वि दूसमवस
ताहि वि अप्पहि विहिचेइय दस।
तह वि न धम्मिय विहि विणु झगडहिं
जइ ते सव्वि वि उट्ठहि लगुडिहि॥ २४॥

निच्चु वि सुगुरु—देवपयभत्तह
पणपरमिट्ठि सरंतह संतह।
सासणसुर पसन्न ते भव्वइं
धम्मिय कज्ज पसाहहि सव्वइं॥ २५॥

धम्मिउ धम्मुकज्जु साहंतउ
परु मारइ कीवइ जुज्झंतउ।
तु वि तसु धम्मु अत्थि न हु नासइ
परमपइ निवसइ सो सासइ॥ २६॥

सावय विहिधम्मह अहिगारिय
जिज्ज न हुंति दीहसंसारिय ।
अविहि करिंति न सुहगुरुवारिय
जिणसंबंधिय धरहि न दारिय ॥ २७ ॥

जइ किर फुल्लइ लब्भइ मुल्लिण
तो वाडिय न करहि सहु कूविण ।
थावर घर-हट्टइ न करावहि
जिणधणु संगहु करि न वद्धारहि ॥ २८ ॥

जइ किर कु वि मरंतु घर-हट्टइ
देइ त लिज्जहि लहणावट्टइं ।
अह कु वि भत्तिहि देइ त लिज्जहिं
तब्भाडयधणि जिण पूइज्जहिं ॥ २९ ॥

दिंत न सावय ते वारिज्जहिं
धम्मिकज्जि ते उच्छाहिज्जहिं ।
घरवावारु सव्वु जिव मिल्लहिं
जिव न कसाइहिं ते पिल्लिज्जहिं ॥ ३० ॥

तिव तिव धम्मु कहिंति सयाणा
जिव ते मरिवि हुंति सुरराणा ।
चित्तासोय करंत ट्ठाहिय
जण तहिं कय हवंति नट्ठाहिय ॥ ३१ ॥

जिव कल्लाणय पुट्ठिहिं किज्जहिं
तिव करिंति सावय जहसत्तिहिं ।
जा लहुडी सा नच्चाविज्जइ
वड्डी सुगुरु-वयणि आणिज्जइ ॥ ३२ ॥

जोव्वणत्थ जा नच्चइ दारी
सा लग्गइ सावयह वियारी ।
तिहि निमित्तु सावयसुय फट्टहिं
जंतिहिं दिवसिहिं धम्मह फिट्टहिं ॥ ३३ ॥

वहुय लोय रायंध स पिच्छहि
जिणमुह-पंकउ विरला वंछहि।
जणु जिणभवणि सुहत्थु जु आयउ
मरइ सु तिक्खकडक्खिहिं घायउ ॥ ३४ ॥

राग विरुद्धा नवि गाइज्जहिं
हियइ धरंतिहि जिणगुण गिज्जहिं।
पाउ वि न हु अजुत्त वाइज्जहिं
लउडडंडि-पमुह वारिज्जहिं ॥ ३५ ॥

उचिय थुत्ति-थुयपाढ पढिज्जहिं
जे सिद्धंतिहिं सहु संधिज्जहिं
तालारासु वि दिंति न रयणिहिं
दिवसि वि लउडारसु सहुं पुरिसिहि ॥ ३६ ॥

धम्मिय नाडय पर नच्चिज्जहिं
भरह—सगरनिक्खमण कहिज्जहिं।
चक्कवट्टि-बल-रायह चरियइं
नच्चिवि अंति हुंति पव्वइयइं ॥ ३७ ॥

हास खिड्ड हुड्ड वि वज्जिज्जहिं
सहु पुरिसेहि वि केलि न किज्जहिं।
रत्तिहिं जुवइपवेसु निवारहिं
न्हवणु नंदि न पइट्ठ करावहिं ॥ ३८ ॥

माहमाल-जलकीलंदोलय
ति वि अजुत्त न करंति गुणालय।
बलि अत्थमियइ दिणयरि न धरहिं
घरकज्जइं पुण जिणहरि न करहिं ॥ ३९ ॥

सूरि ति विहिजिणहरि वक्खाणहि
तहिं जे अविहि उस्सुत्तु न आणहिं।
नंदि-पइट्ठह ते अहिगारिय
सूरि वि जें तद्दवरि ते वारिय ॥ ४० ॥

एगु जुगप्पहाणु गुरु मन्नहिं
जो जिण गणिगुरु पवयणि वन्नहिं ।
तासु सीसि गुणसिंगु समुट्ठइ
पवयणु-कज्जु जु साहइ लट्ठइ ॥ ४१ ॥

सो छउमत्थु वि जाणइ सव्वइ
जिण-गुरु-समइपसाइण भव्वइ ।
चलइ न पाइण तेण जु दिट्ठउ
जं जि निकाइउ त परि विणट्ठउ ॥ ४२ ॥

जिणपवयणभत्तउ जो सक्कु वि तसु
पयचिंत करइ वहु [व] क्कु वि जसु ।
न कसाइहिं मणु पीडिज्जइ
तेण सु देविहि वि ईडिज्जइ ॥ ४३ ॥

सुगुरु-आण मणि सइ जसु निवसइ
जसु तत्तत्थि चित्त पुणु पविसइ ।
जो नाइण कु वि जिणवि न सक्कइ
जो परवाइ-भइण नोसक्कइ ॥ ४४ ॥

जसु चरिइण गुणिचित्तु चमक्कइ
तसु जु न सहइ सु दूरि निलुक्कइ
जसु परिचिंत करहिं जे देवय
तसु समचित्त तिं थोवा सेवय ॥ ४५ ॥

तसु निसि दिवसि चिंत इह (य) वट्टइ
कहिं वि टावि जिणपवयणु फिट्टइ ।
भूरिं भवंता दीसहि वोडा
जे सु पसंसहि ते परि थोडा ॥ ४६ ॥

पिच्छहि ते तसु पइ पइ पाणिउ
तसु असंतु दुहु ढोयहिं आणिउ ।
धम्मपसाइण सो परि छुट्टइ
सव्वत्थ वि सुहकज्जि पयट्टइ ॥ ४७ ॥

तह वि हु ताहि वि सो नवि रूसइ
खम न सु भिल्लइ नवि ते दूसइ।
जइ ति वि आवहि तो संभासइ
जुत्तु तदुत्तु वि निसुणिवि तूसइ॥ ४८॥

अप्पु अणप्पु विं न सु वहु मन्नइ
थोवगुणु वि परु पिच्छवि वन्नइ।
एइ वि जइ तरंति भवसायरु
ता अणुवत्तउ निच्चु वि सायरु॥ ४९॥

जुगपहाणु गुरु इउ परि चिंतइ
तं-मूलि वि तं-मण सु निकिंतइ।
लोउ लोयवत्ताणइ भग्गउ
तासु न दंसणु पिच्छइ नग्गउ॥ ५०॥

इह गुरु केहि वि लोइहि वन्निउ
तु वि अम्हारइ संघि न मन्निउ।
अम्हि केस इसु पुट्ठिहि लग्गह?
अन्निहि जिव किव नियगुरु मिल्लह?॥ ५१॥

पारतंत-विहिविसइ-विमुक्कउ
जणु इउ वुल्लइ मग्गह चुक्कउ।
तिणि जणु विहिधम्मिहि सह झगडइ
इह परलोइ वि अप्पा रगडइ॥ ५२॥

तु वि अविलक्खु विवाउ करंतउ
किवइ न थक्कइ विहि असहंतउ।
जो जिणभासिउ विहि सु कि तुट्टइ?
सो झगडंतु लोउ परिफिट्टइ॥ ५३॥

दुप्पसहंतु चरणु जं वुत्तउ
तं विहि विणु किव होइ निरुत्तउ?।
इक्क सूरि इक्का वि स अज्जी
इक्कु देस जि इक्क वि देसज्जी॥ ५४॥

तह वीरह तु वि तित्थु पयट्टइ
तं दस-वीसह अज्जु कि तुट्टइ ? ।
नाण-चरण-दंसणगुणसंठिउ
संघु सु वुच्चइ जिणिहि जहट्ठिउ ॥ ५५ ॥

दव्व-खित्त-काल – ठिइ वट्टइ
गुणि-मच्छरु करंतु न निहट्टइ ।
गुणविहूणु संघाउ कहिज्जइ
लोअपवाहनईए जो निज्जइ ॥ ५६ ॥

जुत्ताजुत्तं वियारु न रुच्चइ
जसु जं भावइ तं तिण वुच्चइ ।
अविवेइहिं सु वि संघु भणिज्जइ
परं गीयत्थिहिं किव मन्निज्जइ ? ॥ ५७ ॥

विणु कारणि सिद्धंति निसिद्धउ
वंदणाइकरणु वि जु पसिद्धउ ।
तसु गीयत्थ केम कारण विणु
पइदिणु मिलहिं करहिं पयवंदणु ॥ ५८ ॥

जो असंघु सो संघु पयासइ
जु जि संघु तसु दूरिण नासइ ।
जिव रायंध जुवइदेहंगिहिं
चंद कुंद अणहुंति वि लक्खहिं ॥ ५९ ॥

तिव दंसणरायंध निरिक्खहि
जं न अत्थि तं वत्थु विअक्खहि ।
ते विवरीयदिट्ठि सिवसुक्खइ
पाविहि सुमिणि वि कह पच्चक्खइ ॥ ६० ॥

दम्म लिंति साहम्मिय—संतिय
अवरुप्परु झगडंति न दिंति य ।
ते विहिधम्मह खिंस महंति य
लोयमज्झि झगडंति करंति य ॥ ६१ ॥

जिणपवयण—अपभावण वड्डी
तउ सम्मत्तह वत्ता वि वुड्डी।
जुत्तिहि देवदव्वु तं भज्जइ
हुंतउं मग्गइ तो वि न दिज्जइ ॥ ६२ ॥

वेट्टा वेट्टी परिणाविज्जहिं
ते वि समाणधम्म-घरि दिज्जहिं।
विसमधम्म-घरि जइ वीवाहइ
तो सम (म्म) त्तु सु निच्छइ वाहइ ॥ ६३ ॥

थोडइ धणि संसारियकज्जइ
साहिज्जइ सव्वइं सावज्जइं।
विहिधम्मत्थि अत्थु विव्विज्जइ
जेण सु अप्पु निव्वुइ निज्जइ ॥ ६४ ॥

सावय वसहिं जेहिं किर ठावहिं
साहुणि साहु तित्थु जइ आवहिं।
भत्त वत्थ फासुय जल आसण
वसहिं वि दिंति य पावपणासण ॥ ६५ ॥

जइ ति वि कालुचिय-गुणि वट्टहिं
अप्पा परु वि धरहि विहिवट्टहिं।
जिण गुरुवेयावच्चु करेवउ
इउ सिद्धंतिउ वयणु सरेवउ ॥ ६६ ॥

घणमाणुसु कुडुंबु निव्वाहइ
धम्मवार पर हिंडउ वाहइ।
तिणि सम्मत्त-जलंजलि दिन्नी
तसु भवभमणि न मइ निव्विन्नी ॥ ६७ ॥

सधणु सजाइ जु ज्जि तसु भत्तउ
अन्नह सद्दिट्ठिहि विं विरत्तउ।
जे जिणसासणि हुंति पवन्ना
ते सवि बंधव नेहपवन्ना ॥ ६८ ॥

तसु संमत्तु होइ किव सुद्धह
जो नवि वयणि विलग्गइ बुद्धह।
तिन्नि चयारि छुत्तिदिण रक्खइ
स जि सरावी लग्गइ तिक्खइ॥ ६९॥

हुंति य च्छुत्ति जल (पय) इइ सेच्छइ
सा घर-धम्मह आवइ निच्छइ।
छुत्तिभग्ग घर छड्डुइं देवय
सासणसुर मिल्लंहि विहिसेवय॥ ७०॥

पडिकमणइ वंदणइ आउल्ली
चित्त धरंति करेइ अमुल्ली।
मणह मज्झि नवकारु वि झायइ
तासु सुद्धु सम्मत्तु वि रायइ॥ ७१॥

सावउ सावयछिदइं मग्गइ
तिणि सहु जुज्झइ धणवलि वग्गइ।
अलिउ वि अप्पाणउं सच्चावइ
सो समत्तु न केमइ पावइ॥ ७२॥

विकियवयणु वुल्लइ नवि मिल्लइ
पर पभणंतु वि सच्चउं पिल्लइ।
अट्ठ मयट्ठाणिहिं वट्टंतउ
सो सद्दिट्ठि न होइ न सन्तउ॥ ७३॥

पर अणत्थि घल्लंतु न संकइ
परधण-धणिय जु लेयण धंखइ।
अहियपरिग्गह-पावपसत्तउ
सो संमत्तिण दूरिण चत्तउ॥ ७४॥

जो सिद्धंतियजुत्तिहिं नियवरु
वाहि न जाणइ करइ विसंवरु।
कु वि केणइ कसायपूरियमणु
वसइ कुडुंवि जं माणुसवणु॥ ७५॥

तसु सरूवु मुणि अणुवत्तिज्जइ
कु वि दाणिण कुवि वयणिण लिज्जइ।
कुवि भएण करि पाणु धरिज्जइ
सगुणु जिहु सो पइ ठाविज्जइ ॥ ७६ ॥

जुड्ढह धिट्ठह न य पत्तिज्जइ
जो असत्तु तसुवरि दइ किज्जइ।
अप्पा परह न लक्खाविज्जइ
नप्पा विणु कारणि खाविज्जइ ॥ ७७ ॥

माय-पियर जे धम्मि विभिन्ना
ति वि अणुवित्तिय हुंति ति धन्ना।
जे किर हुंति दीहसंसारिय
ते वुझंत न ठंति निवारिय ॥ ७८ ॥

ताहि वि कीरइ इह अणुवत्तण
भोयण—वत्थ-पयाणपयत्तिण।
तह वुल्लंतह नवि रूसिज्जइ
तेहि समाणु विवाउ न किज्जइ ॥ ७९ ॥

इय जिणदत्तु वएसरसायणु
इह-परलोयह सुक्खह भायणु।
कण्णंजलिहि पियंतिजि भव्वइं
ते हवंति अजरामर सव्वइं ॥ ८० ॥

उपदेशरसायन समाप्तम् ॥

चर्चरी

परिचय—

नृत्य-संगीत-सहित एक लोक-नाट्य चर्चरी कहलाता था, जिसका अभिनय प्रायः वसन्तोत्सव के अवसर पर होता। ऐसा प्रतीत होता है कि चर्चरी रासक के समान प्रारंभ में एक नृत्यप्रकार था जो विकसित होकर दृश्य काव्य की स्थिति तक पहुँच गया। एक आचार्य का मत है कि नटों का वह नर्त्तन, जिसमें 'तति गिध' शब्दों का उच्चारण करते हुए ताल सहित चार आवर्त्तन (चक्कर) लगाया जाय, चर्चरी[1] कहलाता है।

चर्चरी-नृत्य कालांतर में शृंगाररस की कथावस्तु के आधार पर अभिनेय गीति-नाट्य बन गया जिसका प्रमाण भूमिका में विस्तार के साथ दिया जा चुका है।

प्रस्तुत चर्चरी इस बात का प्रमाण है कि कुछ जैन-चैत्यगृह भी शृंगार-रसपूर्ण रास और चर्चरियों से इतने अधिक गुंजरित होने लगे थे कि धर्म-समाज-सुधारकों को इस प्रचलित प्रथा के विरुद्ध आंदोलन करना पड़ा। यह तथ्य इस चर्चरी के सारांश से स्पष्ट हो जायगा।

इस चर्चरी के रचयिता आचार्य जिनदत्तसूरि हैं जिनकी कृतियों के विषय में पूर्व पाठ में संकेत किया जा चुका है। इस चर्चरी के प्रारम्भ में धर्मजिन-स्तुति और जिनवल्लभसूरि की स्तुति के उपरांत ७ पदों में आचार्यवर के पांडित्य[2] का निरूपण मिलता है। दसवें पद में दुः संघ और सुसंघ का अंतर दिखाया गया है। तदुपरांत उत्सूत्र-भाषियों के त्याग एवं लोकप्रवाह में पड़े हुए कुतूहल-प्रिय प्राणियों द्वारा चैत्यगृह के अपमानद्योतक गीत, वाद्य, क्रीड़ा, कौतुक का निषेध[3] वर्णित है।

---

१. तति गिध इति शब्देन नर्त्तनं रास तालतः।
अथवा चर्चरी तालाच्चतुरावर्तनैर्नटैः।
क्रियते नर्त्तनं तस्याश्चर्चरी नर्त्तनं वरम्॥ वेदः।

२. चर्चरी छंद ११-१३

३. जिनवल्लभसूरि को काव्य-रचना-चातुरी में कालिदास माघ प्रभृति कवियों से श्रेष्ठ पद प्रदान किया गया है।

अब आचार्य प्रवर जिनवल्लभसूरि प्रदर्शित चैत्यगृह के विधि-विधान का विवरण देते हैं। उनका कथन है कि रात्रि में चैत्यगृह में साध्वियों का प्रवेश, धार्मिक जनपीड़ा एवं निंदित कर्म, एवं विलासिनी-नृत्य निषिद्ध है। निषिद्ध कर्मों की विस्तृत सूची में रात्रि में रथभ्रमण, लकुट-रास-प्रदर्शन जिन-गुरु के अनुपयुक्त गायन, तांबूल-भक्षण, उपानह-धारण, प्रहरण-दुष्ट-जल्पन, शिरोवेष्टन धारण, गृह-चिंता-ग्रहण, मलिन वस्त्र-धारण कर जिनवर पूजन, श्राविका का मूल प्रतिमा-स्पर्श, आत्मप्रशंसा एवं परदूषण-कथन भी सम्मिलित है।

आगे चलकर चैत्यगृह के प्रबंधकों की अपव्ययता का दुष्परिणाम और आगम के अनुसार आचरण करनेवाले पूज्य व्यक्तियों के सम्मान का वर्णन है। अंत के सात पदों में जिनवल्लभसूरि की महिमा का उल्लेख है।

उपर्युक्त विवरण इस तथ्य का द्योतक प्रतीत होता है कि चैत्यगृहों में लकुट-रास खेला जाता था, तभी तो उसके निषेध की आवश्यकता पड़ी।

———

चर्चरी

जिनदत्त सूरि

नमिवि जिणेसरधम्मह तिहुयणसामियह
पायकमलु ससिनिम्मलु सिवगयगामियह ।
करिमि जहट्ठियगुणथुइ सिरिजिणवल्लहह
जुगपवरागमसूरिहि गुणिगणदुल्लहह ॥ १ ॥

जो अपमाणु पमाणइ छद्दरिसण तणइ
जाणइ जिव नियनामु न तिण जिव कुवि घणइ ।
परपरिवाइगइंदवियारणपंचमुहु
तसु गुणवन्नणु करण कु सक्कइ इक्कमुहु? ॥ २ ॥

जो वायरणु वियाणइ सुहलक्खणनिलउ
सद्द असद्द वियारइ सुवियक्खणतिलउ ।
सु च्छंदिण वक्खाणइ छंदु जु सुजइमउ
गुरु लहु लहि पइटावइ नरहिउ विजयमउ ॥ ३ ॥

कव्वु अउव्वु जु विरयइ नवरसभरसहिउ
लद्धपसिद्धिहिं सुकइहिं सायरु जो महिउ ।
सुकइ माहु ति पसंसहिं जे तसु सुहगुरुहु
साहु न मुणहि अयाणुय मइजियसुरगुरुहु ॥ ४ ॥

कालियासु कइ आसि जु लोइहिं वन्नियइ
ताव जाव जिणवल्लहु कइ नाअन्नियइ ।
अप्पु चित्तु परियाणहि तं पि विसुद्ध न य
ते वि चित्तकइराय भणिज्जहि सुद्धनय ॥ ५ ॥

सुकइविसेसियवयणु जु वप्पइराउकइ
सु वि जिणवल्लहपुरउ न पावइ कित्ति कइ ।

अवरि अणेयविणेयहिं सुकइ पसंसियहिं
तक्ककव्वामयलुद्धिहिं निच्चु नमंसियहिं ॥ ६ ॥

जिण कय नाणा चित्ताइं चित्तु हरन्ति लहु
तसु दंसणु विणु पुन्निहिं कउ लब्भइ दुलहु ।
सारइं बहु थुइ-थुत्ताइ चित्ताइं जेण कय
तसु पयकमलु जि पणमहि ते जण कयसुकय ॥ ७ ॥

जो सिद्धंतु वियाणइ जिणवयणुब्भविउ
तसु नामु वि सुणि तूसइ होइ जु इहु भविउ ।
पारतंतु जिणि पयडिउ विहिविसइहिं कलिउ
सहि ! जसु जसु पसरंतु न केणइ पडिखलिउ ॥८॥

जो किर सुत्तु वियाणइ कहइ जु कारवइ
करइ जिणेहि जु भासिउ सिवपहु दक्खवइ ।
खवइ पावु पुव्वज्जिउ पर—अप्पह तणउं
तासु अदंसणि सगुणहिं झूरिज्जइ घणउं ॥ ६ ॥

परिहरि लोयपवाहु पयट्टिउ विहिविसउ
पारतंति सहु जेण निहोडि कुमग्गसउ ।
दंसिउ जेण दुसंघ-सुसंघह अंतरउ
वद्धमाणजिणतित्थह कियउ निरंतरउ ॥ १० ॥

जे उस्सुत्तु पयंपहि दूरि ति परिहरइ
जो उ सुनाण-सुदंसण—किरिय वि आयरइ ।
गड्डरि गामपवाहपवित्ति वि संवरिय
जिण गीयत्थायरियइ सव्वइ संभरिय ॥ ११ ॥

चेईहरि अणुचियइं जि गीयइं वाइयइ
तह पिच्छण—थुइ—थुत्तइं खिड्डइ कोउयइ
विरहंकिण किर तित्थु ति सव्वि निवारियइ
तेहिं कइहिं आसायण तेण न कारियइ ॥ १२ ॥

लोयपवाहपयट्टिहि कोऊहलपिइहि
कीरन्तइ कुडदोसइ संसयविरहियहि ।

ताइं वि समइनिसिद्धइ समइकयत्थियहि ।
धम्मन्थीहि वि कीरहिं बहुजणपत्थियहि ॥ १३ ॥

जुगपवरागमु मन्निउ सिरिहरिभद्दपहु
पडिहयकुमयसमूहु पयासियमुत्तिपहु ।
जुगपहाणसिद्धंतिण सिरिजिणवल्लहिण
पयडिउ पयडपयाविण विहिपहु दुल्लहिण ॥ १४ ॥

विहिचेईहरु कारिउ कहिउ तमाययणु
तमिह अणिस्साचेइउ कयनिव्वुइनयणु ।
विहि पुण तत्थ निवेइय सिवपावण पवण
जं निसुणेविणु रंजिय जिणपवयणनिउण ॥ १५ ॥

जहि उस्सुत्तु जणक्कमु कु वि किर लोयणिहि
कीरंतउ नवि दीसइ सुविहिपलोयणिहिं ।
निसि न ण्हाणु न पइट्ठ न साहुहि साहुणिहि
निसि जुवईहिं न पवेसु न नट्टु विलासिणिहि ॥ १६ ॥

जाइ नाइ न कयग्गहु मन्नइ जिणवयणु
कुणइ न निंदियकंमु न पीडउ धम्मियणु ।
विहिजिणहरि अहिगारिउ सो किर सलहियइ
सुद्धउ धम्मु सुनिम्मलि जसु निवसइ हियइ ॥ १७ ॥

जित्थु तिन्चउरसुसावयदिट्ठउ दव्ववउ
निसिहिं न नंदि करावि कुवि किर लेइ वउ
वलि दिणयरि अत्थमियइ जहि न हु जिणपुरउ
दीसइ धरिउ न सुत्ताइ जहि जणि तूररउ ॥ १८ ॥

जहिं रयणिहि रहभमणु कयाइ न कारियइ
लउडारसु जहिं पुरिसु वि दिंतउ वारियइ ।
जहि जलकीडंदोलण हुंति न देवयह
माहमाल न निसिद्धी कयअट्ठाहियह ॥ १९ ॥

जहि सावय जिणपडिमह करिहि पइट्ट न य
इच्छाच्छंद न दीसहि जहि मुद्धंगिनय ।
जहि उस्सुत्तपयट्टह वयणु न निसुणियइ
जहि अज्जुत्तु जिण-गुरुह वि गेउ न गाइयइ ॥ २० ॥

जहि सावय तंबोलुन भक्खहि लिंति न य
जहि पाणहि य धरंति न सावय सुद्धनय ।
जहि भोयणु न य सयणु न अणुचिउ वइसणउ
सह पहरणि न पवसु न दुट्ठउ बुल्लणउ ॥ २१ ॥

जहि न हासु न वि हुड्ड न खिड्ड न रूसणउ
कित्तिनिमित्तु न दिज्जइ जहि धणु अप्पणउ ।
करहि जि बहु आसायण जहिं ति न मेलियहि
मिलिय ति केलि करंति समाणु महेलियहिं ॥ २२ ॥

जहिं संकंति न गहणु न माहि न मंडलउ
जहिं सावयसिरि दीसइ कियउ न विंटलउ ।
गहवणयार जण मिल्लिवि जहि न विभूसणउ ।
सावयजणिहि न कीरइ जहि गिहचिन्तणउ ॥ २३ ॥

जहिं न मलिणचेलंगिहि जिणवरु पूइयइ
मूलपडिम सुइभूइ वि छिवइ न सावियइ ।
आरत्तिउ उत्तारिउ जं किर जिणवरह
तं पि न उत्तारिज्जइ बीयजिणे सरह ॥ २४ ॥

जहि फुल्लइं निम्मलु न अक्खय वणहलइ
मडिमंडणभूसणइं न चेलइ निम्मलइ ।
जित्थु न जइहि ममत्तु न जित्थु वि तव्वसणु
जहि न अत्थि गुरुदंसियनीइहि पम्हसणु ॥ २५ ॥

जहि पुच्छिय सुसावय सुहगुरुलक्खणइ
भणिहि गुणत्थुय सच्चय पच्चक्खह तणइ

जहि इक्कुत्तु वि कीरइ निरुद्धइ सगुणउ
समयजुत्ति विहडंतु न वहुलोयह [त] णउ ॥ २६ ॥

जहिं न अप्पु वन्निज्जइ परु वि न दूसियइ
जहि सग्गुणु वन्निज्जइ विगुणु उवेहियइ ।
जहि किर वत्थु-वियारणि कलुवि न वीहियइ
जहि जिणवयणुत्तिन्नु न कह वि पयंपियइ ॥ २७ ॥

इय वहुविह उस्सुत्तइ जेण निसेहियइ
विहिजिणहरि सुपसत्थिहि लिहिवि निदंसियइ ।
जुगपहाणु जिणवल्लहु सो किं न मन्नियइ ?
सुगुरु जासु सन्नाणु सुनिउणिहि वन्नियइ ॥ २८ ॥

लवमित्तु वि उस्सुत्तु जु इत्थु पयंपियइ
तसु विवाउ अइघोउ वि केवलि दंसियइ ।
ताइं जि जे उस्सुत्ताइं कियइ निरंतरइ
ताह दुक्ख जे हुंति ति भूरि भवंतरइ ॥ २६ ॥

अपरिक्खियसुयनिहसिहिं नियमइगव्वियहि
लोयपवाहपयट्टिहिं नामिण सुविहियइं ।
अवरुप्परमच्छरिण निदंसिय सगुणिहिं
पूआविज्जइ अप्पउ जिणु जिव निग्घिणिहिं ॥ ३० ॥

इह अणुसोयपयट्टह संख न कु वि करइ
भवसायरि ति पडंति न इक्कु वि उत्तरइ ।
जे पडिसोय पयट्टहि अप्प वि जिय धरह
अवसय सामिय हुंति ति निव्वुइ पुरवरह ॥ ३१ ॥

जं आगम-आयरणिहिं सहुं न विसंवयइ
भणहि त वयणु निरुत्तु न सग्गुणु जं चयइ
ते वंसति गिहिगेहि वि होइ तमाययणु
गइहि तित्थु लहु लब्भइ मुत्तिउ सुहरयणु ॥ ३२ ॥

पासत्थाइविबोहिय केइ जि सावयइं
कारावहि जिणमंदिरु तंमइभावियइं ।

तं किर निस्साचेइउ अववायिण भणिउ
तिहि-पव्विहि तहि कीरइ वंदणु कारणिउ ॥ ३३ ॥

जहि लिंगिय जिणमंदिरि जिणदव्विण कयइं
मढ़ि वसन्ति आसायण करहिं महंतियइ !
तं पकप्पि परिवज्जिउ साहम्मियथलिय
जहिं गय वंदणकज्जिण न सुदंसण मिलिय ॥ ३४ ॥

ओहनिज्जुत्तावस्सयपयरणदंसियउ
तमणाययणु जु दावइ दुक्ख पसंसियउ ।
तहिं कारणि वि न जुत्तउ सावयजणगमणु
तहि वसंति जे लिंगिय ताहि वि पयनमणु ॥ ३५ ॥

जाइज्जइ तहिं वावि(ठाणि ति नमियहिं इत्थु जइ
गय नमंतजण पावहि गुणगणवुड्ढिं जइ ।
गइहि तत्थु ति नमंतिहिं पाउ जु पावियइ
गमणु नमणु तहिं निच्छइ लगुणिहिं वारियइ ॥ ३६ ॥

वसहिहिं वसहिं वहुत्त उसुत्तपयंपिरइ
करहिं किरिय जणरंजण निच्चु वि दुक्करय ।
परि सम्मत्तविहीण ति हीणिहि सेवियहिं
तिहिं सहु दंसणु सग्गुण कुणहिं न पावियहिं ॥ ३७ ॥

उस्सग्गिण विहिचेइउ पढमु पयासियउ
निस्साकडु अववाइण दुइउ निदंसियउ ।
जहि किर लिंगिय निवसहि तमिह अणाययणु
तहि निसिद्धु सिद्धंति वि धम्मियजणगमणु ॥ ३८ ॥

विणु कारणि तहि गमणु न कुणहि जि सुविहियइं
तिविहु जु चेइउ कहइ सु साहु वि मंनियइ ।
तं पुण दुविहु कहेइ जु सो अवगन्नियइ
तेण लोउ इह सयलु वि भोलउ धुंधियइ ॥ ३९ ॥

इय निप्पुन्नह दुल्लह सिरिजिणवल्लहिण
तिविहु निवेइउ चेइउ सिवसिरिवल्लहिण ।
उस्सुत्तइ वारंतिण सुत्तु कहंतइण
इह नवं व जिणसासणु दंसिउ सुम्मइण ॥ ४० ॥

इक्कवयणु जिणवल्लहु पहु वयणइं घणइं
किं व जंपिवि जणु सक्कइ सक्कु वि जइ मुणइ ।
तसु पयभत्तह सत्तह सत्तह भवभयह
होइ अंतु सुनिरुत्ताउ तव्वयणुज्जयह ॥ ४१ ॥

इक्ककालु जसु विज्ज असेस वि वयणि ठिय
मिच्छदिट्ठि वि वंदहिं किंकरभावट्ठिय ।
ठावि (णि) विहिपक्खु वि जिण अप्पडिखलिउ
फुडु पयडिउ निक्कवडिण परु अप्पउ कलिउ ॥ ४२ ॥

तसु पयपंकयउ पुन्निहिं पाविउ जण-भमरु
सुद्धनाण-महुपाणु करंतउ हुइ अमरु ।
सत्थु हुंतु सो जाणइ सत्थ सपत्थ सहि
कहि अणुवमु उवमिज्जइ केण समाणु सहि ! ? ॥ ४३ ॥

वद्धमाणसूरिसीसु जिणेसर सूरिवरु
तासु सीसु जिणचंदजईसरु जगपवरु ।
अभयदेउमुणिनाहु नवंगह वित्तिकरु
तसु पयपंकय - भसलु सलक्खणुचरणकरु ॥ ४४ ॥

सिरिजिणवल्लहु दुल्लहु निप्पुन्नहं जणहं
हउं न अंतु परियाणउं अहु जण ! तग्गुणह ।
सुद्धधम्मि हउं ठाविउ जुगपवरागमिण
एउ वि मइं परियाणिउ तग्गुण-संकमिण ॥ ४५ ॥

भमिउ भूरिभवसायरि तह वि न पत्तु मइ
सुगुरुरयणु जिणवल्लहु दुल्लहु सुद्धमइ ।
पाविय तेण न निव्वुइ इह पारत्तियइ
परिभव पत्त वहुत्त न हुय पारत्तियइ ॥ ४६ ॥

इय जुगपवरह सूरिहिं सिरिजिणवल्लहह
नायसमयपरमत्थह वहुजणदुल्लहह ।
तसु गुणथुइ वहुमाणिण सिरिजिणदत्तगुरु
करइ सु निरुवमु पावइ पउ. जिणदत्तगुरु ॥ ४७ ॥

॥ इति चर्चरी समाप्त ॥

सन्देश-रासक

सन्देश-रासक की हस्तलिखित प्रतियाँ मुनिजिनविजय को पाटन-भंडार में सन् १९१२-१३ में प्राप्त हुईं। सर्वप्रथम उन्हें जो प्रति प्राप्त हुई उसमें संस्कृत अवचूरिका या टिप्पण का पता नहीं था। सन् १९१८ ई० में पूना के भंडारकर—ओरियंटलरिसर्चइंस्टिट्यूट में उन्हें एक ऐसी हस्तलिखित प्रति मिली जिसमें संस्कृत भाषा में अवचूरिका विद्यमान थी। मुनि जिनविजय जी ने विविध प्रतियों में पाठभेद देखकर यह परिणाम निकाला कि इस रासक में देश-काल-भेद के कारण पाठांतर होता गया। जनप्रिय होनेके कारण भिन्न-भिन्न स्थानों के विद्वान् स्थानीय शब्दों को इसमें सन्निविष्ट करते गए; जिसका परिणाम यह हुआ कि इसके पाठभेद उत्तरोत्तर बढ़ते ही गये।

देशी भाषा-मिश्रित इस अपभ्रंश ग्रन्थ की महत्ता के अनेक कारण हैं। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इतिहास की दृष्टि से यह सबसे प्राचीन धर्मेतर रास रचना अबतक उपलब्ध हुई है। इसके पूर्व विरचित रास जैनधर्म सम्बन्धी ग्रंथ हैं, जिनकी रचना जैनावलंबियों को ध्यान में रखकर की गई थी। लोक-प्रचलित प्रेम-कथा के आधार पर शुद्ध लौकिक प्रेमकी व्याख्या करनेवाला यह प्रथम प्राप्य रासक ग्रंथ है।

इसकी दूसरी विशेषता यह है कि इसका रचयिता अब्दुल रहमान ऐसा उदार अहिंदू है, जिसने बड़ी सहानुभूति के साथ विजित हिंदुओं की धार्मिक एवं साहित्यिक परम्परा को हृदय से स्वीकार किया और उनके सुख-दुखकी गाथाका गान उन्हीं के शब्दों और उन्हीं की शैली में गाकर विजेता और विजित के मध्य विद्यमान कटुता के निवारण का प्रयास किया।

भाषा-शैली

इस ग्रंथ की भाषा मूल पृथ्वीराजरासो की भाषा से प्रायः साम्य रखती है। इस रासक में भी 'अ' के स्थान पर 'इ' अथवा 'इ' के स्थान पर 'य' प्रयुक्त हुआ है, 'वियोगी' शब्द 'विउयइ' हो गया है। इस प्रकार का परिवर्त्तन दोहा-कोश और प्राचीन बँगला में भी पाया जाता है।

'ब' और 'व' का भेद प्रायः प्रतियों में नहीं पाया जाता। जैसे—'बलाहक' का 'वलाहय' 'अवर्वोत' का 'वोलंत' 'वहिणी' का 'वरहिणी' आदि रूप पाये जाते हैं।

इसी प्रकार 'ए' का 'इ' 'ओ' का 'उ'। जैसे—'पक्खड़' का 'पिक्खइ' 'ज्योत्सना' का 'जुन्ह'।

रचनाकाल—

आश्चर्य का विषय है कि इतने मनोहर काव्य का उल्लेख किसी ग्रंथ में नहीं मिलता। सिद्धराज और कुमारपाल के राजत्वकाल में व्यवसाय का प्रसार देखकर और इस रासक के कथानक से तत्कालीन परिस्थिति की तुलना करने पर यह निष्कर्ष निकला जा सकता है कि यह रासक बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में रचा गया होगा। श्री मुनिजिनविजय ने अपना यही मत प्रकट किया है।

छन्द-योजना—

इस रासक में अपभ्रंश के विविध छंदों का प्रयोग किया गया है। यद्यपि रासा छंदों की संख्या अधिक है तथापि गाहा, रड्डा, पद्धडिया, दोहा, चउपइआं, वत्थु, अडिल्ला, मडिल्ला आदि अपभ्रंश छदों की संख्या भी कम नहीं है।

कथावस्तु—

कवि ने प्रारम्भ में विश्वरचयिता की वंदना के उपरांत अपने तंतुवाय (जुलाहा) कुल का परिचय दिया है। तदुपरांत अपने पूर्ववर्त्ती उन कवियों को, जिन्होंने अवहट्ट, संस्कृत, प्राकृत और पैशाची भाषाओं में काव्यरचना की, श्रद्धांजलि समर्पित की। कवि अल्पज्ञता के कारण अपनी साधारण कृति के लिए विद्वानों से क्षमा-याचना करते हुए कहता है कि यदि गंगा की बड़ी महिमा है तो सामान्य नदियों की अपनी उपयोगिता है वह अपने काव्यको विद्वन्मंडली अथवा मूर्खमंडली के अनुपयुक्त समझता है और आशा करता है कि मध्यमवर्ग का पाठक इसे अपनाएगा। द्वितीय क्रम में मूल कथा इस प्रकार प्रारम्भ होती है। विजयनगर (विक्रम-पुर) में राहुग्रस्त चंद्रमा के समान मुखवाली एक प्रोषित-पतिका नायिका अपने पति के आगमन का मार्ग जोहती हुई नेत्रों से निरंतर अश्रु वर्षा कर रही है। वियोग-संतप्ता नायिका समीप के ही एक मार्गपर जाते हुए पथिक

से रोते-रोते उसके गंतव्य स्थान का नाम पूछती है। पथिक अपना परिचय देते हुए कहता है कि मैं मूलस्थान (सामोर) से आ रहा हूँ और अपने स्वामी का संदेश लेकर स्तंभतीर्थ जा रहा हूँ। स्तंभतीर्थ नगर का नाम सुनते ही वह नायिका विकंपित हो उठी। कारण यह था कि उसका पति चिरकाल से परिणीता की सुधि भूलकर उसे विरहाग्नि में तपा रहा था। पथिक ने उसके पति के लिए जब संदेश माँगा तो उसने कहा कि जो हृदय-हीन व्यक्ति धन के अर्जन में अपनी प्रिया को विस्मृत कर जाता है उसे क्या संदेश दूँ।

इसी प्रकार दोनों में वार्तालाप होता रहा। नायिका ने ग्रीष्म से प्रारंभ कर वसंत तक आनेवाली अपनी विपदाओं का उल्लेख किया। काम बाण से विद्ध बाला ने अंत में पथिक से विनय की कि यदि पतिदेव के संबंध में मुझसे अविनय हो गई हो तो आप उन शब्दों का उल्लेख न करें।

पथिक को विदा कर गृह को लौटते हुए ज्यों ही उसने दक्षिण दिशा में देखा उसे प्रवासी पतिदेव पथपर आते दिखाई पड़े। वह आनंद से विभोर हो उठी।

सन्देश-रासक

अब्दुर्रहमान

[१२वीं शती का अन्त]

रयणायरधरगिरितरुवराइं गयणंगणंमि रिक्खाइं।
जेणऽज्ज सयल सिरियं सो ब्रुहयण वो सिवं देउ॥ १॥

माणुस्सदिव्वविज्जाहरेहिं णहमग्गि सूर-ससि-बिंबे।
आएहिं जो णमिज्जइ तं णयरे णमह कत्तारं॥ २॥

पच्चाएसि पहूओ पुव्वपसिद्धो य मिच्छदेसो त्थि।
तह विसए संभूओ आरद्दो मीरसेणस्स॥ ३॥

तह तणओ कुलकमलो पाइयकव्वेसु गीयविसयेसु।
अद्दहमाणपसिद्धो संनेहयरासयं रइयं॥ ४॥

पुव्वच्छेयाण णमो सुकईण य सद्दसत्थकुसलाण।
तियलोए सुच्छंदं जेहिं कयं जेहि णिद्दिट्ठं॥ ५॥

अवहट्टय-सक्कय - पाइयंमि पेसाइयंमि भासाए।
लक्खणछन्दाहरणे सुकइत्तं भूसियं जेहिं॥ ६॥

ताणऽणु कईण अम्हारिसाण सुइसद्दसत्थरहियाण।
लक्खणछंदपमुक्कं कुकवित्तं को पसंसेइ॥ ७॥

अहवा ण इत्थ दोसो जइ उइयं ससहरेण णिसि समए।
ता किं ण हु जोइज्जइ भुअणे रयणीसु जोइक्खं॥ ८॥

जइ परहुएहिं रडियं सरसं सुमणोहरं च तरुसिहरे।
ता किं भुवणारूढ़ा मा काया करकरायन्तु॥ ९॥

तंतीवायं णिसुयं जइ किरि करपल्लवेहि अइमहुरं।
ता मद्दलकरडिरवं मा सुम्मउ रामरमणेसु॥ १०॥

जइ मयगलु मउ झरए कमलदलब्बहलगंधदुप्पिच्छो।
जइ अइरावइ मत्तो ता सेसगया म मच्चंतु॥ ११॥

जइ अत्थि पारिजाओ बहुविह गंधड्ढ कुसुम आमोओ।
फुल्लइ सुरिंदभुवणे ता सेसतरु म फुल्लंतु ॥ १२ ॥
जइ अत्थि णई गंगा तियलोए णिच्चपयडियपहावा।
वच्चइ सायरसमुहा ता सेससरी म वच्चंतु ॥ १३ ॥

जइ सरवरंमि विमले सूरे उइयंमि विअसिआ णलिणी।
ता किं वाडिविलग्गा मा विअसउ तुंविणी कहवि ॥ १४ ॥
जइ भरहभावछंदे णच्चइ णवरंग चंगिमा तरुणी।
ता किं गामगहिल्ली तालीसद्दे ण णच्चेइ ॥ १५ ॥

जइ बहुलदुद्धसंमीलिया य उल्ललइ तंदुला खीरी।
ता कणकुक्कससहिआ रब्बडिया मा दडब्बडउ ॥ १६ ॥
जा जस्स कव्वसत्ती सा तेण अलज्जिरेण भणियव्वा।
जइ चहुमुहेण भणियं ता सेसा मा भणिज्जंतु ॥ १७ ॥

णत्थि तिहुयणि जं च णहु दिट्ठु;
तुम्हेहिं वि जं न सुउ विअडवन्धु सुच्छंदु सरसउ।
णिसुणेविणु को रहइ; ललियहीणु मुक्खाह फरसउ।
तो दुग्गच्चिय छेअरिहिं पत्ताहि अलहंतेहिं।
आसासिज्जइ कह कह वि सइवत्ती रसिएहिं ॥ १८ ॥

णिअकवित्तह विज्ज माहप्प;
पंडितपवित्थरणु मणुजणंमि कोलियपयासिउ।
कोऊहलि भासिअउ सरलभाइ सनेहरासउ ॥
तं जाणिवि णिम्मिलिद्धु खणु वुहयण करवि सणेहु।
पामरजणथूलक्खरहि जं रइयउ णिसुणेहु ॥ १९ ॥

[रड्डुच्छन्दः]

संपडिउ जु सिक्खइ कुइ समत्थु; तसु कहउ विवुह संगहवि हत्थु।
पंडित्ताह मुक्खह मुणहि भेउ; तिह पुरउ पढिव्वउ ण हु वि एउ ॥ २० ॥
णहु रहइ वुहा कुकवित्तरेसि; अवुहत्तणि अवुहह णहु पवेसि।
जि ण मुक्ख ण पंडिय मज्झयार, तिह पुरउ पढ़िव्वउ सव्ववार ॥ २१ ॥

[पद्धडी छंद]

अणुराइयरयहरु कामिअमणहरु; मयणमणह पहदीवयरो।
विरहणिमइरद्धउ सुणहु विसुद्धउ; रसियह रससंजीवयरो ॥ २२ ॥

अइणेहिण भासिउ रइमइ वासिउ, सवण सकुलियह अमियसरो।
लइ लिहइ वियक्खणु, अत्थह लक्खणु, सुरइ संगि जु विअड्ड नरो॥२३॥
[डुमिला छंद]

द्वितीयः प्रक्रमः

विजयनयरहु कावि वररमणि

उत्तंगथिरथोरथणि, थिरूडलक थयरद्धपउहर।
दीणाणण पहु णिहइ, जलपवाह पवहंति दीहर॥
विरहग्गिहि कणयंगितणु तह सामलिमपवन्नु।
णज्जइ राहि विडंबिअउ ताराहिवइ सउन्नु॥ २४॥

फुल्लइ लोयण रुवइ दुक्खत्ता,
धम्मिल्लउमुक्कमुह, विज्जंभइ अरु अंगु मोडइ।
विरहानलि संतविअ, ससइ दीह करसाह तोडइ।
इम मुद्धह विलवंतियह महि चलणेहिं छिहंतु।
अद्दुधुड्डीणउ तिणि पहिउ पहि जोयउ पवहंतु॥ २५॥(रड्डु०)

तं जि पहिय पिक्खेविणु पिअउक्कंखिरिय,
मंथरगय सरलाइवि उत्तावलि चलिय।
तह मणहर चल्लंतिय चंचलरमणभरि,
छुडवि खिसिय रसणावलि किंकिणिरवपसरि॥ २६॥

तं जं मेहल ठवइ गंठि णिट्ठुर सुहय,
तुडिय ताव थूलावलि णवसरहारलय।
सा तिवि किवि संवरिवि चइवि किवि संचरिय,
णेवर चरण विलग्गिवि तह पहि पंखुडिय॥ २८॥

पडि उट्ठिय सविलक्ख सलज्जिर संभसिय,
तउ सिय सच्छ णियंसण मुद्धह विवलसिय।

तं संवरि अणुसरिय पहियपावयणमण;
फुडवि णित्त कुप्पास विलग्गिय दूर सिहण ॥ २८ ॥

छायंती कह कह व सलज्जिर णियकरहिं;
कणयकलस झंपंती णं इंदीवरहिं ।
तो आसन्न पहुत्त सगग्गिरगिर वयणि,
कियउ सद्दु सविलासु करुण दीहरनयणि ॥ २९ ॥

ठाहि ठाहि णिमिसिद्धु सुथिरु अवहारि मणु;
णिसुणि किं पि जं जंपउ हियइ पसिज्जि खणु ।
एय वयण आयन्नि पहिउ कोऊहलिउ;
णेय णिअत्तउ ता सु कमद्धु वि णहु चलिउ ॥ ३० ॥

कुसुमसराउह रूवणिहि विहि णिम्मविय गरिट्ठ ।
तं पिक्खेविणु पहियणिहिं गाहा भणिया अट्ठ ॥ ३१ ॥

पहिउ भणइ विवि दोहा तसु सु वियड्ढपरि ।
इक्कु मणि विंभउ थियउ कि रूविणि पिक्खि करि ॥
किं नु पयावइ अंधलउ अहवि वियड्ढलु आहि ।
जिणि एरिसि तिय णिम्मविय ठविय न अप्पह पाहि ॥
अइकुडिलमाइपिहुणा विविहतरंगिणिसु सलिलकल्लोला ।
किसणत्तणंमि अलया अलिउलमालव्व रेहंति ॥ ३२ ॥

रयणीतमविद्दवणो अभियंझरणो सपुरणसोमो य ।
अकलंक माइ वयणं वासरणाहस्स पडिविंवं ॥ ३३ ॥

लोयणजुयं च णज्जइ रविंददल दीहरं च राइल्लं ।
पिंडीरकुसुमपुंजं तरुणिकवोला कलिज्जंति ॥ ३४ ॥

कोमल मुणालणलयं अमरसरुप्पन्न वाहुजुयलं से ।
तारांते करकमलं णज्जइ दोहाइयं पउमं ॥ ३५ ॥

सिहणा सुयण-खला इव थड्ढा निच्चुन्नया य मुहरहिया ।
संगमि सुयणसरिच्छा आसासहि वे वि अंगाइं ॥ ३६ ॥

गिरिणइ समआवत्तं जोइज्जइ णाहिमंडलं गुहिरं ।
मज्झं सच्चसुहं मिव तुच्छं तरलग्गईहरणं ॥ ३७ ॥

जालंधरिथंभजिया ऊरू रेहंति तासु अइरम्मा ।
वट्टा य गाइदीहा सरसा सुमणोहरा जंघा ॥ ३८ ॥

[क्षेपक]

रेहंति पउमराइ व चलणंगुलि फलिहकुट्टि णहपंती ।
तुच्छं रोमतरंगं उव्विन्नं कुसुमनलएसु ॥ ३९ ॥
सयलज्ज सिरेविणु पयडियाइँ अंगाइँ तीय सविसेसं ।
को कवियणाण दूसइ, सिट्टं विहिणा वि पुणरुत्तं ॥ ४० ॥
गाहा तं निसुणेविणु रायमरालगइ ।
चलणंगुट्ठि धरत्ति सलज्जिर उल्लिहइ ॥
तउ पंथिउ कणयंगि तत्थ ओलावियउ ।
कहिजाइसि हिव पहिय कह व तुह आइयउ ॥ ४१ ॥

णयरणामु सामोरु सरोरुहदलनयणि ।
णायरजण संपुन्नु हरिस ससिहरवयणि ॥
धवलतुंगपायारिहिं तिउरिहि मंडियउ ।
णहु दीसइ कुइ मुक्खु सयलु जणु पंडियउ ॥ ४२ ॥
विविहविअक्खण सत्थिहि जइ पवसिइ णिरु ।
सुम्मइ छंदु मणोहरु पायउ महुरयरु ॥
कह व ठाइ चउवेइहि वेउ पयासियइ ।
कह वहु रूवि णिवद्धउ रासउ भासियइ ॥ ४३ ॥

कह व ठाइ सुदयवच्छ कत्थ व नलचरिउ ।
कत्थ व विविहविणोइहि भारहु उच्चरिउ ।
कह व ठाइ आसीसिय चांइहि दयवरिहिं,
रामायणु अहिण वियअइ कत्थ वि कयवरिहिं ॥ ४४ ॥
के आइन्निहिं वंसवीणकाहलमुरउ ।
कह पयवरणणिवद्धउ सुम्मइ गीयरउ ॥
आयणणाहि सुसमत्थ पीणउन्नयथणिय ।
चल्लहि चल्ल करंतिय कत्थ वि णट्टणिय ॥ ४५ ॥

नर अउव्व विंभविय विविहनडनाडइहिं,
मुच्छिज्जहि पविसंत य वेसावाडइहिं ।

भमहिं का वि मयथिंभल गुरुकरिवरगमणि,
अन्न रयणताडंकिहि परिघोलिरसवणि ॥ ४६ ॥

अवर कह व णिवडब्भरघण तुंगत्थणिहिं
भरिण मज्भु णहु तुट्टइ ता विभिउ मणिहिं।
का वि केण सम दर हसइ नियकोअणिहि।
छित्ततुच्छ तामिच्छ तिरच्छिय लोयणिहि ॥ ४७ ॥

अवर का वि सुविअक्खण विहसंती विमलि,
णं ससिसूर णिवेसिय रेहइ गंडयलि।
मयण वट्ट मिअणाहिण कस्स व पंकियउ,
अन्नह भालु तुरक्कि तिलइ आलंकियउ ॥ ४८ ॥

हारु कस वि थूलावलि णिठुर रयण भरि,
लुलइ मग्गु अलहंतउ थणवट्टह सिहरि।
गुहिर णाहि विवरंतरु कस्स वि कुंडलिउ,
तिवल तरंग पसंगिहि रेहइ मंडलिउ ॥ ४९ ॥

रसण भार गुरु वियडउ का कट्ठिहि धरइ,
अइ मल्हि रउ चमंकउ तुरियउ णहु सरइ।
जंपंती महुरक्खर कस्स व कामिणिहिं,
हीरपंति सारिच्छ डसण भसुरारुणिहि ॥ ५० ॥

अवर कह व वरमुद्ध हंसतिय अहरयलु,
सोहालउ कर कमलु सरलु वाहह जुयलु।
अन्नह तरुणि करंगुलिणह उज्जल विमल,
अवर कवोल कलिज्जहि दाडिम कुसुम दल ॥ ५१ ॥

भमुह जुयल सन्नद्धउ कस्स व भाइयइ,
णाइ कोइ कोयंडु अणंगि चडाइयइ।
इक्कह णेवर जुयलय सुम्मइ रउ घणउ,
अन्नह रयण निबद्धउ मेहल रुणझुणउ ॥ ५२ ॥

चिकणरउ चंबाइहिं लीलंतिय पवरु,
णवसर आगमि णज्जइ सारसि रसिउ सरु।

पंचमु कह व झुणंतिय भीणउ महुरयरु,
गायं तुंबरि सज्जिउ सुरपिक्खणइ सरु ॥ ५३ ॥

इम इक्किकह तत्थ रूवु जोयंतयह,
झसुरपिंग पत्र खलहि पहिय पवहंतयह।
अह बाहिरि परिभमणि कोइ जइ नीसरइ,
पिक्खिवि विविह उज्जाणु भुवणु तहि वीसरइ॥ ५४ ॥

[अथ वनस्पति नामानि—]

ढक्क कुंद सयवत्तिय कत्थ व रत्तवल,
कह व टाइ वर मालइ मालिय तह विमल।
जूही खट्टण वालू चंत्रा वउल घण,
केवइ तह कंदुट्टय अणुरत्ता सयण॥ ५५ ॥

माउलिंग मालूर मोय मायंद सुर,
दक्ख भंभ ईखोड पीण आरु सियर।
तरुणताल तंमाल तरुण तुंबर खयर,
संजिय सइवत्तिय सिरीस सीसम अयर॥ ५६ ॥

पिप्पल पाडल पुय पलास घणसारवण,
मणहर तुज्ज हिरन्न भुज्ज धय वंसवण।
नालिएर निंबोय निधिंजिय निंव वड,
ढक्क चूय अंबिलिय कणयचंदण निवड॥ ५७ ॥
आमरुय गुल्लर महूय आमलि अभय,
नायवेलि मंजिट्ठ पसरि दह दिसह गय॥ ५८ ॥
मंदार जाइ तह सिंदुवार।
महमहइ सु वालउ अतिहि फार॥

[रासा छंद]

किंकिल्लि कुंज कुंकुम कचोल,
सुरयार सरल सल्लइ सलोल।
वायंव निंव निंवू चिनार,
सिमि साय सरल सिय देवदार॥ ५९ ॥

[पद्धडी]

लेसुड एल लंविय लवंग, कणयार कइर कुरवय खतंग ।
अंविलिय कयंग्र त्रिमीय चोय, रत्तंजण जंबुय गुरु असोय ॥६०॥

जंबीर सुहंजण नायरंग, विज्जउरिय अयरुय पीयरंग ।
नंदुण जिस सोहइ रत्तसाल, जिह पल्लव दीसइ जणु पवाल ॥६१॥

आरिट्ठिय दमणय गिह चीड, जिह आलइ दीसइ सउणि भीड ।
खज्जूरि वेरि माहण सयाइं, वोहेय डवण तुलसीयलाइं ॥६२॥

नाएसरि मोडिम पूगमाल, महमहइ छन्न मरुअइ विसाल ॥६३॥

(अर्द्धम)

अन्नय सेस महीरुह अत्थि जि ससिवयणि,
मुणइ णामु तह कवणु सरोरुहदलनयणि ।
अह सव्वइ संखेविणु निवड निरंतरिण,
जोयण दस गंमिज्जइ तरुछायंतरिण ॥ ६४ ॥

[पुरउ सुवित्थरु वन्नउ अछउ जइवि,
करि अज्जुगमणु सहु भणा धू अत्थवयि रवि ॥]

तवण तित्थु चाउदिसि सियच्छि वखाणियइ,
मूलत्थाणु सुपसिद्धउ महियलि जाणियइ ।
तिह हुंतउ हउं इक्किण लेहउ पेसियउ,
खंभाइत्तइं वच्चउं पहुआएसियहु ॥ ६५ ॥

एय वयण आयन्नवि सिंधुब्भववयणि,
ससिवि सासु दीहुन्हउ सलिलब्भवनयणि ।
तोडि करंगुलि करुण सगग्गिर गिरपसरु,
जालंधरि व समीरिण मुंध थरहरिय चिरु ॥ ६६ ॥

रुइवि खणद्धु फुसवि नयण पुण वज्जरिउ,
खंभाइत्तह णामि पहिय तणु जज्जरिउ ।
तह मह अच्छइ णाहु विरहउल्हावयरु,
अहिय कालु गंम्मियउ ण आयउ णिद्दयरु ॥ ६७ ॥

पउ मोडवि निनिसिद्धु पहिय जइ दय करहि,
कहउं किंपि संदेसउ पिय तुच्छक्खरहि ।

पहिउ भणइ कणयंगि कहह किं रुन्नयण,
भिज्जंती णिरु दीसहि उव्विन्नमियनयण ॥ ६८ ॥

जसु णिग्गमि रेणुकरडि, कीअ ण विरहदवेण।
किम दिज्जइ संदेसडउ, तसु णिटठुरइ मणेण ॥ ६९ ॥

[पाणी तणइ विउइ, कादमही फुट्टइ हिआ।
जइ इम माणसु होइ, नेहु त साचउ जाणीयइ॥
कंतु कहिव्वउ भंति विणु, धू पंथिय जाणाइं।
अज्जइ जीविउ कंत विणु, तिणि संदेसइ काइं॥]

जसु पवसंत ण पवसिआ, मुइअ विओइ ण जासु।
लज्जिज्जउ संदेसडउ, दिंती पहिय पियासु ॥ ७० ॥

लज्जवि पंथिय जइ रहउं, हियउ न धरणउ जाइ।
गाह पढिज्जसु इक्क पिय, कर लेविणु मन्नाइ ॥ ७१ ॥

तुह विरहपहरसंचूरिआइं विहडंति जं न अंगाइं।
तं अज्जकल्लसंघडण ओसहे णाह तग्गंति ॥ ७२ ॥

ऊसासडउ न मिल्हवउ, दज्झण अंग भएण।
जिम हउ मुक्की वल्लहइ, तिम सो मुक्क जमेण ॥ ७३ ॥

कहवि इय गाह पंथिय, मन्नाएवि पिउ।
दोहा पंच कहिज्जसु, गुरुविणएण सउ ॥ ७४ ॥

पिअविरहानलसंतविअ, जइ वच्चउ सुरलोइ।
तुअ छड्डिवि हियअट्ठियह, तं परिवाडि ण होइ ॥ ७५ ॥

कंत जु तइ हिअयट्ठियह, विरह विडंवइ काउ।
सप्पुरिसह मरणाअहिउ, परपरिहव संताउ ॥ ७६ ॥

गरुअउ परिहवु कि न सहउ, पइ पोरिस निलएण।
जिहि अंगिहि तूं विलसियउ, ते दद्धा विरहेण ॥ ७७ ॥

विरह परिग्गह छावडइ, पहराविउ निरवक्खि।
तुट्टी देह ण हउ हियउ, तुअ संमाणिय पिक्खि ॥ ७८ ॥

मह ण समत्थिम विरह सउ, ता अच्छउं विलवंति।
पाली रूअ पमाण पर, धण सामिहि घुम्मंति ॥ ७९ ॥

संदेसडउ सवित्थरउ, हउ कहणह असमत्थ ।
भण पिय इकत्ति वलियडइ, वे वि समाणा हत्थ ॥ ८० ॥

संदेसडउ सवित्थरउ, पर मइ कहणु न जाइ ।
जो कालंगुलि मूंदडउ, सो बाहडी समाइ ॥ ८१ ॥

तुरिय णियगमणु इच्छंतु तत्तक्खणे,
दोहया सुणवि साहेइ सुवियक्खणे ।
कहसु अह अहिउ जं किंपि जंपिव्वउ,
मग्गु अइदुग्गु मइ मुंधि जाइव्वउ ॥ ८२ ॥

वयण णिसुणेवि मणमत्थसरवट्टिया,
मयउसरमुक णं हरिणि उत्तट्ठिया ।
मुक्क दीउन्ह नीसास उससंतिया,
पढिय इय गाह णियणयणि वरसंतिया ॥ ८३ ॥

अणियत्तखणं जलवरिहणेण लज्जंति नयण नहु धिट्ठा ।
खंडवत्तणजलणं विय विरहग्गी तवइ अहिययरं ॥ ८४ ॥

पढवि इय गाह मियनयण उव्विन्निया,
भणइ पहियस्स अइकरुणदुक्खिन्निया ।
कढिणनीसास रइआससुहविग्घिणे,
विन्नि चउपइय पभणिज्ज तसु निग्घिणे ॥ ८५ ॥

तुय समरंत समाहि मोहु विसम ठ्ठियउ,
तह खणि खुवइ कवालु न वामकरट्ठियउ ।
सिज्जासणउ न मिल्हउ खण खट्टंग लय,
कावालिय कावालिणि तुय विरहेण किय ॥ ८६ ॥

ल्हसिउ अंसु उद्धसिउ अंगु विलुलिय अलय,
हुय उव्विंविरवयण खलिय विवरीय गय ।
कुंकुमकणयसरिच्छ कंति कसिणावरिय;
हुइय मुंध तुय विरहि णिसायर णिसियरिय ॥ ८७ ॥

तुहु पुणु कज्जि हिआवलउ, लिहिवि न सक्कउ लेहु ।
दोहा गाह कहिज्ज पिय, पंथिय करिवि सणेहु ॥ ८८ ॥

पाइय पिय वडवानलहु, विरहग्गिहि उप्पत्ति ।
जं सिंत्तउ थोरंसुयहि, जलइ पडिल्ली झत्ति ॥ ८९ ॥

सोसिज्जंत विवज्जइ सासे दीउन्हएहि पसयच्छी ।
निवडंत वाहभर लोयणाइ धूमइण सिंचंति ॥ ९० ॥

पहिउ भणइ पडिउंजि जाउ ससिहरवयणि,
अहवा किंवि कहिज्जिज सु महु कहु मियनयणि ।
कहउ पहिय कि ण कहउ कहिसु कि कहिययण,
जिण किय एह अवत्थ णेहरइरहियमण ॥ ९१ ॥

जिणि हउ विरहह कुहरि एव करि घल्लिया,
अत्थ लोहि अकयत्थि इकल्लिय मिल्हिया ।
संदेसडउ सवित्थरु तुहु उत्तावलउ,
कहिय पहिय पिय गाह वत्थुं तह डोमिलउ ॥ ९२ ॥

तइया निवडंत णिवेसियाइं संगमइ जत्थ णहु हारो ।
इन्हि सायर-सरिया-गिरि-तरु-दुग्गाइं अंतरिया ॥ ९३ ॥

णियदइयह उक्कंखिरिय किवि विरहाउलिय,
पियआसंगि पहुतिय तसु संगमि वाउलिय ।
ते पावहि सुविणंतरि धन्नउ पियतणुफरसु,
आलिंगणु अवलोयणु चुंवणु चवणु सुरयरसु ।
इम कहिय पहिय तसु णिदयह जइय कालि पवसियउ तुहु ।
तसु लइ मइ तणि णिंद णहु को पुणु सुविणइ संगसुहु ॥ ९४ ॥

(षट्पदम्)

पियविरहविओए, संगमसोए, दिवसरयणि झूरंत मणे,
णिरु अंगु सुसंतह, वाह फुसंतह अप्पह णिंदय किं पि भणे
तसु सुयण निवेसिय भाइण पेसिय, मोहवसण वोलंत खणे ॥
मह साइय वक्खरु, हरि गउ तक्खरु, जाऊ सरणि कसु पहिय भणे ॥९५॥

इहु डोमिलउ भणेविणु निशि (सि) तमहर वयणि,
हुइय णिमिस णिप्फंद सरोरुहदलनयणि ।
णहु किहु कहइ ण पिक्खइ जं पुणु अवरु जणु;
चित्ति भित्ति णं लिहिय मुंध सच्चविय खणु ॥ ९६ ॥

ओसासंभमरुद्धसास उरुन्नमुह,'वम्महसरपडिभिन्न सरवि पियसंगसुह।
दर तिरच्छि तरलच्छि पहिउ जं जोइयउ, ण गुणसद्द उत्तट्ठि कुरंगि
पलोइयउ ॥ ९७ ॥

पहिउ भणइ थिरु होहि 'धीरु आसासि खणु,
लइवि वरक्किय ससिसउन्नु फंसहि वयणु।
तस्स वयणु आयन्नि विरहभर भज्जरिय,
लइ अंचलु मुहु पुंछिउ तह व सलज्जरिय ॥ ९८ ॥

पहिय ण सिज्झइ किरि वलु मह कंदप्पसउ,
रत्तउ जं च विरत्तउ निद्दोसे य पिउ।
णेय सुणिय परवेयण निन्नेहह चलह,
मालिणिवित्तु कहिव्वउ इकइ तह खलह ॥ ९९ ॥

जइ वि रइविरामे णहसोहो मुणंती,
सुहय तइय राओ उग्गिलंतो सिणेहो।
भरवि नवयरंगे इक्कु कुंभो धरंती,
हियउ तह पडिल्लो वोलियंतो विरत्तो ॥ १०० ॥

जइ अंबरु उग्गिलइ राय पुणि रंगियइ,
अह निन्नेहउ अंगु होइ आभंगियइ।
अह हारिज्जइ दविणु जिणिवि पुणु भिट्टियइ,
पिय विरत्तु हुइ चित्तु पहिय किम वट्टियइ ॥ १०१ ॥

पहिउ भणइ पसयच्छि धीरि मणु पंथि धरु,
संवरि णिरु लोयणह वहंतउ नीरु भरु।
पावासुय बहुकज्जि गमहि तहि परिभमइ,
अणकियइ णियइ पउयणि सुंदरि ! णहु वलइ ॥ १०२ ॥

ते य विएसि फिरंतय वम्महसरपहय,
णियघरणिय सुमरंत विरह सवसेय कय।
दिवसरयणि णियदइय सोय असहंत भरु,
जिम तुम्हिहि तिम सुंधि पहिय झिज्झंति णिरु ॥ १०३ ॥

एय वयण आयन्निवि दीहरलोयणिहिं,
पढिय अडिल्ल वियसेविणु मयणुक्कोयणिहिं।

(अर्द्धम ।)

जइ मइ णत्थि णेहु ताकं तहं, पंथिय कज्जु साहि मह कंतहं।
जं विरहग्गि मज्झ णकंतह, हियउ हवेइ मज्झ णकंतह ॥ १०४ ॥

[अडिल्लच्छन्दः]

कहि ण सवित्थरु सक्कउ मयणाउहवहिय,
इय अवत्थ अम्हारिय कंतह सिव कहिय।
अंगभंगि णिरु अणरइ उज्जगउ णिसिहि,
विहलंघल गय मग्ग चलंतिहि आलसिहिं ॥ १०५ ॥

धम्मिलह संवरणु न घणु कुसमिहि रइउ,
कज्जलु गलइ कवोलिहि जं नयणिहिं धरिउ।
जं पियआससंगिहि अंगिहिं पलु चडइ,
विरह हुयासि झलकिउ, तं पडिलिउ झडइ ॥ १०६ ॥

आसजलसंसित्त विरहउन्हत्त जलंतिय,
णहु जीवउ णहु मरउ पहिय! अच्छउ धुक्खंतिय।
इत्थंतरि पुण पुणवि तेणि पहिय धरेवि मणु,
फुल्लउ भणियउ दीहरच्छि णियणयण फुसेविणु ॥ १०७ ॥

सुन्नारह जिम मह हियउ, पिय उक्किख करेइ।
विरहहुयासि दहेवि करि, आसाजलि सिंचेइ ॥ १०८ ॥

पहिउ भणइ पहि जंत अमंगलु मह म करि,
रुयवि रुयवि पुणरुत्त, वाह संवरिवि धरि।
पहिय! होउ तुह इच्छ अज्ज सिज्झउ गमणु,
मइ न रुन्नु विरहग्गिधूम लोयणसवणु ॥ १०९ ॥

पहिउ भणइ पसयच्छि! तुरियउ किं वज्जरहि,
रवि दिणसेसि पहुत्तु पइंजहि दय करहि।
जाहि पहिय! तुह मंगलु होउ पुणन्नवउ,
पियह कहिय हिव इक्क मडिल अन्नु चूडिलउ ॥ ११० ॥

तणु दीउन्हसासि सोसिज्जइ, अंसुजलोहु णेय सो सिज्जइ।
हियउ पउक्कु पडिउ दीवंतरि, णाइ पतंगु पडिउ दीवंतरि ॥ १११ ॥

उत्तरायणि वड्ढिहि दिवस, णिसि दक्खिणइ इहु पुव्व णिउइउ ।
दुन्नि य वड्ढहि जत्थ पिय, इहु तीयउ विरहायणु होइयउ ॥ ११२ ॥

गयउ दिवस थिउ सेसु पहिय ! गमु मिल्हियइ;
णिसि अत्थमु वोलेवि दिवसि पुणु चल्लियइ ।
विआहरि दिण थिव जुन्ह गोसिहि वलइ,
तो जाइअइ अ कल्लि मइ अइआवलइ;
जइ न रहहि इणि ठाइ पहिय ! इच्छहि गमणु,
चूडिल्लउ खडहडउ पियह गाहाइ भणु ॥ ११३ ॥

फलु विरहग्गि पवासि तुअ, पाइउ अम्हिहि जाइ पियह भणु ।
चिरु जीवं तउ लद्धु वरु, हुअउ संवच्छरतुल्लउ इक्कु दिणु ॥११४॥

जइ पिम्मविओय विसुंठलयं हियय,
जइ अंगु अणंगसरेहि हयं णिहुयं ।
जइ वाहजलोह कवोलरयं णयणं;
जइ णिच्च मणंमि वियंभिययं मयणं ॥ ११५ ॥

ता पहिय ! केम णिसि समए पाविज्जइ निवइ य तह णिद्द
जीविज्जइ जं पियविरहर्णाहि दिवसाइ तं चुज्जं ॥ ११६ ॥

पहिउ भणइ कणयंगि ! सयलु जं तुम्हि कहिउ,
अन्नइ जं मइ दिट्ठु पयासिसु तं अहिउ ।
पउमदलच्छि पलट्टिहि इच्छहि णियभुवणु,
हउं पुणि मग्गि पयट्टउ भंजि म मह गमणु ।
पुव्वदिसिहि तमु पसरिउ, रवि अत्थमणि गउ ।
णिसि कट्ठिहि गम्मियइ, मग्गु दुग्गमु सभउ ॥ ११७ ॥

पहियवयण आयन्निवि पिम्मविओइरिय,
ससि उसासु दीहुन्हउ पुण खामोयरिय,
अंसुकणोहु कवोलि जु किम्मइ कुइ रहइ,
णं विद्दुमपुंजोवरि मुत्तिउ सुइ सहइ ।
कहइ रुवइ विलवंती पियपावासहइ ।

भणइ कहिय तह पियह इक्कु खंधहु दुवइ ॥ ११८ ॥
मह हिययं रयणनिही, महियं गुरुमदरेण तं णिच्चं ।
उम्मूलियं असेसं, सुहरयणं कड्ढियं च तुह पिम्मे ॥ ११९ ॥

मयणसमीरविहुय विरहाणल दिट्ठिफुलिंगणिब्भरो;
दुसह फुरंत तिव्व मह हियइ निरंतर झाल दुद्धरो।
अणरइछारुच्छित्तु पच्चिल्लइ तज्जइ ताम दड्ढण,
इहु अच्चरिउ तुज्झ उक्कंठि सरोरुह अम्ह वड्ढण॥ १२०॥

खंधउ ढुवइ सुणेवि अंगु रोमंचियउ,
णेय पिम्म परिवड्डिउ पहिउ मणि रंजियउ।
तह पय जंपइ भियनयणि सुणिहि धीरि खणु,
किहु पुच्छउ ससिवयणि पयासहि फुड वयणु॥ १२१॥

णवघणरेहविणग्गय निम्मल फुरइ करु,
सरय रयणि पच्चक्खु झरंतउ अमियभरु।
तह चंदह जिणणत्थु पियह संजणिय सुहु,
कइयलग्गि विरहग्गिधूमि झंपियउ मुहु॥ १२२॥

वंककडक्खिहि तिक्खिहि मयणाकोयणिहिं,
भणु वट्टहि कइ दियहि झुरंतिहिं लोयणिहिं।
जालंधरि व सकोमलु अंगु सोसंतियह,
हंससरिस सरलयवि गयहि लीलंतियह॥ १२३॥

इम दुक्खह तरलच्छि कांइ तइ अप्पियइ,
दुस्सह विरहकरवत्तिहि अंगु करप्पियइ।
हरिसुयबाणखुरप्पिहि कइ दिण मणु पहउ,
भणु कइ कालि पडुत्तउ सुंदरि तुअ सुहउ॥ १२४॥

पहियवयण आइन्निवि दीहरलोयणिहि।
पढियउ गाहचउक्कउ मयणाकोयणिहि॥ १२५॥

(अर्द्धम् कुलकं पञ्चभिः ।)

आएहि पहिय किं पुच्छिएण मह पियपवासदियहेण।
हरिऊण जत्थ सुक्खं लद्धं दुक्खाण पडिवट्टं॥ १२६॥

ता कहसु तेण किं सुमरिएण विच्छेयजालजलणेण।
जं गओ खणद्धमत्तो णामं मा तस्स दियहस्स॥ १२७॥

शालिभद्रसूरिकृत

भरतेश्वर-वाहुवली रास

(एक प्राचीनतम-पद्यकृति)

॥ नमोऽर्हद्भ्यः ॥

❀

रिसह जिणेसर पय पणमेवी, सरसति सामिणि मनि समरेवी;
नमवि निरंतर गुरुचलणा ॥ १

भरह नरिंदह तणुं चरित्तो, जं जुगी वसहांवलय वदीतो;
वार वरिस विहुं बंधवहं ॥ २

हुं हिव पभणिसु रासह छंदिहिं, तं जनमनहर मन आणंदिहिं;
भाविहिं भवीयण ! संभलेउ ॥ ३

जंबुदीवि उवझाउरि नयरो, धणि कणि कंचणि रयणिहिं पवरो;
अवर पवर किरि अमर परो ॥ ४

करइ राज तहिं रिसह जिणेसर, पावतिमिर भयहरण दिणेसर;
तेजि तरणि कर तहिं तपइ ए ॥ ५

नाभि सुनंद सुमंगल देवि, राय रिसहेसर राणी वे वि;
रूव रेहि रति प्रीति जित ॥ ६

त्रिवि वेटी जनमी सुनंदन, तेह जि तिहूयण मन-आनंदन;
भरह सुमंगल-देवि तणु ॥ ७

देवि सुनंदन नंदन वाहूवलि, भंजइ भिडउ महाभड भूयवलि;
अवर कुमर वर -वीर धर ॥ ८

पूरव लाख तेणि तेयासी, राजतणीं परि पुहवि पयासी;
जुगि जुग मारग दापीउ ए ॥ ९

उवझापुरि भरहेसर थापीय, तक्षशिला वाहुवलि आपीय;
अवर अठाणुं वर नयर ॥ १०

दान दियइ जिणवर संवत्सर, विसयविरत्त वहइ संजमभर;
सुर असुर नरि सेवीउ ए ॥ ११

परमतालपुरि केवलनाणुं, तस ऊपन्नू प्रगट प्रमाणूं;
जाण हवुं भरहेसरह ॥ १२

तिणि दिणि आउधसालहं चक्को, आवीय अरीयण पडिय धसक्को;
भरह विमासइ गहगहीउ ॥ १३

धनु धनु हुं धर-मंडलि राउ, आज पढम जिणवर मुझ नाउ;
केवललच्छि अलंकीयउ ॥ १४

पहिलुं ताय-पाय पणमेसो, राजरिद्धि राणिम-फल लेसो;
चक्करयण तव अणुसरउं ॥ १५

❀

वस्तु—चलीय गयवर, चलीय गयवर, गडीय गज्जंत,
हूं पत्तउ रोसभरि, हिणहिणंत हय थट्ट हल्लीय।
रह भय भरि टलटलीय मेरु, सेसु मणि मउड खिल्लीय।
सिउ मरुदेविहिं संचरीय, कुंजरी चडिउ नरिंद।
समोसरणि सुरवरि सहिय, वंदिय पढम जिणंद ॥ १६

पढम जिणवर, पढम जिणवर-पाय पणमेवि,
आणंदिहिं उच्छव करीय, चक्करयण वलिवलिय पुज्जइ।
गडयडंत गजकेसरीय, गरुय नदि गजमेह गज्जइ।
वहिरीय अंबर तूर-रवि, वलिउ नीसाणे घाउ।
रोमंचिय रिउरायवरि, सिरि भरहेसर राउ ॥ १७

❀

ठवणि १. अहि उगमि पूरवदिसिहिं, पहिलउं चालीय चक्क तु।
धूजीय धरयल थरहर ए, चलीय कुलाचल-चक्क तु ॥ १८

पूठि पीयाणुं तउ दियए, भूयवलि भरह नरिंद तु।
पिंडि पंचायण परदलहं, इलियलि अवर सुरिंद तु ॥ १९

वज्जीय समहरि संचरीय, सेनापति सामंत तु।
मिलीय महाधर मंडलीय, गाढिम गुण गज्जंत तु। २०

गडयडंतु गयवर गुडीय, जंगम जिम गिरिशृंग तु।
सुंडा-दंड चिर चालवइं, वेलइं अंगिहिं अंग तु ॥ २१

गंजइं फिरि फिरि गिरि सिहरि, भंजइं तरुअर डालि तु ।
अंकस-वसि आवइं नहीं य, करइं अपार अणालि तु ॥ २२

हींसइं हसमिसि हणहणइं ए, तरवर तार तोषार तु ।
खूंदइं खुरलइं खेडवीय, मन मानइं असुवार तु ॥ २३

पाखर पंखि कि पंखरू य, ऊडाऊडिहिं जाइ तु ।
हुंफइं तलपइं ससइं धसइं, जडइं जकीरीय धाइं तु ॥ २४

फिरइं फेकारइं फोरणइं, फुड फेणाडलि फार तु ।
तरणि तुरंगम सम तुलइं, तेजीय तरल ततार तु ॥ २५

धडहडंत धर द्रमद्रमीय, रह रूंधइं रहवाट तु ।
रव-भरि गणइं न गिरि गहण, थिर थोभइं रहथाट तु ॥ २६

चमरचिंध धज लहलहइं ए, भिल्हइं मयगल माग तु ।
वेगि वहंता तीहं तणइं ए, पायल न जहइं लाग तु ॥ २७

दडवडंत दह दिसि दुसह ए, पसरीय पायक-चक्क तु ।
अंगोअंगिइं अंगमइं, अरीयणि असणि अणंत तु ॥ २८

ताकइं तलपइं तालि मिलिइं, हणि हणि हणि पभणंत तु ।
आगलि कोइ न अछइ मलु ए, जे साहमु जूझंत तउ ॥ २९

दिसि दिसि दारक संचरीय, वेसर वहइं अपार तु ।
संप न लाभइं सेन-तणीं, कोइ न लहइं सुधि सार तु ॥ ३०

बंधव वंधवि नवि भिलइं, न वेटा मिलइं न वाप तु ।
सामि न सेवक सारवइं, आपिहिं आप विआप तु ॥ ३१

गयवडि चडीउ चक्कधरो, पिडि पयंड भूयदंड तु ।
चालीय चिहुं दिसि चलचलीय, दिइं देसाहिव दंड तु ॥ ३२

वज्जीय समहरि द्रमद्रमीय, घण-निनाद नीसाण तु ।
संकीय सुरवरि सग्गि सवे, अवरहं कमण प्रमाण तु ॥ ३३

ढाक ढूक त्रंबक तणइं ए, गाजीय गयण निहाण तु ।
पट पंडह पंडाहिवहं, चालतु चमकीय भाण तु ॥ ३४

भेरीय रव भर तिहुं भूयणि सहित किमइं न माइ तु ।
कंपिय पय भरि शेष रहिउ, विण साहीउ न जाइ तु ॥ ३५

सिर डोलावइ धरणिहिं ए, ट्रूंक टोल शिरिशृंग तु ।
सायर सयल वि झलझलीय, गहलीय गंग तुरंग तु ॥ ३६

खर रवि पूंदीय मेहरवि, महियलि मेहंधार तु ।
उजूआलइ आउध तणइं, चालइं रायखंधार तु ॥ ३७

मंडिय मंडलवइ न मुहे, ससि न कवइं सामंत तु ।
राउत राउतवट रहीय, मनि मूंझइं मतिवंत तु ॥ ३८

कटक न कवणिहिं भर तणुं, भाजइ भेडि भडंत तु ।
रेलइं रयणायर जमले, राणोराणि नमंत तु ॥ ३९

साठि सहस संवच्छरहं, भरहस भरह खंड तु ।
समरंगणि साधइ सधर, वरतइ आण अखंड तु ॥ ४०

वार वरिस नमि विनमि, भड भिडीय मनावीय आण तु ।
आवाठी तडि गंग तणइ, पामइ नवह निहाण तु ॥ ४१

छत्रीस सहस मउडुध सिउं, चऊद रयण संपत्त तु ।
आविउ गंग भोगवीय, एक सहस वरसाउ तु ॥ ४२

❀

ठवणि २

तउ तिहिं आउधसाल, आवइ आउधराउ नवि ।
तिणि खिणि मणि भूपाल, भरह भयह लोलावडओ ॥ ४३

वाहिरि वहूय अणालि, अलूआरीय अहनिसि करइ ए ।
अति उतपात अकालि, दाणव दल वरि दापवइ ए ॥ ४४

मतिसागर किणि काजि, चक्क त (न) पुरि परवेस करइ ।
तइं जि अम्हारइ राजि, धोरीय धर धरीउ धरहं ॥ ४५

देव कि थंभीउ एय, कवणि किं दानव मानविहिं ।
एउ आखि न मुझ भेउ, वयरीय वार न लाईइ ए ॥ ४६

वोलइ मंत्रिमयंक, सांभलि सामीय चक्कधरो ।
अवर नही कोइ वंकु, चक्करयण रहवा तणउ ॥ ४७

संकीय सुरवर सामि, भरहेसर तूंय भूय भवणे ।
नासइं ति सुणीय नामि, दानव मानव कहिं कवणि ॥ ४८

नवि मानइं तूंय आण, वाहूवलि विहुं वाहुवले ।
वीरह वयर विनाणु, विसमा विहडइं वीरवरो ॥ ४९

तीणि कारणि नरदेव, चक्क न आवइ नीय नयरे ।
विण वंधव तूंय सेव, सहू कोइ सामीय साचवइ ए ॥ ५०

तं ति सुणीय तीणइ तालि, ऊठीउ राउ सरोसभरे ।
भमइ चडावीय भालि, पभणइ मोडवि मूंछि मुहे ॥ ५१

जु न मानइ मझ आण, कवण सु कहीइ वाहुवले ।
लीलहं लेसु ए राण, भंजउं भुज आरिहिं भिडीय ॥ ५२

स मतिसागर मंति, वलि वसुहाहिव वीनवइ ।
नवि मनि कीजइ खंति, वंधव सिउं कहि कवण वलो ॥ ५३

दूत पठावीयइ देव, पहिलउं वात जणावीइ ए ।
जु नवि आवइ देव, तु नरवर कटकई करउ ॥ ५४

तं मनि मानीय राउ, वेगि सुवेगहं आइसइ ए ।
जईय सुनंदाजाउ, आण मनावे आपणीय ॥ ५५

जां रथ जोत्रीय जाइ, सु जि आएसिहिं नरवरहं ।
फिरि फिरि साहमु थाइ, वाम तुरीय वाहणि तणउ ॥ ५६

काजलकाल विराल, आवीय आडिहिं ऊतरइ ए ।
जिमणउ जम विकराल, खरु खुरव ऊछलीय ॥ ५७

सूकीय वाउल डालि, देवि वइठीय सुर करइ ए ।
झंपीय झाल मझालि, घूक पोकारइ दाहिणओ ॥ ५८

जिमणइं गमइं विपादि, फिरीय शिव फे करइ ए ।
डावीय डगलइ सादि, भयरव भैरव खु करइ ए ॥ ५९

वड जखनइं कालीयार, एकऊ वेढुं ऊतरइ ए ।
नीजलीउ अंगार, संचरतां साहमु हुइ ए ॥ ६०

काल भुयंगम काल, दंतीय दंसण दाखवइ ए ।
आज अखूटउ काल, पूटउ रहि रहि इम भणइ ए ॥ ६१

जाइ जाणी दूत, जीवह जोपि आंगमइ ए।
जेम भमंतउ भूत, गिणइ न गिरि गुह वण गहण ॥ ६२

तईड नेसमि वेस, न गिणइ नइ दह नींझरण।
लंघीय देस असेस, गाम नयर पुर पाटणह ॥ ६३

वाहरि वहूय आराम, सुरवर नइ तां नीझरण।
मणि तोरण अभिराम, रेहइ धवलीय धवलहरो ॥ ६४

पोयणपुर दीसंति, दूत सुवेग सु गहगहीउ।
व्यवहारीया वसंति, धणि कणि कंचणि मणि पवरो ॥ ६५

धरणि तरणि ताडंक, जेम तुंग त्रिगढुं लहइ ए।
एह कि अभिनव लंक, सिरि कोसीसां कणयमय ॥ ६६

पोढा पोलि पगार, पाडा पार न पीमाइं ए।
संख न सीहदूंयार, दीसइं देउल दह दिसिइं ॥ ६७

पेखवि पुरह प्रवेसु, दूत पहूतउ रायहरे।
सिउं प्रतिहार प्रवेसु, पामीय नरवर पय नमइ ए ॥ ६८

चउकीय माणिक थंभ, माहि वईठउ वाहुवले।
रूपिहिं जिसीय रंभ, चमरहारि चालइं चमर ॥ ६९

मंडीय मणिमइ दंड, मेघाडंबर सिरि धरिय।
जस पयडे भूयदंडि, जयवंती जयसिरि वसइं ए ॥ ७०

जिम उदयाचलि सूर, तिम सिरि सोहइ मणिमुकुटो।
कसतुरीय कुसुम कपूर, कुचूंवरि महमहइ ए ॥ ७१

झलकइ ए कुंडल कानि, रवि शशि मंडीय किरि अवर।
गंगाजल गजदानि, गाढिम गुण गज गुडअडइं ए ॥ ७२

उरवरि मोतीय हार, वीरवलय करि झलहलइ ए।
तवल अंगि सिणगार, खलक ए टोडर वाम [इ] ए ॥ ७३

पहिरणि जादर चीर, कंकोलइ करिमाल करे।
गुरूउ गुणि गंभीर, दीठउ अवर कि चक्रधर ॥ ७४

रंजिउ चित्ति सु दूत, देपीय राणिम तसु तणीय।
धन रिसहेरपूत, जयवंतु जुगि वाहुवले ॥ ७५

वाहुवलि पूछेइ कुवण, काजि तुम्हि आवीया ए ।
दूत भणइ निज काजि, भरहेसरि अम्हि पाठव्या ए ॥ ७६

❀

वस्तु

राउ जंपइ, राउ जंपइ, सुणि न सुणि दूत;
भरहखंड भूमीसरहं, भरह राउ अम्ह सहोयर ।
सवाकोडि कुमरिहिं सहीय, सूरकुमर तहिं अवर नरवर ।
मंति महाधर मंडलिय, अंतेउरि परिवारि ।
सामंतह सीमाउ सह, कहि न कुसल सविवार ॥ ७७

दूत पभणइ, दूत पभणइ, वाहुवलि राउ;
भरहेसर चक्कधर, कहि न कवणि दूहवणह किज्जइ ।
जिहु लहु वंधव तूंय, सरिस गडयडंत गज भीम गज्जइ ।
जइ अंधारइ रवि किरण, भड भंजइ वर वीर ।
तु भरहेसर समर भरि, जिप्पइ माहरी धीर ॥ ७८

❀

ठवणि ३

वेगि सुवेग सु वुल्लइ, संभलि वाहूवलि ।
राउत कोइ तुह तुल्लइ, ईणिइं अछइ रवितलि ॥ ७९

जां तव वंधव भरह नरिंदो, जसु भुइं कंपइं सग्गि सुरिंदो ।
जीणइं जीतां भरह छ षंड, म्लेच्छ मनाव्या आण अखंड ॥ ८०

भडि भडंत न भूयवलि भाजइ, गडयडंतु गढि गाढिम गाजइ ।
सहस वतीस मउडाधा राय, तूंय वंधव सवि सेवइं पाय ॥ ८१

चऊद रयण घरि नवइं निहाण, संख न गयघड जसु केकाण ।
हूंय हवडां पाटह अभिषेको, तूंय नवि आवीय कवण विवेको ॥ ८२

विण बंधव सवि संपय ऊणी, जिम विण लवण रसोइ अलूणी।
तुम्ह दंसण उतकंठिउ राउ, नितु नितु वाट जोइ तुह भाउ॥ ८३

वडउ सहोयर अनइं वड वीर, देव ज प्रणमइं साहस धीर।
एक सीह अनइं पाखरीउ, भरहेसर नइं तइं परवरीउ॥ ८४

❀

ठवणि ४

तु बाहूबलि जंपइ, कहि वयण म काचुं।
भरहेसर भय कंपइ, जं जग तुं साचुं॥ ८५

समरंगणि तिणि सिउं कुण काछइ, जीह बंधव मइं सरिसउ पाछइ।
जावंत जंबुदीवि तसु आण, तां अम्ह कहीइ कवण ए राण॥ ८६

जिम जिम सु जि गढ गाढिम गाढउ, हय गय रह वरि करीय सनाढु।
तस अरधासण आपइ इंदो, तिम तिम अम्ह मनि परमाणंदो॥ ८७

जु न आव्या अभिषेकह वार, तु तिणि अम्ह नवि कीधा सार।
वडउ राउ अम्ह वडउ जि भाई, जहिं भावइ तिहां मिलिसिउं जाई॥ ८८

अम्ह ओलगनी वाट न जोई, भड भरहेसर विकर न होइ।
मझ बंधव नवि फीटइ कीमइ, लोभीया लोक भणइ लख ईम्हई॥ ८९

❀

ठवणि ५

चालि म लाइसि वार, बंधव भेटीजइ।
चूकि म चींति विचार, मूंय वयण सुलीजइ॥ ९०

वयण अम्हारुं तूय मनि मानि, भरह नरेसर गणि गजदानि।
संतूठउ दिइ कंचण भार, गयघड तेजीय तुरल तुषार॥ ९१

गाम नयर पुर पाटण आपइ, देसाहिव थिर थोभीय थापइ।
देय अदेय नं देतु विमासइ, सगपणि कह नवि किंपि विणासइ॥ ९२

जा ण राउ ओलगिउं जाणइ, माणण हार विरोषिइं मारइ।
प्रतिपन्नउं प्रगट प्रतिपालइ, प्रारथिउ नवि घडी विमरालइ॥ ९३

तिणि सिउं देव न कीजइ ताडउ, सु जि मनाविइ सांड म आडउ ।
हुँ हितकारणि कहुँ सुजाण; कूडूं कहूं तु भरहेसर आण ॥ ९४

❀

वस्तु

राइ जंपइ, राउ जंपइ, सुणि न सुणि दूत;
त त्रिहि लहीउ भालहलि, तं जि लोय भवि भविहिं पामइ ।
ईमइ नीसत नर ति (नि) गुण, उत्तमांग जण जणह नामइ ।
बंभ पुरंदर सुर असुर, तीहं न लंघइ कोइ ।
लब्भइ अधिक न ऊण परिं, भरहेसर कुण होइ ॥ ९५

❀

ठवणि ६

नेसि निवेसि देसि घरि मंदिरि, जलि थलि जंगलि गिरि गुह कंदरि ।
दिसि दिसि देसि देसि दीपंतरि, लहीउं लाभइ जुगि सचराचरि ॥ ९६

अरिरि दूत सुणि देवन दानव, महिमंडलि मंडल वैसानव ।
कोइ न लंघइ लहीया लीह; लाभइ अधिक न उछा दीह ॥ ९७

धण कण कंचण नवइ निहाण; गय घड तेजीय तरल केकाण ।
सिर सरवस सपतंग गमीजइ, तोइ नीसत्त पणइ न नमीजइ ॥ ९८

❀

ठवणि ७

दूत भणइ एहु भाई; पुन्निहिं पामीजइ ।
पइ लागीजइ भाई; अम्ह कहीउं कीजइ ॥ ९९

अवर अठाणूं जु जई पहिलूं, मिलसिइं तु तुम्ह मिलिउं न सयलुं ।
कहि विलंब कुण कारणि कीजइ, माम म नीगमि वार वलीजइ ॥ १००

वार वरापह करसण फलीजइ, ईणि कारणि जई वहिला मिलीइ।
जोइ न मन सिउं वात विमासी, आगइ वारूअ वात विणासी ॥ १०१

मिलिउ न किहां कटक मेलावइ, तउ भरहेसर तइं तेडावइ।
जाण रपे कोइ भूझ करेसिइ, सहू कोइ भरह जि हियडइ धरेसिइ ॥१०२

गाजंता गाढिम गज भीम, ते सवि देसह लीधा सीम।
भरह अछइ भाई भोलावउ, तउ तिणि सिउं न करीजइ दावउ ॥ १०३

❀

वस्तु

तव सु जंपइ, तव सु जंपइ, वाहुवलि राउ;
अप्पह वाह भजां न वल, परह आस कहइ कवण कीजइ।
सु जि मूरप अजाण पुण, अवर देपि वरवयइ ति गज्जइ।
हुं एकल्लउ समर भरि, भड भरहेसर घाइ।
भंजउं भुजवलि रे भिडिय, भाह न भेडि न थाइ ॥ १०४

❀

ठवणि ८

जइ रिसहेसर केरा पूत, अवर जि अम्ह सहोयर दूत।
ते मनि मान न मेल्हइं कीमइं, आलईयाण म झंपिसि ईम्हइ ॥ १०५

परह आस किणि कारणि कीजइ, साहस सइंवर सिद्धि वरीजइ।
हीउं अनइ हाथ हत्थीयार, एह जि वीर तणउ परिवार ॥ १०६

जइ कीरि सीह सीयालइं खाजइ, तु वाहुवलि भूयबलि भाजइ।
जु गाइं वाघिणि धाई जइ, अरे दूत तु भरह जि जीपइ ॥ १०७

❀

ठवणि ९

जु नवि मन्नसि आण, वरवहं वाहूवलि।
लेसिइ तु तूं प्राण, भरहेसर भूयवलि ॥ १०८

जस छन्नवइ कोडि छइं पायक, कोडि बहुत्तरि फरकइं फारक ।
नर नरवर कुण पामइ पारो, ससी न सकीइ सेनाभारो ॥ १०९

जीवंता जिहि सहू संपाडइ, जु तुडि चडिसि तु चडिउ पवाडइ ।
गिरि कंदरि अरि छपिउ न छूटइ, तूं बाहुबलि मरि म अखूटइ ॥ ११०

गय गद्दह हय हड जिम अंतर, सींह सीयाल जिसिउ पटंतर ।
भरहेसर अन्नइ तूंय विहरउ, छूटिसि किम्हइ करंत न निहरू ॥ १११

सरवसु लुंपि मनावि न भाई, कहि कुणि कूडी कुमति विलाई ।
मूंझि म मूरष मरि म गमार, पय पणमीय करि करि न समार ॥ ११२

गढ गंजिउ भड भंजिउ प्राणि, तइं हिव सारइ प्राण विनाणि ।
अरे दूत बोली नवि जाण, तुंह आव्या जमह प्राण ॥ ११३

कहि रे भरहेसर कुण कहीइ, मइं सिउं रणि सुरि असुरि न रहीइ ।
जे चक्किइं चक्रवत्ति विचार, अम्ह नगरि कूंभार अपार ॥ ११४

आपणि गंगातीरि रमंता, धसमस धूंघलि पडीय धमंता ।
तइं ऊलालीय गयणि पडंतउ, करुणा करीय वली झालंतउ ॥ ११५

ते परि कांइ गमार वीसार, जु तुडि चडिसि तु जाणिसि सार ।
जउ मच्छुधा मडउ ऊतारउं, रुहिर रिल्लि जु न हय गय तारउं ॥ ११६

जउ न मारउं भरहेसर राउ, तउ लाजइ रिसहेसर ताउ ।
भड भरहेसर जई जणावे, हय गय रह वर वेगि चलावे ॥ ११७

❀

वस्तु

दूत जंपइ, दूत जंपइ, सुणि न सुणि राउ,
तेह दिवस परि म न गिणसि, गंगतीरि खिल्लंत जिणि दिणि ।
चल्लंतइं दल भारि जसु, सेससीस सलसलइ फणिमणि ।
ईमइं चाण स मानि रणि, भरहेसर छइ दूरि ।
आपापूं बेढिउं गणे, कालि ऊगंतइं सूरि ॥ ११८

दूत चल्लिउ, दूत चल्लिउ, कहीय इम जाम,
मंतीसरि चिंतविउ, तु पसाउ दूतह दिवारइ ।

अवर अठाणूं कुमर वर, वाइ सोइ पहुतु पचारइ ।
तेह न मनिउ आविउ, वलि भरहेसरि पासि ।
अखई य सामिय संधिअल, त्रंधवसिउं म विमासि ॥ ११९

❀

ठवणि १०

तउ कीपिहिं कलकलीउ काल के' 'य कलानल,
कंकोरइ कोरंत्रीयउ करमाल महाबल ।
कालह कलयणि कलगलंत मउडाधा मिलीया,
कलह तणइ कारणि कराल कोपिहिं परजलीया ॥ १२०

हूउउ कोलाहउ गहगहाटि गयणंगणि गज्जिय,
संचरिया सामंत सुहड सामहणीय सज्जीय ।
गडयडंत गय गडीय गेलि गिरिवर सिर ढालइं,
गूगलीया गुलणइ चलंत करिय ऊलालइं ॥ १२१

जुडइं भिडइं भडहडइं खेदि खडखडइं खडाखडि,
धाणीय धूणीय धोसवइं दंतूसलि दोत [तडा] डि ।
खुरतलि खोणि खणंति खेदि तेजीय दरवरिया,
समइं धसइं धसमसइं सादि पय सइं पापरिया ॥ १२२

कंधगल केकाण कवी करडइं कडीयाली,
रणणइं रवि रण वखर सखर घण घाघरीयाला ।
सींचाणा वरि सरइं फिरइं सेलइं फोकारइं;
ऊडइं आडइं अंगि रंगि असवार विचारइं ॥ १२३

धसि धामइं धडहडइं धरणि रथि सारथि गाढा ।
जडीय जोध जडजोड जरद सन्नाहि सनाढा ।
पसरिय पायल पूर कि पुण रलीया रयणार ।
लोह लहर वरवीर वयर वहवटिइं अवायर ॥ १२४

रणणीय रवि रण तूर तार त्रंबक त्रहत्रहीया,
ढाक ढूक ढम ढमीय ढोल राउत रहरहीया ।

नेच नीसाण निनादि नींझरण निरंभीय,
रणभेरी भुंकारि भारि भूयवलिहिं वियंभीय ॥ १२५

चल चमाल करिमाल कुंत कइतल कोदंड,
झलकइं सावल सवल सेल हल मसल पयंड ।
सींगिणि गुण टंकार सहित वाणावलि ताणइं,
परशु उलालइं करि धरइं भाला ऊलालइं ॥ १२६

तीरीय तोमर भिंडमाल ड्वतर कसवंध,
सांगि सकति तरुआरि छुरीय अनु नागतिवंध,
हय खर रवि ऊछलीय खेह छाईय रविमंडल,
धर धूजइ कलकलीय कोल कोपिउ काहडुल ॥ १२७

टलटलीया गिरिटंक टोल खेचर खलभलीया,
कडडीय कूरम कंधसंधि सायर झलहलीया ।
कडडीय कूरम कंधसंधि सायर घलहलीया ।
चल्लीय समहरि सेससीसु सलसलीय न सकइ,
कंचणगिरि कंधार भारि कमकमीय कसकइ ॥ १२८

कंपीय किंनर कोडि पडीय, हरगण हडहडीया,
संकिय सुरवर सग्गि सयल दाणव दडवडीया ।
अतिप्रलंब लहकइं प्रलंब चलविंध चिहुं दिसि,
संचरीया सामंत सीस सीकिरिहिं कसाकसि ॥ १२९

जोईय भरह नरिंद कटक मूंछह वल वल्लइं,
कुण वाहूवलि जे उ वरव मइं सिउं वल वुल्लइ ।
जइ गिरि कंदरि विचरि वीर पइसंतु न छूटइ,
जइ थली जंगलि जाइ किम्हइ तु मरइ अपूटइ ॥ १३०

गज साहणि संचरीय महु णर वेढीय पोयणपुर ।
वार्जीय वूंव न वहकीयउ वाहूवलि नरवर ।
तसु मंतीसरि भरह राउ संभालीउ साचुं,
ए अविमांसिउं कीउं काइं आज जि तइं काचुं ॥ १३१

वंधव सिउं नरवीर कांइं इम अंतर देषइ,
लहु वंधव नीय जीव जेम कहि कांइं न लेखइ ।
तउ मनि चिंतइ राय किसिउं एय कोइ पराठीउ,
ओसरी उवनि वीर राउ रहीउ अवाठीउ ॥ १३२

गय आगलीया गलगलंत दीजइं हय लास,
हुइं हसमस..... भरहराय केरा आवास ।
एकि निरंतर वहइं नीर एकि इंधण आणइं,
एक आलसिइं परतणुं पांगु आणिउं तृण ताणइं ॥ १३३

एकि ऊतारा करीय तुरीय तलसारे वांधइं,
इकि भरडइं केकाण खाण इकि चारे रांधइं ।
इकि झीलीय नय नीरि तीरि तेतीय वोलावइं,
एकि वारू असवार सार साहण वेलावइं ॥ १३४

एकि आकुलीया तापि तरल तडि चडीय झंपावइं,
एकि गूडर सावाण सुहड चउरा दिवरावइं ।
सारीय सामि सनामि आदिजिण पूज पयासइं,
कसतूरीय कुंकुम कपूरि चंदनि वनवासइं ॥ १३५

पूज करीउ चक्करयण राउ वइठउ भूं जाइं,
वाजीय संख असंख राउ आव्या सवि धाइं ।
मंडलवइ मउडुध मु (सु ?) हड जीमइं सामंतह,
सइं हत्थि दियइ तंवोल कणय कंकण झलकंतह ॥ १३६

❀

वस्तु

दूत चलीउ, दूत चलीउ, वाहुवलि पासि;
भणइ भूर नरवर निसुणि, भरह राउ पयसेव कीजइ ।
भारिहिं भीम न कवणि रणि, एउ भिडंत भूय भारि भज्जइ ।
जइ नवि मूरप एह तणीं, सिरवरि आण वहेसि ।
सिउं परिकरिइं समर भरि, सहूइ सयरि सहेसि ॥ १३७

राउ वुझइ, राउ वुझइ, सुणि न सुणि दूत:
ताय पाय पणमंतय, मुझ बंधव अति खरउ लज्जइ ।
तु भरहेसर तसतणीय, कहि न कीम अम्हि सेव किज्जइ ।
मारिइं भूयवलि जु न भिडउं, भुज भंजु भडिवाउ ।
तउ लज्जइ तिहूयण धणीं, सिरि रिसहेसर ताउ ॥ १३८

❀

ठवणि ११

चलीय दूत भरहेसरहं तेय वात जणावइ,
कोपानलि परजलीय वीर साहण पलणावइ ।
लागी व लागि निनादि वादि आरति असवार,
वाहूवलि रणि रहिउ रोसि मांडिउ तिणि वार ॥ १३९

ऊड कंडोरण रणंत सर वेसर फूटइं,
अंतरालि आवइं ई याण तीहं अंत अखूटइं ।
राउत-राउति योध-योधि पायक-नायकिहिं,
रहवर-रहवरि वीर-वीरि नायक-नायकिइं ॥ १४०

वेढिक विढइं विरामि सामि नामिहिं नरनरीया,
मारइं मुरडीय मूंछ मेच्छ मांने मच्छर भरीया ।
ससइं हसइं धसमसइं वीरधड वड नरि नाचइं,
रापस री रा रव करंति रुहिरे सवि राचइं ॥ १४१

चांपीय चुरइं नरकरोडि भूयवलि भय भिरडइं,
विण हथीयार कि वार एक दांतिहिं दल करडइं ।
चालइं चालि चम्माल चाल करमाल ति ताकइं,
पडइं चिंघ झूझइं कवंध सिरि समहरि हाकइं ॥ १४२

रुहिर रलि तहिं तरइं तुरंग गय गुडीय अमूंझइ,
राउत रण रसि रहित वुद्धि समरंगणि सूझइं ।
पहिलइ दिणि इम झूझ हवुं सेनह मुखमंडण,
संध्या समइ ति चारगुं ए करइं भट विहुं रण ॥ १४३

❀

ठवणि १२. हिवं सरस्वती धउल—

तउ तहिं वीजए दिणि सुविहाणि, ऊगीउ एक जि अनलवेगो,
सडवड समहरे वरसए वाणि, छयल सुत छलीयए छावडु ए।
अरीयण अंगमइ अंगोअंगि, राउतो रामति रणि रमइं ए,
लडसड लाडउ चडीय चउरंगि, आरेयणि सयंवर वरइं ए॥ १४४

❀

त्रूटक

वर वरइं सयंवर वीर, आरेणि साहस धीर।
मंडलीय मिलिया जांन, हय हीस मंगल गान।
हय हीस मंगल गानि गार्जीय, गयण गिरि गुह गुमगुमइं,
धमधमीय धरयल ससीय न सकइ, सेस कुलगिरि कमकमइं।
धसधसीय धायइं धारधा वलि, धीर वीर विहंडए,
सामंत समहरि, समु न लहइं, मंडलीक न मंडए॥ १४५

❀

धउल

मंडए माथए महीयलि राउ, गाढिम गय घड टोलवए,
पिडि पर परवत प्राय, भडधड नरवए नाचवइ ए।
काल कंकोलए करि करमाल, झाझए झूझिहिं झलहलइए,
भांजए भड घड जिम जम जाल, पंचायण गिरि गडयडए॥ १४६

❀

त्रूटक

गडयडइं गजदलि सीहु, आरेणि अकल अवीह।
धसमसीय हयदल धाइं, भडहडइं भय भडिवाइ
भडहडइं भय भडवाइ भुयबलि, भरीय हुइ जिम भींभरी,
तहिं चंद्रचूडह पुत्र परबलि, अपिउ नरवइ नर नरतरी।
वसमतीय नंदण वीर विसमूं, सेल सर म दिखाडए,
रहु रहु रे हणि हणि......भणंतू, अपड पायक पाडए॥ १४७

❀

धउल

पाडीय सुखेय सेणावए दंत, पूंठिहिं निहणीय रणरणीय,
सूर कुमारह राउ पेखंत. भिरडए भूयदंड वेउ......।
नयणिहिं निरपीय कुपीयउ राउ, चक्करयण तउ संभरइए,
मेल्हइए तेह प्रति अति सकसाउ, अनलवेगो तहिं चिंतवइ ए ॥ १४८

❀

त्रूटक

चिंतवईय सुहडह राउ, जो अई उपूटउ आउ।
हिव मरण एह जि सीम, रंजईअ चक्रवृत्ति जीम ॥
रंजवईय चक्रवृति जीम इम, भणि चक्कु मुठ्ठिहिं पडपती,
संचरिउ मूरउ सूरमंडलि, चक्कु पुहचइ तहिं वली।
पडपडीउ नंदण चंद्रचूडह, चंद्रमंडल मोहए,
झलहलीय झालि झमालि तुठ्ठिहिं, चक्क तहिं तहिं रोहए ॥ १४९

❀

धउल

रोहीउ राउत जाइ पातालि, विज्जाहर विज्जावलिहिं,
चक्क पहूचए पूठि तीणि तालि, बोलए वलवीय सहसजखो।
रे रे रहि रहि कुपीउ राउ, जित्थु जाइसि तित्थु मारिवु ए,
तिहूयणि कोइ न अछइ अपाय, जय जोपिम जीणइ जीविइ ए ॥१५०

❀

त्रूटक

जीविवा छंडीय मोह, मनि मरणि मेल्हीय थोह,
समरीय तु तीणि ठामि, इकु आदि जिणवर सामि।
इकु आदि जिणवर सामि समरीय, वज्जपंजर अणसरइ,
नरनरीउ पापलि फिरीउ तस सिरु, चक्क लेई संचरइ।
पयकमल पुज्जइ भरह भूपति, वाहुबलि वल खलभलइ,
चक्रपाणि चमकीय चींति कलयलि, कलह कारणि किलगिलइ ॥ १५१

❀

धउल

कलगिलइ चक्रधर सेन संग्रामि, वोलए कवण सु वाहुवले,
तउ पोयणपुर केरउ सामि, वरवहं दीसए दंस गणु ए।
कवण सो चक्र रे कवण सो जाख, कवण सु कहीइ ए भरह राउ।
सेन संहारीय सोधउं साप, आज मल्हावउं रिसहवंसो ॥ १५२

ठवणि १३. हिवं चउपई—

चंद्रचूड विज्जाहर राउ, तिणि वातइं मनि विहीय विसाउ।
हा कुलमंडण हा कुलवीर, हा समरंगणि साहसधीर ॥ १५३

कहीइ कहि नइं किसिउं घणुं, कलु न लजाविउं तइं आपणउं।
तइं पुण भरह भलाविउ आप, भलु भणाविउ तिहूयणि वापु ॥१५४

सु जि वोलइ वाहूवलि पासि, देव म दोहिलुंइं हीइ विमांसि।
कहि कुण ऊपरि कीजइ रोसु, एह जि दैवहं दीजइ दोसु ॥ १५५

सामीय विसमु करम विपाउ, कोइ न छूटइ रंक न राउ।
कोइ न भांजइ लिहिया लीह, पामइ अधिक न ओछा दीह ॥ १५६

भंजउं भूयवलि भरह नरिंद, मइं सिउं रणि न रहइ सुरिंद।
इम भणि वरवीय वावन वीर, सेलइ समहरि साहस धीर ॥ १५७

धसमस धीर धसइं धडहडइं, गाजइ गजदलि गिरि गडयडइं।
जसु भुइ भडहड हडइ भडक्क, दल दडवडइ जि चंड चडक्क ॥ १५८

मारइ दारइ खल दल खणइं, हेड हणोहणि हयदल हणइ,
अनलवेग कुण कूखइं अछइ, इम पचारीय पाडइ पछइ ॥ १५९

नरु निरुवइ नरनरइ निनादि, वीर विणासइ वादि विवादि।
तिन्नि मास एकल्लउ भिडइ, तउ पुण पूरउं चक्कह चडइ ॥ १६०

चऊद कोडि विद्याधर सामि, तउ झूरइ रतनारी नामि।
दल दंदोलिउं दडढ वरीस, तउ चक्किइं तसु छेदीय सीस ॥ १६१

रतनचूड विद्याधर धसइ, गंजइ गयघड हीयडइ हसइ।
पवनजय भड भरहु नरिंद, सु जि संहारीय हसइं सुरिंद ॥ १६२

वहुलीक भरहेसरतणु, भड भांजणीय भिडीउ घणु।
सुरसारी वाहूवलिजाउ, भडिउ तेण तहिं फेडीय ठाउ ॥ १६३

अमितकेत विद्याधर सार, जस पामीइ न पौरुष पार।
चल्लीउ चक्रधर वाजइ अंगि, चूरिउ चक्रिहिं चडिउ चउरंगि ॥ १६४

समरबंध अनइ वीरह बंध, मिलीउ समहरि त्रिहुं सिउं बंध।
सात मास रहीया रणि वेउ, गई गहगहीया अपछरा लेउ ॥ १६५

सिरताली दुरीताली नामि, भिडइं महाभड वेउ संग्रामि।
आन्या वरवहं वाथोवाथि, परभवि पुहता सरसा साथि ॥ १६६

महेन्द्रचूड रथचूड नरिंद, झूझइं हडहड हसइं सुरिंद।
हाकइं ताकइं तुलपइं तुलइं, आठि मासि जई जिमपुरि मिलइं ।। १२७

दंड लेई धसीउ युरदादि, भरतपूत नरनरइ निनादि।
गंजीउ वलि बाहूबलितणउ, वंस मल्हाविउ तीणि आपणु ॥ १६८

सिंहरथ ऊठीउ हाकंत, अमितगति झंपिउ आवंत।
तिन्नि मास धड धूजिउं जास, भरह राउ मनि वसिउ वासु ॥ १६९

अमिततेज प्रतपइ तहिं तेजिं, सिउं सारंगिइं मिलिउ हेजि।
धाइं धीर हणइं बे बाणि, एक मासि नीवड्या नीयाणि ॥ १७०

कुंडरीक भरहेसरजाउ, जस भड भडत न पाछउ पाउ।
द्रढर्डाय दलि बाहूबलि राय, तउ पयर्यंकइ प्रणमीय ताय ॥ १७१

सूरिजसोम समर हाकंत, मिलिया तालि तोमर ताकंत।
पांच वरिस भर भेलीय घाइ, नीय नीय ठामि लिवारिआ राइ ॥ १७२

इकि चूरइं इकि चंपइं पाय, एकि डारइं एकि मारइं घाइ।
झलभलंत झूझइ सेयंस, धनु धनु रिसहेसरनुं वंस ॥ १७३

सकमारी भरहेसरजाउ, रण रसि रोपइ पहिलउ पाउ।
गिणइ न गांठइ गजदल हणइ, रणरसि धीर धणावइ धणइ ॥ १७४

वीस कोडि विद्याधर मिली, ऊठिउ सुगति नाम किलिगिली।
सिवनंदनि सिउं मिलीउ तालि, बासठि दिवसि विहुं जम जालि ॥ १७५

कोपि चडिउ चल्लिउ चक्रपाणि, मारउं वयरी बाणनिनाणि।
मंडो रहिउ बाहूबलि राउ, भंजउं भणइ भरह भडिवाउ ॥ १७६

त्रिहुं दलि वाजी रणि काहली, खलदल खोणि खे खलभली।
धूजइं धसकीय धड थरहरइं, वीर वीर सिउं सयंवर वरइं ॥ १७७

ऊडीय खेह न सूझइ सूर, नवि जाणीइ सवार असूर।
पडइं सुहड धड धायइं धसी, हणइं हणोहणि हाकइं हसी ॥ १७८

गडडइं गयघड ढींचा ढलइं, सूनासमा तुरंग मल तुलइं।
वाजइं धणुही तणा धोंकार, भाजइं भिडत न भेडीगार ॥ १७९

वहइं रुहिर-नइ सिरवर तरइं, री-रीयाट रणि राषस करइं।
हयदल हाकइं भरह नरिंद, तु साहसु लहइ सग्गि सुरिंद ॥ १८०

भरहजाउ सरभु संग्रामि, गांजइ गजदल आगलि सामि।
तेर दिवस भड पडीउ घाइ, धूणी सीस वाहुवलि राइ ॥ १८१

तीहं प्रति जंपइ सुरवर सार, देषी एवडु भडसंहार।
कांइं मरावउ तम्हि इम जीव, पडसिउ नरकि करंता रीव ॥ १८२

गज ऊतारीय वंधव वेउ, मानिउं वयण सुरिंदह तेउ।
पइसइं मालाखाडइ वीर, गिरिवर-पाहिइं सवल शरीर ॥ १८३

वचनझूझि भड भरहु न जिणइ, दृष्टिझूझि हारिउं कुणअणइ।
दंडिझूझि झड झंपीय पडइ, वाहु पासि पडिउ तडफडइ ॥ १८४

गूडासमउ धरणि-मझारि, गिउ वाहूवलि मुष्टिप्रहारि।
भरह सवल तइं तीणइं घाइ, कंठसमाणउ भूमिहिं जाइ ॥ १८५

कुपीउ भरह छ-खंडह धणी, चक्र पठावइ भाई भणी।
पाखलि फिरी सु वलीउं जाम, करि वाहूवलि धरिउं ताम ॥ १८६

वोलइ वाहुवलि वलवंत, लोहखंडि तउं गरवीउ हंत।
चक्रसरीसउ चूनउ करउं, सयलहं गोत्रह कुल संहरउं ॥ १८७

तु भरहेसर चिंतइ चीति, मइं पुण लोपीय भाई-रीति।
जाणउं चक्र न गोत्री हणइ, माम महारी हिव कुण गिणइ ॥ १८८

तु वोलइ वाहूवलि राय(उ), भाईय ! मनि म म धरसि विसाउ।
तइं जीतउं मइं हारउं भाइ, अम्ह शरण रिसहेसर-पाय ॥ १८९

❀

ठवणि १४

तउ तिहिं ए चिंतइ राउ, चडिउ संवेगिइं वाहुवले।
दूहविउ ए मइं वडु भाय, अविमांसिइं अविवेकवंति ॥ १९०

धिग धिग ! ए एय संसार, धिग धिग ! राणिम राजरिद्धि ।
एवडु ए जीवसंहार, कीधउ कुण विरोधवसि ? ॥ १६१

कीजइ ए कहि कुण काजि, जउ पुण बंधव आवरइं ए ।
काज न ए ईणइं राजि, घरि पुरि नयरि न मंदिरिहिं ॥ १६२

सिरिवरि ए लोच करेइ, कासगि रहीउ बाहुबले ।
अंसूउ ए अंखि भरेउ, तस पय पणमए भरह भडो ॥ १६३

बांधव ए कांइ न बोल, ए अविमांसिउं मइं कीउं ए ।
मेल्हिम ए भाई निटोल, ईणि भवि हुँ हिव एकलु ए । १६४

कीजई ए आजु पसाउ, छंडि न छंडि न छयल छलो ।
हीयडइ ए म धरि विखाउ, भाई य अम्हे विरांसीया ए ॥ १६५

मानई ए नवि मुनिराउ, मौन न मेल्हइ मन्नवाय ।
मुकई ए नहु नीय माण, वरस दिवस निरसण रहीय ॥ १६६

बंभीउ ए सुंदरि बेउ, आवीय बंधव बूझवइं ए ।
ऊतरि ए माणगयंद, तु केवलिसिरि अणसरइ ए ॥ १६७

ऊपनूं ए केवल नाण, तु विहरइ रिसहेस सिउं ।
आवीउ ए भरह नरिंद, सिउं परगहि अवझापुरी ए ॥ १६८

हरिपीया ए हीइ सुरिंद, आपण पइं उच्छव करइं ए ।
वाजई ए ताल कंसाल, पडह पखाउज गमगमइं ए ॥ १६९

आवई ए आयुधसाल, चक्क रयण तउ रंगभरे ।
संख न ए जस केकाण, गयघड रहवर राणिमहं ॥ २००

दस दिसि ए वरतइं आण, भड भरहेसर गहगहइ ए ।
'रायह' ए 'गच्छ' सिणगार, 'वयरसेण सूरि' पाटधरो ॥ २०१

गुणगणहं ए तणु भंडार, 'सालिभद्र सूरि' जाणीइ ए ।
कीधउं ए तीणि चरितु, भरहनरेसर राउ छंदि ए ॥ २०२

जो पढइ ए वसह वदीत, सो नरो नितु नव निहि लहइ ए ।
संवत ए 'बार'[१२] 'कएताल'[४१] फागुण पंचमिइं एउ कीउ ए ॥ २०३

❀

॥ इति भरतेश्वर—बाहुबलि रास श्रीसालिभद्रसूरिकृतसमाप्तः ॥

बुद्धिरास

परिचय

६३ कड़ियों का यह एक रास ग्रंथ है। इसके भी रचयिता शालिभद्र-सूरि हैं। आचार्य कवि ने इस रास में भरतेश्वर-बाहुबलि के समान अपना एवं गच्छ-गुरु आदि का नामोल्लेख नहीं किया। अतः सर्वथा निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि यह रास भी भरतेश्वर-बाहुबलि के रचयिता शालिभद्र सूरि का ही है। शालिभद्र सूरि नाम के एक दो और भी ग्रंथकार हो गए हैं और उन्होंने भी 'रास' की रचना की है। किंतु प्रस्तुत बुद्धिरास की भाषा का सूक्ष्म अवलोकन करने पर यही विशेष संभव जान पड़ता है कि भरतेश्वर-बाहुबलि के रचयिता शालिभद्र सूरि की ही यह भी रचना है।

इसमें प्रथम तो सर्वसाधारण के जीवनोपयोगी—सामान्यतः आचरण के योग्य—अत्यल्प शब्दों में बोध-वचन गुंथे हुए हैं और अंत में शिक्षाप्रद उपदेश मुख्यतः श्रावक वर्ग के आचरण के लिए दिए गए हैं। ये सब बोध-वचन संक्षेप में सूत्र रूप से सरल भाषा में कंठ करने योग्य प्रतीत होते हैं।

भंडारों के अनुसंधान से ज्ञात होता है कि यह रास गत ७०० वर्षों में भलीविधि जनप्रिय हो गया था। सैकड़ों नरनारी इसको केवल कंठस्थ ही नहीं प्रत्युत निरंतर वाचन-मनन भी करते थे। फल-स्वरूप प्राचीन भंडारों में इसकी अनेकानेक प्रतियां यत्र-तत्र प्राप्त हो जाती हैं। विविध प्रतियों में पाठ-भेद इस बात का प्रमाण है कि दीर्घकाल तक जनप्रिय होने के कारण देशकालानुरूप भाषा का समावेश होता गया।

सबसे प्राचीन प्रति के आधार पर यहां पाठ दिया जा रहा है। अधिकांश प्रतियों में यही पाठ मिलता है और भाषा का जो सबसे अधिक प्रचलित स्वरूप मिलता है वही यहाँ दिया जा रहा है। कहीं-कहीं पाठ-भेद भी टिप्पणी में दे दिया गया है। पाठ-भेद के पर्यवेक्षण से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि शब्द-योजना एवं भाषा-शैली में समय समय पर परिवर्त्तन होने से किस प्रकार हिंदी का रूप बदलता गया।

इस रास की शैली के अनुकरण पर कालांतर में 'सारशिखामण रास',

'हितशिक्षारास' आदि कितनी ही छोटी बड़ी रचनायें मिली हैं जिनसे इस रास की विशेषता स्पष्ट हो जाती है।

इसमें 'उपदेश-रसायन रास' की शैली पर कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार किया गया है। प्रारंभ में अंबा-देवी की वंदना के उपरांत सद्गुरु-वचन-संग्रह और लोक में उन वचनों के प्रचार पर विचार किया गया है। आचार्य की आज्ञा है कि जिस पर-गृह में एकाकिनी[1] स्त्री का निवास हो उसमें प्रवेश वर्जित है। मानवधर्म है कि वह पर-स्त्री को भगिनी[2] तुल्य समझे। न तो कभी किसी को अपमान जनक उत्तर दे और न शिक्षा देनेवाले पर आक्रोश दिखलाए।

गृहस्थधर्म की व्याख्या करते हुए कवि दान-महिमा पर बल देता है। उसका विश्वास है कि पांचो[3] उंगलियों से जो दान करता है उसे मानव-जन्म का फल मिल जाता है। आचार्य जीवन को पतनोन्मुख करनेवाली साधारण से साधारण बात पर भी विचार करते हैं। उनका कथन है कि सज्जन से अधिक विवाद, किसी के शून्यगृह, अथवा नदी-सरोवर के जल में प्रवेश वर्जित[4] है। जुआरी की मैत्री, सुजन से कलह, बिना कंठ का गान, गुरु-विहीन शिक्षा एवं धन-बिना अभिमान व्यर्थ है।[5]

श्रावक धर्म का विवेचन करते हुए आचार्य ऐसे पुर में निवास वर्जित बताते हैं जहां देवालय अथवा पौसाल[6] न हो। मातृ-पितृ-भक्ति पर बड़ा बल दिया गया है। सदाचार और दुराचार-वर्णन का उपसंहार करते हुए आचार्य इसे स्वीकार करते हैं कि गुरु के उपदेश अनंत हैं। इनका वर्णन सम्भव नहीं। अंत में वे आशीर्वचन देते हैं कि जो लोग मेरे उपदेश वचनों को हृदय में धारण करेंगे उनका जीवन सफल हो जाएगा।

१.	बुद्धिरास	छंद ५।
२.	,,	,, ६।
३.	,,	,, १४।
४.	,,	,, १८।
५.	,,	,, २१–२३।
६.	,,	,, ४७।

बुद्धि रास

शालिभद्रसूरिकृत

पणमवि देवि अंबाई, पंचाइण गामिणी।
समरवि देवि सीधाई, जिण सासण सामिणि॥ १

पणमिउ गणहरु गोयम स्वामि, दुरिउ पणासइ जेहनइ नामिइं।
सुहगुरु वयणे संग्रह कीजइ, भोलां लोक सीषामण दीजइ॥ २

केई बोल जि लोक प्रसिद्धा, गुरुउवएसिइं केई लीद्धा।
तें उपदेश सुणउ सवि रूडा, कुणहइ आल म देयो कूडा॥ ३

जाणीउ धरमु म जीव विणासु, अणजाणिइ घरि म करिसि वासु।
चोरीकारु चडइ अणलीधी, वस्तु सु किमइ म लेसि अदीधी॥ ४

परि घरि गोटि किमइ म जाइसि, कूडउं आलु तुं मुहियां पामिस।
जे घरि हुइ एकली नारि, किमइं म जाइसि तेह घरवारि॥ ५

घरपच्छोकडि रापे छोडी, वरजे नारि जि वाहिरि हींडी।
परस्त्री वहिनि भणीनइ माने, परस्त्री वयण म धरजे काने॥ ६

मइ एकलउ मारगि जाए, अणजाणिउ फल किमइं म पाए।
जिमतां माणस द्रेठी म देजे, अकहिं परि घरि किंपि म लेजे॥ ७

वडां ऊतर किमइं न दीजइं, सीप देयंतां रोस न कीजइं।
ओछइ वासि म वसिजे कीमइं, धरमहीणु भव जासिइ ईमइ॥ ८

छोरू वीटी ज हुइ नारि, तउ सीपामण देजे सारी।
अति अंधारइ नइ आगासइं, डाहउ कोइ न जिमवा वइसइं॥ ९

सीपि म पिसुनपणु अनु चाडी, वचनि म दूमिसि तू नियमाडी।
मरम पीयारु प्रगट न कीजइ, अधिक लेइ नवि ऊछुं दीजइ॥ १०

विसहरु जातु पाय म चांपे, आविइ मरणि म हीयडइ कांपे।
ग्रहणा पापइं व्याजि म देजे, अणपूछिइ घरि नीर म पीजे॥ ११

कहिसि म कुणहनीय घरि गूझो, मोटां सिउं म मांडिसि भूझो ।
अणविमास्यां म करिसि काज, तं न करेवं जिणि हुइं लाज ॥ १२

जणि वारितउ गामि म जाए, तं बोले जं पुण निरवाहे ।
षातु कांइ हींडि म मागे, पाछिम राति वहिलु जागे ॥ १३

हियडइ समरि न कुल आचारो, गणि न असार एह संसारो ।
पांचे आंगुलि जं धन दीजइं, परभवि तेहतणुं फलु लीजइ ॥ १४

❀

ठवणि १

मरम म वोलिसि वीरु, कुणहइ केरउ कुतिगिहिं ।
जलनिहि जिम गंभीरु, पुहविइ पुरुप प्रसंसीइ ए ॥ १५

उछिनु धनु लेउ, त्यागि भोगि जे वीद्रवइ ए ।
पवहणि तडि पगु देउ, जाणे सो साइरि पडइ ए ॥ १६

एक कन्हइ लिइ व्याजि, वीजाह्लइं व्याजि दीयए ।
सो नर जीविय काजि, विस वहि वन संचरइ ए[1] ॥ १७

ऊडइ जलि म न पइसि, अधिक म वोलिसि सुयणस्युं ।
सुनइ घरि म न पइसि, चउहटइ म विढिसि नारिस्युं ॥ १८

वोल विच्यारिय वोलि, अविचारीय घांघल पडइ ए ।
मूरप मरइ निटोल, जे धण जौवण वाउला ए ॥ १९

वल ऊपहरऊ कोपु, वल ऊपहरी वेढि पुण ।
म करिसि थापणि लोप, कूडओ किमइ म विवहरसे ॥ २०

म करिस जूयारी मित्र, म करिसि कलि धन सांपडए ।
घणुं लडावि म पुत्र, कलह म करिजे सुयण सिउं तु ॥ २१

धनु ऊपजतउं देषि, वाप तणी निंदा म करे ।
म गमु जन्मु अलेषि, धरम विहूणा धामीयहं ॥ २२

कंठ विहूणुं गानु, गुरु विहूणउ पाढ पुण ।
गरथ विहूणुं अभिमान, ए त्रिहूइं असुहामणा ए ॥ २३

❀

---

[1] प्राचीन प्रतिमें 'विसवेलि विष संहरइ ए' पाठ है ।

ठवणि २

हासउं म करिसि कंठइं कूया, गरथि मूढ म खेलि जूया,
म भरिसि कूडी साखि किहइं ॥ २४

गांठि सारि विणज चलावे, तं आरंभी जं निरवाहे[१] ।
निय नारी संतोष करे ॥ २५

मोटइ सरिसुं वयर न कीजइं, वडां माणस वितउ न दीजइ ।
वइरिस म गोठि फलहणीया[२] ॥ २६

गुरुयां उपरि रीस न कीजइ,[३] सीष पूछंतां कुसीष म देजे ।
विणउ करंतां दोष नवि ॥ २७

म करिसि संगति वेशासरखी, धण कण कूड करी साहरखी ।
मित्री नीचिइ सिं म करे ॥ २८

थोडामाहि थोडेरूं देजे, वेला लाधी कृपणु म होजे ।
गरव म करीजे गरथतणुं ॥ २९

व्याधि शत्रु ऊठतां वारउ, पाय ऊपरि कोइ म पचारु ।
सतु क छंडिसि दुहि पडीउ ॥ ३०

अजाणयारहि पहू म थाए, साजुण पीड्यां वाहर धाए ।
मंत्र म पूछिसि स्त्री कन्हए ॥ ३१

अजाणि कुलि म करि विवाहो, पाछइ होसिइं हीयडइ दाहो ।
कन्या गरथिइ म वीकणसे ॥ ३२

[१]देव म भेटिसि ठालइ हाथि, अणउलपीतां म जाइसि साथिइं ।
गूझ म कहिजे महिलीयह ॥ ३३

[१]परहुणइं आव्यइ आदर कीजइं, जूनुं ढोर न कापड लीजइं ।
हूतइ हाथ न खांचीइए ॥ ३४

---

१ पाठान्तर–'जु हियइ सुहाए' ।

२ पा० 'चउवटए' ।

३ पाठान्तर–'गरुआसिउं अभिमान न कीजउ' ।

†गाढइं घाइं ढोर म मारउ, मातइ कलहि म पइसि निवारु ।
पर घरि मा जिमसि जा सकूया ॥ ३५

भगति म चूकीसि आपह मायीं, जूठउ चपल म छंडिसि भाई ।
गुरवु म करि गुरु सुहासिणी य ॥ ३६

नीपनइं धानि म जाइसि भूखिउ, गांठि गरथि म जीविसि लूखउं ।
मोटां पातक परहरउ ए ॥ ३७

गिउ देशांतरि सूयसि म रातिइ, तिम न करेवुं जिम टल पांतिइं ।
तृष्णा ताणिउ म न वहसे ॥ ३८

धणि फीटइं दिवसाइं लागे, आंचल उडी म साजण मागे ।
कुणहइ कोइ न ऊधरीउ ॥ ३९

[*जीवतणुं जीवि रापीजइ, सविहुं नइ उपगार करीजइ ।
सार संसारह एतलु ॥] ४०

माणसि करिवा सवि व्यवहारु, पापी घरि म न लेजे आहार ।
म करिस पूत्र पडीगणुं ए ॥ ४१

जइ करिवुं तो आगइ म मागिं, गांधीसिउं न करेवउं भागि ।
मरतां अरथु म लेसि पुण ॥ ४२

उसड म करिसि रोग अजाणिइं, कुणहं गुरथु म लेसि पराणि ।
सिरज्यां पापइ अरथ नवि ॥ ४३

धरमि पडीगे दुत्थित श्रवण, अनि आवतुं जाणे मरण ।
माणस धरम करावीइ ए ॥ ४४

इसि परि वइदह पाप न लागइं, अनइ जसवाउ भलेरउ जागइ ।
राषे लोभिइं अंतरीउ ॥ ४५

❀

ठवणि ३

हिव श्रावकना नंदनह, बोलसु केई बोल ।
अवघड मारगि हींडतां ए, विणसई धरम नीटोल ॥ ४६

---

† दूसरी प्रतियों में ये कड़ियाँ आगे पीछे लिखी मिलती है।

* कुछ प्रतियों में ये कड़ियाँ नहीं मिलती अतः क्षेपक प्रतीत होती हैं ।

तिणि पुरि निवसे जिण हुवण, देवालइ पोसाल ।
भूण्यां त्रिस्यां गोरुयहं, ओरु करि न संभाल ॥ ४७

तिणिहुवार जिण पूज करे, सामायक[1] वे वार ।
माय बाप गुरु भक्ति करे, जाणी धरम विचार ॥ ४८

करमबंध हुइ जिण वयणि, ते तउं बोलि म बोलि ।
अधिके ऊणे मापुले,[2] कुडउं किमइ म तोलि ॥ ४६

अधिक म लेसि मापुलइं, उच्छुं किमइ म देसि ।
एकह जीहव कारणिहि, केता पाप करेसि ॥ ५०

जिणवर पूठिइं म न वससे, मगाव्वे सिवनी द्रेटि ।
राउलि आगलि[3] म न वससे, वहूअ पाडेसिइं वेटि ॥ ५१

रापे घरि त्रि[1] वारणां ए, ऊभत रापे नारि ।
ईधणि कातणि जलवहणि, होइ सच्छंदाचारि ॥ ५२

पटकसाल पांचइ तणीय, जयणा भली कराविं ।
आठमि चउदसि पूनीमिहि, धोयणि गारि वरावि ॥ ५३

[† अणगल जल म न वावरू ए, जोउ तेहनउ व्याप ।
आहेडी मांछीं तणूं ए, एक चलुं ते पाप ॥ ५४

लोह मीण लप धाहडी य, गली य चरम विचारि ।
एह सविनूं विवहरण, निश्चउ करीय निवारि ॥ ५५

सुइमुहि जेतुं चांपीइ ए, जीव अनंता जाणि ।
कंद मूल सवि परहरु ए, धरम म न करइ हाणि ॥ ५६

रयणी भोजन म न करिसि, वहूय जीव सिंहार ।
सो नर निश्चइ नरयफल, होसिइ पाप प्रमाणि ॥] ५७

जांत्र जोत्र ऊपल मुशल, आपि म हल हथीयार ।
सइं हथि आगि न आपीइ ए, नाच गीत घरवारि ॥ ५८

---

१ दूसरी प्रति में 'पडिकमणु' शब्द है ।

२ दूसरी प्रति में 'फाटलेऊ' शब्द है ।

३ दूसरी प्रति में 'हेटलि' शब्द है ।

पाटा पेढी म न करसे, करसण नइ अधिकारि ।
न्याइं रीतिइं विवहरु ए, श्रावक एह आचार ॥ ५९

वाच म घालिसि कुपुरसह, फूटइ मुहि महसेसि ।
वहुरि म आस पिराइंह, वहु ऊधारि म देसि ॥ ६०

वइद विलासणि दुइडीय, सुइआणीसु संगु ।
रापे वहिनर वेटडी य, जिम हुइ शील न भंगु ॥ ६१

गुरु उपदेसिइ अति घणा ए, कहूं तु लहुं न पार ।
एह बोल हीयडइ धरीउ, सफल करे संसार ॥ ६२

'सालिभद्रगुरु' संकुलीय, सिविहूं गुर उपदेसि ।
पढ़इ गुणइ जे संभलहिं, ताहइ विघ्न टलेसि ॥ ६३

॥ इति बुद्धिरास समाप्तमिति ॥

---

† इस कोष्ठक की ४ कड़ियाँ दूसरी प्रति में नहीं मिलतीं ।

जीवदयारास

परिचय

जीवदया रास के रचयिता आसिग (आसगु) कवि-विरचित एक नया रास और प्राप्त हुआ है। इस रास का नाम है 'चन्दनबाला रास'। इस रास की रचना भी संभवतः सं० १२५७ के आसपास हुई थी। प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध हुआ है कि इन दोनों रासों की रचना राजस्थान में हुई थी। इन दोनों रासों की भाषा गुजरात देश में विरचित प्राचीन रासग्रंथों की भाषा से सर्वथा साम्य रखती है। इससे डा० टासिटरी का यह मत निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि प्राचीनकाल में गुजराती और राजस्थानी में कोई भेद नहीं था।

इस रास में श्रावक धर्म निरूपित किया गया है। प्रारंभ में पुस्तक-धारिणी सरस्वती की वंदना है। तदुपरांत कवि मानव-जन्म को सफल बनाने वाले जिनवर धर्म की व्याख्या इस प्रकार प्रारंभ करता है—

जीव दया का पालन करो और माता-पिता तथा गुरु की आराधना करो। जो जन देवभक्ति और गुरु-भक्ति में जीवन बिताते हैं, वे यम-पाश से मुक्त रहते हैं। जलाशय के सदृश परोपकार करो। जिस प्रकार वन में दावाग्नि लगने पर हरिणी व्याकुल हो जाती है, उसी प्रकार मनुष्य इस संसार रूपी वन में महान् संकटों में पड़ा रहता है। कवि कहता है "अरे मनुष्यो, मन में ऐसा चिंतन करके धर्म का पालन करो, क्योंकि मनुष्य-जन्म बड़ा ही दुर्लभ है।"

इस संसार में न कोई किसी का पुत्र है न कोई माता-पिता-सुता संबंधी, भाई। पुत्र-कलत्र तो कुमित्र के समान खाते पीते हैं और अंत में धोका दे जाते हैं।

जिस प्रकार ऐंद्रजालिक क्षणमात्र के लिए बिना बादल के ही आकाश से वर्षा कर देता है उसी प्रकार संसार में लोगों का प्रेम क्षणिक होता है। अरे मनुष्य, मन को बाँधकर स्वाधीन रख। इस प्रकार जीवित रहकर यौवन का लाभ प्राप्त कर।

कभी अलीक भाषण न करो। शुद्ध भाव से दान करो। धर्म-सरोवर के विमल जल में स्नान करो। यह शरीर दस-पांच दिन के लिए तरुण होता है। इसके उपरांत प्राण निकल जाने पर सूने मंदिर के समान हो जाता है। जब आयु के दिवस और महीने पूरे हो जाते हैं तो चाहे वृद्ध हो या बाल वह यमराज से बच नहीं सकता। संसार से प्रस्थान करते समय केवल धर्म ही संबल रूप से जाता है। धर्म ही गुण-प्रवर-सज्जन है। धर्म ही से भव-

---

जीवदया रास—छंद—७

सागर तरा जाता है। धर्म ही राज्य और रत्न का भंडार है। धर्म ही से मनुष्य सुख प्राप्त करता है, धर्म से ही भवसागर से पार होता है। धर्म से ही श्रृंगार सुशोभित होता है।

धर्म से ही रेशमी वस्त्र धारण होता है, धर्म से ही चावल और दाल में घी मिलता है, धर्म से ही पान का बीड़ा और तांबूल मिलता है। प्रत्येक व्यक्ति को एक धर्म का पालन करना चाहिए। इससे नरक द्वार पर किवाड़ में ताला बंद हो जाता है। अपने चंचल, मन को स्थिर करो और क्रोध, लोभ, मद और मोह का निवारण करो। पंचवाण कामदेव को जीत लेने से तुम शुद्ध सिद्धिमार्ग पा जाओगे।

तीसवें छंद के उपरांत कवि आसिग कलियुग की दशा का वर्णन करते है। वे कहते है कि संसार में समानता है ही नहीं। कितने लोग पैदल परि-भ्रमण करते हैं कितने हाथी और घोड़े पर सुखासन बनाते हैं। कितने सिर पर काठ ढोते हैं कितने राजसिंहासन पर बैठते हैं। कितने अपने घर में चावल-दाल बना कर उसमें खूब घी डालकर खाते हैं। कितने आदमी भूख से दुखित दूसरे के घर मजदूरी करते हुए दिखाई पड़ते हैं। कितने ही जीवित मनुष्य (दुख के कारण) मृतक के समान हैं।

अब कवि आसिग संसार की नश्वरता पर विचार करते हुए कहते हैं कि बलि और बाहुबलि जैसे बली राजा चले गए। धर्म के लिए डोम के घर पानी भरनेवाले राजा हरिश्चंद्र भी चले गए। राजा दशरथ और (उनके प्रतापी पुत्र) राम-लक्ष्मण भी चले गए। वह रावण भी चला गया जिसके घर को वायु बुहारता था। चक्र-धुरंधर भरतेश्वर, मांधाता, नल, सगर, कौरव-पांडव चले गए। जिस कृष्ण ने जरासंध, केशी, कंस, चाणूर आदि को मारा और नेमि-कुमार की स्थापना की, वे भी चले गए। सत्यवादी स्थूलभद्र चले गए। इस असार संसार को धिक्कार है। हे जीव, तू एक जिन धर्म को अपना परिवार बना।

कवि कहता है कि अणहिल पुरी का जैसलराज चला गया जिसने पृथ्वी समाज का उद्धार किया। कलियुग का कुँवर-नरेंद्र भी गया जिसने सब जीवों को अभय दान दिया। ४५ वें छंद के आगे २८ ऋषियों, स्वामी आदि जिन नेमिकुमार इत्यादि धार्मिक महात्माओं की वंदना की गई है जो पाप रूपी अंधकार को विनष्ट करनेवाले हैं। अन्त में कवि इस ग्रंथ का रचना-काल और स्थान का वर्णन करता है।

———

जीवदयारास

कवि आसिग विरचित

(सं० १२५७ के आसपास)

[अपभ्रंश मिश्रित हिंदी की एक प्राचीनतर पद्यकृति]

उरि सरसति आसिगु भणइ, नवउ रासु जीवदया-सारु।
कंनु धरिवि निसुणेहु जण, दुत्तरु जेम तरहु संसारु ॥ १

जय जय जय पणमउ सरसत्ती। जय जय जय खिवि पुत्थाहत्थी।
कसमीरह मुखमंडणिय, तइं तुट्ठी हउ रयउ कहाणउं।
जालउरउ कवि वज्जरइ, देहा सरवरि हंसु वखाणउं ॥ २

पहिलउ अक्खउं जिणवरधम्मु। जिम सफलउ हुइ माणुसजंमु।
जीवदया परिपालिजए, माय वप्पु गुरु आराहिजए।
सव्वह तित्थह तरुवर टविजइ, (जिम ?) छाही फलु पावीजइ ॥ ३

देवभत्ति गुरुभत्ति अराहहु। हियडइ अंखि धरेविणु चाहहु।
धणु वेचहु जिणवर भवणि, खाहु पियहु नर वंचहु आसा।
कायागढ तारुण भरि, जं न पडहिं जमदेवहं पासा ॥ ४

सारय सजल सरिसु परधंधउ। नालिउ लोउ न पेखइ अंधउ।
डुंगरि लग्गइ दव हरणि, तिम माणुसु वहु दुक्खहं आलउ।
डज्जइ अवगुण दोसडइ, जिम हिम वणि वणगहणु विसालउ ॥ ५
नालिउ अप्पउ अप्पइ दक्खइ। पायहं दिट्ठि वलंतु न पिक्खइ।

गणिया लब्भहिं दिवसडइं, जंजि मरेवउ तं वीसरियउ।
दाणु न दिंनउ तपु न किउ, जाणंतो वि जीउ छेतरियउ ॥ ६

अरि जिय यउ चिंतिवि किरि धंमु। वलि वलि दुलहु माणुसजंमु।
नत्थि कोइ कासु वि तणउं, माय ताय सुय सज्जण भाय।
पुत कलत्त कुमित्त जिम, खाइ पियइ सवु पच्छइ थाइ ॥ ७
धणि मिलियइ वहु मग्ग जण हार। किं तसु जणणिहि किं महतार।
किं केतउ मागइ घरणि पुत्तु, होइ प्राणी गेइ लेसइ।
विहव ण वारहं पत्तगहं, बोलाविउ को सावु न देसइ। ८

जणणि भणइ मइं उयरहं धरियउ। वप्पु भणइ महु घरि अवतरियउ।
अणखाइय महिलिय भणइ, पातग तणइं न मारगि लाउ।
जत्थु धरमु विहंचिवि लियउं वि, तिनत्थी पतुं वइसइ न्हाउं॥ ९

यउ चिंतिवि निय मणिहिं धरिज्जइ। कुडी साखि न कासु वि दिज्जइ।
आलि दि नइ आलसउ जउ, अज्जु हूवउ कालु न होसइ।

अनु चिंतंतहे अनु हुइ, धंधइ पडियउ जीउ नरेसइ॥ १०
पुडइ निपंन जेम जलबिंदु। तिम संसारु असारु समुंदु।

इंद्रियालु नइपिखणउ जिम, अंबरि जलु वरिसइ मेहु।
पंच दिवस मणि ओहलउ, तिम थहु प्रियतम सरिसउ नेहु॥ ११

अरि जिय परतंह पालि बंधिजइ। जीविय जोवण लाहउ लीजइ।
अलियउ कह वि न बोलिजइ, सुद्धइ भाविहि दिज्जइ दाणु।
धन्म सरोवर विमल जलु, कुंडपाउ नियमणि यउ जाणु॥ १२

पंच दिवस होसइ तारुन्नु। ऊडइ देह जिम मंदिर सुन्नु।
जाणंतो विय जाणइ, दिक्खंता हइं होइ पयाणउ।
यहहं संबलु नहु लयउ, आगइ जीव किसउ परिमाणु॥ १३

दिवसे मासे पूजइ कालु। जीउ न छूटइ विरधु न बालु।
ऊडउ पयाणउ जीव तुहु, साजणु मितु बोलावि वलेसइ।
धन्मु परतह संबलओ, जंता सरिसउ तं जि वलेसइ॥ १४

अरि जिय जइ चूक्कहि ता चूक्कु। वलि वलि सीख कु दीसइ तूक्कू।
वारि मसाणिहि चिय वलइ, कुडि दाउं ती गंवि न आवइ।
पावकूव भितरि पडिउ तिणि, जिणधन्मु कियउ नवि भावइ॥ १५

जिम कुंभारिं घडियउ भंडु। तिम माणुसु कारिमउ करंडु।
करतारह निप्पाइयउ, अट्ठु तरसउ वाहिसयाइं।
जिम पसुपालह खीरहरु, पुट्ठिहिं लग्गउ हिंडइ ताइं॥ १६

देहा सरवर मज्झिहिं कमलु। तहि वइसउ हंसा धुरि धवलो।
कालु भमरु उपरि भमइ, आउखाए रस गंधु वि लेसइ।
अणवूटइ नहु जिउ मरइ, खूटा उपर घरी न दीसइ॥ १७

नयर पुक्क आया वणिजारा । जणणि समाणु अरिहिं परिवारा ।
धम्म कयाणउं ववहरहु, पावतणी भंडसाल निवारहु ।
जीवह लोहु समग्गलउ कुमारगि जणु अंतउ वारहु ॥ १८

एगिंदिय रे जीव सुणिज्जइ । बेइंदिय नवि आसा किज्जइ ।
तेइंदिय नवि संभलइ, चउरिंदिय महिमंडलि वासु ।
पंचिंदिय तुहुं करहिं दय, जिणधम्मिहिं कज्जइ अहिलासु ॥ १९

धम्मिहिं गय घड तुरियहं घट्ट । भयभिंभल कंचण कसवट्ट ।
धम्मिहिं सज्जण गुणपवर, धम्मिहिं रज्ज रयण भंडार ।
धम्मफलिण सुकलत्त घरि, वे पक्खसुद्ध सीलसिंगार ॥ २०

धम्मिहिं सुक्खसुक्ख पाविज्जइ । धम्मिहि भवसंसारु तरीजइ ।
धम्मिहि धणु कणु संपडइं, धम्मिहि कंचण आभरणाइं ।
नालिय जीउ न जाणइ य, एहि धम्मह तण फलाइं ॥ २१

धम्मिहि संपज्जइ सिणगारो । करि कंकण एकावलि हारु ।
धम्मि पटोला पहिरिजहिं, धम्मिहि सालि दालि घिउ घोलु ।
धम्मि फलिण वितसा (रु?) लियइं, धम्मिहिं पानवीड तंबोलु ॥ २२

अरि जिय धम्मु इक्कु परिपालहु । नरयबारि किवाडइं तालहु ।
मणु चंचलु अविचलु वरहु, कोहु लोहु मय मोहु निवारहु ।
पंचवाण कामहिं जिणहु जिम, सुह सिद्धिमग्गु तुम्हि पावहु । २३

सिद्धिनामि सिद्धि वरसारु । एकाएकिं कहहु विचारु ।
चउरासी लक्ख जोणि, जीवह जो घल्लेसइ घाउ ।
अंतकालि संभरइ अंगि, कोइ तसु होइ हु दाहु ॥ २४

अरु जीवइं अस्संखइ मारइं । मारोमारि करइ मारावइ ।
मुच्छाविय धरणिहि पडइ, जीउ विणासिवि जीतउ मानइ ।
मच्छगिलिग्गिलि पुणु वि पुणु, दुख सहइ ऊथलियइ पंनइ ॥ २५

पन्नउ जउ जगु छन्नउं मंनउं । कूवहं संसारिहि उप्पंनउं ।
पुन म सारिहि कलिजुगिहिं, ढीलइ जं लीजइ ववहारु ।
एकहं जीवहं कारणिण, सहसलक्ख जीवहं संहारु ॥ २६

वरिसा सउ आऊपउ लोए । असी वरिस नहु जीवइ कोइ ।
कूडी कलि आसिगु भणइ, दयारीजि नय नय अवतारु ।
धंमु चलिउ पाडलिय पुरे, एका कालु कलिहि संचारु ॥ २७

माय भणेविणु विणउ न कीजइ । वहिणि भणिवि पावडणु न कीजइ ।
लहुड वड़ाई हा''तिय मुक्की, लाज स समुद मरजाद ।
घरघरिणिहिं वीया पियइं, पिय हत्थि थोवावइ पाय । २८

सासुव वहूव न चलणे लग्गइ । इह छाहइ पाडउणइ मागइ ।
ससुरा जिठ्ठह नवि टलइ, राजि करंती लाज न भावइ ।
मेलावइ साजण तणइं, सिरि उग्घाडइ वाहिरि धावइ ॥ २९

मित्तिहि मुक्का मित्ताचारि । एकहि घरणिहिं हुइ रखवाला ।
जे साजण ते खेलत गिइं, गोती कूका गोताचारा ।
हाणि विधि वट्टावणइं, विहुरहि वार करहिं नहु सारा ॥ ३०

कवि आसिग कलिअंतरु जाइ । एक समाण न दीसई कोइ ।
के नरि पाला परिभमहि, के गय तुरि चंडति सुखासणि ।
केई नर कठा वहहि, के नर वइसहिं रायसिंहासणि ॥ ३१

के नर सालि दालि भुंजता । घिय वलहलु मज्झे विलहंता ।
के नर भूपा (खा) दूषि (खि) यइं दीसहिं परघरि कमुं करंता ॥
जीवता वि मुया गणिय, अच्छहिं वाहिरि भूमि रुलंता ॥ ३२

के नर तंवोलु वि संभाणहिं । विविह भोय रमणिहिं सउ माणहि ।
के वि अपुंनइं वप्पुडइं, अणु हुंतइ दोहला करंता ।
दाणु न दिंनउ अनं भवि, ते नर परघर कंमु करंता ॥ ३३

आसेवंता जीव न जाणहिं । अप्पहिं अप्पाउ नहु परियाणहि ।
चंचलु जीविउ धूय मरण, विहि विद्धाता वस इउ सीसइ ।
मूढ धम्मु परजालियइ, अजरु अमरु कलि कोइ ना दीसइ ॥ ३४

नव निधान जसु हुंता वारि । सो वलिराय गयउ संसारि ।
वाहूवलि वलवंत गउ, धण कण जोयण करहु म गारहु ।
डुवंह घर पाणिउ भरिउ, पुहविहि गयउ सु हरिचंदु राउ ॥ ३५

गउ दसरथु गउ लक्खणु रामु । हिडइ धरउ म कोइ संविसाउ ।
वार वरसि वणु सेवियउ, लंका राहवि किय संहारु ।
गइय स सीय महासइय, पिक्खाहु इंदियालु संसारु ॥ ३६

जसु घरि जमु पाणिउ आणेई । फुल्लतरु जसु वणसइ देई ।
पवणु वुहारइ जसु ज्वहि, करइ तलारउ चामुड माया ।
खुट्टइ सो रावणु गयउ, जिणि गह वद्धा खाटहं पाए ॥ ३७

गउ भरथेसरु चक्कधुरंधरु । जिणि अट्ठावइ ठविय जिणेसरु ।
मंधाता नलु सगरु गओ, गउ कयरव-पंडव परिवारो ।
सेतुजा सिहरिहिं चडेवि जिणि, जिणभवण कियउ उद्धारु । ३८

जिणि रणि जरासिंधु विद्दारिउ । आहि दाणवु वलवंतउ मारिउ ।
कंस केसि चाणउ, जिणि ठवियउ नेमिकुमारु ।
वारवई नयरिय धणिउ कहहि, सु हरि गोविंहि मत्तारु ॥ ३९

जिणु चउवीसमु वंदिउ वीरु । कहहि सु सेणिउ साहस धीरु ।
जिणसासण समुद्धरणु, विहलिय जण वंदिय सद्धारु ।
रायग्गिह नयरियहं, वुद्धिमंतु गउ अभयकुमारु ॥ ४०

पाउ पणासइ मुणिवर नामि । वयरसामि तह गोयमसामि ।
सालिभद्द संसारि गउ, मंगलकलस सुदरिसण सारो ।
थूलभद्दु सतवंतु गयो धिगु, धिगु यह संसारु असारु ॥ ४१

गउ हलधरु संजमसणगारु । गयसुकुमालु वि मेहकुमारु ।
जंवुसामि गणहरु गयउ, गउ धन्नह ढंढणह कुमारु ।
जउ चिंतिवि रे जीव तुहुं, करि जिणधंमु इक्कु परिवारो ॥ ४२

जिणि संवच्छरु महि अंयाविउ । अंवरि चंदिहिं नामु लिहाविउ ।
ऊरिणि की पिरिथिमि सयल, अणु पालिउ जिणु धम्मु पवितु ।
उज्जेणीनयरी धणिउ कह, अजरमकर विक्कमदीतु ॥ ४३

गउ अणहिलपुरि जेसलु राउ । जिणि उद्धरियलि पुहवि सयाउ ।
कलिजुग कुमरनरिंदु गउ, जिणि सव जीवहं अभउ दियाविउ ।
उवएसिहिं हेमसूरि गुरु, अहिणव 'कुमरविहारु' करावउ ॥ ४४

इत्थंतरि जण निसुणहु भाविं । करहु धम्मु जिम मुच्चहु पाविं ।
इहिं संसारि समुद्दजलि, तरण तरंड सयल तित्थाइं ।
वंदहु पूयहु भविय जण, जे तियलोह जिणभवणाइं ॥ ४५